आधुनिक दर्शन की भूमिका

संगमलाल पाण्डेय
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद
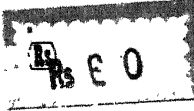
दर्शन पीठ
इलाहाबाद

समर्पण

ओ भारत के तरुण दार्शनिक !
लो मेरा **दर्शन** यह **आधुनिक**,
खोलो आँख
बीती रात
दूर हटा है अन्धकार
ले अज्ञान—अन्धविश्वास ।
देखो, यह उषःकाल
दे रहा तुझे है शून्य लाल,
पश्चिम का अस्तमित सूर्य
हो रहा पूर्व में उदीयमान ।
मिल गया क्षितिज को नया रूप
धरती-अम्बर को नया विधान
नये विचारों को विस्तार
नये भावों को संचार
नयी भाषा को आह्वान
नये अर्थों को सन्धान ।
छोड़ो नींद
उठो, उतरो
अब नयी **भूमिका** पर;
कर लो नया दर्शन
पकड़ लो आज का स्वर
और फिर—
सोचो, करो कुछ वह नया
जिसके लिए तुम पैदा हुए हो ।

—संगमलाल पाण्डेय

लेखक की अन्य रचनाएँ

काट का दर्शन
गाँधी का दर्शन
नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण
स्पिनोजा का दर्शन
समाज, धर्म और राजनीति
भारतीय दर्शन की कहानी
समाज-दर्शन की एक प्रणाली
बर्कले-संग्रह (अनूदित)
रानडे का दर्शन (संपादित)
भारतीय तर्कशास्त्र का आधुनिक परिचय
रामायण-विद्या
ज्ञान, मूल्य और सत्
नव्यं प्रयागदर्शनम् (संस्कृत में)
भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण
एक्जिसस्टेन्स, डिवोशन एण्ड फ्रीडम (अँग्रेजी में)
नीति-दर्शन की पूर्वपीठिका (अनूदित)
वेदान्त-दर्शन (अनूदित)
ह्विदर इण्डियन फिलासफी (अँग्रेजी में)
देशशक्तिचतुष्टयम् (संस्कृत में)
प्रि-शंकर अद्वैत फिलासफी (अंग्रेजी में)

तृतीय संस्करण का आमुख

यह आधुनिक दर्शन की भूमिका का तृतीय संस्करण है। इसका प्रथम संस्करण १९६४ में छपा था। अभी तक इसकी उपादेयता बनी हुई है और इसकी माँग बढ़ती जा रही है। यही इसके वर्तमान संस्करण का मुख्य हेतु है।

इस संस्करण में पिछले संस्करणों की भूलों का सुधार कर दिया गया है। जो भी पाठक इसकी मूल्यवत्ता और उपादेयता को बढ़ाने का सुझाव देंगे उनके सुझावों का पालन आगामी संस्करणों में सधन्यवाद किया जायगा। वे अपने सुझाव लेखक के पास स्वतन्त्रतापूर्वक भेज सकते हैं।

इलाहाबाद
गुरुपूर्णिमा, १९८३

संगमलाल पाण्डेय

द्वितीय संस्करण का आमुख

आधुनिक दर्शन की भूमिका विगत कई वर्षों से अप्राप्य थी। किन्तु इसकी माँग पूर्ववत् बनी थी। अनेक अध्यापकों और छात्रों ने इसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित करने के लिए मुझे लिखा। फलतः मैंने इसके प्रकाशक किताब महल इलाहाबाद से आग्रह किया कि वे शीघ्र ही इसका द्वितीय संस्करण निकालें। किन्तु उन्होंने अपनी प्रकाशन-कठिनाई बताते हुए कहा कि मैं इसका द्वितीय संस्करण अन्यत्र प्रकाशित करा सकता हूँ। फिर मैंने दर्शनपीठ इलाहाबाद से इसके प्रकाशन की व्यवस्था की और यह कहने में मुझे हर्ष हो रहा है कि अब इसका द्वितीय संस्करण पाठकों के हाथ में है। इस अवसर पर मैं सर्वप्रथम किताब महल इलाहाबाद को धन्यवाद देता हूँ जिसने इसके द्वितीय संस्करण के प्रकाशन की अनुमति दी और फिर दर्शन पीठ इलाहाबाद को भी धन्यवाद देता हूँ जिसने शीघ्रता से इसका प्रकाशन किया।

यह संस्करण बहुत ही संशोधित और परिवर्धित संस्करण है। इसमें कांट का आलोचनावाद नामक एक नया अध्याय जोड़ दिया गया है। यह-परिवर्धन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, पटना विश्वविद्यालय, भागलपुर विश्वविद्यालय, काशी विद्यापीठ, गोरखपुर विश्वविद्यालय और जीवाजी विश्वविद्यालय ग्वालियर के दर्शनशास्त्र के अध्यापकों के सुझाव पर किया गया है। एतदर्थ मैं इन सभी अध्यापकों का ऋणी हूँ।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण परिवर्तन प्रथम अध्याय में है जो यहाँ नये सिरे से लिखा गया है। प्रथम संस्करण का प्राक्कथन यहाँ संक्षेप में ही दिया गया है और उससे वह अंश निकाल दिया गया है जो आधुनिक भारतीय दर्शन से सम्बन्धित था। सम्पूर्ण पुस्तक में यत्र-तत्र छापे की भूलों का सुधार भी इस संस्करण में किया गया है और कहीं-कहीं भाषा का सरलीकरण भी है।

अन्त में मैं उन सभी विद्वानों और अध्यापकों को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ जिनकी राय में यह पुस्तक आधुनिक पाश्चात्य दर्शन की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक है। यदि

उनकी संस्तुति न होती तो इस पुस्तक का प्रचार-प्रसार न होता। मेरे शिष्य गिरधर गोपाल शुक्ल एम० ए० ने इस संस्करण की अनुक्रमणिका तैयार की है जिसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। मेरे सभी सहयोगियों ने इस पुस्तक के प्रकाशन और प्रचार में सुझाव देकर मुझे अनुगृहीत किया है। उनके सहयोग से ही इसका द्वितीय संशोधित संस्करण प्रस्तुत रूप में निकला है।

आशा है इस संस्करण का स्वागत प्रथम संस्करण से भी अधिक होगा क्योंकि इसकी उपयोगिता बढ़ गयी है।

१७७ टैगोर नगर
इलाहाबाद
१५-८-७३

संगमलाल पाण्डेय

प्रथम संस्करण का प्राक्कथन

आधुनिक दर्शन के दो रूप हैं। एक का विकास योरोप में १७वीं शती से लेकर आज तक हुआ है और दूसरे का विकास भारत में १५वीं शती से लेकर आज तक हुआ है। पहला प्रकृति-दर्शन या विज्ञान-दर्शन है और दूसरा संस्कृति-दर्शन या संस्कृतियों के सम्बन्ध और सह-अस्तित्व का दर्शन है। योरोप ने हमें आधुनिक प्रकृति-दर्शन दिया है और भारत ने आधुनिक संस्कृति-दर्शन। आधुनिक प्रकृति-दर्शन के आधार पर विज्ञान का विकास हो रहा है और मनुष्य का बाह्य परिवेश समृद्ध तथा सुन्दर हो रहा है। फिर आधुनिक संस्कृति-दर्शन के आधार पर संस्कृतियो का समन्वय और सह-अस्तित्व हो रहा है और मनुष्य का मन स्वस्थ, सहिष्णु, उदार तथा प्रसन्न हो रहा है। जिस देश में आज प्रकृति-दर्शन की पराकाष्ठा है और संस्कृति-दर्शन अत्यन्त निर्बल है वहाँ का जन-मानस अत्यन्त भार से बोझिल होकर प्रक्षुब्ध है और गिर रहा है। फिर जहाँ संस्कृति-दर्शन सुव्यवस्थित है और प्रकृति-दर्शन अत्यन्त न्यून है वहाँ का जन-मानस एक अँधेरी गुफा में रहने वाला योगी हो गया है। दोनो ही जनमानस असमंजस में हैं और वे कुसमंजन का अनुभव कर रहे हैं। इस कुसमंजन का समाधान प्रकृति-दर्शन तथा संस्कृति-दर्शन का समन्वय है। आज मानव को मानना पड़ेगा कि प्रकृति और संस्कृति दोनों सत्य हैं और समन्वय-योग्य है। संस्कृति प्रकृति की अवहेलना नहीं कर सकती है। संस्कृति को प्रकृति के रूप को स्वीकार करना पड़ेगा। इसी प्रकार प्रकृति भी संस्कृति को नष्ट नहीं कर सकती है और उसे संस्कृति की शक्ति को स्वीकार करना होगा। प्रकृति और संस्कृति का समन्वय प्राचीन काल में था। आधुनिक काल में यह भंग हुआ है। प्रकृति तथा संस्कृति दोनो के क्षेत्रों में अनेक क्रान्तियाँ हुई हैं। किन्तु अभी इन क्रान्तियों के आधार पर प्रकृति और संस्कृति का समन्वय नहीं हुआ है। स्पष्ट है कि यह समन्वय आज के युग की सबसे बड़ी माँग है।

जैसे प्रकृति संस्कृति को नष्ट नहीं कर सकती है वैसे कोई एक संस्कृति संसार की अन्य संस्कृतियों को नष्ट नहीं कर सकती है। सारे संसार की एक संस्कृति न कभी थी और न कभी हो सकती है। विश्व-संस्कृति अनेक राष्ट्रीय संस्कृतियों का समन्वय और सह-अस्तित्व है; वह कोई विशेष संस्कृति नहीं है। विश्व-संस्कृति के नाम पर बौद्ध मत, ईसाई मत, इस्लाम मत, या मार्क्स-मत संसार भर में फैल भले ही गये हों, किन्तु वे विश्व से अन्य संस्कृतियों को निष्कासित नहीं कर सके और न कर

सकेंगे । ऐसी परिस्थिति में संसार की समस्त संस्कृतियों के सह-अस्तित्व और समन्वय का सिद्धान्त अनिवार्य है जिसे कबीर, दाराशिकोह, प्राणनाथ, निश्चलदास, महात्मा गाँधी, एनीबेसेन्ट, भगवानदास, पाल डायसन, जवाहरलाल नेहरू और राधाकृष्णन ने प्रस्तावित, विकसित, चर्चित और प्रचारित किया है ।

भारतीय मनीषियों ने आधुनिक संस्कृति-दर्शन को विकसित ही नहीं किया है वरन् उसको अच्छी तरह भारत-भूमि में आरोपित भी कर दिया है । इस कारण हिन्दू-मुस्लिम एकता, सर्व-धर्म-समभाव, पूर्व-पश्चिम का मिलन, पंचशील, जनतंत्र और समाजवाद का समन्वय और राष्ट्रीयता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता का समन्वय आधुनिक भारतीय दार्शनिकों के मुख्य चिन्तन-विषय हो गये हैं । किन्तु अभी भारत-भूमि में आधुनिक प्रकृति-दर्शन या विज्ञान-दर्शन आरोपित नहीं हुआ है । इस कारण यहाँ के दार्शनिक आधुनिक प्रकृति-दर्शन के क्षेत्र में किसी नये सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं कर सके हैं । इस ओर हमें मौलिक चिन्तन करना है । यदि हम ऐसा नहीं करते तो हमारा समन्वय-सिद्धान्त या पूर्व-पश्चिम के मिलन का सिद्धान्त वास्तव में हिन्दू मत, इस्लाम मत, यहूदी मत, बौद्ध मत और ईसाई मत की एकता का सिद्धान्त या सर्व धर्म समन्वय का सिद्धान्त मात्र रह जायगा और वह प्रकृति-दर्शन तथा संस्कृति-दर्शन का समन्वय न होगा । आधुनिक भारतीय दर्शन मे जो समन्वय-सिद्धान्त गाँधी, राधा कृष्णन आदि दार्शनिकों ने प्रस्तावित किया है वह प्रकृति-दर्शन तथा संस्कृति-दर्शन का समन्वय नहीं हैं, वह केवल संस्कृतियों का समन्वय है जो संस्कृति-दर्शन का क्षेत्र है ।

प्रकृति-दर्शन तथा संस्कृति-दर्शन के आधुनिक समन्वय के लिए आधुनिक प्रकृति-दर्शन को समझना और विकसित करना उतना ही आवश्यक है जितना आधुनिक संस्कृति-दर्शन को । आधुनिक प्रकृति-दर्शन को सर्वप्रथम डेकार्ट, स्पिनोजा, लाइबनीज, लाक, बर्कले, ह्यूम और कांट ने विकसित किया । इनके दर्शन आधुनिक दर्शन की भूमिका हैं । इस भूमिका पर जब तक हम खड़े नहीं होते हैं तब तक हमें प्रकृति-दर्शन के उन्नयन का सबल सूत्र न मिलेगा ।

आधुनिक दर्शन की भूमिका में मैंने वह दृष्टिकोण देने का प्रयास किया है जो मूलतः प्रकृति-दर्शन के क्षेत्र में चिन्तन करने का आधार है और गौणतः प्रकृति-दर्शन तथा संस्कृति-दर्शन का आधुनिक समन्वय प्रस्तुत करता है ।

इसको लिखने की प्रेरणा मुझे अपने छात्रों से मिली है । अतः उन्हीं को यह समर्पित है । मेरे सुयोग्य विद्यार्थी तथा सहयोगी डा० ब्रजेन्द्रसिंह एम॰ ए॰, डी॰ फिल॰ (अब आई० ए० एस०) ने इसकी अनुक्रमणिका बनायी है जिसके लिए मैं उनका आभारी हूं ।

१७७ टैगोर नगर
इलाहाबाद ।

संगमलाल पाण्डेय

क्रम

अध्याय 1

प्रस्तावना

1 आधुनिक दर्शन के सात मत

आधुनिक पश्चिमी दर्शन के महान् दार्शनिक हैं डेकार्ट (१५९६-१६५०), स्पिनोजा (१६३२-१६७७), लाइबनीज (१६४६-१७१६), लाक (१६३२-१७०४), बर्कले (१६८५-१७५३), ह्यूम (१७११-१७७६) और काण्ट (१७२४-१८०४)। इनमें से डेकार्ट, स्पिनोजा और लाइबनीज के दर्शन को बुद्धिवाद, लाक, बर्कले तथा ह्यूम के दर्शन को प्रत्यक्षवाद और काण्ट के दर्शन को आलोचनावाद कहा जाता है। किन्तु इन सात दार्शनिकों के सात दर्शन हैं। हम इनके समूह को आधुनिक दर्शन कहेंगे। यह दर्शन आधुनिक युग की समस्त विचारधाराओं का मूल स्रोत है।

प्रायः दर्शन के इतिहास-ग्रन्थों में विकासवादी दृष्टिकोण अपनाया जाता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार दिखाया जाता है कि डेकार्ट के दर्शन का विकास स्पिनोजा के दर्शन में हुआ और स्पिनोजा के दर्शन का विकास लाइबनीज के दर्शन में हुआ। यह बुद्धिवाद का इतिहास है। फिर लाक से प्रत्यक्षवाद का इतिहास शुरू होता है। लाक के दर्शन का विकास बर्कले के दर्शन में होता है और बर्कले के दर्शन का विकास ह्यूम के दर्शन में होता है। अन्त में ह्यूम के दर्शन का खंडन करके काण्ट अपना दर्शन स्थापित करता है।

किन्तु यह विकासवादी दृष्टिकोण कुछ हद तक सही होते हुए भी गलत और भ्रमपूर्ण है। यह सत्य है कि डेकार्ट के कुछ सिद्धान्तों से स्पिनोजा को प्रेरणा मिली, स्पिनोजा के कुछ सिद्धान्तों से लाइबनीज को प्रेरणा मिली और इसी प्रकार लाक के कुछ सिद्धान्तों से बर्कले को और बर्कले के कुछ सिद्धान्तों से ह्यूम को प्रेरणा मिली तथा ह्यूम से काण्ट को प्रेरणा मिली और इस प्रेरणा के फलस्वरूप उन्होंने अपने-अपने दर्शनों की स्थापना की। किन्तु इतना होते हुए भी इन सभी दार्शनिकों के दर्शन अपने में पूर्ण हैं। इनमें से प्रत्येक का दर्शन एक स्वतः पूर्ण दर्शन है। इस तथ्य को समझने वालों ने कहा है कि डेकार्ट, स्पिनोजा, लाइबनीज, लाक, बर्कले ह्यूम और काण्ट के दर्शनों को आधुनिक दर्शन के विकास में मात्र सोपान नहीं मानना चाहिए, प्रत्युत उन्हें स्वतः पूर्ण दार्शनिक मत समझना चाहिए।

योरोप में आधुनिक दर्शन ही सर्वप्रथम योरोप के कई देशों के सहयोग से उत्पन्न हुआ। इसके पूर्व प्राचीनकाल में वहाँ यूनानी दर्शन था जो केवल यूनान की देन था। मध्ययुग में वहाँ अरबों और ईसाइयों का दर्शन था। इनको योरोपीय दर्शन नहीं कहा जा सकता। वास्तव में इनके समय में योरोपीय संस्कृति और सभ्यता का जन्म ही नहीं हुआ था। योरोपीय संस्कृति और सभ्यता का जन्म उसी समय से शुरू हुआ जिस समय आधुनिक दर्शन का उदय हुआ। आधुनिक दर्शन के संस्थापकों में से डेकार्ट फ्रांसीसी था, स्पिनोजा हालैंड का रहने वाला था और उसका परिवार पुर्तगाल तथा स्पेन से वहाँ गया था, लाइबनीज जर्मनी का निवासी था, लाक अंग्रेज था, बर्कले आयरलैण्ड का रहने वाला था, ह्यूम स्काटलैण्ड का निवासी था और काण्ट प्रशिया का निवासी था। इन सात देशों के इन सात दार्शनिकों ने केवल आधुनिक दर्शन को ही उत्पन्न नहीं किया वरन् योरोप की संस्कृति और सभ्यता के निर्माण में भी मौलिक रूप से भाग लिया। आज का योरोप बहुत कुछ उनका ही बनाया हुआ है। आधुनिक दर्शन शुद्ध योरोपीय दर्शन है।

२ आधुनिक दर्शन और आधुनिक विज्ञान

जिस समय आधुनिक दर्शन का उदय हो रहा था, उसके पहले से आधुनिक विज्ञान पनप रहा था। यह कहना अनुचित न होगा कि आधुनिक विज्ञान के ही कारण आधुनिक दर्शन का जन्म हुआ। कोपरनिकस (१४६३-१५४२) ने सिद्ध किया कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है। उसके पूर्व टालमी का विचार था कि पृथ्वी स्थिर है और विश्व का केन्द्र पृथ्वी है। कोपरनिकस ने विश्व का केन्द्र सूर्य को सिद्ध किया और कहा कि पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा कर रही है और अपनी धुरी पर अपना भी चक्कर लगा रही है। उसने टालमी के खगोल-विज्ञान को बिलकुल उलट दिया। उसकी खोज के आधार पर केपलर (१५७१-१६३०) ने नक्षत्रीय गति के तीन नियम खोजे जिन्हें केपलर के नियम कहा जाता है। ये नियम हैं: (१) प्रत्येक नक्षत्र सूर्य के चारों ओर घूम रहा है और उसके घूमने का मार्ग अण्डाकार है। अण्डाकार आकृति के दो केन्द्र होते हैं। उनमें से एक केन्द्र सूर्य है। केपलर के पूर्व माना जाता था कि प्रत्येक नक्षत्र का मार्ग गोलाकार या वृत्ताकार है। (२) नक्षत्र की गति अपनी कक्षा में इस तरह बदलती रहती है कि नक्षत्र के केन्द्र और सूर्य के केन्द्र को मिलाने वाली रेखा बराबर क्षेत्रफल पार करती है। (३) सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करने में प्रत्येक नक्षत्र जो समय लेता है उसका निश्चित सम्बन्ध सूर्य से उस नक्षत्र की दूरी से रहता है। आगे चलकर केपलर के इन नियमों के आधार पर न्यूटन (१६४२-१७२७) ने गुरुत्वाकर्षण के नियम का आविष्कार किया और गलीलियो (१५६४-१६४२)

ने दूरबीन का आविष्कार किया और उसके सहारे चन्द्रमा के पहाड़ों, बृस्पति के ग्रहों, सूर्य के धब्बों और शनि के आकार की खोज की। उसे कोपरनिकस की खोजों में विश्वास था और उन्हीं के आधार पर उसने अपनी खोजें कीं। किन्तु कोपरनिकस के विचार **बाइबिल** के विरोध में थे और इस कारण उस समय मसीही मत के कर्णधार लोग उसका विरोध करते थे। गलीलियो को कहा गया कि वह कोपरनिकस के सिद्धान्तों में विश्वास न करे, अन्यथा उसे दण्ड मिलेगा। गलीलियो डर गया। उसने प्रकट रूप में सबके सामने कहा कि वह कोपरनिकस के सिद्धान्तों को नहीं मानता है। किन्तु कहा जाता है कि उसी समय उसने अपने एक मित्र से कहा कि फिर भी पृथ्वी घूमती है। मसीही मत के विरुद्ध मत मानने के कारण ब्रूनो (१५४८-१६००) को जिन्दा जला दिया गया था। गलीलियो इस दण्ड को जानता था। इससे स्पष्ट होता है कि उस समय मसीही धर्मावलम्बियों का कितना दबदबा था और वे किस प्रकार विज्ञान की प्रगति को रोकते थे। किन्तु विज्ञान की प्रगति क्या कभी रुकी है? वह अपने कुचलने वालों को कुचल देता है और आगे बढ़ता है। धीरे-धीरे टालमी के खगोल-विज्ञान और भूगोल बिलकुल गलत सिद्ध हो गये। नये गणित और ज्योतिष का जन्म हुआ। इससे गणित और भौतिक-विज्ञान की प्रगतियाँ हुईं। स्वय डेकार्ट उच्चकोटि का गणितज्ञ था। उसने विश्लेषणात्मक ज्यामिति का आविष्कार किया जिसके अनुसार बीजगणित के समीकरणों को ज्यामितीय आकृतियों में बदला जा सकता है। लाइबनीज भी उच्चकोटि का गणितज्ञ था। उसने आकलन (कैलकुलस) का आविष्कार किया और प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र को जन्म दिया।

विज्ञान की इस प्रगति का कारण एक नयी प्रणाली थी जिसे आजकल आगमनात्मक तर्कशास्त्र (Inductive Logic) कहा जाता है और जिसे फ्रान्सिस बेकन (१५६१-१६२६) ने नया तर्कशास्त्र कहा था। इस पद्धति का दर्शनशास्त्र पर प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी था; क्योंकि विज्ञान के क्षेत्र में इसके आधार पर नयी-नयी खोजें हो रही थीं। विज्ञान की खोजों ने आधुनिक दर्शन के संस्थापकों को प्राचीन प्रणाली का परित्याग और नवीन प्रणाली का ग्रहण करने को विवश कर दिया। इसके कारण मध्ययुग के दर्शन का परित्याग और नये दर्शन की उद्भावना अनिवार्य हो गये। आधुनिक दर्शन नये विज्ञान से प्रभावित है। यह प्रभाव आगे बढ़ता चला गया। आज दर्शन पर विज्ञान का प्रभाव और भी बढ़ता जा रहा है। आजकल तो बहुत-से लोग कहने लगे हैं कि दर्शन-शास्त्र का कार्य केवल वैज्ञानिक अवधारणाओं को स्पष्ट करना है। उनके मत से दर्शनशास्त्र विज्ञान से कम महत्त्वपूर्ण है और उसे विज्ञान के सहारे चलना चाहिए। जैसे मध्ययुग में दर्शन के गले में धर्म-मीमांसा का फन्दा पड़ा था, वैसे

आजकल उसके गले में विज्ञान का फन्दा पड़ गया है। किन्तु आधुनिक दर्शन के सभी संस्थापक दर्शन-शास्त्र को विज्ञान से अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनके मत से किसी दार्शनिक वृत्त के अन्दर ही विज्ञान पनप सकता है। विज्ञान को दर्शनशास्त्र कीं आवार-शिला चाहिए, न कि दर्शन-शास्त्र को विज्ञान की आधारशिला। आधुनिक दर्शन दर्शनशास्त्र को स्वतन्त्र मानता है। इस दृष्टि से उसका महत्त्व समकालीन दर्शन से भी अधिक है।

स्पष्ट है कि आधुनिक दर्शन का गहरा सम्बध विज्ञान से है। यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं है कि १६वीं और १७वीं शती का विज्ञान ही आधुनिक दर्शन की जननी है। किन्तु यह भी ठीक है कि आधुनिक दर्शन ने ही १७वीं और १८वीं शती से लेकर १९वीं शती तक के विज्ञान को विकसित किया है; वह इस विज्ञान की धाय है। आधुनिक दर्शन का सूत्रपात विज्ञान से हुआ और विज्ञान का विकास आधुनिक दर्शन से हुआ। विज्ञान के प्रभाव के कारण आधुनिक दर्शन धर्म, अन्धविश्वास, चमत्कार, अलौकिक अनुभव तथा कूपमंडूकता से उन्मुक्त हुआ और बुद्धिवादी प्रणाली का जन्मदाता हुआ। विज्ञान ने ज्ञान की नयी व्याख्या का सूत्रपात किया। फिर, दर्शन ने विज्ञान को एक प्रणाली दी, उसको व्यापक बनाया और एक सार्वभौम विज्ञान की स्थापना की। विज्ञान ने दर्शन को भौतिक जगत् के बारे में गम्भीर चिन्तन करने को विवश किया और भौतिक जगत् की स्वयं व्याख्या की। दर्शन ने उस व्याख्या को संशोधित-परिवर्धित और कभी-कभी परिवर्तित किया। विज्ञान ने देश, काल, कारणता, द्रव्य, गुण, गति, बल, शक्ति, संख्या, एकता, सातत्य और विकास की जो अवधारणाएँ की उनके बनाने में दर्शन का जिनना योगदान है, उतना विज्ञान का नहीं। इन अवधारणाओं के विना विज्ञान बढ़ नहीं सकता था। दर्शन ने विज्ञान के लिए इन अवधारणाओं का उत्पादन तथा स्पष्टीकरण किया और उसे एक विकास-दिशा दी। आधुनिक दर्शन में इन अवधारणाओं का स्पष्टीकरण हुआ है। उसके सूत्रकार अपने समकालीन वैज्ञानिकों की भ्रामक अवधारणाओं को प्रदर्शित करते हैं और उन्हें ठीक दिशा में यन्त्रों और प्रयोग के सहारे ज्ञानार्जन करने की प्रेरणा देते हैं।

आधुनिक दर्शन और विज्ञान के बीच जो सम्बन्ध है वही दर्शन और विज्ञान के बीच ठीक संबन्ध है। विज्ञान दर्शन का स्थान नहीं ले सकता और न दर्शन का निराकरण कर सकता है। उसकी व्याख्या लाइबनीज और ह्यूम दोनों कर सकते हैं, यद्यपि दोनों के मत एक दूसरे के ठीक विपरीत हैं। विज्ञान को हम यदि बौद्ध शब्दावली में चक्षु-विज्ञान या सन्तति-विज्ञान कहें तो दर्शन को हमें आलय-विज्ञान कहना पड़ेगा। विज्ञान आँख या इन्द्रिय है और दर्शन आत्मा है जो उस इन्द्रिय को संचालित

और संगठित करता है । दर्शन विज्ञान का स्थान नहीं ले सकता और व उसका निराकरण कर सकता है । दर्शन और विज्ञान दोनों एक-दूसरे के लिए आवश्यक और उपयोगी हैं । विज्ञान का काम देखना है । किन्तु हम कैसे देखें ? इस प्रश्न का उत्तर दर्शन है । दर्शन सिखाता है कि किसी वस्तु को हम किन-किन दृष्टिकोणों से सही रूप में देख सकते हैं ।

३ आधुनिक दर्शन और आधुनिक भाषाएँ

आधुनिक दर्शन का गहरा संबंध जैसे विज्ञान से है, वैसे ही उसका गहरा सम्बन्ध आधुनिक भाषाओं से, खास तौर से, फ्रांसीसी, अँग्रेजी और जर्मन से है । आधुनिक दर्शन के आरम्भ-काल में लैटिन समूचे योरोप की ज्ञान-विज्ञान की भाषा थी । उसके अन्त-काल में फ्रांसीसी ने लैटिन का पद ले लिया । १८वीं शती तक फ्रांसीसी योरोपीय दर्शन, विज्ञान और संस्कृति की सब से व्यापक भाषा रही । किंतु १९वीं शती से अँग्रेजी का विकास जोरों से हुआ और उसने फ्रांसीसी का स्थान उसी तरह ले लिया जिस तरह फ्रांसीसी ने लैटिन का स्थान लिया था । किंतु अंग्रेजी का विकास सहसा नहीं हुआ है। आधुनिक दर्शन के पहले से उसका विकास हो रहा था। बेकन १५६१-१६२६) ने अपनी पुस्तक **'विद्या की प्रगति'** (Advancement of Learning) १६०५ में अँग्रेजी में प्रकाशित की । अँग्रेजी की यही पहली दार्शनिक पुस्तक है । इसके पहले अँग्रेज लोग दार्शनिक विषयों पर लैटिन में लिखते थे । स्वयं बेकन को अपनी इस पुस्तक का अनुवाद १६२३ में लैटिन में छपवाना पड़ा क्योंकि वह अपने विचारों को एक ओर स्पष्ट करना चाहता था और दूसरी ओर वह उनका प्रचार योरोप में करना चाहता था । स्पष्टता और प्रचार दोनों के लिए लैटिन की जरूरत थी, न कि अँग्रेजी की । बेकन लैटिन में सोचता था । उसका विश्वास था कि अँग्रेजी में सत्साहित्य नहीं हो सकता । इसीलिए उसने अपने दर्शन को लैटिन में प्रस्तुत किया । उसके विद्यार्थी हाब्स (१५८८-१६७९) ने अपनी पुस्तक **लेबाइथन** को १६५१ में अँग्रेजी में छपवाया । किंतु उसने इसका लैटिन अनुवाद १६७० में प्रकाशित किया । चूँकि उसने क्रामवेल की चाटुकारी करने के लिए **लेबाइथन** को लिखा था इसीलिए उसे उसको क्रामवेल की भाषा में यानी अँग्रेजी में लिखना पड़ा और फिर जब उसने देखा कि उसने उसमें राजनीतिक और दार्शनिक प्रश्नों पर गम्भीर चिन्तन भी प्रस्तुत किया है तब उसने उसे लैटिन में प्रकाशित किया जो उस समय विद्वानों की भाषा थी । इससे स्पष्ट है कि यद्यपि राजनीतिक कारणों से बेकन और हाब्स को अँग्रेजी में दर्शन की एक-एक पुस्तक लिखनी पड़ी, तथापि उनके समय में अंग्रेजी

दर्शन और विज्ञान की भाषा नहीं थी। किन्तु दोनों ने अस्पष्टतः सोचा था कि अंग्रेजी को ही दर्शन और विज्ञान की भाषा होना चाहिए। अँग्रेज वैज्ञानिक न्यूटन (१६४२-१७२७) ने भी अपनी कृतियों को लैटिन में ही लिखा। उसकी सर्वश्रेष्ठ कृति **प्रिन्सिपिया मैथेमेटिका** (**सिद्धान्त गणित**) १६८७ में लैटिन में ही प्रकाशित हुई। इससे स्पष्ट है कि १७वीं शती के अन्त तक अँग्रेजी विज्ञान की भाषा नहीं हुई थी। लॉक, बर्कले और ह्यूम ने, जो आधुनिक दर्शन के तीन महान् दार्शनिक हैं, सबसे पहले अंग्रेजी के माध्यम से सूक्ष्म चिन्तन किया और अँग्रेजी में दर्शन के अच्छे ग्रंथ लिखे। लाक का **निबन्ध** १६९० में, बर्कले की **सिद्धान्तावली** १७१० में और ह्यूम का **प्रबन्ध** १७३८ में निकले। ये अँग्रेजी के प्रथम दार्शनिक ग्रन्थ हैं। इनके समय में अंग्रेजी में और भी दार्शनिक ग्रन्थ अन्य दार्शनिकों के द्वारा प्रकाशित किये गये। किन्तु वे इनकी तुलना में महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इन ग्रथों का दार्शनिक महत्त्व तो है ही, इनका साहित्यिक और भाषाशास्त्रीय महत्त्व भी है। आज भी इन तीन ग्रन्थों से बढ़ कर अँग्रेजी में कोई चौथा दर्शन-ग्रन्थ नहीं है। ये अँग्रेजी के दार्शनिक ग्रन्थों में आज भी मूर्धन्य हैं। इनसे अँग्रेजी गद्य की विश्लेषणात्मक शैली का विकास हुआ और अँग्रेजी दर्शन तथा विज्ञान की भाषा के पद पर आरूढ़ हो गयी। इनमें जो दृष्टि थी वह लैटिन में नहीं थी। अतः इनसे अँग्रेजी की दार्शनिक मौलिकता का भी सूत्रपात हुआ।

यह उल्लेखनीय है कि जिस समय लाक, बर्कले और ह्यूम अँग्रेजी में अच्छे-अच्छे ग्रन्थ लिख रहे थे और उसके माध्यम से मौलिक चिन्तन कर रहे थे उस समय भी इंग्लैण्ड के विश्वविद्यालयों में प्रायः लैटिन के माध्यम से दर्शन की शिक्षा दी जाती थी। परन्तु इन दार्शनिकों की विचार-धारा लैटिन में नहीं थी और इन्होंने अपने विचारों को लैटिन में न तो लिखा और न उनका अनुवाद ही कराया। इससे दर्शन के प्रोफेसरों को भाषा-परिवर्तन करने की प्रेरणा मिली और वे धीरे-धीरे लैटिन के स्थान पर अंग्रेजी का प्रयोग करने लगे। ऐसे प्रोफेसरों में हचिसन का नाम सदा उल्लेखनीय रहेगा। वह १७२९ में ग्लासगो विश्वविद्यालय में दर्शन का प्राध्यापक नियुक्त किया गया था। उसने देखा कि लैटिन के माध्यम से दर्शन को पढ़ाना व्यर्थ है, क्योंकि विद्यार्थी रटने और समझने में अधिक समय और परिश्रम लगाते हैं और विषय या शास्त्र न तो समझ पाते है और न तो समझने की चेष्टा करते हैं। इसलिए कुछ ही दिनों में उसने लैटिन की किताबों को फेंक दिया और अपने छात्रों को अँग्रेजी में पढ़ाने लगा। यह ध्यान देने की बात है कि उस समय अँग्रेजी में दर्शन की पाठ्य पुस्तकें नहीं थी। इसलिए विद्यार्थियों ने हचिसन से पुस्तकों की माँग की। हचिसन ने

कुछ-पुस्तकें लिखीं और उनकी माँग की पूर्ति की। किन्तु उसने उनको जो शिक्षा दी वह प्रत्येक देश और युग के प्रोफेसरों और छात्रों के लिए अनुकरणीय है—"लिखित शब्दों की अपेक्षा बोले गये शब्दों पर अधिक निर्भर करो।" दर्शन के छात्रों और प्राध्यापकों को लिखित शब्द या भाषा से अधिक महत्त्व बोल-चाल की भाषा को देना चाहिए, क्योंकि तभी चिन्तन का विकास हो सकता है। हचिसन ने दर्शन के प्रशिक्षण में वही भाषायी क्रान्ति की है जिसे लाक ने ग्रन्थ-प्रणयन में की थी। इस तरह आधुनिक दर्शन के समय में ही अँग्रेजी चिन्तन और सद्ग्रन्थ के प्रणयन की भाषा बनी।

इस प्रकार आधुनिक दर्शन के संस्थापकों के समय से आधुनिक भाषाओं के माध्यम से दार्शनिक चिन्तन आरम्भ हुआ। जिस समय डेकार्ट अपने दर्शन की स्थापना कर रहा था उस समय दर्शनशास्त्र की भाषा लैटिन थी। फ्रांसीसी, अँग्रेजी, जर्मन आदि आधुनिक भाषाओं में उस समय उतना भी दर्शन-साहित्य नहीं था जितना उस समय हिन्दी में था। डेकार्ट ने अपने ग्रन्थों को लैटिन और फ्रांसीसी में लिखा है। उसका युगान्तरकारी ग्रन्थ **'प्रणाली का विमर्श'** (Discourse on the Method) फ्रांसीसी भाषा में ही सर्वप्रथम १६३७ में प्रकाशित हुआ। स्पिनोजा ने अपने ग्रन्थों को लैटिन में लिखा किन्तु वह पुर्तगाली, स्पेनी, डच, इटालियन, फ्रांसीसी, इन आधुनिक भाषाओं को भी जानता था। लाइबनीज की रचनाएँ लैटिन, जर्मन और फ्रांसीसी में हैं। लाक, बर्कले और ह्यूम की रचनाएँ अंग्रेज़ी में हैं। कांट ने अपनी रचनाएँ जर्मन में लिखीं। इस प्रकार आधुनिक दर्शन के पूर्व समूचे योरोप में दर्शनशास्त्र की भाषा लैटिन थी, किन्तु उसके आरंभ से लैटिन का स्थान आधुनिक भाषाओं ने ले लिया। इस काल में लैटिन के प्रयोग का धीरे-धीरे ह्रास हुआ और आधुनिक भाषाओं के प्रयोग का धीरे-धीरे विकास हुआ। अन्ततः लैटिन मृत भाषा हो गयी और आधुनिक भाषाएँ ही दर्शनशास्त्र, साहित्य तथा विज्ञान की भाषाएँ बन गयीं। जब नये युग का आरम्भ होता है तब नये विचार के साथ-ही-साथ नयी भाषा और नयी शैली का आरम्भ होता है। यदि भाषा की यह क्रान्ति न हो तो विचार की क्रान्ति यथेष्ट अभिव्यक्ति नहीं पा सकती।

आधुनिक दर्शन के इन संस्थापकों के ग्रन्थ मौलिक हैं। इनके समय में विभिन्न विश्वविद्यालयों में जो दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर थे वे मसीही दार्शनिक थे। उनका मुख्य कार्य टीका-टिप्पणी करना था। वे टीकाकार थे। अरस्तू उनके लिए दर्शनशास्त्र का पर्यायवाची था। उसके ग्रन्थों की टीका-टिप्पणी करना ही उनके लिए दार्शनिक कर्म था। आधुनिक दर्शन के संस्थापकों ने टीका-युग को समाप्त किया और एक नये युग का, निबन्ध-युग का, प्रवर्तन किया। इस नये युग की शैली निबन्ध है। इन संस्थापकों ने

अपने-अपने निबन्ध लिखे जिनमें उन्होंने केवल उन्हीं विचारों का व्याख्यान किया जिन्हें वे स्वयं मानते थे।

४ आधुनिक दर्शन की विशेषताएँ

आधुनिक दर्शन के सभी संस्थापकों ने सत्य के अनुसंधान को ही अपने जीवन का मुख्य लक्ष्य बनाया था। उनमें सच्ची जिज्ञासा थी। वे अपने समय की सभी दार्शनिक और वैज्ञानिक कृतियों से अवगत थे। उनमें कूपमण्डूकता छू तक नहीं गयी थी और वे हमेशा इस बात को जानने के इच्छुक रहते थे कि दूसरे देशों और दूसरी भाषाओं में कौन-कौन से विचार पनप रहे हैं। वे अपने समकालीन विचारकों की कृतियों से अवगत थे और अपनी कृतियों पर उनके विचार जानना चाहते थे। वे पत्रव्यवहार द्वारा अपने सिद्धान्तों को अन्य विचारकों तक पहुँचाते थे। और उनकी आपत्तियों को आमंत्रित करते थे। कभी-कभी वे यात्रा भी करते थे और उन लोगों के पास जाते थे जो अपने को ज्ञानी तथा दार्शनिक कहते थे। इस प्रकार संवाद तथा पत्रव्यवहार द्वारा वे अन्य विचारकों से वाद विवाद करते थे और किसी सत्य सिद्धान्त पर पहुँचते थे। सत्य के अनुसंधान में वे इतनी गम्भीरता से लगे थे कि उनको घर-गृहस्थी और शादी-विवाह में पड़ने की फुरसत नहीं थी। डेकार्ट, स्पिनोजा, लाइबनीज, लाक ह्यूम और कांट अविवाहित थे। बर्कले विवाहित था; किन्तु उसने विवाह देर में, ३७ वर्ष की आयु में किया था और विवाह के बहुत पूर्व उसके प्रमुख दार्शनिक ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी।

सत्य के अनुसंधान की उन्होंने अपनी-अपनी प्रणाली निकाली। ये प्रणालियाँ स्वतंत्र विचार की प्रणालियाँ हैं। वे विचार के सभी पूर्वाग्रहों से उन्मुक्त थे। उनकी बुद्धि उन्हें जिस सिद्धान्त की ओर ले जाती थी उसे वे स्वीकार करते थे और उसके अनुसार जीवन-यापन करते थे। उनकी बुद्धि पर धर्म, अन्धविश्वास, रूढ़ि या परम्परा का बन्धन न था। उनके समय में विभिन्न विश्वविद्यालयों में जो प्रोफेसर थे वे सभी प्रायः धर्म-मीमांसक थे और धर्म-मीमांसा की चहारदीवारी के अन्दर ही दर्शनशास्त्र का विवेचन करते थे। जब कभी बुद्धि के निर्णय और धर्म-ग्रन्थों के वाक्य में संघर्ष होता था तब वे बुद्धि के निर्णय को छोड़ देते थे, उसे गलत मानते थे। इन धर्म-मीमांसकों के कारण दर्शन की प्रगति रुकी थी; दर्शनशास्त्र धर्म-मीमांसा का दास बना था। आधुनिक दर्शन के संस्थापकों ने दर्शन-शास्त्र को धर्म-मीमांसा से स्वतंत्र किया। डेकार्ट रोमन कैथलिक पंथ को मानता था। किन्तु उसने अपने पंथ के सिद्धान्तों से अपने दार्शनिक चिन्तन को स्वतंत्र रखा। कैथलिक दार्शनिकों की भाँति उसने अपने

पंथ को अपने दर्शन से अधिक महत्त्व नहीं दिया । उसके बारे में यही कहा जा सकता है कि उसके दर्शन ने उसके धार्मिक विश्वासों में परिवर्तन नहीं किया । इसका कारण उसकी उदारता और सहिष्णुता है । किन्तु उसके परवर्ती दार्शनिक स्पिनोजा ने प्रकट रूप से यहूदी, ईसाई या ऐसे ही किसी अन्य पैगम्बर-प्रोक्त धर्म का परित्याग किया । उसको लोगों ने नास्तिक तक कहा । लाइबनीज ईसाई धर्म को मानता जरूर था; किन्तु उसका दर्शन, जैसा कि रसल ने कहा है, इस मान्यता के विपरीत था और निरीश्वर-वाद था । वह राजनीतिक और सामाजिक कारणों से ईसाई धर्म को मानता था । उसने ईसाई धर्म के सभी मतों को एक संघ में संगठित करने का प्रयास भी किया । ऐसा ही प्रयास उसने सभी ईसाई राज्यों को संगठित करने में किया । किन्तु इन दोनों प्रयासों में वह विफल हुआ । अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वह कर्मकाण्ड से सम्बन्धित धर्म से दूर चला गया और प्राकृतिक धर्म को मानने लगा । मरते समय उसने किसी पादरी को अपने पास आने की अनुमति तक न दी । लाक धार्मिक सहिष्णुता का प्रतिपादक था । वह निरीश्वरवादियों, ईसाइयों और मुसलमानों सभी की धार्मिक अनु-भूतियों को मानने को तैयार था यदि वे तर्क-विरोधी नहीं हैं । वह धार्मिक अनुभूतियों को तर्क से ऊपर मानता था । किन्तु जो धार्मिक अनुभूति या विश्वास तर्क-विरुद्ध है, उसे वह गलत मानता था । लाक के इन मतों से एक धार्मिक आन्दोलन शुरू हुआ जिसे डीज्म या ईश्वरनिमित्तवाद कहते हैं । इस आन्दोलन का मुख्य लक्ष्य ईसाई धर्म से तर्क-विरुद्ध या अतार्किक सिद्धान्तों को निकाल देना और तर्क तथा धार्मिक अनुभूति (रेवीलेशन) में अविरोध दिखाना है । बर्कले बिशप था और अपने ईसाई मत का प्रचारक भी था, किन्तु वह अपने धार्मिक कृत्यों और विश्वासों से अधिक महत्त्व अपने ईश्वर-वाद को देता था और ईश्वर को धर्मग्रन्थ के आधार पर न मान कर अनुभव और तर्क के आधार पर मानता था । इस प्रकार ईसाई बिशप होता हुआ भी वह धर्म-मीमांसक नहीं था । ह्यूम तो स्पष्टतः निरीश्वरवादी था । उसने ईश्वरनिमित्तवाद का अन्त कर दिया । कांट ने सिद्ध किया कि ईश्वर के अस्तित्व को तर्क से सिद्ध नहीं किया जा सकता है, किन्तु नैतिकता और सौन्दर्य के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को माना जा सकता है । उसने धर्म के स्वरूप का विवेचन शुद्ध बुद्धि की सीमा के अन्दर किया ।

पुनश्च आधुनिक दर्शन का प्रधान विषय ज्ञान-मीमांसा है । डेकार्ट ने तत्त्व-निरूपण के पूर्व उस ज्ञान के स्पष्टीकरण और विनिश्चिय पर बल दिया जिसके द्वारा तत्त्व का निरूपण होता है । इस प्रकार उसने दिखाया कि ज्ञान-मीमांसा तत्त्वदर्शन से पूर्व है । डेकार्ट के पहले दार्शनिक गण सर्वप्रथम ईश्वर और उसकी सृष्टि से दर्शन का आरम्भ करते थे और जब वे सृष्टि में मनुष्य का उद्भव दिखाते थे तब वे ज्ञान का निरूपण करते थे । उनके मत से तत्त्व-दर्शन या तत्त्व-निरूपण ज्ञान-मीमांसा से पूर्व है ।

डेकार्ट की इस क्रान्ति की तुलना हम कोपरनिकस की क्रान्ति से कर सकते हैं। किन्तु इसका प्रतिपादन करते हुए भी उसने इसका पर्याप्त मूल्यांकन और निर्वाह नहीं किया था। उसके परवर्ती दार्शनिक लाइबनीज और स्पिनोजा ने ज्ञान-मीमांसा से अधिक महत्त्व तत्त्व-निरूपण को दिया। लाक ने पुनः ज्ञान-मीमांसा पर बल दिया और उसी के अन्दर तत्त्व-निरूपण का समावेश किया। बर्कले ने ज्ञान-मीमांसा और तत्त्व-निरूपण दोनों का व्याख्यान अवश्य किया, किन्तु उसके लिए तत्त्व निरूपण महत्त्वपूर्ण साध्य था और ज्ञान-मीमांसा मात्र साधन थी। ह्यूम ने तत्त्व-निरूपण को असम्भवित दिखाया और ज्ञान-मीमांसा को ही दर्शन का सर्वस्व सिद्ध किया। किन्तु उसकी ज्ञान-मीमांसा संशयवादी थी। इससे ज्ञान पर भी संशय हो जाता है। बाद में कांट ने ज्ञान-मीमांसा को ही एकमात्र दर्शन के रूप में प्रतिपादित किया। उसकी यह क्रान्ति दर्शनशास्त्र में कोपरनिकसी क्रान्ति कही जाती है।

ज्ञान-मीमांसा के महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं—ज्ञान क्या है? ज्ञान का स्रोत (उद्गम-स्थान) क्या है? ज्ञान के प्रामाण्य की कसौटी क्या है? ज्ञान की सीमा क्या है? ज्ञान कितने प्रकार का है? आधुनिक दर्शन के प्रत्येक संस्थापक ने इन प्रश्नों का विमर्श किया है।

आधुनिक दर्शन में जिस तत्त्व-मीमांसा या तत्त्व-दर्शन का वर्णन है वह सृष्टि-विज्ञान का निरूपण नहीं है। उसमें केवल तत्त्व का निरूपण है। इस तत्त्व-निरूपण में तीन तत्त्व प्रमुख हैं। ये तत्त्व हैं : आत्मा, ईश्वर और बाह्य जगत्। आधुनिक दार्शनिकों में से प्रत्येक ने इन तत्त्वों के बारे में विचार किया है। यह कहा जा सकता है कि आधुनिक दर्शन का प्रयोजन अनुभव का व्याख्यान करना है या विश्व की व्याख्या करना है। उसका प्रयोजन ईश्वरलाभ या आत्म-लाभ नहीं है जैसा कि मध्ययुगीन दर्शन का था। उसका प्रयोजन आत्मा, ईश्वर और बाह्य जगत् की स्पष्ट अवधारणा करना है। किन्तु यह स्पष्ट अवधारणा किसी स्थिति को प्राप्त करने का साधन नहीं है। यह स्वयं बहुत बड़ा मूल्य है। आधुनिक दर्शन ने सिद्ध किया कि ज्ञान ही सच्चा सुख है। यही मानव जीवन का लक्ष्य है। ज्ञान स्वतः मूल्यवान है। वह अपना साध्य स्वयं है।

फिर आधुनिक दर्शन एक ऐसा दर्शन-परिवार है जिसका विकास काल और अर्थ के दृष्टिकोणों से एक क्रम में हुआ है। यह डेकार्ट, स्पिनोजा, लाइबनीज, लाक बर्कले, ह्यूम और कांट के क्रम से विकसित हुआ। इनमें से प्रत्येक परवर्ती दार्शनिक के लिए उसके पूर्ववर्ती दार्शनिक के दर्शन ने पूर्वपक्ष का काम किया। इस प्रकार इनके दर्शनों का सम्बन्ध पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष का सम्बन्ध है। डेकार्ट का दर्शन स्पिनोजा

के लिए पूर्वपक्ष है और उसका अपना दर्शन उत्तरपक्ष (सिद्धान्त-पक्ष) है। पूर्वपक्ष में वह डेकार्ट के दर्शन का खण्डन करता है और उत्तरपक्ष में अपने दर्शन का प्रतिपादन। फिर इसी प्रकार लाइबनीज के लिए स्पिनोजा का दर्शन पूर्वपक्ष है और अपना दर्शन उत्तरपक्ष। लाक के लिए लाइबनीज का दर्शन, बर्कले के लिए लाक का दर्शन और ह्यूम के लिए वर्कले का दर्शन पूर्वपक्ष है। कांट के लिए ह्यूम का दर्शन और लाइबनीज का दर्शन दोनों पूर्वपक्ष हैं। इन दोनों का खण्डन करके उसने अपने दर्शन की स्थापना की। इन दर्शनों के पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष के इस सम्बन्ध ने इतिहासकारों की दृष्टि को इतना धूमिल किया कि उन्होंने इनमें से किसी को स्वतन्त्र और स्वतःपूर्ण दर्शन नहीं माना। किन्तु यद्यपि इन दर्शनों में पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष अथवा खण्डन-मण्डन का सम्बन्ध है तथापि इस खण्डन-मण्डन की प्रक्रिया के अन्तराल में एक गहन दृष्टिकोण की एकता भी निहित है। यह एकता बुद्धिवाद को स्पष्ट करने की प्रवृत्ति है।

अतः आधुनिक दर्शन की अन्तरंग विशेषता है कि यह बुद्धिवादी है। यद्यपि प्रायः डेकार्ट, स्पिनोजा और लाइबनीज को ही बुद्धिवादी कहा जाता है और लाक, बर्कले तथा ह्यूम को प्रत्यक्षवादी या अनुभववादी कहा जाता है तथापि हम इन सभी को बुद्धिवादी कह सकते हैं; क्योंकि इनके मत से मानव बुद्धि या मानव ज्ञान ही सर्वोच्च प्रमाण हैं। फिर यद्यपि कांट के दर्शन को बुद्धिवाद और अनुभववाद का समन्वय कहा जाता है तथापि वह पूर्णतः बुद्धिवाद ही है। ये सभी दार्शनिक ईश्वरीय ज्ञान, समाधि-ज्ञान या मोक्ष-ज्ञान को जो अलौकिक ज्ञान हैं, नहीं मानते हैं। इनमें मतभेद केवल इस बात पर है कि बुद्धि मात्र प्रत्यक्ष-प्रदत्तों से निर्मित है अथवा उनके अतिरिक्त भी उसका कुछ अस्तित्व है। डेकार्ट, स्पिनोजा और लाइबनीज मानते हैं कि बुद्धि का अपना अस्तित्व है। वह मात्र प्रत्यक्ष-प्रदत्तों का संघात नहीं है। बुद्धि-प्रत्यक्ष-प्रदत्तों से प्रकारतया भिन्न है। इसी मत को बर्कले भी मानता है। लाक इसको असंगत ढंग से मानता है और ह्यूम इसका खण्डन करता है। कांट बुद्धि और प्रत्यक्ष-प्रदत्तों के परस्पर समवेत रूप को मौलिक ज्ञान मानता है।

पुनश्च आधुनिक दर्शन भाववादी है। उसमें अभाव, शून्य, अलक्षण और अनिर्वचनीय तत्त्वों का निरूपण नहीं है। जैसे वह धर्म-मीमांसा से स्वतन्त्र और दूर है वैसे ही वह रहस्यवाद, मौनवाद, अलौकिकवाद और चमत्कारबाद से भी दूर है। उसमें किसी अलौकिक तत्त्व, शक्ति या घटना की मान्यता नहीं है।

अन्ततः आधुनिक दर्शन ने आध्यात्मिक और भौतिक दोनों प्रकार के तत्त्वों की स्पष्ट अवधारणा करने का प्रयास किया है। डेकार्ट, लाक और स्पिनोजा मानते हैं कि दोनों प्रकार के तत्त्व वस्तु-सत् हैं और इनकी अवधारणा हो सकती है। लाइबनीज

और बर्कले मानते हैं कि इनमें से केवल आध्यात्मिक तत्त्व ही वस्तु-सत् है और उसकी स्पष्ट अवधारणा होती है और भौतिक तत्त्व की स्पष्ट अवधारणा करना तर्कतः असंभव है। अतः उनके मत से भौतिक तत्त्व का अस्तित्व नहीं है। ह्यूम का कहना है कि इन दोनों प्रकार के तत्त्वों की अवधारणा हो सकती है, किन्तु ये दोनों प्रकार के तत्त्व वस्तु-सत नहीं हैं। ये मात्र प्रत्ययों के संघात हैं। अन्ततः कांट पुनः आध्यात्मिक तत्त्वों को श्रद्धा, नैतिकता और सौन्दर्यानुभूति के आधार पर स्थापित करता है। ऐसी परिस्थिति में यह नहीं कहा जा सकता है कि आधुनिक दर्शन भौतिकवादी है। किन्तु भारत में अधिकांश लोग समझते हैं कि आधुनिक दर्शन भौतिकवादी है। यह धारणा गलत है। किन्तु यदि इसका अर्थ यह लिया जाय कि आधुनिक दर्शन ने भौतिक जगत् को समझने का प्रयास किया है और उसके अनेक सिद्धान्तों का आविष्कार किया है तब हम कह सकते हैं कि आधुनिक दर्शन भौतिकवादी है। किन्तु यहाँ भौतिकवाद का वह अर्थ नहीं है जो सामान्यतः इस शब्द का होता है। भौतिकवाद के विपरीत आधुनिक दर्शन अध्यात्मवादी है; क्योंकि इसने अध्यात्म का मार्मिक विवेचन किया है। डेकार्ट ने अपने दर्शन का आरम्भ ही आत्मा के विवेचन से किया। फिर लाइबनीज और बर्कले ने आत्माओं को ही एकमात्र सत् माना। स्पिनोजा ने चेतना को अपने द्रव्य का अनिवार्य रूप माना और इस प्रकार अध्यात्मवाद को मान्यता दी। लाक ह्यूम और कांट ने आत्मा के ज्ञान का ही मार्मिक व्याख्यान किया है। यदि हम उनको अध्यात्मवादी नहीं कह सकते तो यह कहना कठिन है कि कौन अध्यात्मवादी है। यदि अध्यात्मवादी का अर्थ है योग या भक्ति के द्वारा आत्म-लाभ या ईश्वर-लाभ करना, तो आधुनिक दर्शन अध्यात्मवादी नहीं है। किन्तु यदि अध्यात्मवादी का अर्थ है आत्मा से संबंधित ज्ञान को प्राप्त करना, इसके अस्तित्व अथवा नास्तित्व का युक्तियुक्त निरूपण करना और इसकी अवधारणा का व्याख्यान करना, तो आधुनिक दर्शन को अध्यात्मवादी कहा जा सकता है, क्योंकि यही उसका मुख्य वर्ण्य विषय है।

अध्याय २

डेकार्ट का द्वैतवाद

१ डेकार्ट का जीवनवृत्त

डेकार्ट का पूरा नाम रेने डेकार्ट है। उसका जन्म ३१ मार्च, १५९६ को कोल हये, तूरेन, फ्रांस में एक कुलीन और धनी परिवार में हुआ था। उसके पिता का नाम जोखिम डेकार्ट था। वह अपने पिता की तृतीय सन्तान था और द्वितीय पुत्र था। उसके जन्म के एक वर्ष बाद उसकी माँ का देहान्त हो गया। उसकी शिक्षा ला फ्लैश के जैसुइट कालेज में १६०६ में आरम्भ हुई, जबकि वह १० साल का था। वहाँ उसने ६ साल मानविकी का और ३ साल दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया। वह बचपन से ही ध्यान करता था। उसकी इस आदत को देखकर उसका पिता उसको बचपन से ही 'मेरे दार्शनिक' कहा करता था। अपने कालेज-जीवन में वह प्रतिदिन प्रातः देर को उठता था और उठते ही प्रातःकालीन ध्यान करता था। दैनिक ध्यान करने की इस आदत को उसने जीवनपर्यन्त निभाया। ला फ्लैश के बाद उसने अपनी पढ़ाई प्वाटियर्स विश्वविद्यालय में जारी रखी और वहाँ से उसने स्नातक तथा वकालत की डिग्रियाँ १६१६ में ली। वहीं उसने भैषज्य का भी ज्ञान प्राप्त किया। उसके बाद वह पेरिस में रहने लगा।

डेकार्ट प्रतिभाशाली छात्र था। उसे उत्तम शिक्षा मिली थी। काव्य, भाषा, बीजगणित, ज्यामिति, भौतिक विज्ञान, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, धर्ममीमांसा, कानून और भैषज्य का उसने उच्च ज्ञान प्राप्त किया था। किन्तु पढ़ाई समाप्त करने पर उसे अनुभव हुआ—"मैंने अपने को अनेक सन्देह और भूलों में इतना उलझा हुआ पाया कि मुझे ऐसा लगा मानो मेरी शिक्षा का प्रभाव केवल मेरे अज्ञान की बढ़ती हुई खोज है।" इस प्रकार अपनी शिक्षा से डेकार्ट को अपने अज्ञान का पता चला और उसका दृष्टिकोण सन्देहात्मक हो गया। दर्शनशास्त्र के अनुशीलन से उसे पता चला कि अनेक शताब्दियों से अत्यन्त मेधावी लोगों ने दर्शनशास्त्र की रचना की है, लेकिन फिर भी इसका एक भी विषय ऐसा नहीं है जो विवाद तथा सन्देह से परे हो। गणित की निश्चयात्मक उपपत्तियों से वह प्रसन्न हुआ। किन्तु उसे गणित का महत्त्व-पूर्ण उपयोग न मालूम हुआ और यह जानकर वह आश्चर्यचकित हो गया कि यद्यपि

गणित की आधारशिला सुदृढ़ है तथापि उस पर कोई भव्य भवन नहीं बना हुआ है। अतः वह गणित की समस्याओं को सुलझाने में और गणित की सुनिश्चित प्रणाली के आधार पर गणित का एक सुन्दर भवन खड़ा करने में लग गया। किन्तु उसके साथ-ही-साथ उसकी संशयालुता भी बढ़ती गई। जब वह पूर्ण वयस्क हो गया, अपने शिक्षकों की अधीनता से स्वतन्त्र हो गया, तब उसने पठन-पाठन बिलकुल छोड़ दिया। उसने लिखा—"मैंने संकल्प किया कि जो विज्ञान मेरे अन्दर होगा उसको तथा जगत्‌रूपी महान् ग्रन्थ को छोड़कर अब किसी विज्ञान को न पढ़ूँगा। अतः मैंने अपने शेष जीवन को यात्रा में, राजदरबार देखने में, सैन्य कर्म करने में, विभिन्न रुचियों और स्वभाव वाले मनुष्यों का सम्पर्क प्राप्त करने में, विविध अनुभवों के संग्रह में और विषम परिस्थितियों का सामना करने में बिताया।" यह सब उसने सत्य की खोज के लिए किया। अपने संकल्प के अनुसार १६१८ में वह स्वयंसेवक की हैसियत से हालैण्ड की सेना में भरती हो गया। वहाँ उसने लोकाचार और लोगों का अध्ययन किया। हालैण्ड छोड़कर वह बेवरिया के ड्यूक की सेना में भरती हुआ और फिर उसे छोड़कर इम्पीरियल सर्विस में भरती हुआ। जब वह बेवरिया के ड्यूक की सेना में था तब डैन्यूब नदी के किनारे न्यूबर्ग में उसकी तैनाती हुई। वहाँ १० नवम्बर १६१६ की रात को उसने तीन स्वप्न देखे। ये स्वप्न उसके जीवन में युगान्तरकारी सिद्ध हुए। जिस रात को उसने स्वप्न देखे उसके पहले दिन में उसने एक विचित्र विज्ञान के आधार खोजे थे।

१० नवम्बर सन् १६१६ को खोजा गया विचित्र विज्ञान क्या है ? और उस रात को देखे गये स्वप्न क्या हैं ?

इन स्वप्नों को डेकार्ट का जीवनचरित[1] नामक ग्रन्थ लिखने वाले बैले ने लिखा है। उसके बयान से पता चलता है कि डेकार्ट को दिन में एक विचित्र विज्ञान का बोध हुआ और रात में स्वप्न दिखे। किन्तु मिलहाउड ने स्पष्टतया दिखाया है कि विचित्र विज्ञान का बोध और स्वप्न-दर्शन वास्तव में एक ही घटना है; उनको दो घटनाएँ बनाना बैले की मात्र कल्पना और भूल है[2]। कुछ भी हो, डेकार्ट के लिए विचित्र विज्ञान और स्वप्न दोनों महत्त्वपूर्ण हैं।

विचित्र विज्ञान के बोध का सम्बन्ध तीन स्वप्नों से है। अतः हमें पहले इन स्वप्नों को जानना चाहिए।

---

१. Vie de Descartes by Baillet, 1691.

२. देखिये Dreams of Descartes by J. Maritain, p. 189 Note 4

कहा जाता है कि विचित्र विज्ञान के बोध से डेकार्ट बहुत ही प्रफुल्लित और मग्न था। उस रात को जब वह सो गया तब उसने सबसे पहले देखा कि प्रचण्ड वायु या आँधी उसे उड़ा रही है, वह अपना पैर तक नहीं रखने पाता। वह ला फ्लैश कालेज चर्च प्रार्थना करने के लिए पहुँचना चाहता था। ज्यों ही वह आँधी में उड़ा जा रहा था त्योंहीं वह एक आदमी से जिसे उसने नमस्कार नहीं किया था, कुशल-क्षेम पूछने मुड़ा। आँधी उसे चर्च की विपरीत दिशा में उड़ा ले गयी। शीघ्र ही उसे कालेज के आँगन में एक आदमी कहता है—आपका कोई परिचित आदमी आपको तरबूज देना चाहता है। बस यहीं डेकार्ट की नींद टूट गई। जगने पर उसे दर्द मालूम हुआ। फिर उसने ईश्वर से प्रार्थना की और सो गया। तुरन्त ही उसने दूसरा स्वप्न देखा जो उसे डरवा देता है। बिजली की तड़क और बादल की गरज होती है, इससे वह जग जाता है और अपने कमरे में बहुत-सी चिनगारियाँ देखता है। भयभीत डेकार्ट पुनः सोता है। और तीसरा स्वप्न देखता है। इस बार वह अपनी मेज पर एक शब्दकोश और एक काव्य-संग्रह देखता है। काव्य-संग्रह का एक पृष्ठ खुला है जहाँ आउसोनियस की पंक्ति लिखी है—मैं जीवन में किस मार्ग का अनुसरण करूँगा[1] ? एक अपरिचित व्यक्ति उसे एक पद्य देता है जिसके तीन शब्द उसको दृष्टिगोचर होते हैं—हाँ और नहीं[2]। फिर स्वप्न में ही डेकार्ट इन स्वप्नों की व्याख्या करता है। शब्दकोश का अर्थ विभिन्न विज्ञानों को एकत्र संकलित करना है। काव्य-संग्रह का अर्थ दर्शनशास्त्र है और बोध (ज्ञान) का संयोग है। हाँ और नहीं जो पाइथागोरस के शब्द हैं, सत्य और झूठ के प्रतीक हैं। मैं जीवन में किस मार्ग का अनुसरण करूँगा—यह किसी बुद्धिमान मनुष्य या नीति-विद्या की भली सलाह है। आँधी कोई दुष्ट प्रेत है, जो उसे बलात् उस स्थान पर फेकने का प्रयास करता है जहाँ वह स्वेच्छा से जाना चाहता है। तरबूज एकान्तवास का प्रेम है जिसे डेकार्ट चाहता है। जिस भय से वह दूसरे सपने में आक्रान्त था वह अनुताप है जिसे उसने अपने किए गए पापों पर किया है। अन्ततः बिजली की तड़क और बादल की गरज सत्य आत्मा है जो उसके ऊपर उतरी और उसको अपने वश में कर लिया।

बैले ने लिखा है कि प्रथम दो सपनों को डेकार्ट अपने बीते हुए जीवन के बारे में चेतावनी समझता था और तीसरे सपने को अपने भावी जीवन का कार्यक्रम मानता था। उसका विश्वास था कि किसी आत्मा ने उसके लिए इन सपनों के द्वारा सत्य

---

१. Quod Vitea Sectaboriter ?

२. Est et Non.

का उद्घाटन किया है। दूसरे दिन प्रातःकाल वह अपने जीवन-मार्ग के बारे में सोचने लगा। उसे अब विश्वास हो गया कि उसके जीवन का उद्देश्य तर्क द्वारा सत्य का अनुसंधान करना है। उसने ईश्वर से प्रार्थना की, क्योंकि उसने अपनी इच्छा उसके सामने प्रकट की थी। अन्त में उसने प्रतिज्ञा की कि वह अपनी यात्रा के प्रसंग में इटली में लौरेटो के 'हमारी देवी' के मन्दिर का दर्शन करेगा। किन्तु उसने सैन्य कर्म छोड़ दिया और कुछ समय के लिए पेरिस चला आया। वहाँ अपना काम करके अपनी जायदाद बेंच करके, उसने कई वर्ष पुनः स्विट्जरलैण्ड तथा इटली की यात्रा में बिताये। फिर उसने लौरेटो की तीर्थ-यात्रा की और 'हमारी देवी' का दर्शन किया। अन्त में १६२८ में उसने फ्रांस को छोड़ दिया और स्थायी रूप से हालैण्ड में बस गया। १६४९ तक वह वहाँ १३ विभिन्न स्थानों में रहा जिनमें फ्रैनेकर, एमस्टर्डम, यूट्रैक्ट और लीडेन मुख्य हैं। फ्रांस में इस समय उसका पता केवल फादर मेर्सेन जानता था। वह उसका ला फ्लैश कालेज का सहपाठी और मित्र था। दोनों में पत्राचार होता रहता था।

हालैण्ड में बसने के पहले १६२८ में उसने **बुद्धि के निर्देश के लिए नियम** (Rules for the Direction of the Mind) नामक ग्रन्थ लिखा। किन्तु उसका प्रकाशन उसके मरने के बाद १७०१ में हुआ। हालैण्ड में बसने के ठीक बाद ही वह **जगत्** (Le Monde) नामक ग्रन्थ लिखने लगा जिसमें उसने प्रकाश की व्याख्या की थी। यह ग्रन्थ १६३३ में पूरा हुआ। किन्तु १६३३ में गलीलियो की ताड़ना का समाचार पाकर डेकार्ट ने इस ग्रन्थ का प्रकाशन स्थगित कर दिया। उसके मरने के बाद १६६४ में इसका प्रकाशन हुआ। डेकार्ट चर्च की ताड़ना तथा दण्ड से भयभीत था। वह चर्च को असन्तुष्ट न करने का प्रयत्न करता था। भौतिक जगत् से सम्बन्धित अपने वैज्ञानिक विचारों को उसने तीन निबन्धों में १६३७ में प्रकाशित किया—**भौजायनी** (Dioptric), **उल्काएँ** (Meteors) और **ज्यामिति** (Geometry)। इन निबन्धों की भूमिका के रूप में उसने **'प्रणाली का विमर्श'** (Discourse on Method) भी प्रकाशित किया। बहुत लोगों के विचार से **प्रणाली का विमर्श** नामक ग्रन्थ में ही डेकार्ट का वह विचित्र विज्ञान समाविष्ट है जिसका बोध उसे १० नवम्बर १६१९ को हुआ था। यह विचित्र विज्ञान वैज्ञानिक प्रणाली है जो सभी विज्ञानों अथवा ज्ञान मात्र की प्रणाली है। इसी को वह कभी-कभी सार्वभौमिक गणित (Universal Mathematics) कहता है और कभी-कभी सार्वभौमिक विज्ञान (Universal Science)। १६४१ में उसने विद्वज्जनों के लिए अपने दार्शनिक विचारों को **तत्वज्ञान के ऊपर ध्यान** (Meditations on First

Philosophy) नामक ग्रन्थ छपवाया। १६४४ में उसने अपने विचारों को मध्ययुगीन दर्शन की शैली में **'दर्शन के मूलतत्त्व'** (Principles of Philosophy) के नाम से प्रकाशित करवाया। इसके पश्चात् उसका ध्यान नीतिशास्त्र की ओर गया। १६४६ में उसने पैलटिनेट की राजकुमारी एलिजाबेथ के लिए **'मन की वासनाएँ'** (Passions of the Soul) नामक ग्रन्थ लिखा जो १६४९ में प्रकाशित हुआ। १६४९ में वह स्वीडेन की रानी क्रिश्चियाना को दर्शन पढ़ाने स्टाकहोल्म गया। वहाँ उसे रानी के इच्छा के अनुसार प्रातः ५ बजे उठना पड़ता था। उसे वहाँ की सर्दी लग गयी। वह बीमार पड़ गया और ११ फरवरी १६५० में करीब ५४ वर्ष की अवस्था में उसका देहान्त हो गया। उसका भौतिक शरीर स्टाकहोल्म के कैथलिक कब्रिस्तान में दफनाया गया। लेकिन १६६६ में उसे वहाँ से हटाया गया और पेरिस में दफनाया गया। उसके मित्र चेन ने उसके मजार पर निम्नलिखित सारगर्भित वाक्य लिखा—"अपने दीर्घकालीन शीत अवकाश में गणित के नियमों के साथ प्रकृति के गुह्य तथ्यों की तुलना करते हुए उसने यह बलवती आशा पैदा की कि दोनों के रहस्यों का उद्‌घाटन एक ही कुन्जी से हो सकता है।"

२ डेकार्ट के दर्शन का विकास-क्रम

नार्मन केम्प स्मिथ ने डेकार्ट की रचनाओं का मार्मिक अनुशीलन करके दिखाया है कि उसके दर्शन के विकास की आठ अवस्थाएँ हैं[1], जो निम्न प्रकार से हैं—

पहली अवस्था (१६१४ से १६१९ तक)। ये पाँच साल ला फ्लैश कालेज छोड़ने से लेकर १० नवम्बर १६१९ तक हैं। इस अवस्था में डेकार्ट प्रत्येक वस्तु पर संशय करता था। उसका मन शंकाशील या संशयालु हो गया था। वह किसी महान् खोज में चल पड़ा था और अनवरत चलता रहता था। इस काल की महत्त्वपूर्ण घटना हालैण्ड में डेकार्ट और बीकमन की मैत्री है। बीकमन गणित और भौतिक विज्ञान का विद्वान् था। उसके सम्पर्क से डेकार्ट ने गणित और भौतिक विज्ञान की खोजों में रुचि ली। बीकमन ने अपनी कृतियों में डेकार्ट के चार गणित-सम्बन्धी लेख **संगीत-चयन** नामक ग्रन्थ तथा तथा विज्ञान-सम्बन्धी कुछ अन्य लेखों को प्रकाशित किया था। मार्च १६१९ में डेकार्ट ने बीकमन को अपना पहला महान् अनुसंधान बतलाया। यह एक नया विज्ञान था, एक नयी ज्यामिति थी। इसकी खोज में डेकार्ट को एक नयी प्रणाली की झलक मिली। यह प्रणाली **'बुद्धि के निर्देश के लिए नियम'** नामक ग्रन्थ में बाद में अभिव्यक्त की गयी।

---

१. New Studies in the Philosophy of Descartes पृष्ठ ९-३२।

दूसरी अवस्था (नवम्बर १६१९ के आरम्भ से १० नवम्बर १६१९ तक)। यह डेकार्ट के लिए संकटकाल था। इसमें उसको एक विचित्र विज्ञान की पूरी तस्वीर मिली जिसका कुछ आभास उसको पहली अवस्था में हुआ था। इसी काल में उसने तीन स्वप्न देखे जिन्हें वह अपने जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना मानता था।

तीसरी अवस्था (१६१९ से १६२८ तक)। इस अवस्था में १६१९ से लेकर १६२१ तक की लिखी हुई तीन पुस्तकें हैं जिनके मूल उपलब्ध नहीं हैं। बैले ने उनके कुछ अंशों का उद्धरण दिया है। ये पुस्तकें हैं **'ओलम्पिका'**, **'प्राइवेट चिंतन'** और **'मानसिक कल्याण का अनुशीलन'**। इसी काल में उसने **'बुद्धि के निर्देश के के लिए नियम'** नामक ग्रंथ की रचना की। लाइबनीज ने उनमें से एक की अर्थात् **'ओलोम्पिका'** की प्रतिलिपि तैयार की थी।

चौथी अवस्था। इसकी अवधि नवम्बर १६२८ है। इस काल में डेकार्ट का सम्पर्क बेरूले से हुआ जो पेरिस की ओरेटरी (Oratory) नामक पादरियों की एक संस्था का संस्थापक था। ओरेटरी में सन्त आगस्टिन का मत माना जाता था। जैसे उसकी पहली अवस्था में गणितज्ञ बीकमन ने उसको चिन्तन की प्रेरणा दी, वैसे इस अवस्था में बेरूले ने उसको प्रेरणा दी।

ओरेटरी के माध्यम से डेकार्ट पर आगस्टिन मत का प्रभाव पड़ा। इस संस्था में तर्क से अधिक प्रातिभ ज्ञान पर बल दिया जाता था, धार्मिक वचनों से अधिक व्यक्तिगत स्वानुभूति पर बल दिया जाता था। गिल्सन और गिब्सन ने दिखाया है कि डेकार्ट का दर्शन हमें चाहे जितना विवश करे, किन्तु हम उसे उसके समकालीन आगस्टिनी और नव-अफलातूनी मतानुयायियों के प्रभावों से हटा नहीं सकते हैं। निःसंदेह इस कथन में बहुत सच्चाई है। डेकार्ट सन्त टामस अक्विना और अरस्तू के विपरीत जाते हुए भी सन्त आगस्टिन और प्लाटिनस के मौलिक सिद्धान्तों के समीप हैं।

इस अवस्था के अंत में डेकार्ट हालैण्ड में बसकर एकान्तवास और चिंतन करने लगा।

पाँचवीं अवस्था (१६२९ से १६३३ तक)। इस अवस्था में डेकार्ट ने अपने समय की प्रचलित टामस आक्विना की धर्म-मीमांसा का संशोधन किया और **'जगत्'** नामक ग्रन्थ में अपने सृष्टि-विज्ञान तथा भौतिक विज्ञान की सुव्यवस्थित रूप से व्याख्या की।

छठीं अवस्था (१६३३ से १६४० तक)। इस अवस्था में डेकार्ट ने **'भौजायानी'**, **'उल्काएँ'** और **'ज्यामिति'** के साथ **'प्रणाली का विमर्श'** प्रकाशित किया। इसी काल में उसने **'तत्त्वज्ञान के ऊपर ध्यान'** नामक ग्रन्थ भी प्रकाशित किया।

उसमें उसने अपने समकालीनों के द्वारा की गयी आपत्तियों और उनके उत्तर भी प्रकाशित किये । इस अवस्था तक उसके दर्शन का पूर्ण विकास हो चुका था ।

सातवीं अवस्था (१६४० से १६४४ तक) । इसमें उसने **'दर्शन के मूलतत्त्व'** नामक ग्रन्थ को प्रकाशित किया । इस ग्रन्थ में उसकी अप्रकाशित रचना **'जगत्'** का सारांश भी दिया गया । इसको निगमन और तर्कवाक्य की शैली में लिखा गया था जिसे उस समय के दार्शनिकगण पसन्द करते थे । इसका उद्देश्य लैटिन भाषा के माध्यम से मध्ययुगीन दर्शनशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन करने वाले विद्यार्थियों को नवीन दर्शनशास्त्र का ज्ञान कराना था ।

आठवीं अवस्था (१६४४ से १६५० तक) । इस अवस्था में डेकार्ट ने बोहेमिया की राजकुमारी एलिजाबेथ को पत्र लिखे जिनमें उसने मन और देह के सम्बन्ध की व्याख्या की । **'मन की वासनाएँ'**, **'सत्य की खोजें'** तथा अन्य प्रकीर्ण रचनाएँ भी इस काल में लिखी गयीं ।

३ डेकार्ट की प्रणाली

डेकार्ट की प्रणाली का सुविस्तृत व्याख्यान **'बुद्धि के निर्देश के लिए नियम'** नामक ग्रन्थ में हुआ है । इसका संक्षिप्त व्याख्यान **'प्रणाली का विमर्श'**, **'तत्त्वज्ञान के ऊपर ध्यान'** तथा **'दर्शन के मूलतत्त्व'** में भी हुआ है । इसको समझने के पहले हमें मानव ज्ञान के स्वरूप को समझना चाहिए ।

डेकार्ट मानता है कि संसार की सभी चीजों में से सबसे सुन्दर बुद्धि का ही सबसे अधिक समान वितरण है । सुन्दर बुद्धि का अर्थ अच्छे ढंग से निर्णय करने की और सत्य तथा झूठ का विवेक करने की शक्ति है । यह सभी मनुष्यों में प्रकृतितः एक समान है [१] । इसी को वह बुद्धि का स्वाभाविक प्रकाश (Natural Light of Reason) कहता है । इस बुद्धि के दो व्यापार हैं, प्रतिभान (Intuition) और निगमन (Deduction) ।

प्रतिभान बौद्धिक दर्शन है । यह स्पष्ट ज्ञान है । किन्तु यह प्रत्यक्ष तथा कल्पना से भिन्न है, क्योंकि यह स्वयंप्रकाश या स्वतः प्रमाणित है और प्रत्यक्ष तथा कल्पना स्वतः प्रमाणित नहीं हैं । प्रतिभान से हम कभी-कभी किसी भौतिक वस्तु को जानते हैं और कभी-कभी ऐसी वस्तुओं के सम्बन्ध को । प्रतिभान वास्तव में विशुद्ध तथा सावधान बुद्धि के द्वारा किया गया प्रत्यक्ष है जो इतना सरल और सुबोध है कि उसके बारे में कोई अनिश्चितता नहीं रहती । वह अकाट्य तथा सन्देह से परे है ।

---

१. प्रणाली का विमर्श (Discourse on the Method, part I) आरम्भ के वाक्य ।

कोई भी आदमी प्रतिभान द्वारा देख सकता है कि वह है, वह चेतन है, या त्रिभुज वह आकृति है जो तीन सीधी रेखाओं से घिरी रहती है।

प्रतिभान निगमन से भिन्न है। प्रतिभान स्वतः प्रमाणित है, किन्तु निगमन की प्रामाणिकता परतः है यानी स्मृति से निकलती है। प्रतिभान साक्षात् और अपरोक्ष ज्ञान है; निगमन परोक्ष ज्ञान है। किन्तु निगमन भी उतना ही सत्य और अकाट्य है जितना प्रतिभान। निगमन प्रतिभान पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए २ + २ = ४, यह एक प्रतिभान है। ३ + १ = ४, यह दूसरा प्रतिभान है। इन दोनों प्रतिभानों के आधार पर हमें यह सत्य और अकाट्य ज्ञान मिलता है कि २ + २ = ३ + १। २ + २ = ३ + १ की सत्यता को हम साक्षात् तथा अपरोक्ष ढंग से नहीं जानते, किन्तु २ + २ = ४ और ३ + १ = ४ की सत्यता को साक्षात् तथा अपरोक्ष ढंग से जानते हैं।

निगमन गति या क्रम है। यह कई प्रतिभानों का सम्बन्ध है। प्रतिभान के द्वारा हम कुछ मूल वाक्यों को जानते हैं। उनके दूरवर्ती निष्कर्षों को हम निगमन के द्वारा जानते हैं।

वास्तव में प्रतिभान और निगमन दोनों ज्ञान की प्रत्येक क्रिया में निहित हैं। निगमन द्वारा किसी वस्तु के अन्तर्तत्त्वों और उनके क्रमबद्ध सम्बन्धों का ज्ञान होता है; प्रतिभान द्वारा उन अन्तर्तत्त्वों का साक्षात् दर्शन होता है और उनकी एकता का बोध होता है[१]। उदाहरण के लिए, सामने वाली मेज के ज्ञान को लीजिए। यह मेज है—यह एक ज्ञान है। यहाँ प्रतिभान द्वारा मेज के उन अनेक अविश्लेष्य तत्त्वों का ज्ञान होता है जिनसे मेज बनी है और साथ ही यह बोध होता है कि ये सभी तत्त्व मेज नामक एक वस्तु में गुँथे हुए हैं अर्थात् उनकी एकता का ज्ञान होता है। फिर निगमन द्वारा ज्ञान होता है कि एक तत्त्व दूसरे से, दूसरा तीसरे से, तीसरा चौथे से और इसी प्रकार सभी तत्त्व एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। संक्षेप में मेज के ज्ञान में दो बातें हैं—पहली, यह एक वस्तु है, एक ईकाई है और दूसरी, यह एक रचना है जो कई तत्त्वों से या कहिए अनुभवों से बनी है। पहली बात का ज्ञान प्रतिभान से और दूसरी का ज्ञान निगमन से होता है।

किन्तु यद्यपि डेकार्ट मानता है कि प्रतिभान और निगमन ज्ञान की प्रत्येक

---

१. 'Descartes' Rules for the Direction of the Mind, H. H. Joachim पृ० ४०-४४।

प्रक्रिया में विद्यमान रहते हैं, तथापि वह उनको वियोजनीय या परस्पर पृथक् मानता है और कहता है कि उनमें मात्र संयोग या बाह्य सम्बन्ध है[1]।

जब कभी ज्ञान होता है तो उसमें प्रतिभान और निगमन निहित रहते हैं। यह प्रत्यक्ष, कल्पना और स्मृति के बारे में भी सत्य है। किन्तु प्रत्यक्ष, कल्पना और स्मृति में बुद्धि अथवा प्रतिभान और निगमन के अतिरिक्त शारीरिक परिवर्तनों का भी सहयोग रहता है। यही कारण है कि प्रत्यक्ष, कल्पना और स्मृति नितान्त सत्य नहीं हैं, उनमें सत्य और झूठ दोनों मिले हैं। डेकार्ट उन्हें ज्ञान के प्रकार नहीं मानता है। वे केवल ज्ञान के सहकारी साधन हैं।

डेकार्ट का विश्वास है कि यदि मानव बुद्धि को अपने तईं छोड़ दिया जाय तो वह प्रतिभान तथा निगमन द्वारा क्रमशः सत्य की खोज स्वभावतः कर लेगी। सत्य के खोज की प्रणाली संक्षेप में प्रतिभान और निगमन की संयुक्त प्रक्रिया है। हम इसे निगमनात्मक प्रणाली (Deductive Method) कह सकते हैं। अपनी प्रणाली के बारे में डेकार्ट कहता है—"प्रणाली से मेरा मतलब उन निश्चित और सरल नियमों से है जिनका पालन यदि कोई मनुष्य ठीक-ठीक करे तो वह कभी मिथ्या को सत्य न समझे और अपनी बौद्धिक चेष्टाओं को कभी निष्प्रयोजन न पाये, बल्कि वह हमेशा अपने ज्ञान की वृद्धि करे और जो कुछ उसकी शक्तियों से परे नहीं है उसकी सत्य अवधारणा करे।........किन्तु यदि हमारी प्रणाली ठीक से बताती है कि किस प्रकार हमारी बौद्धिक दृष्टि का प्रयोग हो जिससे वह विपर्यय में न पड़े और किस तरह उस निगमन की खोज हो जिसमें हमें समस्त वस्तुओं की अवधारणा हो, तो मैं नहीं देखता कि हमारी प्रणाली के लिए कुछ और अपेक्षित है, क्योंकि प्रतिभान और निगमन को छोड़कर किसी अन्य मार्ग से कोई ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता[2]।"

यहाँ बौद्धिक दृष्टि या प्रतिभान और निगमन को ही डेकार्ट अपनी प्रणाली के सम्पूर्ण अंग मानता है। किन्तु ऐसा होना कठिन है। बुद्धि पर शरीर का प्रभाव पड़ता है या शरीर के प्रभाव में पड़कर बुद्धि विकृत होती है। शरीर बुद्धि-विरोधी तत्त्व है। अतः उसके प्रभाव में पड़कर बुद्धि को जो ज्ञान होता है उसमें भ्रम और विपर्यय की पूर्ण सम्भावना है। हमें जो विपर्यय और भ्रम होता है उसके **कारण** निम्नलिखित हैं:—

(क) बचपन से ही हमारी बुद्धि शरीर में इतनी निमग्न रहती है कि इसे

१. आधुनिक प्रत्ययवादी दार्शनिक मानते हैं कि इन दोनों का सम्बन्ध आन्तरिक है।

२. बुद्धि के निर्देश के लिए नियम, नियम ४।

किसी वस्तु का विवेकपूर्ण ज्ञान नहीं होता है; हालाँकि इसे स्पष्ट ज्ञान होता है; इस कारण यह अनेक गलत निर्णयों और पूर्वाग्रहों को बना लेती है जिनसे हममें से अधिकांश लोग अपने को मुक्त नहीं कर पाते[१]।

मनुष्य की प्रकृति दो है, बौद्धिक और शारीरिक या भौतिक। बचपन से ही वह भौतिक प्रकृति के प्रभाव में ज्यादा रहता है। फलतः जिस वस्तु का इन्द्रिय-प्रत्यक्ष या प्रतिबिम्ब वह नहीं कर पाता, उसे वह समझ नहीं पाता। किन्तु यह उसकी बुद्धि के स्वाभाविक विकास में बाधक है। उसकी बुद्धि की माँग है कि वह स्पष्ट तथा विवेकपूर्ण ज्ञान प्राप्त करे। किन्तु जब तक वह विशुद्ध बुद्धि के स्तर पर नहीं रहता तब तक उसे विवेकपूर्ण ज्ञान नहीं मिलता, स्पष्ट ज्ञान भले ही मिल जाय। विवेकपूर्ण ज्ञान न मिलने से वह अज्ञान की अवस्था में रहता है।

(ख) हम अपने विचारों के संचालन और प्रकाशन के लिए भाषा का प्रयोग करते हैं। भाषा-प्रयोग के द्वारा संकेतों (शब्दों) और विचारों में इतना गाढ़ा सम्बन्ध हो जाता है कि विचारशील बुद्धि की जगह पर मात्र शब्द ही काम करने लगते हैं।

डेकार्ट कहता है कि इस कारण अधिकांश लोग वस्तुओं पर ध्यान न देकर शब्दों पर ध्यान देते हैं और उनके अर्थ को विना समझे ही उनको स्वीकार कर लेते हैं[२]।

(ग) माता-पिता की शिक्षा, जनश्रुति, परम्परा, लोकाचार तथा गलत शिक्षा भी मानव-बुद्धि को दूषित करते हैं जिससे वह भ्रम और विपर्यय में पड़ जाती है।

इन कारणों से मानव-बुद्धि भ्रान्त है। उसके भ्रान्त होने के कारण निगमनात्मक प्रणाली का प्रयोग नहीं हो सकता। उसका प्रयोग तभी हो सकता है जबकि बुद्धि निर्भ्रान्त और स्वस्थ हो। अतः डेकार्ट की निगमनात्मक प्रणाली की पहली शर्त है बुद्धि को भ्रमों और पूर्वाग्रहों से उन्मुक्त करना; सत्त्व-शुद्धि करना या बुद्धि का परिष्कार करना। इसके लिए डेकार्ट ने संशय का सहारा लिया। उसके संशय को प्रक्रियात्मक या उपचारात्मक संशय (Methodic Doubt) कहा जाता है। इसका मतलब है कि हमें अपने सभी मतों पर तब तक संशय करना चाहिए जब तक हमें उनकी प्रामाणिकता और असन्दिग्धता सिद्ध न हो जाय। उसका संशय संशयवादी का संशय नहीं है। उसके उद्देश्य और उपयोग निश्चित तथा विहित हैं। वह मात्र

१. दर्शन के मूलतत्त्व, १।४७।

२. वही १।८४।

निषेध नहीं है। वह संशय, संशय के लिए नहीं, किन्तु निश्चय के लिए है। अतः डेकार्ट का संशय वितण्डावाद नहीं है। यह एक उपाय या विधि है जिससे सत्य को असत्य से, मूल को गौण से पृथक् किया जाता है। इस विधि में डेकार्ट ने जिन नियमों का पालन किया है वे चार हैं। ये चार नियम उसके शब्दों में निम्नलिखित हैं :—

"पहला नियम था, जिस वस्तु को मैं प्रामाणिक रूप में सत्य नहीं जानता उसे सत्य न मानना। अर्थात् सावधानी से उतावलेपन और पूर्वाग्रह से दूर रहना और अपने निर्णयों में किसी ऐसी वस्तु को न शामिल करना जो बुद्धि के समक्ष स्पष्ट और विवेकपूर्ण ढंग से न प्रकट हो और जिस पर संशय करने की गुन्जाइश रहे।

दूसरा, मुझे जिन समस्याओं का परीक्षण करना था उनमें से प्रत्येक को उतने भागों में बाँटना जितने उसके समाधान के लिए अपेक्षित थे।

तीसरे, अपने विचारों को एक क्रम में रखना। पहले उन चीजों को रखना जो मूल हैं और सरलता से जानी जाती हैं। फिर थोड़ा-थोड़ा करके क्रमशः उनसे क्लिष्ट चीजों को रखना। उन चीजों को भी इस क्रम में रखना जो वास्तव में इस क्रम में नहीं हैं। इन सभी चीजो को सरलता-कठिनता (क्लिष्टता) के क्रम में रखना, भले हो यह क्रम काल्पनिक हो।

"अन्त में, प्रत्येक प्रसंग में आगणन को इतना पूर्ण बनाना और परीक्षण को इतना व्यापक बनाना कि मुझे विश्वास हो जाय कि कोई चीज छूट नहीं गयी।"[1]

पहले नियम के अनुसार जिस वस्तु का स्पष्ट और विवेकपूर्ण ज्ञान न हो उसे सत्य न समझना चाहिए अर्थात् उस पर संशय करना चाहिए। यहाँ संशय और निश्चय की कसौटी है। संशय का अन्त तभी होता है जब स्पष्ट और विवेकपूर्ण ज्ञान हो। यह स्पष्ट और विवेकपूर्ण (Clear and distinct) ज्ञान क्या है ?

जिन विषयों का साक्षात् और अपरोक्ष अनुभव होता है, जैसे प्रत्यक्ष या कल्पना के विषय, उनका ज्ञान स्पष्ट कहा जाता है। किन्तु यह ज्ञान विवेकपूर्ण ज्ञान नहीं है। ज्ञान को प्रामाणिक होने के लिए स्पष्ट और विवेकपूर्ण दोनों होना चाहिए।

दोनों की व्याख्या करते हुए डेकार्ट कहता है :—

"मैं स्पष्ट उसे कहता हूँ जो सावधान बुद्धि के समक्ष उपस्थित और प्रकट है। जब विषय प्रातिभ दृष्टि के सामने उपस्थित रहते हैं, तब हम कहते हैं कि हम

१. प्रणाली का विमर्श, भाग २।

विषयों को स्पष्ट देख रहे हैं। ये विषय दृष्टि में काफी दृढ़ता और विशदता से आते हैं[१]।" संक्षेप में स्पष्टता का अर्थ है अपरोक्ष रूप से अनुभव किया जाना।

"फिर विवेकपूर्ण (Distinct) वह है जो इतना निश्चित और अन्य विषयों से भिन्न हो कि उसके अन्दर केवल उतना ही समाविष्ट हो जितना उसका द्रष्टा उसको प्रकट रूप से देखता है और समझता है[२]।"

नार्मन केम्प स्मिथ ने बताया है कि जो स्वतः जाना जा सके यानी अपने द्वारा और अपने में जाना जा सके वह विवेकपूर्ण ज्ञान है[३]। विवेकपूर्णता का अर्थ असंग (Unconditioned) और मूल वस्तु का ज्ञान है। जो विषय केवल स्पष्ट हैं वे संमिश्रित (Complex) हैं। किन्तु जो विषय मूल हैं अर्थात् जो मूल तत्त्व हैं, उनका ज्ञान स्पष्ट और विवेकपूर्ण दोनों है।

जो ज्ञान स्पष्ट है, हो सकता है कि वह विवेकपूर्ण न हो। किन्तु जो विवेकपूर्ण है उसके लिए अनिवार्य है कि वह स्पष्ट भी हो। यही कारण है कि जहाँ केवल ज्ञान की अपरोक्षता है वहाँ स्पष्टता और विवेकपूर्णता में भेद नहीं है। प्रातिभ ज्ञान स्पष्ट और विवेकपूर्ण दोनों है। प्रत्यक्ष और कल्पना केवल स्पष्ट हैं। वे विवेकपूर्ण नहीं हैं।

स्पष्टता और विवेकपूर्णता सत्यता की कसौटी हैं। जो ज्ञान स्पष्ट और विवेकपूर्ण नहीं है वह मिथ्या है। इस विचार से केवल प्रातिभ ज्ञान ही सत्य है। किन्तु यदि तीसरे नियम के अनुसार कोई संमिश्रित विषय किसी या किन्हीं प्रातिभ-ज्ञानों से तर्कतः सुसम्बद्ध है तो वह भी प्रामाणिक अर्थात् सत्य है। उसकी सत्यता प्रातिभ ज्ञान की सत्यता से निकलती है।

दूसरा नियम विश्लेषण का सूत्र है और तीसरा नियम समन्वय या संश्लेषण का सूत्र। दूसरे नियम के अनुसार किसी संमिश्रित विषय को अनेक भागों में बाँटा जाता है। विभाजन की यह प्रक्रिया तब तक चलतो रहती है जब तक उसके भाग या अंश अविश्लेष्य न हो जायँ। वे अविश्लेष्य तभी होते हैं जब उनका स्पष्ट और विवेकपूर्ण ज्ञान होता है। तभी पता चलता है कि वे भाग परम तत्त्व या मूल तत्त्व हैं जिनसे प्रस्तुत सम्मिश्रित विषय बना है। इस प्रकार पहले नियम और दूसरे नियम की सहायता से मूल तत्त्वों की खोज होती है। यह सारी प्रक्रिया विश्लेषण है।

१. दर्शन के मूल तत्त्व, १।४५।
२. वहीं।
३. New Studies in the Philosophy of Descartes p. ५८।

किन्तु डेकार्ट की प्रणाली मात्र विश्लेषण नहीं है। वह संश्लेषण भी है। संश्लेषण रचना है। यह तीसरे नियम से संपादित होता है। इसके सम्पादन में प्रतिभान और निगमन की प्रक्रिया है। विश्लेषण द्वारा हमें जिन मूल तत्त्वों का ज्ञान होता है, उनसे हम धीरे-धीरे निष्कर्ष या निगमन निकालते हैं। इन निगमित निष्कर्षों को ज्यामिति की प्रणाली में रखा जाता है। ज्यामिति की प्रणाली में एक क्रम होता है। वहाँ पहले स्वयंसिद्धियाँ होती हैं जिन्हें स्वयंसिद्ध माना जाता है। उनके आधार पर कुछ प्रतिज्ञाएँ बनाई जाती हैं जिन्हें स्वयंसिद्धियों द्वारा सिद्ध किया जाता है। जब ये प्रतिज्ञाएँ सिद्ध हो जाती हैं तब ये प्रमेय कही जाती हैं। आरम्भ के प्रमेय स्वयंसिद्धि के द्वारा सिद्ध होते हैं। उनके परवर्ती प्रमेय स्वयंसिद्धियों और आरम्भिक प्रमेयों से सिद्ध होते हैं। फिर उनके परवर्ती प्रमेय केवल बीच के प्रमेयों द्वारा ही सिद्ध होते हैं। इस तरह ज्यामिति के प्रमेयों में एक क्रम है। पूर्ववर्ती प्रमेयों को सिद्ध करने में परवर्ती प्रमेयों का उपयोग नहीं किया जाता है। प्रमेयों को इस ढंग में रखा जाता है कि परवर्ती प्रमेयों को सिद्ध करने में पूर्ववर्ती प्रमेयों का उपयोग हो और पूर्ववर्ती प्रमेयों की सिद्धि में परवर्ती प्रमेयों की आवश्यकता न हो। इस तरह ज्यामिति में प्रमेयों के अपने निश्चित स्थान हैं। बिल्कुल इसी तरह तीसरे नियम के आधार पर डेकार्ट मूल तत्त्वों के निष्कर्षों को संगठित करता है। उसे इस नवीन प्रणाली को खोजने की प्रेरणा ज्यामिति से मिली थी। उसकी प्रणाली में ज्यामिति-प्रणाली के समस्त गुण हैं। अथवा यह कहिए कि उसने ज्यामिति की प्रणाली का ही उपयोग दर्शन तथा विज्ञान में किया। यहीं नहीं, उसने दिखाया कि प्रत्येक सत्य ज्ञान को प्राप्त करने की एकमात्र यही प्रणाली है।

इस तरह जैसे पिरामिड बनता है वैसे तीसरे नियम के द्वारा डेकार्ट अपने दर्शन और विज्ञान के सिद्धान्तों को एक क्रम में रखता है।

पहले और दूसरे नियम वैज्ञानिक अनुसंधान की विधि हैं। तीसरा नियम वैज्ञानिक उपपत्ति या प्रमाण (Demonstration) की विधि है। चौथा नियम इन सब का परीक्षण है जिससे किसी एक प्रातिभ ज्ञान के द्वारा बुद्धि ज्ञान की समरसता को जानती है। डेकार्ट की यह प्रणाली निगमनात्मक होते हुए भी न्यायवाक्यात्मक चिन्तन-प्रणाली से भिन्न है। उसका कहना है कि ज्ञान प्रतिभान से होता है। प्रत्येक सत्य ज्ञान प्रतिभान से उत्पन्न ही नहीं होता प्रत्युत उसका विकास भी एकमात्र प्रतिभान द्वारा ही होता है। निगमन ज्ञान के किसी विशेष प्रकार को जानने का साधन नहीं है। वास्तव में निगमन एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा प्रातिभ ज्ञान (प्रतिभान) अपने को उस रूप में विस्तृत करता है जो प्रथमतः उसकी पहुँच से बाहर प्रतीत होता

है। निगमन के द्वारा प्रतिभान अपने को विकासशील या वर्धमान सिद्ध करता है। इससे प्रकट होता है कि प्रतिभान कोई पृथक् क्रिया नहीं है।

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि प्रतिभान कोई रहस्यमयी शक्ति नहीं है जो योगियों, भक्तों या सन्तों के पास समझी जाती है। यह बुद्धि का स्वाभाविक प्रकाश है। यह हमारी चेतना की अपने को भी पार कर जाने वाली शक्ति है। यह दूरंगमा और पारंगमा है।

न्यायवाक्य (Syllogism) की आलोचना के प्रसंग में डेकार्ट ने कहा कि इससे किसी नये सत्य की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इसका उपयोग केवल दूसरों को समझाने में है। न्यायवाक्य में तीन तर्कवाक्य होते हैं। उदाहरण के लिए निम्न-लिखित न्यायवाक्य को लीजिए—

जो वस्तुएँ किसी एक वस्तु के बराबर हों वे आपस में बराबर हैं। अ और ब ऐसी वस्तुएं हैं जो एक ही वस्तु स के बराबर हैं। अतः अ और ब आपस में बराबर हैं।

इनमें से पहले दो, साध्यवाक्य और हेतुवाक्य, प्रदत्त हैं। इन्हीं के आधार पर निष्कर्ष का ज्ञान होता है। किन्तु यदि साध्यवाक्य और हेतुवाक्य का ज्ञान है तो निष्कर्ष-ज्ञान कोई नवीन ज्ञान नहीं है। यहाँ जो सामग्री हेतुवाक्य में व्यक्त हैं, वही सामग्री अनुमान है। इस हेतुवाक्य को जानना ही पूरे अनुमान को जानना है। फिर इस हेतुवाक्य को कैसे जाना जाय ? इस पर न्यायवाक्य कुछ प्रकाश नहीं डालता है। फिर जो सामग्री साध्यवाक्य में व्यक्त है उसका ज्ञान निष्कर्ष से—जैसे विशेष वाक्य के ज्ञान से, ही होता है। "हमारी बुद्धि इस प्रकार बनी है कि सामान्य वाक्यों का ज्ञान विशेष वाक्यों के ज्ञान से ही रचा जाता है[1]।" साध्यवाक्य के ज्ञान में निष्कर्ष का ज्ञान निहित है। इस दृष्टि से प्रत्येक न्यायवाक्य में चक्रक दोष है। इन दोषों और कमियों के कारण डेकार्ट ने न्यायवाक्य-प्रणाली को छोड़ दिया। मध्ययुगीन दार्शनिक इस व्यर्थ प्रणाली को अपनाये थे और इस कारण वे सत्य की खोज में प्रगति न कर सके। जैसे डेकार्ट की प्रणाली न्यायवाक्य-प्रणाली से भिन्न है वैसे ही वह प्रत्यक्षमूलक प्रणाली से भी भिन्न है। प्रत्यक्षमूलक प्रणाली निरीक्षण और प्रयोग पर आधारित है। डेकार्ट इनको अपनी प्रणाली की आरम्भिक और मध्य अवस्था में उपयोगी मानता है। किन्तु उसका कहना है कि प्रत्यक्षमूलक प्रणाली का उपयोग निगमनात्मक प्रणाली के ही निर्देश में हो सकता है। विज्ञान निरीक्षण और प्रयोग के द्वारा प्राप्त विशेष तथ्यों से नहीं बनता है। यह उन स्पष्ट और विवेकपूर्ण नियमों से बनता है

---

१. डेकार्ट 'आपत्तियों के उत्तर' २।

जो विशेष तत्त्वों को अनुशासित करते हैं। जब तक हमें बुद्धि के द्वारा देश, काल, कारणता, गति, पदार्थ, सम्बद्धता (पौर्वापर्य) आदि का स्पष्ट और विवेकपूर्ण ज्ञान न हो जाय, तब तक किसी विशेष तथ्य का प्रत्यक्ष हमारी समझ में आ नहीं सकता है। अतः प्रत्यक्ष और प्रयोग विना प्रतिभान और निगमन के संभव नहीं है।

इस प्रकार डेकार्ट ने मध्ययुगीन न्यायवाक्य-प्रणाली और अपने समकालीनों की प्रत्यक्षमूलक प्रणाली का खण्डन किया और निगमनात्मक प्रणाली का प्रतिपादन किया। समस्त विज्ञानों की एकमात्र यही प्रणाली है। संक्षेप में उसकी प्रणाली के निम्नलिखित सोपान हैं—

(१) प्रक्रियात्मक संशय।
(२) विश्लेषण या अन्तर्भाव-प्रक्रिया।
(३) मूल-तत्त्व का प्रातिभ ज्ञान।
(४) निगमन।
(५ संश्लेषण अर्थात् निगमनात्मक रचना।
(६) रचित विषय का अखण्ड और समग्र प्रतिभान।

इसी प्रणाली से उसने अपने दर्शन की खोज की। अब हम उसके दर्शन का अनुशीलन करेंगे।

४ आत्मा का अस्तित्व

डेकार्ट ने अपनी प्रणाली के बारे में अनुभव किया कि जब तक इसका आधार कोई अखण्डनीय या अप्रत्याख्येय सत् नहीं होता तब तक वह स्वतः प्रमाणित नहीं है। उसने गणित की प्रणाली का ही विस्तार करके अपनी प्रणाली बनायी थी; किन्तु गणित की प्रणाली में दो कमियाँ रहती हैं। पहली, यह असत्शास्त्र है अर्थात् इसका विषय किसी वस्तु-सत् से सम्बन्धित न होकर मात्र प्रत्यक्ष से ही सम्बन्धित है। दूसरी, यह आत्यन्तिक संशय की अग्नि-परीक्षा में जल जाती है। यह उस संशय के विरोध में अपनी प्रामाणिकता को सिद्ध नहीं कर पाती। यदि डेकार्ट की प्रणाली का आधार कोई ऐसा सत् नहीं होता है जो आत्यन्तिक संशय के परे है तो उसकी प्रणाली में भी ये दोष हो जायेंगे। इस कारण वह अपनी प्रणाली के स्थायी आधार की खोज में अग्रसर हुआ। इस प्रसंग में उसने आत्मा के अस्तित्व की खोज की। आत्मा को ही उसने वह सत् पाया जो अखण्डनीय या संशय के परे है और इस कारण उसकी प्रणाली का स्थायी आधार है।

डेकार्ट ने जिस तरह आत्मा के अस्तित्व की खोज की है वह दार्शनिक चिन्तन का एक आदर्श नमूना है। अतः हम डेकार्ट के ही शब्दों में उस खोज का विवरण प्रस्तुत करेंगे।

"बहुत दिनों तक मैंने देखा कि जिन मतों को हम अत्यन्त अनिश्चित जानते हैं, कभी-कभी उनको निर्विवाद समझकर अनुसरण करना सामान्य जीवन में अपेक्षित है। किन्तु क्योंकि मैंने अपने को सत्य की खोज के लिए पूर्णतया समर्पित कर दिया है, इसलिए मैंने सोचा कि मेरे लिए जरूरी है एक विपरीत मार्ग का ग्रहण करना और जिनके बारे में मैं लेशमात्र संशय की कल्पना कर सकता हूँ उन चीजों को पूर्णतया मिथ्या समझकर छोड़ देना। इसके फलस्वरूप मैं अन्त में चलकर देख सकता हूँ कि क्यों मेरे विश्वास में कोई नितान्त निश्चित वस्तु शेष रहती है? इस प्रकार चूँकि हमारी इन्द्रियाँ कभी-कभी हमें धोखा देतीं हैं मैंने मानना चाहा कि इन्द्रियों से हम किसी सत् वस्तु की जैसी कल्पना करते हैं वह वस्तु वैसी नहीं है[1]। और चूँकि ज्यामिति के अत्यन्त सरल प्रश्नों के सभी विषय में कुछ लोग सिद्ध करने में गलती करते हैं और तर्क-दोष के भागी होते हैं, और मैं भी अपने को उनसे कम तर्कदोष का भागी नहीं मानता, इसलिए मैंने उन सभी तर्कनाओं को असत्य समझकर छोड़ दिया जिन्हें मैं पहले प्रमाण के रूप में मानता था[2]। और चूँकि वे सभी विचार और प्रत्यक्ष जिन्हें हम जाग्रत अवस्था में प्राप्त करते हैं, हमें स्वप्न में भी मिल सकते हैं और तब उनमें से एक भी सत्य नहीं रहता है इसलिए मैंने इस मान्यता को प्रस्तुत किया कि जो भी चीजें मेरे मन में जब भी आयी हैं वे सभी मेरे स्वप्नों के भ्रमों से अधिक सत्य नहीं हैं[3]। किन्तु ज्यों ही मैंने सोचा कि सब

---

१. डेकार्ट यहाँ मान रहा है कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में जो असत्य का अंश है वह कादाचित्क या कभी-कभी होने वाला नहीं है। सामान्य लोग समझते हैं कि कभी-कभी इन्द्रियाँ सत्य ज्ञान देती हैं और कभी असत्य। किन्तु यहाँ डेकार्ट का कहना है कि यदि वे कभी-कभी असत्य ज्ञान देती हैं, तो उनके स्वाभाव में असत्यता का अंश है और यदि उनके स्वाभाव में असत्यता का अंश है तो फिर प्रत्येक इन्द्रिय-ज्ञान उस असत्य अंश से भरा होने के कारण असत्य है। डेकार्ट इन्द्रिय-ज्ञान को स्वतः अप्रमाणित ठहराता है। वह उसे परतः प्रमाणित मानता है।

२. यहाँ डेकार्ट तर्कना करने की शक्ति को स्वभावतः सदोष दिखा रहा है। उसका कहना है कि यदि तर्कना कभी-कभी सदोष होती है तो इसका तात्पर्य है कि तर्कना स्वभावतः सदोष है। जैसे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के बारे में वैसे बौद्धिक ज्ञान या तर्कना के बारे में भी वह स्वतः अप्रामाण्यवाद और परतः प्रामाण्यवाद को मान रहा हैं।

३. मिलाइए।

स्वप्नजागरितस्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः।
भेदानां समत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना॥
गौड़पाद, मांडूक्यकारिका २।५

मिथ्या है त्यों ही यह पूर्णतया अनिवार्य हो गया कि मैं (अहम्) जिसने इसे सोचा, अवश्य कुछ है[1]। फिर मैंने देखा कि "मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ", यह सत्य इतना निश्चित और प्रमाणित है कि संशयवादियों की बड़ी से बड़ी मान्यताए भी इसको हिला सकने में असमर्थ हैं। अतः मैंने निष्कर्ष निकाला कि विना किसी हिचकिचाहट के मैं इसे दर्शनशास्त्र का वह आदि मूलतत्त्व मान सकता हूँ जिसकी खोज में मैं लगा था।

फिर मैंने सावधानी से परीक्षण किया कि मैं क्या हूँ। मैंने देखा कि मै सोच सकता हूँ कि मेरे देह नहीं था, कोई जगत् या स्थान नहीं था जहाँ मैं हो सकता। इतना होते हुए भी मैंने देखा कि मैं यह नहीं सोच सकता था कि मैं नहीं था। इसके ठीक विपरीत अन्य वस्तुओं की सत्यता पर संशय करने का मैंने जो विचार किया, उसी से स्पष्टतः और निश्चित रूप से यह निष्कर्ष निकला कि मैं था। यदि मैं क्षण भर के लिए सोचना बन्द कर देता तो मुझे यह विश्वास करने का आधार तक न मिलता कि उस क्षण "मैं" का अस्तित्व भी हो सकता था; भले ही जिन वस्तुओं की मैंने कल्पना की थी वे सत् होतीं। इससे मुझे ज्ञात हुआ कि 'मैं' एक द्रव्य था जिसका सम्पूर्ण स्वभाव सोचना है और जिसके अस्तित्व के लिए किसी स्थान की आवश्यकता नहीं है; या जो किसी भौतिक वस्तु पर निर्भर नहीं है। अतः यह 'मैं' अर्थात् आत्मा जिसके द्वारा मैं जो हूँ सो हूँ, देह से पूर्णतया भिन्न है और इसको जानना देह को जानने से अधिक आसान है। यह जो है वह नष्ट न होगा, यदि देह नष्ट हो जाय, तो भी[2]।

इस प्रकार डेकार्ट ने आत्मा के अस्तित्व और स्वरूप की खोज की। इस खोज को उसने सार्वभौमिक संशय की कसौटी पर भी सत्य पाया।

गौडपाद और डेकार्ट दोनों ने स्वप्न तथा जाग्रत को एक समान पाया। दोनों इन दोनों अवस्थाओं में समस्त ज्ञान को असत्य पाते हैं। दोनों ने इन दोनों अवस्थाओं और उनके ज्ञान के अतिरिक्त एक ज्ञान को बताया जिसे आत्मा कहा जाता है। किन्तु इतनी समताओं के होते हुए भी डेकार्ट का दर्शन गौडपाद के दर्शन से भिन्न है। डेकार्ट वस्तुवादी और द्वैतवादी है; गौडपाद प्रत्ययवादी और अद्वैतवादी है।

---

१. मिलाइए।

क एतान् बुध्यते भेदान् को वेतेषां विकल्पकः ॥
कल्पयत्यात्मनाऽऽत्मानमात्मा देवः स्वमायया।
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्तनिश्चयः ॥
गौडपाद, माण्डूक्यकारिका २।११-१२।

२. प्रणाली का विमर्श, भाग ४।

"मैं विश्वस्त हो गया था कि जगत् में कुछ भी सत् नहीं था। आकाश नहीं था, धरती नहीं थी, आत्माएँ नहीं थीं, भौतिक वस्तुएँ नहीं थीं। फिर क्या मैं इस प्रकार विश्वस्त नहीं था कि मैं नहीं था ? नहीं, बिलकुल नहीं, निःसन्देह मैं था, यदि मैं विश्वस्त था, या यदि मैं कुछ सोचता था,तो। यदि मान लिया जाय कि कोई बहुत शक्तिशाली, बहुत षड़यन्त्री और धोखेबाज है जो मुझे लगातार धोखा देने में अपनी सारी ताकत लगा रहा है, तो भी लेशमात्र संशय नहीं है कि मैं हूँ, क्योंकि वह मुझे धोखा देता है[1]। उसे अपनी इच्छा भर मुझे धोखा देने दीजिए, वह मुझे कभी भी असत् नहीं बना सकता; जब तक मैं सोचता हूँ कि मैं कुछ हूँ। इस प्रकार इस मामले पर अच्छी तरह विचार करके, सावधानी से सभी वस्तुओं का परीक्षण करके अन्ततोगत्वा मुझे अवश्य निष्कर्ष निकालना है और प्रतिपादन करना है कि 'मैं हूँ,' 'मेरा अस्तित्व है,' यह वाक्य जब-जब मैं इसे बोलता हूँ या अपने मन में सोचता हूँ तब-तब अवश्य सत् है[2]।"

डेकार्ट की प्रणाली में सत्य की कसौटी है स्पष्टता और विवेकपूर्णता। इस कसौटी पर उसने "मैं सोचता हूँ" (जानामि अतः अस्मि) को प्रमाणित किया। इस वाक्य का ज्ञान स्पष्ट और विवेकपूर्ण है। यह स्पष्ट है क्योंकि यह प्रातिभ ज्ञान है। फिर यह विवकपूर्ण है क्योंकि इसका ज्ञान स्वतः होता है। इसके ज्ञान में किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं है। तात्पर्य यह है कि 'जानामि अतः अस्मि' इस वाक्य का ज्ञान साक्षात् और अपरोक्ष है। डेकार्ट को वास्तव में इसी वाक्य की स्पष्टता और विवेक-पूर्णता से पता चला कि सत्य वाक्य की कसौटी स्पष्टता और विवेकपूर्णता है।

पश्चिमी जगत् के किसी भी दार्शनिक ने डेकार्ट से बढ़कर आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया है। इस प्रसंग में डेकार्ट अद्वितीय है। भारतीय दर्शन में केवल अद्वैत वेदान्तियों ने उसकी तरह आत्मा के अस्तित्व और स्वरूप का प्रतिपादन किया है। डेकार्ट का आत्मवाद अद्वैतवादियों के बहुत समीप है। डेकार्ट का वाक्य "मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ" (Cogito Ergo Sum) दर्शनशास्त्र का एक प्रमुख वाक्य हो गया हैं। काजिटो अरगो सम लैटिन भाषा का वाक्य है, काजिटो = मैं सोचता हूँ, आरगो = इसलिए और सम = मैं हूँ। संस्कृत भाषा में हम इसे चिन्तयामि अतः अस्मि या जानामि अतः अस्मि कह सकते है। यहाँ लैटिन वाक्य को संस्कृत वाक्य में रखने में यह सुविधा होगी कि भारतीय विद्यार्थी भी योरोपीय विद्यार्थी की तरह इस वाक्य को तीन पदों से निर्मित समझेगा और उनके सम्बन्ध को जानने की इच्छा करेगा।

१. मिलाइए—ईसाई सन्त आगस्टिन ने कहा था, यदि मैं धोखा खाता हूँ, तो मैं हूँ (Sif allour, sum)।

२. तत्त्वज्ञान के ऊपर ध्यान, भाग २।

'जानामि अतः अस्मि' में अतः पद से व्यक्त होता है कि यह वाक्य किसी न्याय-वाक्य के हेतु-वाक्य और निष्कर्ष में बदला जा सकता है। वह पूरा न्याय-वाक्य निम्नलिखित है—

सभी चिन्तनशील प्राणी सत् हैं।

मैं चिन्तनशील प्राणी हूँ।

अतः मैं सत् हूँ।

किन्तु डेकार्ट ने कहा है कि उसका वाक्य, जानामि अतः अस्मि, किसी न्याय-वाक्य के हेतु-वाक्य और निष्कर्ष में बदला नहीं जा सकता है। यह दो वाक्यों का मिश्रण नहीं है। यह कोई मिश्रित या संयुक्त वाक्य नहीं है। यह एक साधारण वाक्य है। डेकार्ट के लिए यह मूलवाक्य है तथाकथित न्याय-वाक्य का साध्यवाक्य डेकार्ट के लिए अप्रमाणित है। उसकी प्रामाणिकता उसके निष्कर्ष पर निर्भर है। अतः उसके 'जानामि अतः अस्मि' को सीधे किसी युक्ति से सिद्ध नहीं किया जा सकता।

वास्तव में 'जानामि अतः अस्मि' का सीधा अर्थ है कि चिन्तनशील आत्मा सत् है या चेतना सत् है[1]। इसका ज्ञान प्रातिभ है, न कि परोक्ष या यौक्तिक। यह निगमन नहीं है। यह विशुद्ध प्रतिभान है। चेतना, उसकी सत्ता और चेतना तथा उसकी सत्ता का सम्बन्ध—यह सब एक ही अखण्ड प्रातिभ ज्ञान है। इसको तीन खण्डों में बाँटा नहीं जा सकता है। 'जानामि अतः अस्मि' में अतः निष्कर्ष का द्योतक नहीं है। यह सामानाधिकरण्य का द्योतक है। यह बताता है कि जानामि का अर्थ अस्मि है और अस्मि का अर्थ जानामि है अर्थात् जानामि और अस्मि समानाधिकरण हैं। जानामि = अस्मि और अस्मि = जानामि। अद्वैत वेदान्त की भाषा में 'जानामि अतः अस्मि' को सत् तथा चित् की एकता कहा जाता है। सत्ता बोध है और बोध सत्ता है 'सत्तैव बोधः बोध एवं सत्ता'। जो सत् है वही चित् है। जो चित् है वही सत् है। किन्तु अद्वैत वेदान्त सत् और चित् की एकता को आनन्द से अभिन्न करता है। वह सच्चिदानन्द को मूल तथ्य या मूलवाक्य मानता है। डेकार्ट केवल सच्चित को मूल तथ्य मानता है।

यद्यपि डकार्ट आत्मा के अस्तित्व को स्वयंसिद्ध प्रातिभ ज्ञान मानता है, तथापि उसकी रचनाओं का अनुशीलन करने से पता चलता है कि उसने आत्मा के अस्तित्व के लिए निम्नलिखित दो प्रमाण दिये हैं—

(१) प्रातिभ प्रमाण। आत्मा स्वयंप्रकाश और स्वयंसिद्ध है।

---

१. स्पिनोजा ने लिखा है—"काजिटो आरगो सम" एक साधारण वाक्य है। यह आत्मा चेतन है, इस वाक्य का समानार्थक है। (डेकार्ट-दर्शन के सिद्धान्त)।

उसका ज्ञान प्रातिभ है। मुझे प्रातिभ ज्ञान से पता चलता है कि मैं हूँ। यह ज्ञान स्पष्ट और विवेकपूर्ण है। यह अपनी प्रामाणिकता स्वयं पेश करता है। यह स्वतः प्रमाणित है।

(२) अखण्डनीयता। आत्मा का अस्तित्व अखण्डनीय है क्योंकि उसका खण्डन वदतोव्याघातक है। जैसे कोई वक्ता नहीं कह सकता कि वह मौनी है क्योंकि वक्तव्य और मौन परस्पर व्याघातक हैं वैसे कोई मनुष्य नहीं कह सकता कि 'मैं नहीं हूँ', क्योंकि उसका यह कथन व्याघातक है। यदि वह अपने को 'नहीं हूँ' ऐसा मानता है, तो फिर वह यह कैसे कह सकता है ? वह अपने को 'नहीं हूँ' तभी कह सकता है जबकि वह स्वयं हो। किन्तु यदि वह है, तो उसका कथन कि 'मैं नहीं हूँ' गलत है। इस प्रकार उसका कथन कि 'मैं नहीं हूँ' व्याघातक है।

डेकार्ट ने इस प्रकार आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया। उसने आत्मा को एक द्रव्य माना जिसका अनिवार्य लक्षण या गुण चिन्तन करना है। वह कहता है—"किन्तु अब मैं क्या हूँ ? एक वस्तु जो सोचती है। जो वस्तु सोचती है वह क्या है ? यह वह वस्तु है जो सन्देह करती है, समझती है, विधि करती है, निषेध करती है, इच्छा करती है, अस्वीकार करती है और कल्पना करती है तथा भावना करती है[1]।"

डेकार्ट की आत्मा न तो अगोचर (Transcendent) तत्त्व है और न गोचर जीव। वह वस्तु-सत् है। किन्तु फिश्टे की अगोचर आत्मा की भाँति वह ज्ञेय विषयों से परे नहीं है। वह अद्वैतवादियों की आत्मा की भाँति प्रतिबोध-विदित है यानी प्रत्येक ज्ञेय के माध्यम से विदित है। फिर वह कोई गोचर जीव नहीं है। मैं जाता हूँ, मैं बोलता हूँ, मैं खाता हूँ, मैं सोता हूँ, आदि में जो 'मैं' है वह डेकार्ट की आत्मा नहीं है। डेकार्ट की आत्मा 'मैं सोचता हूँ,' 'मैं जानता हूँ,' 'मैं संशय करता हूँ,' 'मैं कल्पना करता हूँ,' 'मैं क्रोध, मोह आदि करता हूँ', और 'मैं इच्छा करता हूँ' के 'मैं' का अर्थ देती है।

किन्तु इतना होते हुए भी डेकार्ट की आत्मा मात्र ज्ञानिक या प्रत्ययात्मक नहीं है। वह वस्तु-सत् है, द्रव्य है। डेकार्ट प्रत्यय से प्रत्यक् का, ज्ञेय से ज्ञाता का, या विचार से विचारक का अथवा ज्ञान से सत्ता का गठबन्धन करता है। इस गठ-बन्धन पर वह संशय नहीं करता है। यहाँ वह रूढ़ि को या मध्ययुगीन परम्परा को मान लेता है जिसके अनुसार द्रव्य, गुण, विकार, ज्ञान और सत्ता दार्शनिक चिन्तन के विषय हैं। वह द्रव्य, गुण और विकार, इन वर्गणाओं (Category) की आधार-

१. तत्त्वज्ञान के ऊपर ध्यान, भाग २।

शिला पर खड़ा होकर चिन्तन करता है। जहाँ वह अन्य सभी वर्गणाओं पर संशय करता है, वह इन पर संशय नहीं करता। वह ज्ञान या सोचने और सत्ता या होने का अर्थ स्पष्ट नहीं करता। वह इनके रूढ़िगत प्रचलित अर्थ को स्वीकार कर लेता है। इस कारण उसने माना कि आत्मा द्रव्य है। वास्तव में वह विचार कर रहा था। विचार और सत्ता में अन्तर है। उसके विचारों से विचारों का अस्तित्व सिद्ध होता है। उनसे किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं सिद्ध होता। सत्ता या वस्तु का अस्तित्व विचारों का अस्तित्व नहीं है। मैं जहाँ तक सोचता हूँ वहाँ तक मैं मात्र विचार हूँ। मेरा अस्तित्व, 'मैं' का अस्तित्व, मात्र वैचारिक है। वह कैसे वस्तु-सत् होता है? इस प्रश्न का समाधान डेकार्ट ने नहीं किया। आज इसको लेकर दो मत हैं—एक मत हुसर्ल जैसे प्रदृश्यतावादियों का है जो कहते हैं कि डेकार्ट तर्कतः विचार से विचारक का अस्तित्व नहीं सिद्ध कर सकता है। दूसरा मत वस्तुवादियों और प्रत्ययवादियों का है जो कहते हैं कि डेकार्ट प्रातिभ ज्ञान से सिद्ध करता है कि 'मैं' की सत्ता चिन्तन करने वाली है, यह चिन्तनकर्त्ता वस्तु-सत् है। दूसरे मत के अनुसार चिन्तन और आत्मा की सत्ता में अनिवार्य सम्बन्ध है। प्रत्ययवादियों के अनुसार चिन्तन ही आत्मा की सत्ता है। किन्तु वस्तुवादियों के अनुसार आत्मा द्रव्य है और चिन्तन उसका अनिवार्य गुण है। वस्तुवादी द्रव्य-गुण की वर्गणा के आधार पर चिन्तन करते हैं और प्रत्ययवादी इस वर्गणा को मात्र ज्ञेय बताते हुए आत्मा के ज्ञान और अस्तित्व को द्रव्य तथा गुण से पृथक् करते हैं। वे आत्मा के ज्ञान और आत्मा के होने को एकार्थक समझते हैं। वस्तुवादियों और प्रत्ययवादियों के अनुसार आत्मा को वस्तु-सत् कहना ठीक है, यद्यपि इन दोनों प्रकार के लोग ऐसा कहने में विभिन्न तर्क देते हैं। किन्तु प्रदृश्यतावादियों के अनुसार आत्मा को वस्तु-सत् नहीं कहा जा सकता है। उनकी मान्यता के विपरीत आधुनिक अस्तित्ववादी हैं जो डेकार्ट की आत्मा को वस्तु-सत् मानते हैं। अस्तित्ववादी सार्त का कहना है कि 'जानामि अतः अस्मि' में अन्य आत्माओं का भी अस्तित्व निहित है। मुझे अन्य आत्माओं के सम्बन्ध में ही पता चलता है कि मैं हूँ। इस प्रकार सार्त ने आत्मा के अस्तित्व पर अधिक बल दिया है। उसने आत्मा के अस्तित्व पर अधिक बल दिया और उसके ज्ञान पर कम। उसके अनुसार अस्तित्व ज्ञान का पूर्ववर्ती है।

यह महत्त्वपूर्ण है कि वस्तुवादी, प्रत्ययवादी, प्रदृश्यतावादी और अस्तित्ववादी, सभी डेकार्ट की इस प्रतिज्ञा से सहमत हैं कि दर्शनशास्त्र का आरम्भ 'जानामि अतः अस्मि' से होना चाहिए। इस अर्थ में वे सभी डेकार्ट से प्रभावित हैं। किन्तु जानामि और अस्मि में क्या सम्बन्ध है? दोनों का क्या अर्थ है? इन प्रश्नों पर इन सभी में मतभेद है। प्रत्ययवादी कहते हैं कि दोनों एकार्थक हैं, दोनों में अभेद सम्बन्ध है।

आत्मा की सत्ता अद्वितीय है। यदि वह द्रव्य है तो अद्वितीय द्रव्य है। फिर कोई अनात्मा द्रव्य नहीं है। यदि वह व्यक्ति है तो वह अद्वितीय व्यक्ति है और कोई अनात्मा व्यक्ति नहीं है। यदि वह वस्तु है तो वह अद्वितीय वस्तु है। इस प्रकार प्रत्ययवादी आत्मा के अस्तित्व को अद्वितीय मानकर उसकी व्याख्या करते हैं। वस्तुवादी आत्मा को द्रव्य मानते हैं और चिन्तन को उसका अनिवार्य लक्षण या गुण कहते हैं। प्रदृश्यतावादी कहते हैं कि 'अस्मि' का पूर्ण अन्तर्भाव 'जानामि' में हो जाता है और आत्मज्ञान से पृथक् कोई आत्मा नहीं है। अस्तित्ववादी कहते हैं कि 'अस्मि' (मैं हूँ) मूल सत्ता है और इसका ज्ञान (जानामि) ऐसी ही अन्य सत्ताओं के संदर्भ में होता है।

डेकार्ट स्वयं वस्तुवादी है। किन्तु उसके सिद्धान्त की समीचीन व्याख्या प्रत्ययवाद में ही होती है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि 'जानामि अतः अस्मि' की सुन्दरतम व्याख्या प्रत्ययवाद से होती है। यह वाक्य प्रत्ययवाद का मूल मन्तव्य है। कुछ भी हो, डेकार्ट ने जानामि और अस्मि के, आत्मा के ज्ञान और आत्मा के होने के सम्बन्ध की जब व्याख्या की तब उसने अभेदसम्बन्ध का सहारा लिया और/या द्रव्य-गुण के सम्बन्ध का। पहले के अनुसार वह प्रत्ययवादी सिद्ध होगा और दूसरे के अनुसार वस्तुवादी। चूँकि वह प्रायः इस सम्बन्ध को द्रव्य-गुण के सम्बन्ध के रूप में लेता है इसलिए उसे वस्तुवादी कहना ही उचित है। किन्तु इतना मानना पड़ेगा कि इस सम्बन्ध की व्याख्या में डेकार्ट अस्पष्ट और रूढ़िवादी है। कांट ने इन सब कारणों से उसके मत को संभाव्य प्रत्ययवाद (Problematic Idealism) कहा है।

५ प्रत्यय-भेद और स्वयंसिद्धियाँ

आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान जितना स्पष्ट और विवेकपूर्ण है उतने ही स्पष्ट और विवेकपूर्ण और ज्ञान हैं। आध्यात्मिक ज्ञान पर विचार करते हुए डेकार्ट ने कहा कि आत्मा के पास तीन प्रकार के प्रत्यय हैं—आगन्तुक प्रत्यय, काल्पनिक प्रत्यय और आजानिक प्रत्यय (Innate Ideas)। आगन्तुक प्रत्यय आत्मा में बाहर से आते हैं। काल्पनिक प्रत्ययों को आत्मा स्वयं रचती है। आजानिक प्रत्यय आत्मा में निगूढ़ हैं और वे आत्मा की स्वाभाविक शक्ति के अनुसार धीरे-धीरे स्वतः ज्ञात होते हैं।

ये सभी प्रत्यय स्वरूपतः मानसिक हैं। ये मनोवृत्ति हैं। किन्तु वस्तुतः इनमें भेद हैं। सभी प्रत्यय वस्तुतः एकसमान नहीं हैं। उनमें से कुछ बाह्य वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं और कुछ नहीं। जो बाह्य वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं उनमें से

कुछ अधिक वास्तविक हैं और कुछ कम। कुछ प्रत्यय द्रव्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं और कुछ विकारों का।

आजानिक प्रत्ययों में से एक प्रत्यय ईश्वर का प्रत्यय है। यह परम ईश्वर का प्रतिनिधित्व करता है। यह परम ईश्वर, नित्य, अनन्त, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा उन सकल वस्तुओं का सृष्टिकर्त्ता है जो उसके अतिरिक्त हैं।

अब देखना है कि क्या ईश्वर सत् है? क्या ईश्वर का प्रत्यय किसी सत्ता-धारी ईश्वर का प्रतिनिधित्व या संकेत करता है? अथवा क्या वह ऐसे ही है जैसे सुमेरुगिरि, नृसिंह आदि अवास्तविक वस्तुओं के प्रत्यय।

अभी तक हमने केवल आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया है और देखा है कि 'जानामि अतः अस्मि' (मैं सोचता हूँ अतः मैं हूँ), यह वाक्य स्पष्ट तथा विवेक-पूर्ण है। अब हम इसे स्वयंसिद्ध मानते हैं। डेकार्ट को ऐसे ही कुछ और स्वयंसिद्ध वाक्य मिलते हैं जिनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं—

(क) सत्ता की विविध मात्राएँ हैं। द्रव्य की सत्ता विकार की सत्ता से अधिक है। अनन्त द्रव्य की सत्ता सान्त या सीमित द्रव्य की सत्ता से अधिक है। इसी प्रकार द्रव्य के प्रत्यय की सत्ता विकार के प्रत्यय की सत्ता से अधिक है। अनन्त द्रव्य के प्रत्यय की सत्ता सीमित द्रव्य के प्रत्यय की सत्ता से अधिक है।

(ख) जो विषय या गुण सत् है उसका कोई विषय या गुण कारण है और वह भी सत् है। प्रत्येक विषय या गुण का कारण है। अकारण कोई विषय नहीं है। असत् से किसी सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। 'कथम् असतः सत् जायेत्' असत् से सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है?

(ग) कारण में कार्य के बराबर या कार्य से अधिक गुण या सत्ता अवश्य है। यदि ऐसा न हो तो किसी कारण से उसके कार्य की उत्पत्ति न हो।

(घ) किसी विषय को उत्पन्न करने के लिए जिस कारण की आवश्यकता होती है उसके संरक्षण के लिए उस कारण से कम प्रबल कारण न होना चाहिए।

इन स्वयंसिद्धियों की स्पष्टता तथा विवेकपूर्णता प्रकट है। इनमें से दूसरी स्वयंसिद्धि अर्थात कारणता की स्वयंसिद्धि तो उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितवी आत्मा-विषयक स्वयंसिद्धि। यदि इस स्वयंसिद्धि को नहीं माना जाता तो फिर 'मैं सोचता हूँ अतः मैं हूँ', यह भी स्वयंसिद्धि नहीं रह जाती, क्योंकि विचार तब आकरण हो सकता है, और मैं भले ही नहीं हूँ लेकिन सोच सकता हूँ[1]। किन्तु ऐसा नहीं है। अतः कारण की स्वयंसिद्धि भी मान्य है। फिर, कारणता का सिद्धान्त भी उतना ही अखंड-

१. देखिए स्पिनोजा, प्रिन्सिपुल्स आव् डेकार्ट्स फिलासफी, चौथे वाक्य (Proposition) की टिप्पणी।

नीय है जितना आत्मा का अस्तित्व, क्योंकि यदि कारणता खंडनीय है तो उसका संबंध किसी खंडन करने वाले हेतु से होगा और कारणता का खंडन करते हुए भी खंडन और उसके हेतु में कार्य तथा कारण का सम्बन्ध मानना परस्पर व्याघातक नहीं तो क्या है? इस तरह कारणता के सिद्धान्त का खंडन नहीं हो सकता। यह भी एक स्वयंसिद्ध सिद्धान्त है।

६ ईश्वर का अस्तित्व

प्रत्ययों और स्वयंसिद्धियों का विचार हो जाने पर ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने वाली युक्तियों की भूमिका बन जाती है। डेकार्ट की रचनाओं में ईश्वर को सिद्ध करने लिए तीन युक्तियाँ दी गयी हैं :—

(क) नैमित्तिक युक्ति (Causal Argument)। इस युक्ति के अनुसार ईश्वर है, क्योकि वह ईश्वर के प्रत्यय का निमित्त (कारण) है। ईश्वर का प्रत्यय पूर्ण है। सर्वप्रथम, इसका कोई निमित्त कारण होना चाहिए क्योंकि अकारण कोई विषय नहीं है। फिर, इसका निमित्त कम से कम उतना गुणी होना चाहिए जितना गुणी यह है। यह पूर्ण है। अतः इसका निमित्त कारण भी पूर्ण होना चाहिए। कोई अपूर्ण विषय इसका कारण नहीं हो सकता। अतः एक पूर्ण विषय है जो हमारे अन्दर ईश्वर के प्रत्यय का आधान करता है। हम स्वयं इसके कारण नहीं हैं, क्योंकि हम अपने को अपूर्ण पाते हैं और अपूर्ण पूर्ण का कारण नहीं हो सकता। डेकार्ट के शब्दों में यह युक्ति यों है—

"ईश्वर शब्द का अर्थ मैं एक द्रव्य करता हूँ जो अनन्त, नित्य, अमर, स्वतन्त्र, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् है और जिससे मेरी और अन्य वस्तुओं की, यदि वे हैं, उत्पत्ति हुई है। अब ये विशेषताएँ ऐसी हैं कि जितने परिश्रम से मैं उनका ध्यान करता हूँ उतना ही कम वे केवल मुझसे उत्पन्न प्रतीत होती हैं। अतः जो कहा जा चुका है, उससे हमें निष्कर्ष निकालना है कि ईश्वर अवश्य है।"

"कारण, यद्यपि द्रव्य का प्रत्यय मेरे अन्दर है क्योंकि मैं द्रव्य हूँ, तथापि मैं अनन्त द्रव्य के प्रत्यय को तब तक नहीं कर सकता जब तक यह किसी अनन्त द्रव्य से न निकला हो, क्योंकि मैं सीमित (सान्त) हूँ।"

"यह कल्पना करना ठीक नहीं है कि मैं अनन्त वस्तु को विधिमूलक प्रत्यय द्वारा नहीं जानता, प्रत्युत सान्त वस्तु के निषेध से जानता हूँ जैसे विश्राम और अन्धकार को क्रमशः गति और प्रकाश के निषेध से जानता हूँ। क्योंकि मैं देखता हूँ कि स्पष्टतः अनन्त द्रव्य में सीमित द्रव्य से अधिक सत्ता है और इसलिए किसी तरह मुझे अनन्त द्रव्य का प्रत्यय सीमित द्रव्य के प्रत्यय से पहले होता है, अर्थात् ईश्वर का प्रत्यय

आत्मा के प्रत्यय से पहले होता है। यदि मेरे अन्दर आत्मा से अधिक पूर्ण किसी सत्ता का प्रत्यय नहीं है जिसकी तुलना में मैं अपनी कमियाँ पहचानता हूँ तो 'मैं संशय करता हूँ,' 'मैं इच्छा करता हूँ' इसका ज्ञान कैसे सम्भव हो ? इस ज्ञान का तात्पर्य है कि मुझमें कुछ अभाव है और मैं पूर्ण नहीं हूँ। किन्तु मैं जितना अपने को समझता हूँ सम्भवतः मैं उससे अधिक हूँ और जिन पूर्णताओं को मैं ईश्वर के माथे मढ़ता हूँ वे सब अव्यक्त रूप में किसी तरह मुझमें हैं, यद्यपि वे अपने को अभी तक प्रकट नहीं करतीं या कार्यरूप में परिणत नहीं हैं। वस्तुतः मैं जानता हूँ कि मेरा ज्ञान थोड़ा-थोड़ा बढ़ता रहता है और अपने को पूर्ण करता रहता है। और मैं कोई ऐसी बाधा नहीं देखता जो इसे अधिक बढ़ते-बढ़ते अनन्त तक न पहुँचा दे। मेरे ज्ञान के इस तरह बढ़ जाने या पूर्ण हो जाने से मैं नहीं देखता कि कोई मुझे इसके द्वारा ईश्वरीय स्वभाव के अन्य सभी गुणों (पूर्णताओं) को प्राप्त करने से रोक सकता है। अन्ततः यदि मेरे अन्दर इन पूर्णताओं को प्राप्त करने की शक्ति है तो मैं नहीं देखता कि क्यों यह उनके प्रत्ययों को मेरे अन्दर न उत्पन्न करे। फिर भी मैं जानता हूँ कि ऐसा नहीं हो सकता। कारण, पहले यद्यपि मैं जानता हूँ कि प्रतिदिन मेरा ज्ञान पूर्णता की एक नयी मात्रा तक पहुँच रहा है और मेरे स्वभाव में अव्यक्त रूप से बहुत-सी चीजें है जो अभी व्यक्त नहीं हैं, तथापि वे पूर्णताएँ मेरे ईश्वर-प्रत्यय से सम्बन्धित नहीं हैं या वहाँ तक थोड़ा भी नहीं पहुँचती हैं। ईश्वर के प्रत्यय में कोई चीज मात्र अव्यक्त नहीं है, प्रत्युत वस्तुतः व्यक्त है, क्योंकि यह मेरे ही ज्ञान की अपूर्णता का अकाट्य लक्षण है कि वह थोड़ा-थोड़ा बढ़ता है। पुनश्च, यद्यपि मेरा ज्ञान अधिक से अधिकतर हो रहा है, तथापि इस कारण मैं नहीं विश्वास करता कि यह वस्तुतः कभी अनन्त हो जायगा, क्योंकि यह किसी ऐसे ऊँचे बिन्दु पर नहीं पहुँच सकता जहाँ से ऊँचे बढ़ने में यह असमर्थ हो। किन्तु ईश्वर को मैं वस्तुतः अनन्त समझता हूँ; वह अपनी महान् पूर्णता में कुछ वृद्धि नहीं कर सकता। अन्त में, मैं देखता हूँ कि किसी प्रत्यय की विषयगत (व्यक्त) सत्ता उस सत्ता से नहीं उत्पन्न हो सकती जो मात्र अव्यक्त है; वह मात्र उस सत्ता से उत्पन्न हो सकती है जो व्यक्त है[1]।"

यहाँ डेकार्ट ने दिखलाया कि ईश्वर का प्रत्यय अनन्त और पूर्ण है, अनन्तता और पूर्णता निषेधसूचक नहीं हैं; किन्तु विधिसूचक हैं। हमारा ज्ञान अनन्त और पूर्ण नहीं हो सकता है भले ही वह प्रतिदिन बढ़ता हो। इसलिए ईश्वर के प्रत्यय की पूर्णता को हम अपनी शक्तियों से उत्पन्न नहीं करते और इसलिए यह मानना पड़ता है कि इस प्रत्यय को हमारे अन्दर उत्पन्न करने वाली कोई सत्ता है जो पूर्ण और अनन्त है। पूर्ण और अनन्त सत्ता को ईश्वर कहा जाता है। अतः ईश्वर है।

[1] तत्त्वज्ञान के ऊपर ध्यान, भाग ३।

(ख) नृतत्ववैज्ञानिक युक्ति (Anthropological Argument) । आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हो चुका है । अब प्रश्न है कि क्या आत्मा का अस्तित्व अकारण है या इसका कोई कारण है ? इसका अस्तित्व अकारण नहीं है । यद्यपि 'मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ' इस प्रातिभ ज्ञान द्वारा इसका अस्तित्व सिद्ध है, तथापि इसके द्वारा अब और यहाँ जो मैं सोचता हूँ उसी का अस्तित्व सिद्ध है । इसके द्वारा उस आत्मा का अस्तित्व नहीं सिद्ध है जो कई क्षणों तक रहती है या जो स्थायी है । फिर हमें जो स्पष्टता और विवेकपूर्णता के रूप में सत्य की कसौटी मिली है वह भी क्षणिक है और केवल वर्तमानकालिक है । क्या प्रमाण की यह कसौटी भविष्य में भी सत्य होगी ? सम्भवतः भविष्य में यह अप्रमाणित हो जाय । अतः जब तक इस कसौटी की प्रामाणिकता इस सन्देह से परे नहीं हो जाती तब तक यह नित्य सत्य नहीं हो सकती और दर्शनशास्त्र की रचना इसके आधार पर नहीं की जा सकती । 'मैं सोचता हूँ अतः मैं हूँ' यह प्रातिभ ज्ञान अपनी सत्यता भविष्य के लिए नहीं प्रमाणित करता है । अतः यह क्षणभंगुर है । फिर क्षणभंगुर सत्य को कैसे नित्य और मूल माना जाय ? इस प्रकार स्पष्ट है कि आत्मा का कोई आधार है, कोई कारण है और यह एक स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है ।

पुनश्च आत्मा अपूर्ण और सीमित द्रव्य के रूप में ज्ञात होती है । इससे भी सिद्ध है कि कोई पूर्ण और असीम द्रव्य है जो आत्मा का कारण है ।

परन्तु कहा जा सकता है कि आत्मा का कारण आत्मा स्वयं है; आत्मा स्वयंभू है । अथवा आत्मा का कारण ईश्वर के अतिरिक्त कोई एक या अनेक कारण है । परन्तु आत्मा स्वयंभू नहीं है । "यदि मैं अपने अस्तित्व का रचयिता स्वयं होता तो मैं कुछ भी सन्देह न करता, कुछ भी इच्छा न करता और अनततः मुझमें किसी पूर्णता का अभाव न होता, क्योंकि मैं अपने को सर्वाङ्गपूर्ण बनाये होता और इस प्रकार ईश्वर होता[1] ।" पुनश्च, "मेरे समस्त जीवन को अनन्त भागों में बाँटा जा सकता है । इनमें से कोई एक भाग दूसरे पर निर्भर नहीं है । थोड़ा पहले मैं अस्तित्व में था । इस तथ्य से यह नहीं सिद्ध होता कि इस समय भी मैं अस्तित्व में हूँ, यदि कोई कारण इस क्षण मुझे बिलकुल नये ढंग से नहीं उत्पन्न करता या मेरा संरक्षण नहीं करता । जो काल के स्वभाव को सावधानी से सोचते हैं, उन्हें यह बिलकुल स्पट और प्रमाणित है कि जिन क्षणों में कोई द्रव्य लगातार रहता है उनमें से प्रत्येक क्षण में अपने संरक्षण के लिए उसे उसी शक्ति और क्रिया की आवश्यकता है जो उसे नये ढंग से उत्पन्न करने में आवश्यक है । इस प्रकार प्रकृति के प्रकाश से यानी

[1] वही, भाग ३ ।

स्वाभाविक बुद्धि से स्पष्ट पता चलता है कि सृष्टि और संरक्षण का विवेक केवल बौद्धिक है।

यहाँ मुझे चाहिए कि मैं अपने से पूछूँ—क्या मेरे अन्दर कोई शक्ति है जो मुझको जिसका वर्तमान क्षण में अस्तित्व है, भविष्य में भी अस्तित्व में रख सकती है ?.......किन्तु मुझे ऐसी शक्ति का ज्ञान नहीं हैं। इस प्रकार मैं स्पष्टतः जानता हूँ कि मैं किसी सत्ता पर निर्भर हूँ जो मुझसे भिन्न है[1]।"

अब प्रश्न हो सकता है कि क्या मैं अनेक कारणों से उत्पन्न नहीं हूँ ? क्या मेरे गुण अन्य गुणों से उत्पन्न नहीं है जो विश्व की अनेक वस्तुओं में मिलते हैं और जो किसी एक वस्तु या ईश्वर में एकत्र नहीं हैं ?

क्या मैं अपने माता-पिता से उत्पन्न नहीं हूँ ? और मेरे माता-पिता अपने माता-पिता से उत्पन्न नहीं थे ? इस प्रकार सोचने से मेरे अस्तित्व के कारणों की एक शृंखला बनती है जो कहीं समाप्त नहीं होती। इससे अनवस्था दोष होता है। फिर प्रश्न यह नहीं है कि किस कारण ने मुझे उत्पन्न किया था, बल्कि यह है कि कौन मुझे धारण करता है या कौन मेरा संरक्षण करता है ? स्पष्ट है कि मेरे माता-पिता ऐसा नहीं करते, क्योंकि उनके न चाहते हुए भी मैं बीमार पड़ता हूँ, दुखी होता हूँ और मृत्यु को प्राप्त होता हूँ। यदि वे मेरा संरक्षण करते तो वे मुझे जीवन में इतना असहाय क्यों छोड़ते ? इससे स्पष्ट है कि वे मेरे कारण नहीं हैं।

फिर मैं अनेक कारणों से भी उत्पन्न नहीं हो सकता। मेरे कारण को कम-से-कम उतना ही चेतन होना चाहिए जितना मैं हूँ और उसके अन्दर सभी गुणों की एकता होनी चाहिए जैसे ईश्वर के प्रत्यय में हैं। 'समस्त वस्तुओं की जो अपृथक्ता', सरलता और एकता ईश्वर में है वह एक प्रमुख पूर्णता है जो उसके बारे में की गई मेरी अवधारणा में है। सभी ईश्वरीय गुणों की एकता का यह प्रत्यय निश्चय ही किसी ऐसे कारण से मेरे पास नहीं आ सकता जिससे अन्य सभी गुणों या पूर्णताओं के प्रत्यय न मिले हों[2]।" यदि इस एकता का प्रत्यय उस कारण से न होता जिससे अन्य सभी पूर्णताएँ आती हैं और सभी पूर्णताएँ अनेक कारणों से आतीं, तो पूर्णताओं की एकता का यह प्रत्यय असम्भव होता। अतः स्पष्ट है कि ईश्वर है जो मेरे अन्दर अनेक पूर्णताओं को रखने के अतिरिक्त उनकी एकता को भी रखता है।

इस तरह यदि 'मैं हूँ' या आत्मा है तो आत्मा की उत्पत्ति और संरक्षण के

[1] वही।

[2] वही, भाग ३।

लिए एक पूर्ण द्रव्य का होना अनिवार्य है। अतः ईश्वर है जो आत्मा का कर्ता और धर्ता है।

(ग) **तत्त्ववैज्ञानिक युक्ति** (Ontological Argument)। इस युक्ति के अनुसार ईश्वर है क्योंकि वह पूर्ण है। पूर्णता में अस्तित्व निहित है। यदि उसमें अस्तित्व निहित न होता तो वह अपूर्ण होता। अतः ईश्वर के स्वभाव यानी पूर्णता से ही सिद्ध है कि ईश्वर है।

डेकार्ट ने इस युक्ति की व्याख्या में कहा है—

'चूँकि मैं अन्य सभी वस्तुओं के बारे में उनके अस्तित्व (Existence) और तत्त्व (Essence) में भेद करने में अभ्यस्त हूँ, इसलिए मैं आसानी से मान सकता हूँ कि अस्तित्व ईश्वर के तत्त्व से पृथक् हो सकता है। और मैं इस प्रकार समझ सकता हूँ कि ईश्वर वस्तुतः नहीं है। किन्तु फिर भी जब मैं इस पर अधिक ध्यान से विचार करता हूँ तो स्पष्ट देखता हूँ कि जैसे किसी त्रिभुज के तीनों कोणों का योग दो समकोण होना उसके त्रिभुजीय आकृति होने से पृथक् नहीं किया जा सकता, या पर्वत का प्रत्यय घाटी के प्रत्यय से पृथक् नहीं किया जा सकता, वैसे ही ईश्वर के तत्त्व से अस्तित्व पृथक् नहीं किया जा सकता है[1]।"

यहाँ पर एक आपत्ति उठाई जा सकती है जिसे डेकार्ट ने स्वयं उठाया है। वह कहता है........"किन्तु यद्यपि मैं अस्तित्व के विना ईश्वर का प्रत्यय नहीं कर सकता, जैसे घाटी के विना पर्वत का प्रत्यय नहीं कर सकता; तथापि इस तथ्य से कि मैं किसी घाटी के सहित ही एक पर्वत का प्रत्यय करता हूँ, यह नहीं सिद्ध होता है कि संसार में कोई ऐसा पर्वत है। इसी तरह यद्यपि मैं ईश्वर को अस्तित्व-सहित सोचता हूँ तो भी दीखता है कि यह सिद्ध नहीं होता कि एक ईश्वर है जिसका अस्तित्व है। मेरा विचार वस्तुओं पर किसी आवश्यकता को लादना नहीं है। जैसे मैं पंख-वाले घोड़े की कल्पना कर सकता हूँ यद्यपि कोई पंखसहित घोड़ा नहीं है, वैसे मैं सम्भवतः ईश्वर के मत्थे अस्तित्व मढ़ सकता हूँ, यद्यपि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। किन्तु इस आपत्ति में एक तर्काभास छिपा है। विना घाटी के मैं किसी पर्वत का प्रत्यय नहीं कर सकता, इस तथ्य से यह नहीं सिद्ध होता कि किसी पर्वत या घाटी का अस्तित्व है, बल्कि यह सिद्ध होता है कि घाटी और पर्वत (चाहे अस्तित्व में हों या न हों, वे एक-दूसरे से पृथक् नहीं हो सकते। इसके विपरीत विना अस्तित्व के मैं ईश्वर का प्रत्यय नहीं कर सकता, इस तथ्य से सिद्ध होता है कि उससे अस्तित्व का

१. वही भाग ३।

परिहार नहीं किया जा सकता और इस कारण वह वस्तुतः है । मेरा विचार इसको उत्पन्न नहीं करता है या मेरा विचार यहाँ वस्तुओं पर अपनी आवश्यकता को नहीं लादता है । इसके विपरीत यहाँ आवश्यकता वस्तु के स्वरूप में ही निहित है अर्थात् ईश्वर के अस्तित्व की आवश्यकता है । यही मुझे इस प्रकार सोचने को विवश करती है कि ईश्वर है । अस्तित्व के बिना ईश्वर का प्रत्यय करना मेरी शक्ति के बाहर है हालाँकि किसी पंख-सहित या पंख-रहित घोड़े की कल्पना करना मेरी शक्ति के अन्दर है[1] ।"

इस प्रकार यह अनिवार्य नहीं है कि हम हमेशा अपने मन के सामने ईश्वर के प्रत्यय को रखें। किन्तु यह अनिवार्य है कि जब-जब ईश्वर का प्रत्यय मन में हो, तब-तब उसके साथ अस्तित्व हो । ईश्वर का प्रत्यय सभी प्रत्ययों में अद्वितीय है । केवल इसी प्रत्यय के लिए होना और सोचा जाना अनिवार्यतः अपृथक् है । आत्मा का प्रत्यय भी ऐसा नहीं हैं; यद्यपि जब मैं सोचता हूँ तब मैं हूँ, क्योंकि आत्मा का होना सांयोगिक है, वह यहाँ और अब है और अपने स्वभाव के कारण अनिवार्य तथा नित्य नहीं है । ईश्वर का प्रत्यय अपने स्वभाव के कारण अनिवार्य तथा नित्य है ।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि डेकार्ट ने आत्मा के प्रत्यय को सदा वर्तमान स्वरूप नहीं माना है । शंकराचार्य ने आत्मा को सदा वर्तमानस्वरूप माना है । शंकराचार्य के लिए आत्मा स्वभावतः नित्य है । डेकार्ट के लिए आत्मा स्वभावतः क्षणिक है और ईश्वर पर निर्भर होने के कारण नित्य है । शंकराचार्य के लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं है, किन्तु डेकार्ट के लिए है ।

डेकार्ट की इन युक्तियों की आलोचना की गयी है । इन युक्तियों का आरम्भ इस बात से होता है कि हमारे पास ईश्वर का प्रत्यय है । डेकार्ट ने ईश्वर के प्रत्यय से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध किया है । पहली दो युक्तियों में ईश्वर के प्रत्यय के समग्र अन्तर्तत्व काम में लाये गये हैं । अन्तिम युक्ति में ईश्वर के प्रत्यय का केवल एक अन्तर्तत्व अर्थात् पूर्णता काम में लाया गया है । इन युक्तियों का खण्डन करते हुए गैंसण्डी नामक दार्शनिक ने कहा है कि हमारे पास ईश्वर का प्रत्यय नहीं है, अनन्त वस्तु का प्रत्यय सम्भव नहीं है, और जो लोग ईस्वर के प्रत्यय को जानते हुए अपने को समझते हैं, उनके ईश्वर-प्रत्यय अत्यन्त अनिश्चित और भिन्न-भिन्न हैं । इन आपत्तियों के उत्तर में डेकार्ट ने कहा कि जैसे लोग ज्यामिति नहीं जानते हुए भी त्रिभुज के प्रत्यय को जानते हैं वैसे यद्यपि वे ईश्वर को पूर्णतः नहीं जानते तथापि वे ईश्वर के प्रत्यय से

---

१. वही. भाग ५ ।

अवगत हैं। ईश्वर का प्रत्यय आजानिक या जन्मजात है। इस कथन का तात्पर्य है कि यद्यपि सभी लोगों के मन में ईश्वर का प्रत्यय नहीं है, जैसे बालकों के मन में, तथापि सभी लोगों में जो आन्तरिक जिज्ञासा या ज्ञान प्राप्त करने की स्वाभाविक शक्ति है उसके विकास होने पर वे अपने अन्दर निहित ईश्वर के प्रत्यय का बोध प्राप्त कर लेते हैं। ईश्वर का प्रत्यय किसी विशेष अवस्था में किसी विशेष व्यक्ति के मन का कोई व्यक्तिगत प्रत्यय नहीं है; प्रत्युत वह एक सार्वजनिक या सामान्य प्रत्यय है— जिसे हर मनुष्य सामान्य अवस्था में समझता है। इस प्रत्यय की उत्पत्ति परम्परा या धर्म-ग्रन्थ से नहीं होती है; क्योंकि परम्परा या धर्म-ग्रन्थ से इसकी उत्पत्ति होने में अनवस्था-दोष है।

पहली युक्ति का आधार निमित्त कारण है। डेकार्ट की यह युक्ति अभूतपूर्व है। उसके पहले किसी ने इस युक्ति को नहीं दिया था। उसने कहा कि प्रत्येक प्रत्यय का निमित्त कारण होना चाहिए। उसके पहले लोग प्रत्येक वस्तु के ही निमित्त कारण की खोज करते थे। सबसे पहले डेकार्ट ने ही प्रत्यय के निमित्त कारण की कल्पना की। उसका कहना है कि ईश्वर के प्रत्यय का निमित्त कारण कोई सीमित व्यक्ति नहीं हो सकता, क्योंकि यह प्रत्यय असीमता का प्रत्यय है।

किन्तु इस युक्ति में अनेक दोष हैं। पहला, एक ओर डेकार्ट ईश्वर के प्रत्यय को अनुत्पन्न और जन्मजात या आजानिक कहता है तो दूसरी ओर वह उसकी उत्पत्ति का निमित्त कारण ढूंढ़ता है। यह व्याघातक है। दूसरे, डेकार्ट ने अपने संशय के लिए कल्पना की थी कि एक प्रभावशाली शैतान है जो हमारे मन में अनेक प्रत्ययों को उत्पन्न करता है। क्या यह प्रभावशाली शैतान अन्य प्रत्ययों की तरह ईश्वर के प्रत्यय का भी निमित्त कारण नहीं हो सकता? डेकार्ट कहेगा कि शैतान मिथ्याचारी है और ईश्वर के प्रत्यय का निमित्त कारण सत्याचरण करने वाला सत् है। किन्तु यहाँ डेकार्ट ईश्वर को सत्य मानकर चल रहा है। यदि ईश्वर सत्य है, यदि ईश्वर-प्रत्यय सत्य है, तो फिर ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि में इन मान्यताओं को काम में लाना सिद्ध-साधन दोष है, अर्थात् जिस चीज को हम सिद्ध करना चाहते हैं उसको पहले से ही सिद्ध मान रहे हैं। तीसरे, डेकार्ट मानता है कि प्रत्येक प्रत्यय की द्विविध यथार्थता है, उसमें वास्तविक यथार्थता (Formal Reality) और प्रतिनिधिक यथार्थता (Objective Reality) है। वास्तविक यथार्थता का तात्पर्य किसी प्रत्यय का मन में घटित होना है और प्रतिनिधिक यथार्थता का मतलब किसी वस्तु का प्रतिनिधित्व करना है। अब प्रश्न है कि डेकार्ट ईश्वर के प्रत्यय की वास्तविक यथार्थता का निमित्त कारण ढूंढ़ता है या उसकी प्रतिनिधिक यथार्थता का। यदि उसका तर्क बिना प्रतिनिधिक यथार्थता के सम्भव नहीं है जैसा कि वह स्पष्ट कहता है, तो स्पष्ट

ही उसकी युक्ति में चक्रक दोष है, क्योंकि प्रतिनिधिक यथार्थता मानकर हम ईश्वर की सत्ता की कल्पना पहले से ही कर लेते हैं और बाद में उसको ईश्वर के प्रत्यय से निगमित करने की पिष्टपेषण-क्रिया करते हैं। चौथे, निमित्त कारण की सत्यता निर्विवाद नहीं है। कारणता के नाम पर डेकार्ट जिस सिद्धान्त को अकाट्य नियम मनता हैं वह उपादान कारण का नियम है, न कि निमित्त कारण का। इसलिए जब तक निमित्त कारण की सत्यता अकाट्य न हो तब तक इसके आधार पर निगमन नहीं हो सकता। पाँचवें, इस युक्ति से ईश्वर के प्रत्यय और ईश्वर में बाह्य सम्बन्ध सिद्ध होता है, क्योंकि वस्तु और उसके निमित्त कारण में बाह्य सम्बन्ध होता है। किन्तु यह डेकार्ट की मान्यता के विपरीत है। वह ईश्वर की सत्ता और ईश्वर के प्रत्यय में बाह्य सम्बन्ध नहीं मानता। उसके लिए दोनों में अभेद सम्बन्ध है। यदि ईश्वर का प्रत्यय ईश्वर की सत्ता से पृथक् हो सकता है तो फिर ईश्वर के प्रत्यय से उसकी सत्ता को सिद्ध करना असम्भव है। कांट ने कहा कि हमें १०० रुपये का स्पष्ट प्रत्यय हो सकता है, किन्तु इसका तात्पर्य नहीं कि हमारे पास १०० रुपये हैं। एकबार जब हम प्रत्यय और सत्ता को एक दूसरे से पृथक् मान लेते हैं तब प्रत्यय से सत्ता को सिद्ध नहीं किया जा सकता। अन्ततः, चूँकि डेकार्ट पहली युक्ति में ईश्वर के प्रत्यय से चलता है और मात्र प्रत्ययों के आधार पर किसी सत्ता की सिद्धि नहीं हो सकती, इसलिए उसकी युक्ति सदोष है। इन दोषों को दूर करने के लिए डेकार्ट ने दूसरो तत्त्ववैज्ञानिक युक्ति प्रस्तावित की। दूसरो युक्ति का आरम्भ-बिन्दु ईश्वर का प्रत्यय नहीं, किन्तु वह आत्मा है जो ईश्वर का प्रत्यय करती है।

वास्तव में पहली युक्ति अपने-आप में अधूरी है। दूसरी युक्ति उसकी पूरक है। वह उसकी पूर्ण व्याख्या करती है। यह युक्ति भी अभूतपूर्व है। डेकार्ट से पहले इसे किसी ने नहीं दिया था। उसके पहले पश्चिमी दार्शनिकों ने आत्मा के कारण की खोज अवश्य की थी, किन्तु किसी ने उस आत्मा के कारण की खोज नहीं की थी जिसका प्रधान लक्षण ईश्वर का प्रत्यय करना है। इस कारण डेकार्ट की दूसरी युक्ति प्राचीन-दार्शनिकों की सृष्टिवैज्ञानिक युक्ति (Cosmological Argument) से भिन्न है।

दूसरी युक्ति का आरम्भ-विन्दु आत्मा हैं जिसकी विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(क) आत्मा का अस्तित्व निर्विवाद और सन्देह-रहित है।

(ख) आत्मा का अस्तित्व और आत्मा का ज्ञान (प्रत्यय) एकार्थक है।

(ग) आत्मा अपने को अपूर्ण पाती है और पूर्णता की प्राप्ति का प्रयास करती है।

(घ) पूर्णता-प्राप्ति के प्रसंग में आत्मा अनिवार्यतः ईश्वर का प्रत्यय करती है।

चूंकि इस युक्ति का आरम्भ-विन्दु सत्ता और प्रत्यय की उस एकता से होता है, जो पूर्णता की ओर उन्मुख है, इसलिए इस युक्ति में पहली युक्ति की कमियाँ नहीं हैं। लेकिन इस युक्ति में कुछ और दोष हैं। पहले, यह युक्ति आत्मा की दो अवधारणाओं पर आधारित है जो तर्क से स्थापित नहीं हैं। पहली अवधारणा है कि आत्मा क्षणिक है—जिस क्षण हम जानते हैं या सोचते हैं उसी क्षण हम हैं। 'मैं सोचता हूँ अतः मैं हूँ'—यह एक क्षणिक अनुभव है और यही क्षणिक आत्मा है। दूसरी अवधारणा है कि आत्मा सतत है और प्रत्येक क्षण अन्य क्षणों से अपृथक् है। इस अवधारणा के अनुसार आत्मा का शाश्वत सृजन या संरक्षण हो रहा है। दूसरी अवधारणा को डेकार्ट ने सिद्ध नहीं किया। फिर भी उसकी तत्त्ववैज्ञानिक युक्ति इस अवधारणा पर आधारित है। दूसरे, इस युक्ति का भी आधार निमित्त कारण है जो आत्मा और ईश्वर के सम्बन्ध को बाह्य (सांयोगिक) सम्बन्ध बना देता है। बाह्य सम्बन्ध होने पर एक पद से दूसरे पद तक तर्कतः तब तक नहीं बढ़ा जा सकता जब तक उनमें किसी निश्चित सम्बन्ध की कल्पना न कर ली जाय। यदि आत्मा और ईश्वर के सम्बन्ध को निश्चित कर लिया जाय तो चक्रक दोष होता है और न निश्चित किया जाय तो युक्ति आगे बढ़ ही नहीं सकती। इसलिए ईश्वर को आत्मा का निमित्त कारण मानकर चलना दूसरी युक्ति को दोषपूर्ण बना देता है। इन दोषों से बचने के लिए डेकार्ट प्रायः कहता है कि ईश्वर की सत्ता आत्मा के अस्तित्व में आत्मा के अनुभव के साथ ही अव्यक्त रूप में ज्ञात होती है और बाद में इस प्रातिभ ज्ञान के विकास के रूप में ईश्वर की सत्ता का स्पष्ट या व्यक्त ज्ञान होता है।

गिब्सन ने डेकार्ट की प्रथम दो युक्तियों के बारे में कहा है कि यदि हम उन्हें उस रूप में लेते हैं जिस रूप में डेकार्ट ने पेश किया है तो चक्रक दोष अनिवार्य हो जाता है, लेकिन यदि हम उनके सरांश को ग्रहण करें और उन्हें आत्मा के बारे में होने वाले प्रातिभ ज्ञान का तार्किक विस्तार मानें, तो वे अकाट्य हैं। डेकार्ट का तात्पर्य है कि (१) आत्मा और ईश्वर में वास्तविक और अभेद्य सम्बन्ध है, (२), आत्मा के प्रातिभ ज्ञान में आवश्यक सम्बन्धों का ज्ञान निहित है और (३) ईश्वर पूर्ण होने के कारण आत्मा का साध्य है[१]। वास्तव में निमित्त कारण की वर्गणा के आधार पर ईश्वर को सिद्ध नहीं किया जा सकता, किन्तु साध्य-साधक की वर्गणा के आधार पर ईश्वर को सिद्ध किया जा सकता है। आत्मा साधक है और ईश्वर उसका साध्य है। डेकार्ट ने आत्मा और ईश्वर के बीच इस सम्बन्ध को माना है, यद्यपि

१. The Philosophy of Descartes A.B. Gibson. pp. 136-137.

उसने जगत् और ईश्वर के बीच इस सम्बन्ध को नहीं माना है। इसलिए उसकी युक्ति औपेयिक युक्ति (Teleological Argument) का रूप नहीं हो सकती। वास्तव में उसकी युक्ति मूल्यमीमांसक युक्ति (Axiological Argument) है।

डेकार्ट की युक्तियों को दोष-रहित दिखाते हुए गिब्सन ने लिखा हैं—"जब तक किसी अल्पतर वस्तु के साथ कोई बृहत्तर वस्तु प्रदत्त नहीं है तब तक एक अल्पतर वस्तु से किसी बृहत्तर वस्तु को सिद्ध करना असम्भव है। जहाँ तक डेकार्ट इसको स्पष्टतः नहीं मानता वहाँ तक उसकी मान्यता जघन्य अर्थ में चक्रक दोष से ग्रसित है। किन्तु ज्यों ही वह इसे मानता है त्यों ही तथाकथित चक्रक दोष अन्योन्याश्रय के अतिरिक्त कुछ नहीं रह जाता। दूसरे शब्दों में अन्योन्याश्रय की कल्पना आत्मा के तथा-कथित एकाकीपन को खत्म करती है और एकरेखीय अनुमान (Linear inference) की अप्रामाणिक चक्रकता के विरोध में सुसंगत संस्थान (Coherent system) की प्रामाणिक चक्रकता का प्रतिपादन करती है[1]।"

आत्मा और ईश्वर में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। किन्तु इससे दोनों को सिद्ध करने में चक्रक दोष नहीं होता। चक्रक दोष वहाँ होता है जहाँ हेतु और साध्य एक-रेखीय सम्बन्ध में रहते हैं या जहाँ उनमें अन्योन्याश्रय सम्बन्ध नहीं होता। जहाँ दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध होता है वहाँ चक्रकता प्रामाणिक है।

ज्ञान-क्रम में पहले आत्मा है और बाद में ईश्वर। किन्तु अस्तित्व-क्रम में पहले ईश्वर है और बाद में आत्मा। आत्मा के सहारे ईश्वर का ज्ञान होता है और ईश्वर के सहारे आत्मा का अस्तित्व है। आत्मा ईश्वर का ज्ञान-हेतु (Ratio Cognoscendi) है और ईश्वर आत्मा का अस्तित्व-हेतु (Ratio essendi) है। यही दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

अब स्पष्ट है कि हमें एक ही प्रातिभ ज्ञान होता है जिसमें आत्मा और ईश्वर अभेद्यरूप से सम्बन्धित हैं। जब यह प्रातिभ ज्ञान होता है तब पहले हमें केवल आत्मा के अस्तित्व का पता चलता है। किन्तु यह पहला दृष्टिकोण एकांगी और अपूर्ण है। बाद में जब हमें पता चलता है कि इसी प्रातिभ ज्ञान में ईश्वर के अस्तित्व का भी ज्ञान होता है तब यह पूर्ण और सर्वांग हो जाता है। वास्तव में हम ईश्वर के अस्तित्व को अनुमान-प्रक्रिया से सिद्ध नहीं करते प्रत्युत अपने मूल प्रातिभ ज्ञान का ही विशद अर्थ करके ईश्वर के अस्तित्व का पता लगाते हैं[2]।

---

१. वही पृष्ठ १३६।

२. वही पृष्ठ १२१। देखिए कोपल्सटन, ए हिस्ट्री आफ फिलासॉफी, चौथी जिल्द; पृष्ठ ११४-११५।

अभी तक हमने तत्त्ववैज्ञानिक युक्ति की आलोचना में कुछ नहीं कहा है। वास्तव में यही सबसे प्रामाणिक युक्ति है। यद्यपि डेकार्ट ने इस युक्ति को सबसे बाद में खोजा तथापि इसको वह सबसे अधिक प्रामाणिक समझता था। डेकार्ट के व्याख्याकारों का कथन है कि यदि पहली और दूसरी युक्ति को हम समर्थनीय रूप में पेश करें तो हमें तीसरी युक्ति का अनिवार्यतः सहारा लेना पड़ेगा[१]। तीसरी युक्ति ईश्वर के प्रत्यय और ईश्वर के अस्तित्व के संबंध की सही व्याख्या करती है। वह इनके बीच निमित्त कारण के संबंध को नहीं मानती। वह ईश्वर के प्रत्यय में पूर्णता या मूल्य पर बल देती है और सही अर्थ में मूल्यमीमांसक युक्ति है। वह ईश्वर के प्रत्यय और ईश्वर के अस्तित्व में केवल अभेद-संबंध ही नहीं मानती वरन् अनिवार्य संबंध भी माननी है।

डेकार्ट के आलोचकों ने तीसरी युक्ति को न्यायवाक्य (Syllogism) में रख कर दिखाया है कि इसमें चक्रक दोष है। स्वयं डेकार्ट ने अपनी युक्ति को सन्त एन्सलेम की तथाकथित तत्त्ववैज्ञानिक युक्ति से भिन्न करते हुए कहा कि वह ईश्वर के प्रत्यय का अर्थ नहीं कर रहा है। ईश्वर का अस्तित्व ईश्वर के प्रत्यय से उस तरह नहीं निकलता जिस तरह किसी शब्द से उसका अर्थ निकलता है या किसी कारण से उसका कार्य निकलता है। ईश्वर का प्रत्यय परम मूल्य है, परमार्थ है। परमार्थ का अविनाभाव (अनिवार्य संबंध) अस्तित्व से है। पूर्णता का तकाजा है कि ईश्वर है। इस तरह ईश्वर के प्रत्यय से या पूर्णता के प्रत्यय से ईश्वर का अस्तित्व वैसे ही निकलता है जैसे मूल्य से उसकी सत्ता सिद्ध होती है। ईश्वर की पूर्णता अनिवार्यतः ईश्वर के अस्तित्व की माँग करती है। यह माँग मनोवैज्ञानिक नहीं किन्तु तार्किक और मूल्यमीमांसकीय है।

डेकार्ट की विशेषता है कि उसने ईश्वर के अस्तित्व को आत्मा के आधार या माध्यम से सिद्ध किया है। जैसे आत्मा के लिए उसका प्रत्यय और उसका अस्तित्व एकार्थक है वैसे ईश्वर के लिए भी समझना चाहिए। जैसे आत्मा के प्रत्यय और अस्तित्व का ज्ञान होता है वैसे ही मूलतः ईश्वर के प्रत्यय और ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान होता है। दोनों का निश्चय प्रातिभ है, यौक्तिक नहीं। जो लोग ईश्वर के प्रत्यय और ईश्वर के अस्तित्व के इस संबंध को नहीं मानते वे ही डेकार्ट की तत्व-वैज्ञानिक युक्ति में दोष ढूंढ़ते हैं। किन्तु जो लोग इस संबंध को मानते हैं उन्हें तत्त्ववैज्ञानिक युक्ति प्रामाणिक लगती है।

ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध हो जाने पर डेकार्ट-दर्शन के केन्द्र-बिन्दु पर ईश्वर

१. वही पृष्ठ १२२।

हो गया और आत्मा अब केन्द्र से परिधि पर आ गयी। ईश्वर पूर्ण है। उसमें सभी गुण अपनी पूर्णता में हैं, अतः वह सत्यनिष्ठ है। वह छल, धोखा, मिथ्या, झूठ, अज्ञान और अशुभ से रहित है। पुनश्च पूर्ण होने के कारण वह स्वयंभू या आत्मभू है, वह अपना कारण स्वयं है। उसका कोई कारण नहीं है।

७ जगत् का अस्तित्व

आत्मा और ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने के बाद डेकार्ट भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व सिद्ध करता है। भौतिक वस्तुओं से मतलब उन वस्तुओं से है जिन्हें हम देखते हैं, छूते हैं या प्रत्यक्ष करते हैं। इनका जो ज्ञान इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से होता है वह कुछ स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट है। डेकार्ट के अनुसार अस्पष्ट ज्ञान से कोई वास्तविक निष्कर्ष नहीं निकल सकता। इसलिए पहले हमें भौतिक वस्तुओं की स्पष्ट और विवेक-पूर्ण अवधारणा करनी है। उदाहरण के लिए, एक मोम के टुकड़े को लीजिए। प्रत्यक्ष से हमें इसके आकार, रूप-रंग, गंध, स्वाद आदि का पता चलता है। किन्तु क्या यही मोम की अवधारणा है ? अगर हम इसको जला देते हैं तो उसके आकार का परिवर्तन हो जाता है और इसके रंग, गन्ध, स्वाद आदि बिलकुल समाप्त हो जाते हैं और यह ठोस से तरल हो जाती है। मोम के इन दो रूपों में जो सदा विद्यमान स्वरूप है वह है उसका दैशिक विस्तार। प्रत्येक दशा में, ठोस दशा में या तरल दशा में, उसका कुछ दैशिक विस्तार रहता है अर्थात वह कुछ देश या स्थान घेरती है। यही देश या विस्तार उसकी भौतिकता है। यदि हम सभी भौतिक वस्तुओं का विश्ले-षण करें तो हमें पता चलेगा कि उनकी भौतिकता का अर्थ भी विस्तार है। विस्तार के अतिरिक्त उनमें गतिशीलता और विभाग-शीलता के भी गुण हैं। इन्हीं गुणों के कारण किन्हीं विशिष्ट विस्तार से युक्त वस्तु अनेक रूप धारण करती है।

ज्यामिति के अध्ययन से भौतिक वस्तुओं के लक्षणभूत गुण यानी विस्तार का स्पष्ट और विवेकपूर्ण ज्ञान होता है। विस्तार को ही देश कहा जाता है। इसके तीन आयाम हैं—लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई या गहराई। गति-विज्ञान के अध्ययन से हमें गतिशीलता का स्पष्ट और विवेकपूर्ण ज्ञान होता है। इस प्रकार इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से जिन वस्तुओं का हमें स्पष्ट ज्ञान होता है उन्हीं का स्पष्ट और विवेकपूर्ण ज्ञान गणित के अध्ययन से होता है।

डेकार्ट के मत से विस्तार का प्रत्यय आजानिक है। इसका हमें साक्षात् और अपरोक्ष ज्ञान होता है। यह स्पष्ट और विवेकपूर्ण है। हमारे मन या आत्मा में इसकी वास्तविक सत्ता है। अब देखना है कि क्या यह किसी बाह्य सत्ता का प्रतिनिधित्व करता है ?

कारणता के नियम के अनुसार इस प्रत्यय का कुछ कारण होना चाहिए। स्पष्ट है कि आत्मा इसका कारण नहीं है। जिन विस्तृत वस्तुओं के प्रत्यय हमें होते हैं उनको हम उत्पन्न नहीं करते हैं। हम स्वप्न में कुछ प्रत्ययों को उत्पन्न जरूर करते हैं, किन्तु जाग्रत अवस्था में हम देखते हैं कि हम विस्तृत वस्तुओं के जिन प्रत्ययों को स्पष्ट जानते हैं उनको उत्पन्न करना हमारी स्वेच्छा पर निर्भर नहीं है। हमारे न चाहने पर भी उनका ज्ञान हमें होता है। हम उनको जैसा चाहें वैसा नहीं जान सकते। हमें विवश होकर उनके रूप के अनुसार उनको समझना पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि मैं या मेरी आत्मा उनका कारण नहीं है।

फिर ईश्वर भी उनका कारण नहीं है क्योंकि ईश्वर विस्तार-रहित है। ईश्वर और उन प्रत्ययों की विशेषताओं में इतना वैषम्य है कि ईश्वर को उनका कारण मानना कारणता के नियम के विपरीत जाना है। कारण में कार्य के गुणों का होना अनिवार्य है।

यदि कोई कहे कि विस्तृत वस्तुओं के प्रत्ययों का कारण ईश्वर ही है और वह अपने कार्यों को अपने स्वभाव के विपरीत रखकर हमें धोखा देता है जिससे हम उसको आसानी से समझ न पावें, तो फिर ईश्वर को धोखेबाज मानना पड़ेगा। लेकिन ईश्वर को धोखेबाज मानना वदतो व्याघात है। वह पूर्ण है और उसमें कोई अवगुण नहीं हो सकता। अवगुणी ईश्वर ईश्वर नहीं है क्योंकि वह अपूर्ण हो जाता है। इसलिए ईश्वर को सत्यनिष्ठ कहा जाता है। वह अपने कार्यों को प्रकट रूप में प्रस्तुत करता है। भौतिक वस्तुओं के प्रत्यय उसके स्वभाव के विपरीत हैं। अतः वह उनका कारण नहीं है।

भौतिक वस्तुओं के प्रत्यय के कारण भौतिक वस्तुएँ ही हैं। सभी भौतिक वस्तुओं का आवश्यक गुण विस्तार या देश है। यह विस्तार या देश वस्तु-सत् है। विस्तार के प्रत्यय से सिद्ध होता है कि विस्तार नाम की वस्तु है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि डेकार्ट के मन में विस्तार नाम की वस्तु से विस्तार का प्रत्यय नहीं सिद्ध होता। प्रत्युत विस्तार के प्रत्यय से विस्तार नाम की वस्तु सिद्ध होती है। इस प्रकार ज्ञान-क्रम में विस्तार का प्रत्यय पूर्ववर्ती है और विस्तार नाम की वस्तु परवर्ती है। किन्तु वस्तुतः विस्तार नाम की वस्तु कारण है और विस्तार का प्रत्यय कार्य। किन्तु कारण-कार्य का सम्बन्ध होते हुए भी दोनों में पूर्व-अपर या आगे-पीछे का सम्बन्ध नहीं है। विस्तार का प्रत्यय आजानिक है और इसलिए दोनों में अर्थात् विस्तार और विस्तार के प्रत्यय में युगपद्भाव मानना ही न्यायसंगत है।

इस प्रकार सिद्ध होता है कि विस्तार या देश सत् है। डेकार्ट विस्तार, देश और भूततत्त्व को एकार्थक समझता है। रिक्त देश वदतो व्याघात है। कोई भौतिक

वस्तु बराबर है उस देश के जिसे वह घेरती है। देश का विभाजन कभी रुक नहीं सकता, वह विभागशील है। वह अणु या परमाणु नहीं हैं। वह छोटे से छोटा देश-खण्ड पुनः विभक्त किया जा सकता है। विभागशीलता की भाँति देश में गतिशीलता की क्षमता है। देश में सबसे पहले गतिशीलता को प्रदान करने वाला तत्त्व ईश्वर है। ईश्वर आद्य प्रवर्तक (Prime Mover) है। वह किसी एक वस्तु को स्थानान्तरण द्वारा दूसरी जगह रखता है। यही आदि गति है। उस वस्तु की गति से घात-प्रतिघात द्वारा अन्य वस्तुओं में गति पहुँचती है। विस्तार और गति के अतिरिक्त जगत् के निर्माण में किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसलिए डेकार्ट ने कहा कि "मुझे विस्तार और गति दीजिए, मैं जगत् का निर्माण कर दूँगा।" गति से ही विस्तार के अनेक रूप और संघात होते रहते हैं। गति की मात्रा सदा एक रहती है। वह सर्वत्र वितरित होती रहती है। उसके वितरण में न्यूनाधिक्य होता रहता है, किन्तु गति का महायोग एक ही रहता है।

विस्तार को एक जगह गतिशील करने के बाद ईश्वर उसमें हस्तक्षेप नहीं करता। इसलिए गतिशील विस्तार मशीन की तरह चलता रहता है। जगत् यन्त्रवत् है। उसका कोई लक्ष्य या प्रयोजन नहीं है। उसमें रस, रंग, गन्ध, शीतोष्ण, मृदुता आदि गुण नहीं हैं। ये गुण हमारे मन की उपज हैं। इन गुणों को हम जगत् पर आरोपित करते हैं। जगत् में केवल विस्तार और गति है। डेकार्ट ने जिस जगत् को सत् सिद्ध किया है वह रंगीन, मधुर, सुखमय और दुखमय नहीं है, वह विशुद्ध गणित और भौतिक बिज्ञान की वर्गणाओं, विस्तार और गति, से ही युक्त है।

गति विस्तार का विकार (Mode) है। वह विस्तार में सर्वत्र नहीं है। वह विस्तृत वस्तुओं का गुण है, न कि विस्तार सामान्य का।

जो वस्तु स्वतंत्र है, जिसके अस्तित्व के लिए किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं है, उसे द्रव्य (Substance) कहते हैं। इस दृष्टि से केवल एक द्रव्य है और वह ईश्वर है, क्योंकि वही पूर्णतया स्वतन्त्र है। किन्तु ईश्वर के अतिरिक्त देश,विस्तार या भूततत्त्व (भूतत्व केवल एक है और वही देश या विस्तार है) और आत्माएँ हैं। इनको डेकार्ट इतर द्रव्य कहता है। जिस वस्तु के गुण होते हैं उसको भी द्रव्य (गुणी) कहा जाता है। इस अर्थ में भूततत्त्व और आत्माओं को भी द्रव्य कहा जाता है। हम ईश्वर को मूलतत्त्व (द्रव्य) और भूततत्त्व तथा आत्माओं को इतर द्रव्य कह सकते हैं। मूल द्रव्य और इतर द्रव्य के कुछ आवश्यक लक्षण होते हैं जिन्हें गुण (Attributes) कहा जाता है। इतर द्रव्य के कुछ आगन्तुक गुण होते हैं जिन्हें विकार (Mode) कहा जाता है। मूल द्रव्य कूटस्थ या विकार-रहित है।

आत्मा द्रव्य है और उसका गुण विचार है। उसके विकार जानना, सन्देह करना, इच्छा करना आदि है। भूततत्त्व द्रव्य है और उसका गुण विस्तार है। आकृति, गति आदि उसके विकार हैं। डेकार्ट ने द्रव्य और गुण को प्रायः अभिन्न किया है। आत्मा और विचार या भूततत्त्व और विस्तार प्रायः एकार्थक हैं। लगता है कि मध्ययुगीन दर्शन के प्रभाव में ही पड़कर डेकार्ट ने द्रव्य और गुण की शब्दावली का प्रयोग किया है। स्पिनोजा ने आगे चलकर द्रव्य और गुण की एकता का प्रतिपादन किया जो वास्तव में डेकार्ट का ही मत था।

इतर द्रव्यों का अस्तित्व स्वतः क्षणिक है। किन्तु ईश्वर उनको सातत्य-भाव प्रदान करता है। ईश्वर आत्मा ओर भूततत्त्व का सतत संरक्षण करता है। उसके कारण इनका अस्तित्व सातत्यशील है। जब कोई वस्तु कुछ देर तक लगातार अस्तित्व में रहती है तो इस देर को अवधि (Duration) कहते हैं। अवधि प्रत्येक द्रव्य का गुण है।

काल (Time) इस अवधि के सोचने का विकार मात्र है। यह किन्हीं दो अवधियों के बीच का सम्बन्ध है जिसकी कल्पना मन करता है। काल विभिन्न अवधियों को नापने का एकमात्र मापदण्ड है। यह वस्तु या सत्ता का गुण या विकार नहीं है। यह केवल मन या आत्मा का विकार है। इसी प्रकार संख्या और जाति भी केवल आत्मा के विकार हैं।

डेकार्ट जीवतत्त्व को भूततत्त्व से पृथक् नहीं मानता है। वह कीटाणु, पक्षी और पशु इन सब को पूर्णतया भौतिक मानता है। इनमें आत्मा नहीं है। ये निरात्म हैं, क्योंकि मनुष्यों की तरह ये "मैं सोचता हूँ अतः मैं हूँ" का अनुभव नहीं प्राप्त कर सकते या इनमें यह अनुभव नहीं है। इन्हें यन्त्र समझना चाहिए। जैसे घड़ी और ग्रामोफोन अपना काम करते हैं, वैसे ये जीव-जन्तु भी अपना काम करते हैं। इनकी मूल प्रवृतियाँ स्वतोभविक (अपने-आप होने वाली) क्रियाएँ हैं, ठीक वैसे ही जैसे घड़ी अपने आप चलती है। ये यन्त्र या मशीन हैं। जैविकता यान्त्रिक प्रक्रिया का विकार है। यह सही है कि पशु-पक्षी कुछ बोलते हैं, कुछ आवाज करते हैं, कुछ देखते हैं और कुछ सुख-दुख का अनुभव करते हैं, किन्तु ये सभी व्यापार यन्त्रवत् होते हैं। इनकी यान्त्रिक व्याख्या की जा सकती है। जैसे घास उगती है और सूखती है, वैसे पशु-पक्षियों की भावनाएँ उठती हैं और नष्ट होती हैं।

प्राचीन और मध्ययुगीन दार्शनिकों की भाँति डेकार्ट वनस्पति-आत्मा और संवेदनशील आत्मा को नहीं मानता है। उसके यहाँ केवल दो तत्त्व हैं, जड़ और चेतन या भूततत्त्व और आत्मतत्त्व।

८ आत्मा और देह का सम्बन्ध

मनुष्य विचारवान् और विस्तारवान् है। उसका मन या आत्मा विचारवान् है और उसका देह विस्तारवान् है। इस तरह मनुष्य आध्यात्मिक और भौतिक दोनों है। जहाँ तक उसके शरीर या देह की बात है उसकी व्याख्या वैसे ही की जा सकती है जैसे पशु की व्याख्या। उसका देह एक यन्त्र है यद्यपि वह बहुत विचित्र है। फिर उसकी आत्मा उसकी देह से बिलकुल भिन्न है। आत्मा बिस्तार-रहित है और देह विस्तार-सहित हैं, दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं। आत्मा और आत्मा में होने वाले ज्ञान तथा इच्छा को देह से स्वतन्त्र कहा जा सकता है। इस तरह आत्मतत्त्व और देहतत्त्व की अलग-अलग व्याख्या हो सकती है। किन्तु इन पृथक् व्याख्यानों से मनुष्य की समस्या का समाधान नहीं होता। मनुष्य दोनो में सम्बन्ध का अनुभव करता है। वह विदेह आत्मा नहीं है और न निरात्मक देह ही है। वह देहधारी आत्मा है या आत्मवान् देह है। वह शारीरक (Embodied soul) है। उसके लिए आत्मा और देह के सम्बन्ध को जानना अपने को समझने में जरूरी है।

किन्तु डेकार्ट ने आत्मा और देह को परस्पर विरोधी कहकर मनुष्य को दो ऐसे खण्डों में बाँट दिया जिनमें मेल हो नहीं सकता। उसने मनुष्य की एकता को भंग कर दिया है। अब उसके लिए समस्या होती है कि आत्मा और देह में क्या सम्बन्ध है? मनुष्य की एकता कैसे स्थापित की जाय?

इस सम्बन्ध की व्याख्या में डेकार्ट का कोई निश्चित मत नहीं प्रतीत होता है। यद्यपि यह सत्य है कि उसने इसकी व्याख्या में अन्तरक्रियावाद (Interactionism) को प्रस्तावित किया था तथापि इस प्रसंग में वह सदा सोचता ही रहा और कई अन्य वादों को भी कभी-कभी मानता रहा। अन्तरक्रियावाद के अनुसार मन देह पर क्रिया करता है और देह मन पर। यह पारस्परिक क्रिया पुरीतत् नाड़ी (Pineal gland) के माध्यम से होती है। पुरीतत् नाड़ी दिमाग (मस्तिष्क का सूक्ष्मतम मध्य भाग है। वह दैहिक है, वह आत्मा का पीठासन है। यद्यपि आत्मा देह के प्रत्येक अंग में व्याप्त है तथापि उसका आसन देह के एक विशेष स्थान, पुरीतत् नाड़ी में, है। संवेदना तथा भावना के अवसरों पर देह की गति से पुरीतत् नाड़ी गतिशील होती है और उसको गति से वहाँ बैठी आत्मा को धक्का पहुँचता है और तब वह संवेदन तथा भावना का अनुभव करती है। ऐच्छिक कार्यों के अवसरों पर आत्मा प्रवर्तक होती है। वह क्रियाशील या गतिशील होती है। उसकी क्रिया से उसका आसन, पुरीतत् नाड़ी, हिल जाता है और इसके फलस्वरूप दिमाग और

सारा देह गतिशील हो जाता है। इस तरह पुरीतत् नाड़ी के माध्यम से आत्मा और देह का क्रियात्मक संवाद होता रहता है।

किन्तु अन्तरक्रियावाद डेकार्ट की मान्यताओं के विपरीत जाता है। आत्मा विस्तार-रहित या देश-रहित है। वह कैसे स्थान ग्रहण कर सकती है ? उसका आसन कैसा है ? आसन तो दैशिक वस्तु का होता है। फिर यदि आत्मा पुरीतत् नाड़ी को प्रवर्तित करती है तो वह नयी गति का सूत्रपात करती है। यह गति डेकार्ट के उस गति-सिद्धान्त के प्रतिकूल है जिसके अनुसार गति का महायोग सदा एक रहता है। जब-जब आत्मा पुरीतत् को प्रवर्तित करती है तब-तब वह गति के महायोग में बृद्धि करती है। फिर पुरीतत् नाड़ी को ही आत्मा का आसन मानना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। आत्मा को देहव्यापी कहते हुए भी केवल पुरीतत् में उसका निवास मानना असंगत है। वास्तव में अन्तरक्रियावाद डेकार्ट के आत्मवाद पर लीपा-पोती कर देता है। वह आत्मा को अस्तिकाय या विस्तारवान् बना देता हैं। यदि आत्मा देहसे मूलतः भिन्न हैं तो दोनों की पारस्परिक क्रिया असम्भव है।

अन्तरक्रियावाद के अतिरिक्त डेकार्ट कभी-कभी समानान्तरवाद की ओर संकेत करता है। समानान्तरवाद के अनुसार आत्मा और देह दोनो समानान्तर हैं। प्रत्येक में जो घटना घटती है उसके समानान्तर दूसरे में वही घटना घटती है। लेकिन डेकार्ट ने इस मत को स्पष्ट नहीं किया था। आगे चलकर स्पिनोजा ने इसको स्पष्ट किया।

फिर, डेकार्ट का कहना है कि आत्मा और देह का सम्बन्ध जिस क्षण घटता है वह विचित्र क्षण है। उस क्षण या तो आत्मा देह की क्रिया का निमित्त (Occasion or Cause) बन जाती है और या तो देह आत्मा की क्रिया का निमित्त बन जाता है। इस सिद्धान्त को निमित्तवाद (Occasionalism) कहा जाता है। इस सिद्धान्त का संकेत पहले गेंलिक्स ने किया जो डेकार्ट का अनुयायी था। डेकार्ट के दूसरे अनुयायी मैलब्रान्श ने इसका और विकास किया। इन दोनों के अनुसार आत्मा और देह के सम्बन्ध की व्यवस्था ईश्वर करता है। ईश्वर दोनों की पारस्परिक क्रिया का हेतु या निमित्त है। वह एक तरह से दुभाषिया है जो शारीरिक परिवर्तनों की सूचना आत्मा को और आत्मिक परिवर्तनों की सूचना देह को देता है। जब-जब दोनों में पारस्परिक क्रिया होती है तब-तब ईश्वर दोनों का संयोजक बन जाता है।

डेकार्ट ने ईश्वर को स्वतन्त्र द्रव्य और आत्मा तथा देह को परतन्त्र द्रव्य कहा था और फिर दोनों को ईश्वर पर निर्भर माना था। उसके इस सिद्धान्त

से ही निमित्तवाद या ईश्वर-निमित्तवाद विकसित हुआ। इसलिए डेकार्ट के अनुयायियों का मंतव्य है कि आत्मा और देह के सम्बन्ध के बारे में निमित्तवाद ही डेकार्ट का असली मत है।

किन्तु डेकार्ट की रचनाओं से इसका समर्थन करना कठिन है। कभी-कभी वह कहता है कि आत्मा और देह के सम्बन्ध का ज्ञान बुद्धि द्वारा नहीं होता है, यह ज्ञान केवल इन्द्रियजन्य और भावात्मक है। बुद्धि से इसका ज्ञान न होने से इसका ज्ञान अस्पष्ट है। डेकार्ट के मत से केवल स्पष्ट और विवेकपूर्ण ज्ञान का ही नैमित्तिक सम्बन्ध किसी वस्तु-सत् से होता है। आत्मा और देह के सम्बन्ध का ज्ञान स्पष्ट और विवेकपूर्ण नहीं है। अतः इस सम्वन्ध का ज्ञान वास्तविक नहीं है। आत्मा और देह का सम्बन्ध वास्तविक नहीं है, यह मात्र आरोपित है।

लेकिन कभी-कभी वह कहता है कि आत्मा और देह का सम्बन्ध वास्तविक है. वह द्रव्यवत् है और जैसे आत्मा तथा देह द्रव्य हैं और मूल तत्त्व हैं वैसे आत्मा और देह का सम्बन्ध भी द्रव्य है और मूलतत्त्व है[1]। किन्तु यदि यह सम्बन्ध द्रव्यवत् है और मूल तत्त्व है तो आत्मा और देह सदा अपृथक् हैं और दोनों को पृथक् करना असम्भव है। फिर आत्मा-रहित देह नहीं हो सकता, जैसा कि मृत देह देखा जाता है। अतः आत्मा और देह के सम्बन्ध को द्रव्य मानना ठीक नहीं है।

इन विभिन्न मत-मतान्तरों से स्पष्ट है कि डेकार्ट आत्मा और देह के सम्बन्ध पर हमेशा विचार ही करता रहा और कभी उसको निर्विवाद समाधान नहीं मिला। निस्सन्देह आत्मा और देह के सम्बन्ध की समस्या डेकार्ट-दर्शन की सबसे उलझी हुई समस्या है।

९ प्रत्यक्ष का सिद्धान्त

प्रत्यक्ष आत्मा और देह के सम्बन्ध का एक उदाहरण है। डेकार्ट के अनुसार प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में निम्नलिखित सोपान होते हैं—

(क) विस्तृत जगत् सत् है। किसी इन्द्रिय के माध्यम से इस विस्तृत जगत का प्रतिबिम्ब दिमाग पर पड़ता है।

(ख) इस प्रतिबिम्ब का अनुवाद प्रत्यय में होता है। प्रत्यय विस्तार-रहित है।

(ग) यही प्रत्यय यथार्थतः प्रत्यक्ष का साक्षात् विषय है। बाह्य घटना या वस्तु या उसका दिमाग पर पड़ा प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष का साक्षात् विषय नहीं है।

---

१. देखिए नार्मन केम्प स्मिथ : न्यू स्टडीज इन द फिलासफी आव् डेकार्ट पृष्ठ २५६-२५७, ३५०-३५९।

प्रत्यक्ष के इस सिद्धान्त को प्रतिनिधिक प्रत्यक्ष (Representative Perception) का सिद्धान्त कहते हैं, क्योंकि यहाँ जिस प्रत्यय का प्रत्यक्ष होता है वह किसी बाह्य वस्तु का प्रतिनिधि है। इस सिद्धान्त में बाह्य वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता, वरन् उसके प्रतिनिधि का प्रत्यक्ष होता है।

उदाहरण के लिए, सूर्य के प्रत्यक्ष को लीजिए। सूर्य एक नक्षत्र हैं। वह एक वस्तु है। उसका प्रतिबिम्ब दिमाग पर पड़ता है, आँख के माध्यम से। इस प्रतिबिम्ब का अनुवाद सूर्य के प्रत्यय में होता है जो विस्तार-रहित है। इसी प्रत्यय का प्रत्यक्ष हम करते हैं। सूर्य के प्रत्यय का प्रत्यक्ष बताता है कि सूर्य बहुत विशाल है। किन्तु यदि हम दिमाग पर पड़े सूर्य-प्रतिबिम्ब को लें तो पता चलता है कि सूर्य एक गोलाकार थाली की आकृति वाला है। इस प्रकार यदि प्रतिबिम्ब का प्रत्यक्ष ही सूर्य का प्रत्यक्ष होता तो फिर सूर्य की आकृति का भ्रमपूर्ण ज्ञान होता। किन्तु हम सूर्य के प्रत्यय का प्रत्यक्ष करते हैं, इसलिए हमें सूर्य की आकृति का भ्रमपूर्ण ज्ञान नहीं होता है।

प्रतिनिधिक प्रत्यक्ष का सिद्धान्त विस्तार के वास्तविक और स्वतन्त्र प्रत्यय पर निर्भर है। विस्तार का ज्ञान प्रत्यक्ष का पूर्ववर्ती है। वह प्रत्यक्ष-जन्य नहीं है। वह आजानिक प्रत्यय है। उसका ज्ञान प्रातिभ ज्ञान से होता है। इस प्रातिभ ज्ञान की भूमिका में ही प्रतिनिधिक प्रत्यक्ष सम्भव है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से जिस प्रत्यय का साक्षात ज्ञान होता है उसका आधार विस्तार का आजानिक प्रत्यय है। उदाहरण के लिए, सूर्य के प्रत्यक्ष में हमें जो ज्ञान होता है उसका आधार विस्तार का आजानिक प्रत्यय है। इस आजानिक प्रत्यय के विश्लेषण से ही हमें पता चलता है कि सूर्य विशालकाय है, न कि लघुकाय जैसा कि इसके प्रतिबिम्ब से विदित होता है। प्रातिभ ज्ञान प्रत्यक्ष का आधार और मानदण्ड है। प्रत्यक्ष स्वतः अप्रामाणिक है। किन्तु प्रातिभ ज्ञान इसको प्रमाणित करके उपयोग में ला सकता है और लाता है।

प्रत्यक्ष का अन्तिम आधार आत्मा और देह का सम्बन्ध है। विशुद्ध आत्मा के लिए जैसे प्रातिभ ज्ञान है वैसे ही देही आत्मा या शारीरक के लिए प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष का उद्देश्य शारीरक की आवश्यकताओं को पूरा करना है। आवश्यकताएँ जीवित रहने से सम्बन्धित हैं, न कि किसी दार्शनिक या वैज्ञानिक की ज्ञान-साधना से। प्रत्यक्ष ज्ञान की कसौटी नहीं है, प्रत्युत जैविक उपयोगिता की कसौटी है। इसके द्वारा हमें केवल यह सूचना मिलती है कि क्या लाभप्रद है और क्या हानिकारक है[1]।

डेकार्ट के दर्शन में प्रत्यक्ष का प्रायः वही प्रयोजन और प्रमाण है जो शंकराचार्य

१. The Philosophy of Descartes, A B. Gibson, पृष्ठ २३४।

के अद्वैत वेदान्त में। दोनों के लिए प्रत्यक्ष केवल लोक-व्यवहार में उपयोगी है। वह विशुद्ध और प्रामाणिक ज्ञान का साधान नहीं है।

१० आजानिक प्रत्यय

डेकार्ट आत्मा को अनिवार्यतः ज्ञान-शक्ति से सम्बंधित मानता है। इसके अनुसार आत्मा के पास कुछ प्रत्यय हैं जो आजानिक हैं। आजानिक प्रत्ययों में कुछ पद हैं और कुछ पद-सम्बन्ध हैं।

आजानिक प्रत्यय सामान्यतः ज्ञान की शर्तें हैं। उनके विना ज्ञान सम्भव नहीं है। इस दृष्टिकोण को आगे चलकर कांट ने स्पष्ट किया है। उसने आजानिक प्रत्ययों को वर्गणाओं का नाम दिया है। किन्तु डेकार्ट के आजानिक प्रत्यय कांट की वर्गणाओं से भिन्न हैं। कांट की वर्गणाओं का सह-सम्वन्ध इन्द्रिय-प्रदत्तों से हैं. किन्तु आजानिक प्रत्ययों का सह-सम्बन्ध इन्द्रिय-प्रदत्तों से नहीं है।

आत्मा, ईश्वर, विस्तार और कारणता के आजानिक प्रत्ययों को हम देख चुके हैं और यह भी समझ चुके हैं कि ये प्रत्यय डेकार्ट-दर्शन के मूलाधार हैं। इन्हीं के स्पष्ट ज्ञान से उसका दर्शन सम्पन्न होता है।

आरम्भ में डेकार्ट मानता था कि कुछ ही प्रत्यय आजानिक हैं। उस समय वह इन्द्रियजन्य प्रत्ययों को आजानिक नहीं मानता था। किन्तु बाद में चलकर जब उसने अपने इस सिद्धान्त का पूरा विवेचन किया तब वह सभी प्रत्ययों को आजानिक मानने लगा[१]। जो भी स्पष्ट और विवेकपूर्ण प्रत्यय है, वह आजानिक है। जो स्पष्ट और विवेकपूर्ण नहीं है वह प्रत्यय नही है किन्तु कल्पना, संवेद या स्मृति है। संवेद, स्मृति और कल्पना केवल लोक-व्यवहार में उपयोगी हैं। उनसे दर्शन और विज्ञान को कोई लाभ नहीं होता है।

सभी आजानिक प्रत्यय अनिवार्य और सार्वजनिक हैं। वे सही अर्थ में सामान्य हैं। वे विशेष नहीं हैं और न विशेषों से उत्पन्न होते हैं।

आजानिक प्रत्ययों का ज्ञान आत्मा की स्वाभाविक ज्ञानशक्ति के विकास के साथ होता है। हम इन्हें प्रातिभ ज्ञान द्वारा जानते हैं और प्रातिभ ज्ञान में निहित निगमन द्वारा हम इनके पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करते हैं। संक्षेप में डेकार्ट का दर्शन प्रातिभ ज्ञान का समग्र विश्लेषण है या प्रातिभ ज्ञान और तन्मूलक निगमन के द्वारा आत्मा में निहित आजानिक प्रत्ययों को उपलब्ध करना और उनके यथार्थ सम्बन्ध को जानना है।

---

१. वही पृष्ठ १७०।

यहाँ पर प्रश्न हो सकता है कि यदि आजानिक प्रत्यय आत्मा या मन में विद्यमान रहते हैं तो उन्हें जानने की आवश्यकता क्यों होती है ? क्या प्रत्ययों का होना ही उनका जानना नहीं है ? इस प्रश्न के उत्तर में डेकार्ट का कहना है कि आजानिक प्रत्ययों का यह मतलब नहीं है कि वे मन या आत्मा के समक्ष उपस्थित रहते हैं। उनका मतलब यह है कि मन या आत्मा में ही एक शक्ति है जिससे उन प्रत्ययों की जानकारी होती है। यदि आत्मा अपने को देह से पूर्णतया मुक्त कर ले, यदि वह देह का तनिक भी विचार न करे और केवल अपने स्वरूप की अवधारणा करे, तब उसे जो प्रत्यय मिलेंगे वे ही आजानिक प्रत्यय हैं। आत्मा में जो अव्यक्त रहता है वही व्यक्त होता है। इस तरह आजानिक प्रत्यय यद्यपि सभी आत्माओं में अव्यक्त रूप से रहते हैं तथापि उनको सभी लोग नहीं जानते हैं। बच्चे, अज्ञानी तथा इन्द्रियन्मुख लोग उनको नहीं समझ पाते हैं। इन्द्रिय-निरपेक्षता तथा अपरोक्षता आजानिक प्रत्ययों का लक्षण है। वे इन्द्रिय-निरपेक्ष तथा अपरोक्ष होने के ही कारण आजानिक कहे जाते हैं। आजानिक प्रत्ययों का सिद्धान्त ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में सांख्य-दर्शन का सत्कार्यवाद है। सभी प्रत्यय पहले से ही आत्मा में अव्यक्त रूप में सत् हैं। बाद में वे ज्ञान-विकास के द्वारा व्यक्त होते हैं।

११ डेकार्ट का दार्शनिक सम्प्रदाय

सबसे पहले डेकार्ट के दर्शन का स्वागत हालैण्ड में हुआ। वहाँ यूट्रैक्ट विश्वविद्यालय में उसका दर्शन उसके जीवन-काल में ही पढ़ाया जाने लगा। वहाँ का प्रोफेसर साइप्रियन पेनरी उसका पहला प्रोफेसर-अनुयायी था। इसके बाद शीघ्र ही लीडेन, एमस्टर्डम, ग्राटिन्जेन, फ्रैनेकर और ब्रेडा विश्वविद्यालयों में डेकार्ट के दर्शन की पढ़ाई की व्यवस्था हुई और वहाँ के प्रोफेसर डेकार्ट के अनुयायी हुए। इस प्रकार सबसे पहले हालैण्ड में उसके दर्शन का प्रचार-प्रसार हुआ। तदनन्तर हालैण्ड से जर्मनी और फ्रांस में उसके दर्शन का प्रचार हुआ। फ्रांस से उसका दर्शन स्विट्जरलैण्ड, इंगलैण्ड और इमेंली गया। डेकार्ट की मृत्यु के पचास-साठ साल के अन्दर उसका दर्शन योरोप भर में फैल गया और सभी विश्वविद्यालयों में उसके दर्शन का अध्यापन होने लगा। डेकार्ट के दर्शन के लिए यह कम उपलब्धि नहीं थी। १७वीं शती में उसके दर्शन की ओर प्रत्येक जिज्ञासु का ध्यान गया। १८वीं शती के आरम्भ में ही उसके ग्रन्थ विभिन्न विश्वविद्यालयों में पाठ्यग्रंथ हो गये। यद्यपि मसीही दीक्षा-विद्यालयों में डेकार्ट के दर्शन का विरोध होता रहा तथापि वहाँ भी उसके दर्शन का प्रवेश हुआ। डेकार्ट मत का अग्रणी दार्शनिक फादर मैलब्रान्श (१६३८-१७१५) ऐसे ही दीक्षा-विद्यालय से निकला था। उसने डेकार्टवाद का

समर्थन किया और इसको एक नयी दिशा में विकसित किया। उसका मत ईश्वर-निमित्तवाद है जो सर्वेश्वरवाद से मिलता-जुलता है। डेकार्ट के अनुयायियों में दूसरा अग्रगण्य दार्शनिक आर्नाल्ड गॅलिक्स (१६२५-१६६९) था जो हालैण्ड के लीडेन विश्वविद्यालय में प्रोफेसर था। उसने डेकार्ट-दर्शन के आत्मा और देह के सम्बन्ध पर काफी विचार किया और अन्त में निमित्तवाद (Occasionalism) की स्थापना की। उसके और मैलब्रान्श के निमित्तवाद में थोड़ा अन्तर है। उसके मत में ईश्वर के अतिरिक्त आत्मा भी स्वतः देह को कुछ सीमा तक प्रवर्तित करती है। किन्तु मैलब्रान्श के मत में आत्मा देह को प्रवर्तित नहीं कर सकती और यह कार्य केवल ईश्वर करता है। मैलब्रान्श ने इस तथ्य को भली-भाँति स्पष्ट किया है कि बिना ईश्वर के एक पत्ता भी नहीं हिल सकता है। वह यहाँ तक कहता है कि हम भौतिक वस्तुओं को नहीं जानते प्रत्युत ईश्वर में स्थित भौतिक वस्तुओं के प्रत्ययों को जानते हैं। स्पष्ट है कि यह मैलब्रान्श का सर्वेश्वरवाद है। जगत् का ज्ञान ईश्वर के माध्यम से होता है।

१२ डेकार्ट का महत्त्व

डेकार्ट को आधुनिक दर्शन का जनक कहा जाता है और यह कथन वस्तुतः सत्य है। आधुनिक दर्शन में डेकार्ट का वही महत्त्व है जो यूनानी दर्शन में सुकरात का है या मध्ययुगीन दर्शन में अरस्तू का है। डेकार्ट के समय से बहुत पहले योरोप के विश्वविद्यालयों में अरस्तू का दर्शन मुख्यतः पढ़ाया जाता था और दर्शन के सभी प्रोफेसर अरस्तूवादी थे। डेकार्ट के दर्शन ने विश्वविद्यालयों से अरस्तू के दर्शन को निष्कासित किया और उसका पद उसने स्वयं ग्रहण कर लिया। इस पद पर वह १८वीं शती के मध्य तक आसीन रहा और जब अन्य आधुनिक दर्शनों का विकास हुआ तब उसके साथ उनको भी उस पर स्थान मिला।

डेकार्ट की मुख्य क्रान्ति क्या थी? किसलिए उसे आधुनिक दर्शन का जनक कहा जाता है? विक्टर काजिन ने कहा है कि डेकार्ट ने दर्शन को गुलामी से उन्मुक्त किया[१]। उसके पहले दर्शन धर्मशास्त्र का दास था। डेकार्ट ने उसकी दासता की वेड़ी काटी; उसे धर्मशास्त्र से स्वतन्त्र किया। यदि डेकार्ट की मुख्य क्रान्ति यह थी तो निःसन्देह आधुनिक दर्शन इस अर्थ में डेकार्ट के मार्ग का अनुयायी है। डेकार्ट से लेकर आज तक दर्शन धर्मशास्त्र से स्वतन्त्र है। यह उसकी क्रान्ति का निषेधात्मक पक्ष है। फिर, उसकी क्रान्ति का एक विधायक पक्ष है। हाकिन्स ने लिखा है, "डेकार्ट के पक्ष या विपक्ष में चाहे जो कुछ कहा जाय, किन्तु यह स्पष्ट है कि उसने

---

१ Dreams of Descartes, G. Maritain पृ० ३३ में उद्धृत।

दर्शन को एक नयी दिशा दी जो आज तक चली आ रही है। ज्ञान के सुव्यवस्थित सिद्धान्त की योजना उसी की है। उसने पूछा—अनुभव के मूल और अकाट्य प्रदत्त कौन हैं ? और ऐसे प्रदत्तों से किन-किन तत्त्वों का आलोचनात्मक समर्थन हो सकता है ? डेकार्ट से लेकर आज तक दार्शनिकगण इन प्रश्नों को करते आये हैं[1]।"

सर्वप्रथम डेकार्ट ने ही पूर्वाग्रहों के उन्मूलन और अकाट्य मूल प्रदत्तों की छानबीन और इन प्रदत्तों से तर्कतः निष्कर्ष निकालने का काम शुरू किया। उसके बाद की पीढ़ियाँ इस कर्म को पुनः-पुनः करती रहीं, भले ही उनके मंतव्य डेकार्ट के मंतव्यों से भिन्न रहे हों। एकमात्र स्वाभाविक मानवीय जिज्ञासा के पीछे चलकर सत्य का अनुसंधान करना जहाँ जिज्ञासा ले जाय उनको स्वीकार करना—यह डेकार्ट का क्रान्तिकारी सन्देश है जिसका अक्षरशः पालन प्रत्येक आधुनिक दार्शनिक करता है। उसकी प्रणाली जिसमें संशय और निश्चय, विश्लेषण और संश्लेषण तथा प्रातिभज्ञान और निगमन की संतुलित प्रक्रियाएँ हैं, आज भी वैज्ञानिक पद्धति के नाम से मान्य है। आधुनिक दर्शन पर जितना प्रभाव डेकार्ट की प्रणाली का है उतना प्रभाव उसके किसी विशिष्ट सिद्धान्त का नहीं है। इतनी प्रभावशाली और वैज्ञानिक प्रणाली की खोज करने के कारण डेकार्ट को आसानी से आधुनिक दर्शन का जनक कहा जा सकता है। किन्तु डेकार्ट की क्रान्ति का यह मतलब नहीं है कि उसने सहसा आधुनिक दर्शन का सूत्रपात किया। अगर कुछ लोग समझते हैं कि डेकार्ट ने अकस्मात् आधुनिक दर्शन को उत्पन्न किया, ठीक वैसे ही जैसे कोई पैग-म्बर अपने मजहब को पैदा करता है, तो वे गलती करते हैं। डेकार्ट-दर्शन का महा-पंडित गिलसन कहता है कि डेकार्ट के दर्शन का विकास धर्मशास्त्र से भरे वातावरण में हुआ और उसने बिलकुल नया आरम्भ नहीं किया[2]।" डेकार्ट-दर्शन के विशिष्ट सिद्धान्तों की जहाँ तक बात है वे बिलकुल नवीन नहीं हैं। किन्तु जो उसके दर्शन की सामान्य बात है अर्थात् जो उसका बुद्धिवादी दृष्टिकोण है वह मध्ययुगीन दर्शन से नवीन है और इस अर्थ में उसकी क्रान्ति नवीन है।

उसके बुद्धिवादी दृष्टिकोण के कई स्पष्ट फल हैं। दर्शन को धर्म से स्वतन्त्र करना, अन्धविश्वासों और रूढ़ियों को न मानना, विज्ञान की प्रणाली को आत्म-सात् करना और सामान्य या सार्वभौमिक विज्ञान की खोज करना, इन सभी फलों

---

[1] Crucial Problems of Modern Philosophy, D. G B. Hawkins.

[1] देखिए मैरीटेन का उपर्युक्त ग्रन्थ, पृष्ठ ३३।

का प्रभाव आज तक है। इस अर्थ में डेकार्ट निःसन्देह आधुनिक दर्शन का जनक है।

अब डेकार्ट के विशिष्ट सिद्धान्तों को भी देख लेना चाहिए। क्या उनका भी प्रभाव आधुनिक दर्शन पर पड़ा है ?

आधुनिक दर्शन की प्रधानतः दो धाराएँ रही हैं—पहली धारा वस्तुवाद, भौतिकवाद और यान्त्रिकतावाद की है। यह धारा अनात्मवादी है। यह जगत् और मनुष्य की व्याख्या वैसे ही करती है जैसे डेकार्ट ने जगत् और पशु की व्याख्या की थी। फिर दूसरी धारा अध्यात्मवादी, आदर्शवादी, ईश्वरवादी और प्रत्ययवादी है। यह जगत् को आध्यात्मिक मानती है। डेकार्ट ने आत्मा और ईश्वर के बारे में जो कुछ कहा है वह इस धारा को पूर्णतः मान्य है। इस प्रकार डेकार्ट को दोनों धाराएँ अपना आदि प्रवर्तक मानती हैं। डेकार्ट का द्वैतवाद उसे आधुनिक दर्शन का जनक बनाने में बहुत बड़ा हेतु है। यदि वह अद्वैतवादी होता, यदि वह दोनों धाराओं में से एक का ही प्रवर्तन करता तो वह आधुनिक दर्शन का जनक न कहा जाता। किन्तु आत्मतत्त्व और भूततत्त्व को एक दूसरे से पृथक्, स्वतन्त्र और निरपेक्ष करके उसने अध्यात्मवादी और भौतिकवादी दोनों धाराओं के जनक का पद ले लिया है और दोनों धाराओं को आगे बढ़ने की दिशा दी है। उसने यहाँ तक प्रेरणा दी है कि एक धारा दूसरी धारा की परवाह न करते हुए भी जगत् और मनुष्य की समस्त समस्याओं का समाधान करने का प्रयास करती रहे।

किन्तु अपने इस द्वैतवाद से वह प्रशंसा और निन्दा दोनो का पात्र हो गया है। प्रशंसा इस बात की है कि प्रत्येक धारा वाले उसको अपने पक्ष में समझते हैं और वह दोनों धाराओं में शामिल हो जाने से सर्वमान्य हो जाता है। फिर निन्दा इस बात की है कि आत्मवादी उसको उसके भौतिकवाद के लिए गुमराह कहते हैं और भौतिकवादी उसको उसके अध्यात्मवाद के लिए गुमराह मानते है। दोनों का समन्वय ठीक से न करने के कारण सभी उसको असंगत कहते हैं। उसकी असंगति से प्रश्न उठता है कि वास्तविक डेकार्ट क्या है, अध्यात्मवादी या भौतिकवादी ? फिर प्रकट डेकार्ट और प्रच्छन्न डेकार्ट की चर्चा होने लगती है। कोई कहता है कि वह प्रच्छन्न भौतिकवादी है तो कोई कहता है कि वह प्रच्छन्न अध्यात्मवादी है। कुछ भी हो, जहाँ तक उसके आधुनिक दर्शन के जनक होने का प्रश्न है वहाँ तक ये सभी विवाद सिद्ध करते हैं कि वह सही अर्थ में आधुनिक दर्शन का जनक है। महान् दार्शनिकों के बारे में कहा जाता है कि वे प्रायः असंगति कर जाते हैं क्योंकि इससे वे सत्य को जिन रूपों में देखते हैं उसका वर्णन करने में हिचकते नहीं हैं। उनकी महानता सुसंगत वर्णन में न होकर सारगर्भित उन्मेषों को प्रकट करने में है।

कैथलिक दार्शनिक मैरीटेन जो डेकार्ट या डेकार्टवाद को आधुनिक इतिहास में बहुत बड़ा फ्रांसीसी पोप मानता है, उसकी प्रशंसा में कहता है, "अपने प्रयोजन में डेकार्ट-दर्शन वस्तुवादी है, और अपने ज्ञान-सिद्धान्त तथा आत्मवाद के द्वारा वह आधुनिक दर्शन में गहरे प्रत्ययवाद (आदर्शवाद) का अंकुर लगाता है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष (या अनुभव) से तत्त्वदर्शन को पृथक करके और भौतिक जगत् को यान्त्रिकतावाद के क्षेत्र में रख कर वह आधुनिक काल में होने वाले विज्ञान के तत्त्वदर्शन के घातक अलगाव को तैयार करता है। व्यवहार-क्षेत्र में वह प्रचलित मर्यादा को मान्यता देता है और बौद्धिक चिन्तन के क्षेत्र में वह हर तरह से व्यक्तिवाद को विजयी बनाता है[1]।" यद्यपि मैरीटेन का अभिप्राय डेकार्टवाद के विरोधों को प्रकट करके उसको असंगत तथा हास्यास्पद दिखाना है तथापि उसने ऐसा करने में प्रकारान्तर से सिद्ध किया कि डेकार्ट आधुनिक दर्शन की कई परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों का जनक है।

डेकार्ट ने जिन वस्तुओं या सत्ताओं को सिद्ध किया हैं वे नवीन नहीं है और न वे पहले अज्ञात ही थीं। आत्मा, ईश्वर और भूततत्त्व तीनों पहले से ही ज्ञात थे। किन्तु जिन युक्तियों से डेकार्ट ने इनको सिद्ध किया है वे सर्वथा नवीन हैं। डेकार्ट ने प्राचीन प्रमाणों के स्थान पर नवीन प्रमाणों की स्थापना की। फिर उसने आत्मा, ईश्वर और जगत् की जैसी अवधारणाएँ कीं, वैसी पहले किसी ने नहीं की थी। आत्मा का अनिवार्य लक्षण ज्ञान है। ज्ञान-शून्य आत्मा वदतो व्याघात है। ईश्वर का ज्ञान बौद्धिक या यौक्तिक है अर्थात निगमन से ईश्वर को जाना जा सकता है। उसका प्रत्यक्ष या साक्षात्कार नहीं हो सकता। वह जगत् में हस्तक्षेप नहीं करता है। जगत् विस्तार तथा गति का संस्थान है। उसका ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं होता, वरन् अनुमान से होता है। वास्तविक जगत् रंगीन, ध्वनित, सुगन्धित, कोमल, मधुर, इत्यादि नहीं है। डेकार्ट के ये सभी सिद्धान्त सर्वथा नवीन थे। फिर यद्यपि उसने प्रचलित सत्ताओं का व्याख्यान किया है तथापि उसके व्याख्यान से इन सत्ताओं का वास्तविक रूप स्पष्ट हुआ है और उनके बारे में प्रचलित कल्पनाएं गलत सिद्ध हुई हैं।

किन्तु इन सत्ताओं के व्याख्यानों से अधिक मूल्यवान् डेकार्ट के अन्य विचार हैं। संशय से चिन्तन का आरम्भ करना, विचारवान् आत्मा का स्वतः प्रमाणित होना, प्रत्ययों की उत्पत्ति का प्रश्न, द्रव्य का प्रत्यय, विचार और विस्तार का अनिवार्य भेद और भौतिक जगत् की पूर्ण यान्त्रिकता, ये विचार सदियों से विलुप्त नहीं हुए हैं और इन्होंने डेकार्ट को अमरत्व प्रदान किया है[2]।

---

१ वहीं, पृ० ४४।

२ History of Modern Philosophy, Richard Falckenberg पृ० ९६।

डेकार्ट फ्रान्स का सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक है। उसके बारे में गिल्सन ने ठीक ही कहा है कि—"उसकी एकमात्र कामना 'ज्ञान में शान्ति प्राप्त करो' की थी। वह केवल विचार के द्वारा केवल विचार के लिए जीवित रहा। उसके अस्तित्व से शानदार कभी कोई अस्तित्व नहीं था[1]।"

कोई आश्चर्य नहीं यदि ऐसा मनुष्य आधुनिक दर्शन का जनक हो जाता है।

---

१. Descartes, S. V. Keeling पृ० २८ में उदधृत।

अध्याय ३

स्पिनोजा का सर्वेश्वरवाद

१ स्पिनोजा का जीवनवृत्त

स्पिनोजा का जन्म २४ नवम्बर, १६३२ को हालैंड में एमर्स्टडम में हुआ था। उसका बचपन का नाम बारुच (Baruch) था। स्पिनोजा उसके परिवार का नाम था। उसके पिता का नाम माइकेल दि इस्पाइनोजा था। वह एमर्स्टडम का धनी व्यापारी था। बारुच उसकी दूसरी पत्नी हन्ना डिबोरा से उत्पन्न हुआ था। उसके एक सगी बहिन थी मिरियम और एक सौतेली बहिन थी रेबेक्का। स्पिनोजा परिवार यहूदी था। उसके पूर्वज रोमन कैथलिक मसीहियों की दमन-नीति के कारण पुर्तगाल से भागकर हालैंड में आये थे। बारुच स्पिनोजा की शिक्षा-दीक्षा यहूदी शिक्षालय में आरम्भ हुई। उसे इब्रानी भाषा और यहूदी धर्म-ग्रन्थों की उच्च शिक्षा मिली। यहीं उसने पुर्तगाली, स्पेनी और डच भाषा का उच्च ज्ञान प्राप्त किया। उसके पिता की इच्छा थी कि वह गृहस्थ हो और धनी व्यापारी या यहूदी पुरोहित हो। किन्तु यहूदी धर्म-ग्रन्थों के दार्शनिक अनुशीलन से स्पिनोजा की जिज्ञासा इतनी प्रज्वलित हुई कि उसके लिए यहूदी दायरे के अन्दर रहना कठिन हो गया। उसको जिज्ञासा हुई कि वह तत्कालीन लैटिन जगत् को समझे। लैटिन उस समय समूचे योरोप की सांस्कृतिक भाषा थी। यहूदी शिक्षालयों में लैटिन का बहिष्कार था। इसलिए उसके अध्ययन के लिए स्पिनोजा को फैन डेन एण्डे नामक एक स्वतन्त्र विचारक की शरण में जाना पड़ा। उससे उसने लैटिन, इटालियन और फ्रांसीसी भाषा का उच्च ज्ञान प्राप्त किया और थोड़ी-बहुत यूनानी भी सीखी। लैटिन सीखने के अनन्तर उसने मसीही धर्म के धार्मिक और दार्शनिक ग्रन्थों का अध्ययन किया। फिर उसने डेकार्ट और ब्रूनो के दार्शनिक ग्रन्थों का मार्मिक अनुशीलन किया। तत्कालीन विज्ञान में भी उसकी रुचि थी और उसने उसका भी अध्ययन किया।

स्पिनोजा ने कई भाषाओं, कई धर्मों, कई दर्शनों और कई संस्कृतियों का अध्ययन किया। फलस्वरूप उसका दृष्टिकोण बुद्धिवादी हो गया। किसी धर्म में उसकी

श्रद्धा न रही। वह सबका आलोचक हो गया। उसने उदीयमान विज्ञान और डेकार्ट तथा ब्रुनो का अध्ययन अवश्य किया, किन्तु उनमें भी उसकी श्रद्धा न थी। वह उनका भी आलोचक हो गया। उसने इतना गम्भीर अनुशीलन और चिन्तन किया कि वह एक नये दर्शन का जन्मदाता हो गया। आज इसे सर्वेश्वरवाद या स्पिनोजावाद कहा जाता है।

अपने विचारों और विश्वासों के कारण स्पिनोजा को अनेक कष्ट झेलने पड़े। उसने यहूदी देवालयों में जाना बन्द कर दिया और माना कि ईश्वर और प्रकृति एकार्थक है। इस पर यहूदी समाज ने उसे २७ जुलाई १६५६ को जाति-बहिष्कार का दण्ड दिया। पहले उसे आर्थिक प्रलोभन दिया गया कि भीतर से वह चाहे जो माने किन्तु ऊपर से यहूदी धर्म के प्रति आस्था बनाये रखे। लेकिन ऐसा करना स्पिनोजा के लिए कठिन था। वह भीतर और बाहर से एक था। उसकी कथनी, करनी और रहनी में एकरूपता थी। वह महात्मा था। इस कारण उसे जाति-बहिष्कार का दण्ड स्वीकार हुआ। दण्ड की भाषा बड़ी कठोर है। उससे कहा गया—

"उसे (बारुच डि स्पिनोजा) दिन में अभिशाप भोगना पड़े रात में अभिशाप भोगना पड़े, सोते समय अभिशाप भोगना पड़े, जागते समय अभिशाप भोगना पड़े, आते-जाते अभिशाप भोगना पड़े। ईश्वर उसे कभी क्षमा न करे। ईश्वर के क्रोध और अकृपा उसे भस्म कर दें, धर्म-ग्रन्थों में लिखे सभी शाप उसे लग जायँ और विश्व भर में उसके नाम को कलंकित कर दें। एतदद्वारा आप सभी जातिवालों को आदेश दिया जाता है कि कोई उससे बात न करे, कोई उससे लिखकर पत्राचार न करे, कोई उसकी किसी प्रकार की सेवा न करे, कोई उसके साथ किसी घर या कमरे में न रहे, कोई उससे चार घनफीट की दूरी के अन्दर न रहे, कोई उसके द्वारा लिखा हुआ या लिखाया हुआ कोई लेख न पढ़े।"

इस जाति-बहिष्कार का स्पिनोजा ने बहादुरी से सामना किया। अब वह बिलकुल अकेला रह गया। यहूदी होने के कारण वह समूचे योरोप से पृथक था और बहिष्कृत होने के कारण यहूदी समाज से भी वह पृथक् हो गया। उसके बन्धु-बान्धव और मित्रगण उससे घृणा करने लगे। एक धर्मान्ध भाई ने उसके ऊपर एक रात तलवार का प्रहार किया। स्पिनोजा ने भागकर किसी तरह जान बचाई। धर्म और जाति से स्पिनोजा के बहिष्कार का लाभ उठाकर उसकी बहिन ने उसके ऊपर मुकदमा चलाया। उसने दावा किया कि स्पिनोजा को पैतृक सम्पत्ति नहीं मिलनी चाहिए। सौभाग्य से उस समय हालैण्ड के कानून उदार हो चले थे

और इस कारण मुकदमें में स्पिनोजा की जीत हुई। किन्तु उसने एक चारपाई छोड़कर बाकी सारी जायदाद अपनी बहिन को दे दी। उस चारपाई पर उसके पिता और पितामह के देहपात हुए थे। उसको उसने अपने लिए रख लिया। वह चाहता तो कोई दूसरा धर्म स्वीकार कर लेता, जैसे वह ईसाई हो सकता था। किन्तु उसने देखा कि प्रत्येक धर्म की वही दशा है जो यहूदी धर्म की है। धर्म व्यक्ति को उसके विचार-स्वातन्त्र्य से वंचित कर देता है। स्पिनोजा को विचार-स्वातन्त्र्य से गाढ़ा अनुराग था। अतः वह किसी धर्म का अनुयायी न हो सका।

अब स्पिनोजा ने एमर्स्टडम छोड़ दिया और उसके किनारे एक उदार ईसाई मकान-मालिक के यहाँ एक कमरा लेकर रहने लगा। उसने अपना नाम बारुच से बेनडिक्ट कर लिया। बेनेडिक्ट लैटिन भाषा का शब्द है और बारुच इब्रानी का। दोनों का मतलब है प्रशान्तात्मा। स्पिनोजा सचमुच प्रशान्तात्मा था। सन् १६६० में अपने मकान-मालिक के साथ वह भी रीन्सवर्ग में रहने लगा। फिर १६६३ में वह कुछ मित्रों के कहने से हेग के समीप फूरवर्ग नामक गाँव में रहने लगा। सन् १६७० में वह हेग में आकर रहने लगा। यहीं २१ फरवरी, १६७७ को यक्ष्मा रोग से उसका देहान्त हो गया। जिस समय उसका देहान्त हुआ था उस समय केवल उसका मित्र डाक्टर मायर उसके साथ था। उस समय उसकी अवस्था ४४ वर्ष की थी।

स्पिनोजा निःस्पृह और निर्लोभ था। उसने अपनी पैतृक सम्पत्ति अपनी बहिन को दे दी। अपनी जीविका वह शीशा साफ करके चलाता था। इस काम को उसने यहूदी शिक्षालय में सीखा था जहाँ कोई हस्तकला सीखना प्रत्येक छात्र के लिए अनिवार्य था। उसके दर्शन और रहन-सहन से प्रभावित होकर उसके कुछ धनी भक्तों ने उसे रुपये-पैसे देना चाहे, किन्तु स्पिनोजा ने या तो इनकार किया और या तो उसमें से थोड़ा ही स्वीकार किया। उसके धनी भक्तों और प्रशंसकों में से साइमन जैन डि वट्ट, एमर्स्टडम का धनी व्यापारी साइमन डि वाइस और गणतन्त्र का न्यायाधीश प्रमुख थे। १६७३ में स्पिनोजा को हाइडेल विश्वविद्यालय में दर्शन के प्रोफेसर का भार सँभालने के लिए निमन्त्रण मिला। किन्तु उसने इसको ठुकरा दिया। उसका विचार था कि शान्ति पाने के लिए सरकारी अध्यापक होने से इनकार करना चाहिए।

स्पिनोजा के जीवनकाल में उसकी केवल दो कृतियाँ प्रकाशित हुई थीं—**डेकार्ट-दर्शन के सिद्धान्त** जिसके साथ **'आध्यात्मिक चिन्तन'** संलग्न था और **धर्म-राजनीति-विषयक ग्रन्थ**। पहला ग्रन्थ डेकार्ट के दर्शन की व्याख्या है जिसका

प्रकाशन १६६३ में एमस्टर्डम में हुआ था। दूसरा ग्रन्थ १६७० में एमस्टर्डम में गुमनाम प्रकाशित हुआ था। इसमें धर्म-निरपेक्ष राज्य तथा विचार-स्वातन्त्र्य के सिद्धान्तों का भली-भाँति निरूपण है। फलतः १७वीं शती के धर्मानुशासित राज्यों में इस ग्रन्थ को अवैध घोषित किया गया। इसकी प्रतियाँ जब्त की गयीं और जलायी गयीं। इसके लेखक को नास्तिक और निरीश्वरवादी की संज्ञा दी गयी। विभिन्न धर्म-संघों से १६७० और १६७६ के बीच इसके ३० से अधिक धिक्कार प्रकाशित हुए। इसके खण्डन में अनेक ग्रन्थ लिखे गये। एक आलोचक ने तो इसके लेखक को संसार का सबसे बड़ा पापी नास्तिक कहा। इस बदनामी के कारण स्पिनोजा का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ **'नीतिशास्त्र'** उसके जीवनकाल में प्रकाशित न हो सका। उसके मरने के एक साल बाद **'नीतिशास्त्र'**, **'बुद्धिशोध'**, **'राजनीति-प्रकरण'**, **'पचहत्तर पत्र'** तथा **'इब्रानी व्याकरण'** प्रकाशित हुए। बाद में उसके **ग्यारह और पत्र** तथा **'ईश्वर, मनुष्य और उसकी भलाई से सम्बन्धित संक्षिप्त ग्रन्थ'** प्रकाशित किये गये। आज उसके कुल निम्नलिखित ग्रन्थ हैं :—

(क) **पूर्ण ग्रन्थ**

१. **डेकार्ट-दर्शन के सिद्धान्त**, जिसमें **आध्यात्मिक चिन्तन** संलग्न है।

२. **धर्म-राजनीति-विषयक ग्रन्थ**

३. नीतिशास्त्र

४. **ईश्वर, मनुष्य और उसकी भलाई से सम्बन्धित ग्रन्थ।**

(ख) **पत्र-व्यवहार**—इसमें कुल ८. पत्र हैं।

(ग) **प्रकरण-ग्रन्थ**

१. **बुद्धिशोध**

२. **राजनीति-प्रकरण**

३. **इब्रानी व्याकरण**

उसके सभी ग्रन्थ लैटिन में थे। उनके अनुवाद उसके जीवनकाल . आरम्भ हो गये थे। आज संसार की अनेक भाषाओं में उनके अनुवाद विद्यमान हैं। हिन्दी में उसके **नीतिशास्त्र** का अनुवाद डा० दीवानचन्द ने **'स्पिनोजा-नीति'** नाम से किया है जो उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा स्थापित हिन्दी समिति से प्रकाशित है। **बुद्धिशोध** और **नीतिशास्त्र** स्पिनोजा-दर्शन के दो सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ हैं। पहले में

उसके दर्शन की प्रणाली का विस्तार में वर्णन है और दूसरे में उसके दर्शन की विशद व्याख्या है।

'नीतिशास्त्र' और **'डेकार्ट-दर्शन के सिद्धान्त'** ज्यामिति की शैली में लिखे गये हैं। स्पिनोजा ज्यामिति की शैली का समर्थक था। यूकलिड की भाँति उसने भी पहले परिभाषाएँ और स्वयंसिद्धियाँ दीं, तत्पश्चात् प्रतिज्ञाएँ लिखीं और अन्त में उनको सिद्ध करने की उपपत्तियाँ दीं। उपपत्तियों के बाद उसने पुनः यूकलिड की भाँति 'इतिसिद्धम्',यही सिद्ध करना था, लिखा। जहाँ उपपत्तियों की व्याख्या की आवश्यकता पड़ी वहाँ उसने टीकाएँ लिखीं। इस प्रकार उसने प्रमेयों या साध्यों की स्थापना की। साध्यों या प्रमेयों के अतिरिक्त उपप्रमेयों तथा प्रमेयिकाओं को भी उसने यत्र-तत्र दिया।

ज्यामिति की शैली में **नीतिशास्त्र** को जिसका नाम ही 'ज्यामिति शैली में उपपन्न नीतिशास्त्र' है, लिखने का विशेष अभिप्राय है। स्पिनोजा यहाँ यह दिखाना चाहता है कि उसके सभी प्रमेय आपस में सम्बन्धित हैं और उनका सम्बन्ध इस प्रकार का है कि पूर्वगामी प्रमेयों से उत्तरगामी प्रमेय तत्काल निकलते हैं। जैसे यूकलिड की ज्यामिति एक संस्थान (System) प्रदान करती है जिसके सभी प्रमेय परस्पर तर्कतः सम्बन्धित हैं, वैसे स्पिनोजा का **'नीतिशास्त्र'** भी एक संस्थान प्रदान करता है जिसके सभी प्रमेय परस्पर तर्कतः सम्बन्धित हैं। स्पिनोजा के **नीतिशास्त्र** से अधिक सुगठित कोई दूसरा दर्शन-संस्थान नहीं है। कोई आश्चर्य नहीं यदि जर्मन साहित्यकार लेसिंग कहता है कि 'स्पिनोजा-दर्शन के अतिरिक्त कोई दूसरा दर्शन नहीं है' या यदि जर्मन दार्शनिक हेगल कहता है कि 'किसी मनुष्य को दार्शनिक होने के लिए पहले स्पिनोजावादी होना चाहिए।'

इतना होने पर भी स्पिनोजा को अपने जीवन में ख्याति न मिल पायी। सर्वत्र उसका अनादर ही होता रहा। केवल कुछ इने-गिने लोग ही उसके प्रशंसक रहे। लगभग १०० वर्ष तक उसके ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन करना पाप समझा जाता था। किन्तु अन्त में उसे पूर्ण सम्मान मिलकर रहा। लेसिंग की मृत्यु १८८१ में हुई। उसकी अप्रकाशित कृतियों को देखने से पता चला कि वह स्पिनोजावादी था। फिर उसका समकालीन महाकवि गेटे भी स्पिनोजा का प्रशंसक था और अपने को स्पिनोजावादी कहने में गर्व करता था। इन दोनों साहित्यकारों और याकोबी के कारण स्पिनोजा की गणना निन्दनीय और नास्तिक लोगों में न की जाकर अत्र प्रशंसनीय और आस्तिक लोगों में की जाने लगी। कैथलिक कवि नौवलिस ने तो उसे 'ईश्वरोन्मत्त मनुष्य' तक कह डाला। श्लाएरमाखेर ने उसे पवित्र जाति-बहिष्कृत (Holy Outcast) कहा। इस प्रकार १९वीं शती के बीतते-बीतते स्पिनोजा

के ग्रन्थों का अध्ययन अध्यापन श्रद्धापूर्वक होने लगा और आज कोई ऐसा सभ्य देश नहीं है जहाँ स्पिनोजा के प्रशंसक न हों, या जहाँ उसके ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन न होता हो यद्यपि संसार आज साम्यवादी और पूँजीवादी विचारधाराओं में बँटा हुआ है तथापि स्पिनोजावाद दोनों में प्रविष्ट है और दोनों प्रकार के देशों में उसको श्रद्धा के साथ पढ़ा जाता है। आज वह विश्व का सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक माना जाता है।

२ स्पिनोजा और डेकार्ट

डेकार्ट और स्पिनोजा के सम्बन्ध में एक भ्रमपूर्ण मत लाइबनीज के समय से ही प्रचलित है। लाइबनीज ने कहा है कि स्पिनोजा डेकार्टवादी है और उसने डेकार्ट के कुछ सिद्धान्तों का ही विकास अपने दर्शन में किया है। अन्य लोग भी आये-दिन इस मत को दुहराते रहते हैं। इस मत के पक्ष में निम्नलिखित प्रमाण पेश किये जाते हैं—

(क) स्पिनोजा ने डेकार्ट-दर्शन पर एक ग्रन्थ लिखा। उसने डेकार्ट-दर्शन की ठीक व्याख्या की और उसको अच्छी तरह से समझा।

(ख) स्पिनोजा ने डेकार्ट से ज्यामिति-प्रणाली की शिक्षा ली। डेकार्ट गणित या ज्यामिति की प्रणाली का प्रशंसक था। उसने ही सबसे पहले दर्शन में गणित की प्रणाली का प्रयोग किया और दर्शनशास्त्र को गणित की भाँति निश्चित तथा विवादरहित बनाने का प्रयास किया।

(ग) स्पिनोजा ने डेकार्ट के ही प्रत्ययों के आधार पर चिन्तन किया। डेकार्ट ने द्रव्य, गुण और विकार के प्रत्ययों को दर्शन में प्रमुख स्थान दिया और सारा चिन्तन द्रव्य-गुण-विकार की रीति से किया। स्पिनोजा ने भी द्रव्य-गुण-विकार की रीति से अपना चिन्तन किया। उसने डेकार्ट की दी हुई परिभाषाओं से ही, विशेषतः द्रव्य की परिभाषा से, अपने दर्शन का प्रारम्भ किया।

(घ) स्पिनोजा डेकार्ट के द्वैतवाद में असंगति देखता है। उसने मन और देह के सम्बन्ध में डेकार्ट के मत को विरोधपूर्ण पाया। फिर उसने इस विरोध को दूर करके अपने मत की स्थापना की। इस तरह सिद्ध होता है कि डेकार्ट-दर्शन की असंगतियों को निकाल देने से स्पिनोजा का दर्शन बन जाता है।

(ङ) डेकार्ट और स्पिनोजा दोनों बुद्धिवादी हैं, दोनों प्रातिभ ज्ञान को महत्त्व देते हैं और प्रातिभ ज्ञान पर आधारित युक्ति के बल पर अपने दर्शन का निर्माण करते हैं।

(च) डेकार्ट की भाँति स्पिनोजा प्राचीन धार्मिक और रूढ़िगत विश्वासों की आलोचना करता है।

इन प्रमाणों में (घ), (ङ) और (च) ऐसे है कि केवल इनके आधार पर स्पिनोजा को डेकार्टवादी नहीं सिद्ध किया जा सकता है। ये केवल यह सिद्ध करते हैं कि स्पिनोजा डेकार्ट से प्रभावित था या दोनों की आलोचनाएँ कुछ हद तक एक समान थीं। स्पिनोजा को डेकार्ट से प्रभावित मानना एक बात है और डेकार्ट का शिष्य या अनुयायी मानना दूसरी बात है। डेकार्ट इतना महान् और प्रभावशाली विचारक था कि उसका प्रभाव उसके बाद होने वाले स्पिनोजा पर पड़ना अवश्यम्भावी था। स्पिनोजा निःसन्देह डेकार्ट से प्रभावित था। किन्तु वह डेकार्टवादी नहीं था। उपर्युक्त प्रथम तीन प्रमाण ऐसे हैं जो स्पिनोजा को डेकार्टवादी सिद्ध कर सकते हैं। लेकिन वे ठीक नहीं हैं। स्पिनोजा ने डेकार्ट-दर्शन पर एक ग्रन्थ अवश्य लिखा, किन्तु उसमें उसने अपने विचारों को नहीं लिखा है। उसको उसने एक शिष्य को डेकार्ट का दर्शन पढ़ाने के लिए लिखा था। उसको वह अपना दर्शन नहीं पढ़ाना चाहता था। उसके आमुख में डा० मायर ने ठीक ही लिखा है— 'यहाँ हमारा लेखक डेकार्ट के विचारों की मात्र अभिव्यक्ति उन्हीं उपपत्तियों के साथ कर रहा है जो उसके ग्रन्थों में मिलती हैं या जो उसकी मूलप्रतिज्ञाओं (Premisses) से तर्कतः निकलती हैं। कारण, जब उसने एक शिष्य को डेकार्ट का दर्शन पढाने का वादा किया, तब उसका सिद्धान्त हो जाता है कि वह लेशमात्र भी उसके (डेकार्ट के) मत से अलग न हो या जो उसके सिद्धान्तो से न निकले या प्रतिकूल हो उसे न पढ़ाये। इसलिए, यह किसी को सोचना नहीं है कि यहाँ वह अपना मत पढ़ा रहा है या जो वह पसन्द करता है उसको पढ़ा रहा है। यद्यपि वह डेकार्ट की कुछ बातों को सत्य मानता है तथापि कुछ को वह अपने विश्वास के विरुद्ध कहता है। बहुत-सी बातों को वह असत्य करार देता है और उनसे भिन्न अपना मत रखता है। इन बातों में से एक का उल्लेख यहाँ किया जा सकता है। वह है इच्छा के सम्बन्ध में डेकार्ट का कथन।" डेकार्ट मानव ज्ञान और इच्छा में भेद करता है, मानव ज्ञान को असीम बताता है और इच्छा को स्वतंत्र कहता है। किन्तु स्पिनोजा मानव ज्ञान और इच्छा में भेद नहीं करता है। उसके लिए मानव ज्ञान सीमित है और इच्छा नियन्त्रित है।

डेकार्ट ने गणित की प्रणाली के ढंग पर दर्शन को खड़ा करने का प्रयास अवश्य किया, किन्तु ऐसा वह यथार्थतः कर न सका। उसने स्पिनोजा की भाँति ज्यामिति की प्रणाली में अपने दर्शन की अभिव्यक्ति नहीं की। स्पिनोजा का यह कार्य अभूतपूर्व है। पुनश्च यद्यपि स्पिनोजा ने द्रव्य-गुण-विकार की रीति से चिन्तन किया और ऐसा डेकार्ट ने भी किया, तथापि यह रीति मध्ययुगीन दर्शन की देन है; यह डेकार्ट की देन नहीं है। यहाँ डेकार्ट और स्पिनोजा दोनों मध्ययुगीन दर्शन की भाषा

बोलते है। फिर स्पिनोजा ने द्रव्य, गुण और विकार का जो अर्थ किया वह डेकार्ट के और मध्ययुगीन दर्शन के अर्थों से भिन्न है। अतः इन कारणों से स्पिनोजा को डेकार्टवादी नहीं कहा जा सकता।

वास्तव में स्पिनोजा और डेकार्ट के दर्शनों में जमीन और आसमान का अन्तर है। स्पिनोजा अद्वैतवादी है तो डेकार्ट द्वैतवादी। स्पिनोजा सर्वेश्वरवादी है तो डेकार्ट ईश्वरवादी। स्पिनोजा नियन्त्रणवादी या नियतिवादी है तो डेकार्ट स्वतन्त्रेच्छावादी। स्पिनोजा द्रव्यवादी है तो डेकार्ट आत्मवादी। स्पिनोजा के दर्शन का आरम्भ 'यह है,' यानी 'द्रव्य है' से होता है और फिर इसी से निगमन करना उसका समग्र दर्शन है। इसके विपरीत डेकार्ट के दर्शन का आरम्भ 'मैं हूँ' यानी 'आत्मा है' से होता है और इससे निगमन द्वारा उसका समग्र दर्शन विकसित होता है। इस तरह दोनों के दर्शनों में महान् अन्तर है।

दोनों के दृष्टिकोणों में भी महान् अन्तर है। डेकार्ट का मुख्य विषय बौद्धिक जिज्ञासा है; स्पिनोजा का मुख्य विषय नैतिक भावना है। यह सत्य है कि डेकार्ट ने संयोगवश नैतिक आचारों पर भी लिखा जैसे स्पिनोजा ने संयोगवश विज्ञान पर भी लिखा। किन्तु दोनों का अन्तर आदि से अन्त तक बना रहता है। डेकार्ट की परम रुचि 'सत्य' में थी, स्पिनोजा की परम रुचि 'शिवम्' या श्रेय में थी[१]।"

लाइबनीज ने स्पिनोजा को डेकार्टवादी कहकर झूठा प्रचार किया था। वह अपने को स्पिनोजा से बड़ा दिखाना चाहता था। पहले वह स्पिनोजावादी था, किन्तु स्पिनोजा की निन्दा सुनकर उसे अपने को स्पिनोजावादी कहने में साहस न हुआ। उल्टे वह स्पिनोजा को ही डेकार्टवादी कहकर छोटा समझने लगा। लुडविग स्टाइन ने १८९० में **लाइबनोज एण्ड स्पिनोजा** नामक ग्रन्थ में दिखाया है कि लाइबनीज स्वयं अन्त तक स्पिनोजावाद के प्रभाव में रहा और उसका यह कथन कि स्पिनोजा डेकार्टवादी है, निराधार है। किन्तु लाइबनीज के झूठे प्रचार ने स्पिनोजावाद को १०० साल तक दफना दिया था। उसके शिष्य क्रिश्चियन वुल्फ ने स्पिनोजावाद की कटु निन्दा की। वुल्फ के शिष्य तथा प्रशिष्य ही जर्मनी में प्रोफेसर बनते रहे और उन सबों ने स्पिनोजा को बिलकुल उपेक्षित किया। फिर जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है लेसिंग, गेटे और याकोबी के प्रयास से स्पिनोजावाद का पुनर्वास हुआ।

स्पिनोजा का दर्शन एक अनोखा दर्शन है। वह अपने दर्शन के लिए किसी का ऋणी नहीं है। उसने अपने दर्शन को किसी दर्शन से निकाला नहीं है। उसका दर्शन डेकार्टवाद से नहीं विकसित हुआ। उसने अपने दर्शन के दृष्टिकोण से डेकार्टवाद की समीक्षा की और उसके कुछ सिद्धान्तों को गलत और कुछ को ठीक

---

१. लियोन राथ, स्पिनोजा पृष्ठ २३४।

बतलाया। उसका निजी दृष्टिकोण डेकार्ट-दर्शन के अनुशीलन की पृष्ठभूमि में था। इसी प्रकार उसने अपने दृष्टिकोण से ब्रूनो तथा यहूदी दार्शनिकों की समीक्षा की[१]। वह एक मौलिक दार्शनिक है। वह किसी का अनुयायी या शिष्य नहीं है।

ईश्वर का प्रत्यय

स्पिनोजा ने ईश्वर के प्रत्यय का मार्मिक विश्लेषण किया है। इसके मत से ईश्वर, द्रव्य और प्रकृति एक ही सत्ता के तीन नाम हैं। ईश्वर द्रव्य है। द्रव्य वह है जो अपने में रहता है और जो अपने द्वारा ही समझा जाता है। दूसरे शब्दों में द्रव्य वह है जो स्वस्थ या आत्मनिष्ठ हो और जो स्वतोगृहीत या आत्मज्ञात हो। द्रव्य स्वतंत्र और स्वयंप्रकाश है। वह पूर्ण स्वतन्त्र है अर्थात् वह किसी पर निर्भर नहीं है। वह अपना कारण स्वयं है। उसका कोई कारण नहीं है। वह सभी वस्तुओं का कारण है। वह सभी वस्तुओं या जगत् से परे नहीं है, प्रत्युत उनमें व्यापक है, सर्वान्तर है या अन्तर्यामी है। इसलिए ईश्वर को प्रकृति कहा जाता है। जैसे त्रिभुज की परिभाषा से ही सिद्ध होता है कि उसके तीनों कोणों का योग दो समकोण के बराबर है, वैसे ही ईश्वर से समस्त जगत् अपने आप निकलता है। वह जगत् की सर्जनात्मक शक्ति है।

ईश्वर स्वतन्त्र है। पर उसकी कोई पसन्द या स्वेच्छा नहीं है। उसकी स्वतन्त्रता का अर्थ आत्म-निर्धारण है। वह अपने स्वभाव के अधीन है और उसके प्रतिकूल जाने में असमर्थ है। सृष्टि उसका स्वभाव है। सृष्टि करने में उसकी इच्छा या लीला या कोई प्रयोजन नहीं है। स्पिनोजा प्रयोजनवाद के ठीक विपरीत नियतिवाद को मानता है। प्रत्येक वस्तु ईश्वर के स्वभाव से तर्कतः नियत या निर्धारित है।

ईश्वर एक है, क्योंकि दो स्वतन्त्र द्रव्य नहीं हो सकते। यदि स्वतन्त्रता द्रव्य का लक्षण है और द्रव्य दो या दो से अधिक हैं, तो फिर द्रव्य की अनेकता उसकी स्वतन्त्रता के विपरीत होगी। अनेक द्रव्य एक दूसरे को परतन्त्र कर देते हैं। जहाँ अनेकता है वहाँ पारस्परिक सम्बन्ध हैं और जहाँ पारस्परिक सम्बन्ध हैं वहाँ परतन्त्रता या अन्य-निर्धारण है। द्रव्य या ईश्वर की स्वतन्त्रता से ही सिद्ध होता है कि वह सत्य है। यह डेकार्ट के दर्शन की महान् असंगति है कि एक ओर वह स्वतन्त्रता को द्रव्य का लक्षण मानता है और दूसरी ओर ईश्वर के अतिरिक्त मन और देह को भी द्रव्य कहता है। मन और देह द्रव्य नहीं हो सकते।

---

१. स्टैनिशलाउस फन ड्यूनिन—बोर्कोरकी ने एक बृहत् ग्रन्थ लिखकर स्पिनोजा की मौलिकता का प्रतिपादन किया है और दिखाया है कि स्पिनोजा ने अपने दर्शन को डेकार्टवाद से नहीं विकसित किया।

द्रव्य से कोई द्रव्य नहीं उत्पन्न होता। द्रव्य से विकार उत्पन्न होते हैं जो द्रव्य में रहते हैं, द्रव्य से पैदा होते हैं और द्रव्य में ही अन्ततोगत्वा विलीन हो जाते हैं। ईश्वर एक और अद्वितीय द्रव्य होने के कारण निरपेक्ष सत् या ब्रह्म है।

ईश्वर को एक दृष्टि से चेतना कहा जा सकता है तो दूसरी दृष्टि से अचेतन। चेतना और अचेतना (या जड़ता) उसके गुण हैं।

ईश्वर अनादि और अनन्त है। वह अकारण है या स्वयंभू है। इसलिए वह अनादि है। फिर वही एकमात्र सत् है और इस कारण वह अनन्त है। यदि वह सान्त होता तो वही एकमात्र सत् न होता और उसके पश्चात् उसका अन्त करने वाला सत् होता। किन्तु ऐसा सोचना उसके स्वरूप के प्रतिकूल है। इस कारण वह अनन्त है। फिर अनादि और अनंत होने के कारण वह नित्य है। वह पूर्ण है। उसमें कोई कमी या अभाव नहीं है।

ईश्वर अपरिच्छिन्न है। उसको परिच्छिन्न या सीमित नहीं किया जा सकता। परिच्छेद निषेध है। परिच्छेद में निषेध शामिल है। जब हम परिच्छेद करते हैं, निर्धारण करते हैं, तब हम कुछ-न-कुछ निषेध करते हैं। जब हम सोचते हैं कि ईश्वर साकार या मानवाकार है, तो हम उसको परिच्छिन्न करते हैं और उसमें मानवेतर आकार का निषेध देखते हैं। (ईश्वर निराकार है। उसका कोई विशेष आकार नहीं है। समस्त सृष्टि ही उसका आकार है। ईश्वर को मानवाकार सोचना असंगत है। उसमें दया, उदारता, इच्छा, ज्ञान आदि मानवीय गुणों का आरोप करना मिथ्या है। ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं है। वह साक्षात् सृष्टि ही है। सृष्टिकर्ता सृष्टि से परे है, किन्तु ईश्वर सृष्टि में व्यापक है। वह सृष्टि की सर्जनात्मक शक्ति है। ईश्वर सृष्टि है और सृष्टि ईश्वर है।

किन्तु स्पिनोजा का ईश्वर यहूदी, ईसाई या इस्लाम धर्म का ईश्वर नहीं है जो सृष्टिकर्ता है, सप्रयोजन व्यापार करता है, दुष्टों को दण्ड और सज्जनों को पुरस्कार देता है, पूजनीय है और अपने भक्तों को अपने समीप स्वर्ग में स्थान देता है. जो सृष्टि की स्वाभाविक गतिविधि में अपने चमत्कारों से हस्तक्षेप करता है, और अन्ततः जो साकार या देहधारी महामानव है। इन धर्मों का ईश्वर परिच्छिन्न ईश्वर है। किन्तु चूँकि परिच्छेद निषेध है, इसलिए वास्तव में ये धर्म ईश्वर का परिच्छेद करके उसका निषेध करते हैं। अतः तार्किक दृष्टि से ये धर्म निरीश्वरवादी या नास्तिक हैं। निरीश्वरवाद का आरोप स्पिनोजा पर नहीं. किन्तु इन धर्मों पर लगाना चाहिए क्योंकि इन्होंने गलत धारणाओं को ईश्वर मान रखा है और सच्चे ईश्वर की धारणा करने से इन्कार किया है।

स्पिनोजा का ईश्वर परम्परागत धर्मों के ईश्वर से इतना भिन्न है कि उन धर्मों के अनुयायियों द्वारा उसको नास्तिक या निरीश्वरवादी की उपाधि मिलना स्वाभाविक है। यदि ईश्वर का वही मतलब है जिसे यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्म मानते हैं तो निःसन्देह स्पिनोजा निरीश्वरवादी है। किन्तु यदि ईश्वर का वह अर्थ है जो स्पिनोजा करता है तो ये धर्म निरीश्वरवादी हैं। वस्तुतः स्पिनोजा सृष्टि और ईश्वर में अभेद करता है। इस पर यदि उसे कुछ लोग भौतिकवादी समझते हैं, तो वे निराधार नहीं हैं।

किन्तु स्पिनोजा को निरीश्वरवादी और भौतिकवादी कहना उसको बिल्कुल न समझना है। उसने ईश्वर को ही एक और अद्वितीय सत् घोषित किया, ठीक वैसे ही जैसे उपनिषदों ने ब्रह्म को एक और अद्वितीय सत् घोषित किया। उसने समस्त सृष्टि में ईश्वर का विस्तार देखा। उसने प्रत्येक वस्तु में ईश्वर को विद्यमान पाया। ईश्वर विभु है। वह ईश्वर को देश, काल और गुण से सीमित नहीं करता, क्योंकि वह ईश्वर को वस्तुतः अनन्त मानता है। किन्तु उसको अनन्त मानते हुए भी वह उसे सृष्टि में व्याप्त मानता है। इससे स्पष्ट है कि स्पिनोजा सर्वत्र ईश्वर को ही देखता है। जो सर्वत्र ईश्वर को देखे, क्या वह निरीश्वरवादी है ?

निःसन्देह स्पिनोजा ने कहा कि ईश्वर विस्तृत है। किन्तु वह अखण्ड विस्तार है। उसके खण्ड नहीं हो सकते। उसका विस्तार या प्रसार समस्त सृष्टि है। उसके विस्तार का अभिप्राय किसी एक भौतिक वस्तु, जैसे पर्वत या नदी या मेज का विस्तार नहीं है। स्पिनोजा की मान्यता है कि दैशिक विस्तार एक और अखण्ड है। जिन वस्तुओं को हम परस्पर विभाजित या पृथक्कृत देखते हैं, वास्तव में देश की दृष्टि से उनके बीच में कोई विभाजक रेखा नहीं है जो खाई का काम करे। सभी वस्तुओं में एक अविभक्त सत् है, जिसमें वे विभक्त प्रतीत होती हैं। इसी अविभक्त सत् को स्पिनोजा विस्तार कहता है। यही विस्तार ईश्वर है। विस्तार को ईश्वर मानने के कारण स्पिनोजा को भौतिकवादी या लोकायतवादी कहा जा सकता है। किन्तु उसके भौतिकवाद और सामान्यतः प्रचलित भौतिकवाद में बहुत बड़ा अन्तर है। एक संस्कृत की कहावत है कि कोई लोकायतवाद के कारण नास्तिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्तम्भ से निकलकर भगवान् ने हिरण्यकशिपु का वध किया है[1]। हिरण्यकशिपु की कहानी द्वारा यहाँ दिखलाया गया है कि जो ऊपर से स्तम्भ को ईश्वर मानता है वह वास्तव में उसमें निहित आध्यात्मिक शक्ति को ईश्वर मानता है। जैसे स्तम्भ से

१. न लोकायतवादेन नास्तिकः स्याददैवतः।
हरिः हिरण्यकशिपुं जघान स्तम्भनिर्गतः ॥

भगवान् प्रकट हुए, वैसे प्रत्येक वस्तु में भगवान् है और जानने वालों के समक्ष वह वहाँ से प्रकट होता है।

जब स्पिनोजा कहता है कि प्रकृति या सृष्टि ईश्वर है तब वह ईश्वर को प्रकृति या सृष्टि तक ऊपर से नीचे गिराता नहीं है, प्रत्युत प्रकृति या सृष्टि को ही ईश्वर तक नीचे से ऊपर उठाता है[1]। उसके मत में सृष्टि या प्रकृति दिव्य रूप धारण करती है। वह निन्दनीय, पृथक्कृत और गन्दे पार्थिव रूप में नहीं देखी जाती वरन् अपने स्वाभाविक रूप में देखी जाती है जो अनन्तता, एकरूपता, समरसता और सर्जनात्मक शक्ति का उदात्त रूप है।

वास्तव में स्पिनोजा ईश्वर को प्रचलित अर्थ से भिन्न एक नया अर्थ दे रहा था जिसे समझने के लिए उसका युग तैयार नहीं था। उसका युग ईश्वरवाद और ईश्वरकारणवाद इन दो मतों में या दो में से किसी एक में डूबा था। ईश्वरवाद के अनुसार ईश्वर सृष्टिकर्ता है, वह सृष्टि से भिन्न है। ईश्वरकारणवाद के अनुसार ईश्वर सृष्टि को केवल गति प्रदान करता है और सृष्टि का मूल उपादान-कारण एक भौतिक पदार्थ है। इस मत में और ईश्वरवाद में इतना अन्तर है कि जहाँ ईश्वरकारणवाद मूल भौतिक पदार्थ को ईश्वर से स्वतन्त्र या निरपेक्ष मानता है, वहाँ ईश्वरवाद उसको ईश्वर के स्वभाव के अन्दर मानता है। ईश्वरकारणवाद ईश्वर में स्वगत, सजातीय और विजातीय भेद मानता है। ईश्वर के अन्दर अनेक गुण हैं जो उसके विशेषण हैं, यह ईश्वर का स्वगत भेद है। फिर उसके बाहर मूल भौतिक पदार्थ या प्रकृति है, यह उसका विजातीय भेद है। उसके समान चेतन अन्य आत्माएँ हैं, यह उसका सजातीय भेद है। इसके विपरीत ईश्वरवाद सजातीय और विजातीय भेद को नहीं मानता है, किन्तु वह भी ईश्वर में स्वगत भेद मानता है। इस मत में आत्मएँ और प्रकृति ईश्वर की अन्तरात्मा में हैं, इससे उसमें स्वगत भेद हैं।

स्पिनोजा ने ईश्वर का अर्थ इन दोनों वादों से भिन्न किया। उसके मत से ईश्वर में स्वगत भेद भी नहीं है। वह सभी भेदों से मुक्त है। उसमें स्वगत, सजातीय और विजातीय भेद नहीं हैं। वह सदा एकरस और अखण्ड रहता है। उसका यह वाद शंकराचार्य का ब्रह्मवाद है। इसको वह सर्वेश्वरवाद कहता है। सर्वेश्वरवाद ईश्वर का प्रत्याख्यान नहीं करता। वह ईश्वर का एक नया अर्थ करता है जो ईश्वरवाद और ईश्वरकारणवाद दोनों से भिन्न है। ईसाई मत ईश्वरवाद में विश्वास करता है और इस्लाम मत ईश्वरकारणवाद में। यहूदी मत में सर्वेश्वरवाद के बीज अवश्य

---

१. पोलक कृत स्पिनोजा पृ० ३३१।

थे, किन्तु स्पिनोजा के पहले किसी ने उनको विकसित नहीं किया था। अतः वहाँ भी ईश्वरवाद ही प्रमुख मत बना रहा। ऐसी स्थिति में स्पिनोजा के सर्वेश्वरवाद को न समझना और उस पर निरीश्वरवाद का आरोप लगाना आश्चर्यजनक नहीं था।

जब स्पिनोजा के सर्वेश्वरवाद को ठीक तरह से समझा गया तब कुछ लोगों ने कहना शुरू किया कि स्पिनोजा ईश्वर-भक्त है और वह सच्चा रहस्यवादी और सन्त है। नोवलिस ने उसे 'ईश्वरोन्मत्त मनुष्य' कहा। स्पिनोजा स्वयं ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम रखता था और इसी ईश्वर-प्रेम को वह मानव जीवन का लक्ष्य मानता था।

ईश्वर बुद्धिगम्य है। बुद्धि से उसकी अवधारणा हो सकती है। किन्तु उसकी कल्पना नहीं की जा सकती, उसका प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता। स्पिनोजा कहता है—

"यदि आप पूछें कि क्या मैं ईश्वर का वैसा ही स्पष्ट प्रत्यय करता हूँ जैसा त्रिभुज का, तो मेरा उत्तर 'हाँ' में होगा। पर यदि आप पूछें कि क्या मैं ईश्वर का वैसा ही मानसिक प्रतिबिम्ब रखता हूँ जैसा त्रिभुज का, तो मैं 'नहीं' में उत्तर दूँगा। कारण, हम ईश्वर की कल्पना नहीं कर सकते हैं[१]।"

ईश्वर की अवधारणा पूर्णतः नहीं हो सकती, क्योंकि ईश्वर में अनन्त गुण हैं। स्पिनोजा कहता है, "मैं नहीं कहता कि मैं ईश्वर को पूर्णतः जानता हूँ, बल्कि यह कहता हूँ कि मैं उसके कुछ गुणों को जानता हूँ (उसके सभी गुणों या अधिकांश गुणों को नहीं)। यह तथ्य कि मैं उसके अधिकांश गुणों को नहीं जानता, मुझे उन गुणों को जानने में बाधा नहीं डालता जिन्हें मैं जानता हूँ[२]।"

ईश्वर पूर्ण तथा अनन्त है। उसके गुण मानव गुणों से भिन्न हैं। जो पद मनुष्य के बारे में सार्थक हैं वे ईश्वर के बारे में निरर्थक हैं। मनुष्य का वर्णन करने वाली पदावली सीमित वस्तु का तर्कशास्त्र है और ईश्वर का वर्णन करने वाली पदावली असीम वस्तु का तर्कशास्त्र है। असीम और ससीम के भेद को न समझने के कारण प्राचीन तथा मध्ययुगीन धर्मशास्त्रों ने मानव गुणों का वर्णन करने वाली पदावली का प्रयोग ईश्वर का वर्णन करने में किया है। किन्तु यह एक तर्क-दोष है। ईश्वर के सम्बन्ध में ज्ञान, इच्छा, स्वतन्त्रता आदि का वह अर्थ नहीं है जो इन शब्दों का अर्थ मनुष्य के लिए है।

अब एक प्रश्न उठता है कि जब स्पिनोजा ईश्वर, द्रव्य और प्रकृति को

१. स्पिनोजा का दर्शन, संगमलाल पांडेय, में उद्धृत पृ० ६४।
२ स्पिनोजा का ५६वाँ पत्र।

एकार्थक समझता है तब वह क्यों 'ईश्वर' शब्द का व्यवहार करता है ? वह क्यों द्रव्य-प्रकृति, इन दो शब्दों से ही काम नहीं चलाता ?

वास्तव में स्पिनोजा परमार्थ-चिन्तक है। उसका द्रव्य या प्रकृति परमार्थ या परम मूल्य है। वह शिव या श्रेय है। वह मात्र सत्ता नहीं है। वह पूर्ण और अनन्त है। वह आनन्द-सिन्धु है। परम्परा से ऐसी सत्ता को ईश्वर कहा जाता रहा है। इस कारण स्पिनोजा भी उसे ईश्वर कहता है। किन्तु परम्परा से ईश्वर के और भी गुण बताये जाते हैं; जैसे सृष्टि का कर्ता होना, उपास्य होना, दयालु होना, शरीर-धारी होना, इत्यादि। किन्तु स्पिनोजा इन गुणों को ईश्वर पर मात्र आरोपित मानता है। मनुष्य अपने जिन गुणो का ईश्वर पर विक्षेप करता है, वे ईश्वर के गुण नहीं माने जा सकते। स्पिनोजा ने दिखाया है कि परम्परा में ईश्वर का कुछ सत्य वर्णन और कुछ असत्य वर्णन चला आ रहा है। उसने यह भी दिखाया कि परम्परा असत्य वर्णन को सत्य वर्णन से अधिक महत्त्व देती है। लेकिन स्पिनोजा ने असत्य वर्णन को बिलकुल हटा दिया और सत्य वर्णन को अपनाया। इस तरह उसने परम्परा का आलोचनात्मक संशोधन किया।

यदि स्पिनोजा ईश्वर पद का व्यवहार न करता तो उसका दर्शन परमार्थ-दर्शन न होता। वह तथ्य का निरूपण मात्र रहता। किन्तु स्पिनोजा ने अपने श्रेष्ठ ग्रन्थ का नाम **नीतिशास्त्र** (Ethica) रखा, न कि सत्ता-विज्ञान (Ontolgy)। इससे स्पष्ट है कि स्पिनोजा के मत में परमार्थ-चिन्तन सत्ता-विज्ञान से अधिक महत्त्वपूर्ण था। वह 'स्वान्तः सुखाय' या शान्ति पाने के लिए चिन्तन करता था। उसका चिन्तन नीरस नहीं था। उसका द्रव्य जिज्ञास्य है। मानव को बुद्धिशील होने के लिए अवश्यमेव ईश्वर से प्रेम करना है और ईश्वर से प्रेम करना बुद्धिशील होना है। यहाँ स्पिनोजा द्वारा ज्ञान और भक्ति की अभिन्नता का प्रतिपादन है।

४ द्रव्य और विकार की मीमांसा

स्पिनोजा की तत्त्व-मीमांसा में दो प्रकार की वस्तुएँ हैं, द्रव्य और विकार। "द्रव्य से मेरा अभिप्राय वह है जो अपने में रहता है और जो अपने द्वारा ही समझा जाता है। दूसरे शब्दों में द्रव्य वह है जिसको समझने में किसी अन्य वस्तु को समझने की आवश्यकता नहीं होती है, जिससे वह अवश्य बना हो।" विकार से मेरा अभिप्राय द्रव्य की विक्रियाएँ हैं या वह है जो दूसरी वस्तु में रहता है और उसके द्वारा समझा भी जाता है[1]।"

---

१. स्पिनोजा का दर्शन, संगमलाल पांडेय, पृ० ५४ में उद्‌धृत स्पिनोजा की दी हुई परिभाषाएँ।

विकार पराश्रित और परग्राह्य हैं। वे आपस में एक दूसरे पर निर्भर हैं। किन्तु आपस में निर्भर होने से उनके अस्तित्व सुप्रतिष्ठित नहीं हो सकते। यदि विकार आपस में ही अपने अस्तित्व और ज्ञान के लिए एक दूसरे पर आश्रित हैं तो इतरेतराश्रय-दोष और अनवस्था-दोष होते हैं।

इन दोषों से बचने के लिए मानना पड़ता है कि वे अन्ततः किसी ऐसी सत्ता पर आश्रित हैं जो स्वतन्त्र या आत्मनिष्ठ है। ऐसी सत्ता द्रव्य है। इस कारण विकार द्रव्य पर आश्रित है। उनका अस्तित्व द्रव्य पर निर्भर है। उनका ज्ञान द्रव्य के द्वारा होता है। विकार का अस्तित्व संभाव्य है और द्रव्य का अस्तित्व अनिवार्य है। द्रव्य का होना और द्रव्य का ज्ञान दोनों अभिन्न हैं। अर्थात् द्रव्य का तत्त्व (Essence) और द्रव्य का अस्तित्व (Existence) दोनों अभिन्न हैं। उसके तत्त्व में उसका अस्तित्व निहित है। किन्तु विकार का तत्त्व (Essence) और विकार का अस्तित्व (Existencc) परस्पर भिन्न हैं।

द्रव्य एक है और विकार अनेक हैं। द्रव्य कारण है और विकार कार्य हैं। द्रव्य असीम है और विकार ससीम हैं। द्रव्य नित्य है और विकार अनित्य हैं। द्रव्य सामान्य है और विकार विशेष हैं। द्रव्य उत्पत्ति और विनाश से परे है और विकार उत्पन्न और नष्ट होते हैं। द्रव्य व्यापक है और विकार व्याप्य हैं। द्रव्य आधार है और विकार आधेय हैं।

किन्तु विकारों से परे द्रव्य का अस्तित्व नहीं है। ऐसी स्थितियाँ नहीं हैं कि द्रव्य है और विकार नहीं हैं या विकार हैं और द्रव्य नहीं है। ऐसी दोनों स्थितियाँ असम्भव हैं। द्रव्य नित्य विकारवान् है। वह नित्य क्रियाशील, गतिशील या परिणामशील है। वह नित्य सृष्टि-अवस्था में है। सृष्टि के पूर्व और सृष्टि के पश्चात् की अवस्थाएँ अर्थात् सृष्टि के आरम्भ और प्रलय की अवस्थाएँ असम्भव हैं। परिणमनशीलता द्रव्य का स्वाभाविक लक्षण है। परिणमनशीलता के कारण द्रव्य से विकार तर्कतः उत्पन्न होते हैं, जैसे त्रिभुज की परिभाषा से त्रिभुज के अनेक गुण निकलते हैं। द्रव्य अपने को विकारों के माध्यम में नित्य परिवर्तन करता रहता है।

विकारों को दो दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है। एक उस रूप में जिसमें वे परिवर्तनशील हैं, उत्पन्न होते हैं, कुछ अवधि तक रहते हैं और अन्त में विलीन हो जाते हैं और दूसरे उस रूप में जिसमें वे ससीम वस्तु मात्र हैं। पहले रूप में विकार परिणमनशीलता या सृष्टि की सर्जनात्मक शक्ति से अनिवार्यतः सम्बन्धित हैं। इस रूप में उनको मूला प्रकृति (Natura Naturans) या सर्जक सृष्टि कहा जाता है। इस रूप में वे साक्षात् द्रव्य या प्रकृति ही हैं। फिर दूसरे रूप में उनको सृष्टि की

सर्जनात्मक शक्ति से अलग करके केवल ससीम वस्तु के रूप में लिया जाता है। इस रूप में समस्त विचारों को सृष्ट सृष्टि या तूला प्रकृति (Natura Naturata) कहते हैं। मूला प्रकृति परा प्रकृति है। वह साक्षात् द्रव्य या ईश्वर का स्वभाव है। तूला प्रकृति अपरा प्रकृति है। वह द्रव्य या ईश्वर का विकार है।

द्रव्य और विकारों को लेकर हेगल ने कहा है कि यद्यपि विकारों के विश्लेषण से पता चलता है कि उनका आधारभूत कारण द्रव्य है, तथापि द्रव्य से विकारों की उत्पत्ति दिखाना असम्भव है। वह कहता है कि "स्पिनोजा का ब्रह्म (ईश्वर या द्रव्य) उस सिंह की खोह है जिसकी ओर सभी पदचिह्न जाते हैं और जहाँ से कोई पद-चिह्न नहीं लौटते[1]।" यहाँ हेगल का अभिप्राय है कि विकारों से द्रव्य का अस्तित्व सिद्ध होता है, विकार द्रव्य की ओर हमें ले चलते हैं; किन्तु द्रव्य से विकार का अस्तित्व नहीं सिद्ध होता है अर्थात् द्रव्य हमें विकार की ओर नहीं ले चलता। दूसरे शब्दों में द्रव्य से विकारों की उत्पत्ति कैसे होती है? इसे स्पिनोजा नहीं दिखा पाता।

कुछ लोगों ने हेगल की इस आलोचना को सत्य मान लिया है[2]। किन्तु यह आलोचना स्पिनोजा के प्रमुख विचार पर ही आघात करती है। किन्तु यह सही नहीं हो सकती, क्योंकि स्पिनोजा का द्रव्य स्वभावतः क्रियाशील है। वह अपने कार्यों की उत्पत्ति का पूरा विधान करता है। हेगल की आलोचना से सिद्ध होता है कि स्पिनोजा का द्रव्य या ईश्वर निष्क्रिय, अचल, स्थिर या कूटस्थ है। किन्तु ईश्वर को ऐसा समझना उसके सर्वान्तर होने, सर्वगत होने या सर्जक सृष्टि होने के प्रतिकूल है। अतः उसका ईश्वर या द्रव्य निष्क्रिय या कूटस्थ नहीं है। उससे स्वभावतः सभी विकार उत्पन्न होते हैं। जैसे विकार द्रव्य के अस्तित्व का संकेत करते हैं वैसे द्रव्य विकारों की उत्पत्ति को उपपन्न करता है।

---

१. यहाँ एक बुड्ढे शेर की कहानी का हवाला है। एक बुड्ढा शेर शिकार करने में असमर्थ था। वह एक माला लेकर अपनी खोह में बैठ गया। इस रूप में उसे देखकर जंगल के सभी जानवरों ने समझा कि शेर ने अब हिंसा छोड़ दी और भक्ति अपना ली है। वे उसके पास जाने लगे। किन्तु जो जानवर उसके पास गये वे सभी उसके शिकार बन गये। उसकी खोह को ओर जाने वाले जानवरों के पदचिह्न बने थे, किन्तु वहाँ से लौटने वाले जानवरों के पद-चिह्न नहीं बने थे, क्योंकि कोई जानवर लौटा ही नहीं था।

२. देखिए श्रीराम माधव चिंगले कृत स्पिनोजा और उसका दर्शन, पृ० ६२।

वस्तुतः द्रव्य और विकार के सम्बन्ध को केवल कारण और कार्य का सम्बन्ध न मानना चाहिए। प्रत्येक विकार में द्रव्य पूर्ण रूप से रहता है। कारण और कार्य दो वस्तुएँ हैं, जो एक दूसरे से पृथक् हैं। किन्तु द्रव्य और विकार इस तरह एक दूसरे से पृथक नहीं है। दोनों में अलगाव नहीं हैं। मार्टिनो ने इसीलिए कहा है कि विकार द्रव्य की बानगी (Sample) है[1]। जैसे बानगी से सामग्री के स्वरूप का ज्ञान होता है, वैसे विकार के माध्यम से द्रव्य का ज्ञान होता है। द्रव्य के दो रूप हैं, समष्टिरूप और व्यष्टिरूप। व्यष्टिरूप में प्रत्येक विकार द्रव्य है। समष्टिरूप में सभी विकार मिलकर द्रव्य हैं। व्यष्टि और समष्टि की एकता है, क्योंकि दोनों में वास्तविकता द्रव्य की ही है। इस तरह अद्वैत वेदान्त की तरह स्पिनोजा ने भी व्यष्टि और समष्टि की एकता का प्रतिपादन किया। प्रत्येक विकार की वास्तविक सत्ता द्रव्य की सत्ता है।

अब प्रश्न उठता है कि यदि प्रत्येक विकार वस्तुतः द्रव्य है और विकार अनेक हैं, तो क्या द्रव्य अनेक नहीं हो जाता। इस प्रश्न के उत्तर में जान केयर्ड ने कहा है कि सचमुच अन्ततोगत्वा स्पिनोजावाद अनेकतावाद में बदल जाता है। स्पिनोजावाद की इति उसके अथ (आरम्भ) के ठीक विपरीत है[2]। उसका आरम्भ द्रव्य के अद्वैतवाद या एकत्ववाद से होता है। उसकी इति विकारों की अनेकता से होती है जो वस्तुतः उसके द्रव्य को भी अनेक सिद्ध करती है।

किन्तु स्पिनोजा को इस तरह विरोधग्रस्त मानने में कोई हेतु नहीं है। अनित्य दृष्टि से (Sub Specie Temporis) विकार विकार हैं, वे द्रव्य नहीं हैं। नित्य दृष्टि से (Sub Specie Aeternitatis) प्रत्येक विकार द्रव्य है, वह विकार नहीं है। नित्य दृष्टि से देखने पर केवल एक और अद्वितीय द्रव्य दिखाई पड़ता है। अनित्य दृष्टि से देखने पर उसके स्थान पर अनेक विकार दिखाई पड़ते हैं। ऐसा नहीं होता कि इनमें से किसी एक दृष्टि से द्रव्य की एकता और अनेकता दोनों देखी जायँ। अतः इन दोनों दृष्टियों से देखने से ज्ञात होता है कि स्पिनोजावाद के आरम्भ और इति में विरोध नहीं है। वहाँ द्रव्य की एकता और विकारों की अनेकता का प्रतिपादन है। यदि द्रव्य की एकता तथा अनेकता का प्रतिपादन होता, तो उसमें विरोध होता। किन्तु ऐसा नहीं है।

द्रव्य के सभी विकारों की विधा एक नहीं है। उनकी दो विधाएँ हैं। कुछ विकार

१. जे० मार्टिनो, ए स्टडी आव् स्पिनोजा।

२. स्पिनोजा का दर्शन, संगमलाल पाण्डेय, पृष्ठ १०७-१०८।

३. वही पृष्ठ १११-११२।

वैस्तारिक हैं और कुछ वैचारिक । विस्तार और विचार ये दो विकारों की विधाएँ हैं । स्पिनोजा इन्हें धर्म या गुण कहता है । इनके माध्यम से ही विकार द्रव्य से निकलते हैं । विचार और विस्तार से अव्यवहित अपरिमित विकार और व्यवहित अपरिमित विकार—इन दो विकार-समष्टियों का निगमन होता है । विचार की ये विकार-समष्टियाँ क्रमशः 'अनन्त और निरपेक्ष बुद्धि' तथा 'ईश्वरीय बुद्धि' हैं । विस्तार की ये विकार-समष्टियाँ क्रमशः गति विराम' तथा 'सम्पूर्ण विश्वमुख' हैं ।

वैचारिक विकार-समष्टियाँ अपने में परस्पर सम्बद्ध हैं । वैस्तारिक विकार-समष्टियाँ अपने में परस्पर सम्बद्ध हैं । वैचारिक विकार-समष्टि, 'ईश्वरीय बुद्धि,' से अनेक वृत्तियों का निगमन होता है । वैस्तारिक विकार-समष्टि, 'सम्पूर्ण विश्वमुख,' से अनेक वस्तुओं का निगमन होता है । वृत्तियों का अपना क्रम है जिसे वृत्ति-क्रम कह सकते हैं । वस्तुओं का अपना क्रम है जिसे हम वस्तु-क्रम कहते हैं । वस्तु-क्रम और वृत्ति-क्रम में एक-एक का सम्बन्ध है । प्रत्येक वस्तु के अनुरूप एक वृत्ति है और प्रत्येक वृत्ति के अनुरूप एक वस्तु है । जितनी वृत्तियाँ हैं उतनी वस्तुएँ हैं । जितनी वस्तुएँ हैं उतनी वृत्तियाँ हैं । दोनों के आविर्भाव का क्रम एक ही है । लेकिन वस्तु-क्रम और वृत्ति-क्रम या वस्तु-जगत् और वृत्ति-जगत् एक दूसरे से मिलते नहीं हैं । वे समानान्तर हैं । ऐसा इसलिए है कि उनकी विधाएँ ही अर्थात् विचार और विस्तार ही परस्पर निरपेक्ष और समानान्तर हैं । इसे समझने के लिए इन विधाओं को समझना होगा ।

५ गुण का स्वरूप

द्रव्य गुणी है । वह सगुण है । वह निर्गुण नहीं है । उसके अनेक गुण हैं । कुछ गुण उसके स्वभाव के लिए अनिवार्य हैं और कुछ आकस्मिक हैं । अनिवार्य गुणों को लक्षण, धर्म या गुण कहा जाता है । आकस्मिक गुणों को उपलक्षण या विकार कहा जाता है । यहाँ हम केवल अनिवार्य गुणों के लिए ही 'गुण' शब्द का प्रयोग करेंगे ।

गुण द्रव्य का आत्मभूत लक्षण है । वह साक्षात् द्रव्य ही है । द्रव्य होने के कारण वह स्वतन्त्र और स्वतोगृहीत है । गुण की परिभाषा स्पिनोजा ने इस प्रकार दी है—

"गुण से मेरा अभिप्राय वह है जिसको बुद्धि द्रव्य के विषय में देखती है मानों कि वह उसका सार या तत्त्व हो ।"

इस परिभाषा में गुण की दो विशेषताएँ बतायी गयी हैं । पहली, गुण वह है जिसको बुद्धि द्रव्य के विषय में देखती है । दूसरी, गुण वह है जो मानों द्रव्य का तत्त्व

हो। इन दो उपवाक्यों को लेकर गुण की दो प्रकार की व्याख्याएँ की गयी हैं। पहली व्याख्या प्रत्ययवादी है और दूसरी वस्तुवादी। प्रत्ययवादी व्याख्याकार हेगल, अर्डमन आदि कहते हैं कि गुण द्रव्य में वस्तुतः हैं नहीं, वे द्रव्य में केवल बुद्धि द्वारा देखे जाते हैं। इस व्याख्या के अनुसार गुण द्रव्य पर आरोपित या अध्यस्त किये जाते हैं। यह आरोप या अध्यास मानव-बुद्धि करती है। वस्तुवादी व्याख्याकार कुनो फिशर का कहना है कि गुण द्रव्य पर आरोपित नहीं हैं किन्तु द्रव्य के अन्तर्गत या घटक हैं। इस व्याख्या के अनुसार गुण वास्तविक हैं, काल्पनिक नहीं। स्पष्ट है कि ये दोनों व्याख्याएँ एकांगी हैं, क्योंकि इनमें गुण की परिभाषा के दोनों उपवाक्यों का उपयोग नहीं हैं। स्पिनोजा गुण की जो परिभाषा करता है वह इन दोनों से भिन्न है और दोनों का समन्वय करती है।

यह व्याख्या क्या है ? गुण के बारे में अनेक व्याख्याएँ प्रचलित हैं, जिन्हें विभिन्न व्याख्याकारों ने प्रस्तावित किया है[1]। इन व्याख्याकारों में हेनरी पोलक की व्याख्या स्पिनोजा के साथ अधिक न्याय करती है। उसका कहना है कि गुण द्रव्य का पहलू या पक्ष (Aspcct) है। द्रव्य के अनेक पहलू हैं। प्रत्येक पहलू में उसकी पूर्णता विद्यमान है। द्रव्य स्वयंप्रकाश है और वह अपना प्रकाशन पूर्णतः प्रत्येक पहलू या गुण में करता है। पहलू के प्रत्यय में दृष्टि-भेद और वास्तविकता-भेद दोनों आ जाते हैं। यद्यपि द्रव्य के अनेक पहलू या गुण हैं, तथापि मानव-बुद्धि केवल दो को ही जानती है या जान सकती है। ये दो गुण हैं विचार (Thought) और विस्तार (Extension)। एक दृष्टि से द्रव्य विचार है तो दूसरी दृष्टि से वह विस्तार है। जैसे एक ही शीशा एक दृष्टि से नतोदर है और दूसरी दृष्टि से उन्नतोदर, वैसे एक ही द्रव्य एक दृष्टि से विचार है और दूसरी दृष्टि से विस्तार। किन्तु यहाँ मात्र-दृष्टि-भेद नहीं है। विचार और विस्तार मात्र दृष्टि में नहीं हैं। वे द्रव्य में भी हैं। इन दो बातों को पहलू शब्द भलीभाँति स्पष्ट करता है। इस कारण यह गुण की उचित व्याख्या करता है।

गुण के स्वरूप को निश्चित करते हुए प्रो० जोखिम ने चार बातें कही हैं जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं[2]—

(क) जो है, प्रत्येक गुण उसका वास्तविक लक्षण है।

(ख) प्रत्येक गुण सत् द्रव्य का परम लक्षण है।

---

१. इन व्याख्याओं के लिए देखिए : स्पिनोजा का दर्शन, संगमलाल पाण्डेय अध्याय ४।

२. वही पृष्ठ ७५ में उदवृत।

(ग) प्रत्येक गुण में वह समस्त लक्षण शामिल है जिसकी वह अभिव्यक्ति करता है।

(घ) प्रत्येक गुण का द्रव्य के साथ सहक्षेत्र है, अर्थात् अपने प्रत्येक गुण में द्रव्य अखिल और अखण्ड रूप में मौजूद है, यद्यपि वह प्रत्येक में विभिन्न है।

गुणों की संख्या के बारे में स्पिनोजावाद स्पष्ट नहीं है। गुण अनेक हैं, किन्तु मानव बुद्धि केवल विचार और विस्तार इन्हीं दो गुणों को जान सकती है। किसी समय स्पिनोजा मानता था कि भविष्य में मानव अन्य गुणों को भी जान सकता है। किन्तु बाद को उसने इस वाद को छोड़ दिया। वह गुणों की अनेकता का प्रतिपादन करते हुए कैसे गुणों की संख्या दो बताता है? इस प्रश्न का समाधान लियोन राथ ने अच्छी तरह से किया है। उसका कहना है कि स्पिनोजा विनम्रता, दीनता तथा मानव ज्ञान की अपूर्णता के कारण गुणों को अनेक मानता है। अनन्त गुणों का प्रत्यय तर्कतः केवल अनिवार्य अज्ञेयवाद और दीनता का परिचय देता है। किन्तु अनन्त गुणों को न जान सकने के कारण मानव की कोई क्षति नहीं होती। दो गुणों के बारे में जो उसका ज्ञान है उससे वह द्रव्य का सही और पूरा प्रत्यय कर सकता है। वास्तव में द्रव्य की पूरी अभिव्यक्ति प्रत्येक गुण में होती है। इस तरह सिद्धान्तः केवल एक ही गुण को जान लेने से द्रव्य का पूर्ण और अपरिशेष ज्ञान हो सकता है। किन्तु गुणों का आपसी सम्बन्ध क्या है, इसका ज्ञान बिना दो गुणों को जाने नहीं हो सकता। और जब तक यह ज्ञान न हो तब तक द्रव्य के स्वरूप का सही प्रत्यय करना कठिन है। किन्तु जैसे दो गुणों का आपसी सम्बन्ध है, जैसे उनका द्रव्य के साथ सम्बन्ध है, वैसे ही अन्य गुणों का भी आपसी और द्रव्य के साथ सम्बन्ध है। इस प्रकार दो गुणों के ज्ञान से ही मानव द्रव्य का सारा ज्ञान प्राप्त कर सकता है और उसे अन्य गुणों को समझने की आवश्यकता का अनुभव नहीं होता।

स्पिनोजा सर्वज्ञेयवाद और अज्ञेयवाद दोनों के मध्य का मार्ग अपनाता है। जब वह कहता है कि द्रव्य के दो ही गुण हैं और मानव उनको जान सकता है या जानता है तब वह सर्वज्ञेयवादी हो जाता है। पुनश्च जब वह कहता है कि द्रव्य के अनेक गुण हैं जिनमें से मानव केवल दो को जान सकता है और अन्य गुणों को न जानने से मानव द्रव्य का पूर्ण प्रत्यय नहीं कर सकता तब वह अज्ञेयवादी हो जाता है। किन्तु उसने इन दोनों वादों को एकांगी समझा। मनुष्य द्रव्य को विनम्रतापूर्वक जान सकता है।

द्रव्य की एकता, गुणों की अनेकता और द्रव्य-गुण की एकता स्पिनोजावाद के तीन महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त हैं। इन तीनों को मिलाकर देखने से स्पिनोजावाद असंगत प्रतीत होता है, क्योंकि यदि द्रव्य एक है और यदि द्रव्य तथा गुण एक ही हैं तो गुण अनेक नहीं हो सकते। द्रव्य की एकता और द्रव्य-स्वरूप गुण की अनेकता

में असामञ्जस्य प्रतीत होता है। किन्तु स्पिनोजावाद को समझ लेने पर यह असामञ्जस्य नहीं रह जाता। द्रव्य के पहलू अनेक हैं और प्रत्येक पहलू में द्रव्य पूरी तौर से मौजूद है। इस तथ्य को समझ लेने के द्रव्य और गुण के विरोधाभास या विरोध दूर हो जाते हैं। क्योंकि एक ही द्रव्य का पूर्ण प्रकाशन स्वतन्त्र रीति से और समान-रीति से प्रत्येक गुण में होता है, इसलिये गुणों की अनेकता या विवधता के कारण द्रव्य की एकता में दोष नहीं आता। या द्रव्य की एकता के कारण गुणों की विविधता में कमी नहीं पड़ती। जैसे एक ही वस्तु 'पानी' को विभिन्न भाषाओं में विभिन्न शब्दों से व्यक्त करने से पूरे पानी की विविधता नहीं सिद्ध होती, वैसे गुणों की विविधता से द्रव्य की विविधता नहीं सिद्ध होती है।

६ विचार और विस्तार

विचार और विस्तार द्रव्य के गुण हैं। दोनों एक दूसरे के समानान्तर है। यही दोनों का सम्बन्ध है। दोनों का घात-प्रतिघात नहीं होता। प्रत्येक की दुनिया अपनी है। विचार का अर्थ चेतना या ज्ञान है। विस्तार का अर्थ देश या आकाश है। दोनों नित्य, अनन्त, अखिल, अखण्ड, निष्कल (भागहीन) तथा स्वतन्त्र हैं।

शून्यता कहीं नहीं है। सर्वत्र देश या विस्तार है। अत्यन्त अभाव असम्भव है। देश सर्वत्र एकरस और अखण्ड है।

इसी प्रकार विचार या चेतना भी सर्वव्यापी और अखण्ड है। जैसे विस्तार जगत् में कहीं अत्यन्त अभाव नहीं है, वैसे विचार-जगत् में आत्यन्तिक अज्ञान या ज्ञानाभाव नहीं है। अभाव अन्योन्याभाव के रूप में या प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव के रूप में हैं। जैसे, कोई वस्तु मेज है। मेज का कुर्सी में अभाव है और कुर्सी का मेज में अभाव है। यह अन्योन्याभाव है। फिर मेज की उत्पत्ति के पहले मेज नहीं थी। यह उसका प्रागभाव है। मेज के विनाश के बाद मेज नहीं रहती। यह उसका प्रध्वंसाभाव है। किन्तु मेज के अस्तित्व का अत्यन्ताभाव नहीं है। उसका अस्तित्व सदा एकरूप रहता है। केवल उसका सीमित रूप बदलता रहता है। मेज के वास्तव में दो रूप हैं। एक उसका अस्तित्व है जो अपने आप एकरूप रहता है। दूसरा उसका वह रूप है जिसे हम मेज कहते हैं, जो अन्य वस्तुओं से निर्धारित तथा भिन्न है और जिसके आविर्भाव, संरक्षण तथा विनाश देखे जाते हैं। दूसरा रूप पहले रूप का ही संस्थान मात्र है। पहला रूप मात्र अस्तित्व है। उस रूप में मेज नित्य है और साक्षात विस्तार या द्रव्य है। उसका कभी अभाव नहीं होता। व्यक्ति-रूप मेज के पहले भी वह किसी रूप में था और उसके नष्ट होने पर भी वह किसी रूप में रहता है।

साधारण जन विस्तार को जड़ समझते हैं। किन्तु विचार ज्ञाता है और विस्तार ज्ञेय है। ज्ञाता और ज्ञेय दोनों सापेक्ष पद हैं। दोनों को एक दूसरे की अपेक्षा है। दोनों का सम्बन्ध ज्ञान-सम्बन्ध है। ज्ञान अपने एक सम्बन्धी को चेतन और दूसरे को अचेतन नहीं बना सकता। जैसे ज्ञान-सम्बन्ध में रहने के कारण विचार-जगत चेतन है वैसे उसी सम्बन्ध में रहने के कारण विस्तार-जगत् भी चेतन है। दोनों की चेतना दो प्रकार की है। विचार-जगत ज्ञाता है और विस्तार-जगत् ज्ञेय है यानी उसमें ज्ञात होने की योग्यता है। इस योग्यता के कारण विस्तार-जगत् को ज्ञान-शून्य, जड़ पदार्थ समझना भूल है।

फिर भी ज्ञाता और ज्ञेय का भेद है। दोनों को हम चेतना और अचेतना के दो टुकड़ों में नहीं बाँट सकते और न हम दोनों को एक ही कर सकते हैं। ज्ञाता ज्ञेय नहीं हो सकता और ज्ञेय ज्ञाता नहीं हो सकता।

विचार-जगत् के व्यक्तिगत तथ्यों को वृत्ति, विज्ञान या प्रत्यय (Idea) कहा जाता है, और विस्तार-जगत के व्यक्तिगत तथ्यों को वस्तु (Thing) कहा जाता है। वृत्तियों की अपनी दुनिया है और वस्तुओं की अपनी दुनिया है। किन्तु फिर भी दोनों में एक द्रव्य की क्रमिक अभिव्यक्ति होने के कारण दोनों के व्यक्तिगत तथ्य एक ही हैं। वृत्ति वस्तु है और वस्तु वृत्ति है। जो तथ्य विचार-जगत् में वृत्ति है वही तथ्य विस्तार-जगत् में वस्तु है। जो तथ्य विस्तार-जगत् में वस्तु है वही तथ्य विचार-जगत् में वृत्ति है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। एक मेज को लीजिए। यह मेज विस्तार-जगत् की एक वस्तु है। इसका प्रत्यय विचार-जगत् की एक वृत्ति है। 'मेज की वृत्ति' और 'मेज' वस्तु' दोनों वस्तुतः एक हैं, केवल उनकी भूमिकाओं में अन्तर है, क्योंकि एक की भूमिका विचार है और दूसरे की भूमिका विस्तार।

विचार के माध्यम से द्रव्य से वृत्तियाँ निकलती हैं और विस्तार के माध्यम से उसी द्रव्य से वस्तुएँ निकलती हैं। दोनों का निकलना निगमन है। यहाँ पर कुछ आलोचकों की आपत्ति है कि वृत्तियों का व्यक्तीकरण निगमन हो सकता है, लेकिन वस्तुओं का आविर्भाव कैसे निगमन हो सकता है? बात ठीक है। यद्यपि वृत्तियों का आविर्भाव वही है जो वस्तुओं का आविर्भाव है, तथापि गुण-भेद के कारण दोनों के रूप में भेद हो जाता है। यदि निगमन को हम वैचारिक जगत् का सम्बन्ध समझते हैं तो वह वैस्तारिक जगत् का सम्बन्ध उस रूप में नहीं हो सकता। कारण-कार्य का सम्बन्ध वैस्तारिक जगत् का वही सम्बन्ध है जो वैचारिक जगत् का निगमन सम्बन्ध है। इसलिए वस्तुओं को कारणता के द्वारा क्रमबद्ध किया जाता है, और वृत्तियों को निगमन या हेतुफल द्वारा। वस्तु-क्रम और वृत्ति-क्रम का आदि, मध्य

और अन्त एक ही हैं। दोनों का रूप एक ही है। अन्तर केवल यह है कि वस्तु-क्रम को हम वैस्तारिक रूप में लेते हैं और वृत्तिक्रम को वैचारिक रूप में। वैचारिक रूप में जो हेतु-फल की परम्परा है वही वैस्तारिक रूप में कारण-कार्य की परम्परा है।

स्पिनोजा ने विचार और विस्तार को समानान्तर तथा स्वतन्त्र कहकर एक ऐसा सिद्धान्त दिया है जो 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' सिद्धान्त की पूर्ण व्याख्या करता है। यदि हम विचार-जगत् को पिण्ड और विस्तार-जगत् को ब्रह्माण्ड समझ लें, तो यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे या यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे, यह सिद्धान्त विशुद्ध रूप में स्पिनोजावाद होगा। कहना नहीं होगा कि भारतीय दर्शन में योग-दर्शन का यह सिद्धान्त रहा है। योगियों ने अपने आध्यात्मिक जगत् में उन सभी वस्तुओं को देखा था जिन्हें साधारण जन बाहरी दुनिया में देखते हैं।

विस्तार और विचार दोनों समकक्ष हैं। इनमें से कोई बड़ा या छोटा और पहले या बाद का नहीं है। इस सिद्धान्त से स्पष्ट है कि स्पिनोजा न तो भौतिकवादी है और न अध्यात्मवादी। वह अध्यात्मवादी तब होता जब वह मात्र विचार को मानता या विचार को विस्तार से अधिक महत्त्व देता। वह भौतिकवादी तब होता, जब वह मात्र विस्तार को मानता या विस्तार को विचार से अधिक महत्त्व देता। दोनों को समकक्ष, समकालीन और समरूप मानने के कारण उसका सिद्धान्त अध्यात्मवाद और भौतिकवाद को समकक्ष महत्त्व देते हुए भी दोनों से ऊपर है।

इतना होने पर भी कुछ आलोचकों का कहना है कि मानव की परिस्थिति के कारण विचार विस्तार से अधिक व्यापक और विशाल है। गुण की परिभाषा विचार के सन्दर्भ में है। विचार और विस्तार के अतिरिक्त जो भी गुण हो सकते हैं उनका सम्बन्ध विचार से है, न कि विस्तार से। विचार में आत्मचिन्तन की शक्ति है और उसके समानान्तर विस्तार में ऐसी कोई शक्ति नहीं है। पुनः यदि विचार जगत् और विस्तार-जगत् दोनों परमार्थतः एक ही हैं तो लाघव न्याय से एक को ही मानना चाहिए। ऐसा करने पर विस्तार-जगत् को ही हटाना होगा और विचार-जगत् को रखना पड़ेगा, क्योंकि विचार-जगत् के होने या न होने का विचार-जगत् पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। द्रव्य को प्राप्त करने का जो प्रयास विचार-जगत् में देखा जाता है, वह विस्तार-जगत् में नहीं है। इन सब बातों से सिद्ध होता है कि स्पिनोजा के लिए विचार का महत्त्व विस्तार से अधिक था। विचार का स्थान उसके दर्शन के केन्द्र-विन्दु पर है। यदि ऐसा है तो निःसन्देह स्पिनोजा विज्ञानवादी, प्रत्ययवादी या आदर्शवादी है।

किन्तु स्पिनोजा ने विचार और विस्तार को तुल्य महत्त्व देने का प्रयास किया। यदि विचार विस्तार. गुण, द्रव्य आदि की अवधारणा करता है और विस्तार ऐसा नहीं करता, तो इससे विचार की विशिष्टता नहीं सिद्ध होती। यह तो विचार का व्यापार ही है। जैसे विचार का अपना व्यापार है, वैसे विस्तार का भी अपना व्यापार है। जब हम विचार को विस्तार से व्यापक विशाल, आदि बताते हैं तब हम विचार का वर्णन विस्तार के माध्यम से करने लगते हैं, क्योंकि व्यापकता विशालता आदि दैशिक या वैस्तारिक घटनाएँ हैं। विचार को वैस्तारिक नहीं बनाना चाहिए, जैसे विस्तार को वैचारिक नहीं बनाना चाहिए। इस कारण विचार को व्यापक, विशाल और केन्द्र-स्थानीय नहीं कहा जा सकता।

वास्तव में यह मानव की परिस्थिति के कारण है कि वह विचार की सीमाओं में अधिक उलझा रहता है और उनमें रह कर ही वह जगत् को समझना चाहता है। इस परिस्थिति के आधार पर कोई सर्वसामान्य सत्य नहीं स्थापित किया जा सकता।

कुछ लोग आज विचार को ही विस्तार का कार्य बताने लगे हैं। उनके मत से विचार की उत्पत्ति विस्तार-जगत् की ही एक घटना है। इस दृष्टि से देखा जाय तो स्पिनोजा भौतिकवादी लगेगा।

किन्तु प्रत्ययवाद और भौतिकवाद दोनों उसके सिद्धांत का अतिरंजन करते है। उसका सही सिद्धांत इन दोनों से भिन्न है। उसके सिद्धान्त के लिए आवश्यक है कि विचार और विस्तार को समकक्ष माना जाय। इसलिए विचार और विस्तार की समकक्षता स्पिोजावाद का मेरुदण्ड है।

७ तत्त्वमीमांसा का ढाँचा

अब हम स्पिनोजा की तत्त्वमीमांसा का ढाँचा खड़ा कर सकते हैं। यह ढाँचा निम्नलिखित प्रकार से होगा—

(१) द्रव्य = ईश्वर = मूल प्रकृति

	↓	↓
(२) गुण	विचार	विस्तार
	↓	↓
(३) अव्यवहित और अपरिमित विकार	अनन्त और निरपेक्ष बुद्धि	गतिविराम
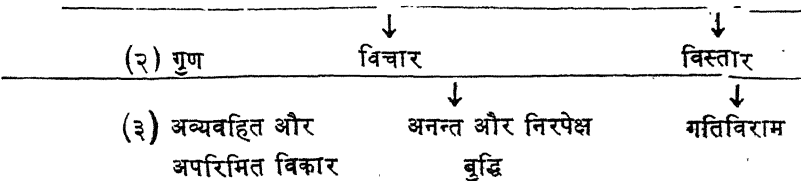
	↓	↓
(४) व्यवहित अपरिमित विकार	ईश्वरीय बुद्धि (सभी आत्माओं का समाज)	संपूर्ण विश्व-मुख
	↓	↓
(५) विशेष ससीम विकार	वृत्तियाँ	वस्तुएँ

(६) साधारण वस्तुओं का क्रम

इस ढाँचे में ६ स्तर हैं जो द्रव्य से साधारण वस्तुओं की उत्पत्ति या निगमन के क्रम के ६ सोपान हैं। पहला सोपान द्रव्य का है। दूसरा सोपान उससे अनिवार्यतः अभिन्न गुणों का है। तीसरा सोपान इन गुणों से साक्षात् आविर्भूत अपरिमित विकारों का है। चौथा सोपान इन साक्षात् अपरिमित विकारों से उन अपरिमित विकारों का है जिन्हें व्यवहित इसलिए कहा जाता है कि गुणों से उनका साक्षात् आविर्भाव नहीं होता पाँचवाँ सोपान इन व्यवहित और अपरिमित विकारों से आविर्भूत विशेष और ससीम विकारों का सोपान है। ये पाँचों सोपान बुद्धिगोचर हैं। इनका ज्ञान केवल बुद्धि से हो सकता है। अन्त में छठाँ सोपान साधारण वस्तुओं का है जिसका ज्ञान प्रत्यक्ष और कल्पना से होता है। जब हम विवेक से प्रत्यक्ष और कल्पना के विषयों पर सोचते हैं तब हम उनको पाँचवें सोपान के विकारों के रूप में पाते हैं। इस कारण तात्त्विक दृष्टि से छठें सोपान का अस्तित्व नहीं है। वह मिथ्या है। किन्तु प्रथम पाँच सोपानों का तार्किक रूप है और उनका तात्त्विक अस्तित्व है।

इस ढाँचे में तीर-सी लम्ब-रेखाएँ बताती हैं कि द्रव्य से दो सामानान्तर क्रम निकलते हैं। एक विचार-क्रम है और दूसरा विस्तार-क्रम। दोनों क्रम की समानान्तरता दोनों गुणों की समानान्तरता पर आधारित है।

इस ढाँचे की पड़ी रेखाएँ बताती हैं कि द्रव्य से लेकर साधारण वस्तुओं तक कितने प्रमुख सम्बन्ध और घटनाएँ है। ऐसी पाँच रेखाएँ हैं। पहली द्रव्य और गुण का सम्बन्ध, दूसरी गुण और अव्यवहित तथा अपरिमित विकारों का सम्बन्ध, तीसरी अव्यवहित-अपरिमित विकारों और व्यवहित-अपरिमित विकारों का सम्बन्ध, चौथी व्यवहित अपरिमित विकार तथा विशेष और ससीम विकारों का सम्बन्ध तथा पाँचवीं विशेष ससीम विकारों और साधारण वस्तुओं का सम्बन्ध बताती हैं। इस तरह कुल पाँच मौलिक सम्बन्ध हैं। द्रव्य-गुण का सम्बन्ध अभिन्नता और पहलू का सम्बन्ध है।

ण और अव्यवहित-अपरिमित विकारों का सम्बन्ध असीम से असीम के निगमन या र्गमन का सम्बन्ध है। अव्यवहित-अपरिमित विकार और व्यवहित-अपरिमित कार का सम्बन्ध असीम का उसके पूरे फैलाव से सम्बन्ध है। फिर व्यवहित-अपरि-मत विकार और विशेष-ससीम विकार का सम्बन्ध समष्टि-व्यष्टि का सम्बन्ध है, ह व्यक्तिकरण का सिद्धान्त है। अन्त में बुद्धिगम्य विशेष और साधारण वस्तुओं ा सम्बन्ध है जो काल्पनिक और अवास्तविक है।

८ मन और देह

मन और देह विकार हैं। मन वैचारिक विकार है और देह वैस्तारिक। ोनों विकार ईश्वर के परिणाम हैं, किन्तु अलग-अलग गुणों के माध्यम से एक ही श्वर के ये दो परिणाम दो दिशाओं में होते हैं।

मन और देह में पारस्परिक क्रिया नहीं होती। दोनों का संयोग नहीं होता। ोनों एक-दूसरे को प्रभावित नहीं करते। दोनों में कार्य-कारण का सम्बन्ध नहीं है। ोनों समानान्तर हैं। मन की अपनी दुनिया है। देह कीं अपनी दुनिया है। ये दोनों ुनिया समानान्तर हैं।

किन्तु फिर क्या मनुष्य की एकता बनी है? क्या मन और देह के दो मानान्तर विकार हो जाने से प्रत्येक मनुष्य दो समानान्तर तत्त्वों में नहीं बँट ाता? मनुष्य के मनोदैहिक रूप को हम कैसे एक कह सकते हैं?

इन प्रसंगों में स्पिनोजा का कथन है कि मन और देह में एक ही ईश्वर की भिव्यक्ति या परिणति है। इस कारण दोनों दो नहीं, किन्तु एक ही हैं। जिस तरह न विकार के माध्यम से ईश्वर का परिणाम होता है, उसी तरह देह विस्तार के ाध्यम से उसी प्रकार का ईश्वर-परिणाम होता है। मन के जितने पूर्ववर्ती और त्तरवर्ती प्रत्यय हैं, उतने ही पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती देह की वस्तुएँ हैं। प्रत्ययों का म वस्तुओं का क्रम है और वस्तुओं का क्रम प्रत्ययों का क्रम है। "प्रत्ययों का क्रम ौर सम्बन्ध वही है जो वस्तुओं का क्रम और सम्बन्ध है।" इस प्रकार मन यथार्थतः ह है। यही तात्त्विक दृष्टि है।

किन्तु चूँकि मन और देह में गुणों का अन्तर है और द्रव्य या ईश्वर की कर्ता है, इसलिए वे एक होते हुए भी दो हैं। मन देह का प्रत्यय या विचार है और ह मन का विस्तार है। दोनों संयोगी नहीं, किन्तु सहयोगी (Correlate) हैं।

जो बात मन में घटती है वही देह में घटती है। जो देह में घटता है वही न में घटता है। उदाहरण के लिए अगर मन में कहीं जाने का विचार उठता है तो ह में उसके समानान्तर गति की घटना होती है। देह में अगर कोई रोग होता है

तो मन में उसका विचार उठता है। इस तरह एक ही घटना मन और देह में घट रही हैं। इससे भ्रम उत्पन्न होता है कि मन का प्रभाव देह पर पड़ता है और देह का प्रभाव मन पर।

मन और देह का सम्बन्ध प्रत्यय (ज्ञान) और वस्तु (ज्ञेय) का सम्बन्ध है।

मनुष्य द्रव्य नहीं हैं। उसका मन द्रव्य नहीं है। उसका देह द्रव्य नहीं है। मन और विकार हैं। मनुष्य इन्हीं विकारों का पुञ्ज है। उसका मन ईश्वर की अनन्त बुद्धि का एक अंश है। उसका देह ईश्वर के विस्तार-गुण से आविर्भूत गति-विराम का अंश है। संक्षेप में मन विचार का विकार है और देह विस्तार का। मनुष्य इन दोनों से बना है।

किन्तु मन और देह का एक-दूसरे से विच्छेद नहीं हो सकता। स्पिनोजा कहता है कि मन अनिवार्यतः एक विशेष वस्तु का, जो यथार्थतः सत्य है, प्रत्यय है। आत्मा या मन सबसे पहले जिस वस्तु को जानता है वह देह है। देह-ज्ञान ही मन का तत्त्व है। इससे स्पष्ट है कि मन और देह का नित्य सम्बन्ध है। दोनों का सम्बन्ध अटूट है। ऐसा नहीं होता कि मन है और देह नहीं है या देह है और मन नहीं है। न तो देह के पूर्व मन नाम का कोई पदार्थ है और न देह के पश्चात मन नाम का कोई पदार्थ हो सकता है। आत्मा या मन विदेह नहीं हो सकता है। वह सदैव सदेह, देही या शारीरक है। फिर क्या मन अमर नहीं है? मन अविनाशी या अमर है। किन्तु देह भी अविनाशी या अमर है। मृत्यु में देह का नाश नहीं, किन्तु देह का परिवर्तन होता है। उसका रूप स्थूल से सूक्ष्म हो जाता है।

मन और देह का यह सम्बन्ध स्पिनोजावाद का एक अनोखा सिद्धान्त है। उसके अतिरिक्त मन और देह के अनिवार्य और अविनाशी सहयोग की बात कोई नहीं कहता।

६ नियतिवाद

स्पिनोजा नियतिवादी है। नियतिवाद का अर्थ है कि सृष्टि में प्रत्येक वस्तु पहले से नियत है। द्रव्य या ईश्वर से प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति अपने-आप अनिवार्यतः वैसे ही होती है जैसे त्रिभुज की परिभाषा से साबित होता है कि उसके तीनों कोणों का योग दो समकोण होता है। "प्रकृति में कोई वस्तु आकस्मिक नहीं है; किन्तु ईश्वरीय प्रकृति की अनिवार्यता से सभी वस्तुएँ अपने अस्तित्व और क्रिया में नियत है[1]"

१. नीतिशास्त्र खंड १ प्रमेय ०९।

ईश्वर वर्तमान जगत् के अतिरिक्त कोई दूसरा जगत् नहीं उत्पन्न कर सकता। उसके अन्दर दूसरे या अन्य प्रकार के जगत् को उत्पन्न करने की शक्ति या स्वतन्त्रता नहीं है। वह केवल वर्तमान जगत् को ही उत्पन्न कर सकता है क्योंकि यही उसके स्वभाव से अनिवार्यतः सिद्ध होता है।

वर्तमान जगत् यथार्थ है। यथार्थ जगत् को छोड़कर कोई एक या अनेक सम्भव जगत् नहीं हैं। वास्तव में 'सम्भव जगत्' तर्क से असंगत है। इसका प्रत्यय व्याघातक है। जगत् केवल एक है और वह वर्तमान ही है।

ईश्वर में स्वतन्त्रता नहीं है। वह अपने स्वभाव से विवश है। उसके सामने विकल्प नहीं है। उसके समक्ष केवल एक कल्प है। यह कल्प वर्तमान सृष्टि का कल्प है। "जिस ढंग और जिस क्रम से वस्तुएँ उत्पन्न हुई हैं उससे भिन्न ढंग और क्रम में वे पैदा नहीं हो सकती थी[1]।"

मनुष्य में भी इच्छा-स्वतन्त्रता नहीं है। उसके सभी कर्म पूर्व-नियत हैं। जो अपनी इच्छा को स्वतन्त्र समझते हैं, वे उन कारणों से अनभिज्ञ हैं जिनसे उनकी इच्छा अनिवार्यतः पैदा होती है। यदि वे उन कारणों को जान जायँ तो वे भी इच्छा-स्वातन्त्र्य को छोड़कर नियतिवाद मानने लगें। जब तक लोग किसी वस्तु के कारणों से अनभिज्ञ रहते हैं तब तक वे ईश्वरीय चमत्कार, संयोग, आकस्मिकता और यदृच्छा में अन्धविश्वास करते हैं। किन्तु जब वे उनको समझ जाते हैं तब उनका अन्ध-विश्वास दूर हो जाता है और वे उस वस्तु की पूरी वैज्ञानिक व्याख्या कर लेते हैं। विज्ञान ज्यों-ज्यों बढ़ रहा है त्यों-त्यों नियतिवाद स्पष्ट होता जा रहा है। नियतिवाद इस बात पर निर्भर है कि तर्क-बुद्धि किसी भी वस्तु की पूरी व्याख्या उसके ज्ञात या ज्ञेय कारणों द्वारा कर सकती है।

किन्तु सृष्टि और मनुष्य पर जो नियति राज्य करती है वह ईश्वर की कृति नहीं है, वह ईश्वर का साक्षात् रूप है। नियति के विना ईश्वर रह नहीं सकता। इस कारण नियति का आरम्भ अचिन्त्य है। उसका कोई पूर्ववर्ती या उत्तरवर्ती नहीं है। वह नित्य है।

अतः नियति प्रकृति या मनुष्य के स्वभाव में ईश्वर द्वारा स्थापित कोई कर्म या भाग्य नहीं है। यह सृष्टि की सर्जनात्मक शक्ति की अनिवार्यता है। स्पिनोजा के नियतिवाद और भारतीय दर्शन के कर्मवाद तथा भाग्यवाद में बहुत अन्तर है। स्पिनोजा का नियतिवाद यान्त्रिकतावाद है। सृष्टि करने में ईश्वर का कोई प्रयोजन नहीं है। सृष्टि ईश्वर की लीला नहीं, किन्तु ईश्वरीय स्वभाव है। किसी वस्तु का

---

१. वही खंड १, प्रमेय ३३।

प्रयोजन-कारण Final cause) नहीं होता है। उसका कारण द्विविध है। उसका एक कारण द्रव्य है और दूसरा कारण उसका कोई पूर्ववर्ती निमित्त कारण है जो एक विकार है। द्रव्य या ईश्वर प्रत्येक विकार या वस्तु का साक्षात् उपादान कारण है। एक विकार दूसरे विकार का निमित्त कारण है। इन दो कारणों को छोड़कर कोई अन्य कारण नहीं है।

सृष्टि की गति यन्त्रवत् है। वह अपने-आप चल रही है। वह अपने वेग, दिशा और परिणाम का अपने-आप निर्धारण करती है।

१० काल और नित्यता

स्पिनोजा नित्य दृष्टि (Sub Specie Aeternitatis) और अनित्य दृष्टि या काल-दृष्टि (Sub Specie Temporis) का विवेक करता है। वह इन दोनों दृष्टियों से द्रव्य का विवेचन करता है। अब प्रश्न उठता है कि नित्यता क्या है और काल क्या है?

स्पिनोजा काल के बारे में कहता है—काल वस्तुओं का परिणाम (विकार) नहीं है। वह केवल विकार का विकार है जो वर्तना (Duration) की व्याख्या के लिए है[1]।

वर्तना अस्तित्व का विकार (Mode) है। अस्तित्व कोई क्षण नहीं किन्तु सन्तान है। यही सन्तान वर्तना है। वर्तना अस्तित्व का अनिश्चित सन्तान या सततभाव (Continuation) है[2]।

काल वैस्तारिक नहीं है। जब हम विस्तार के दो विकारों के सतत-भाव या सातत्य की तुलना करते हैं, एक को अधिक स्थायी और दूसरे को कम स्थायी पाते हैं, तब हम क्षण (काल का क्रम) प्रकल्पित करते हैं और इन क्षणों के न्यूनाधिक्य के आधार पर कम स्थायी तथा अधिक स्थायी का निर्णय करते हैं। ये क्षण विचार के विकार हैं। क्षणों का तारतम्य सत् है। किन्तु इस तारतम्य में कितने क्षण रहते हैं, यह नहीं कहा जा सकता। ऐसा तारतम्य वर्तना है। इस तारतम्य के विश्लेषण द्वारा क्षणों की कल्पना की जाती है। क्षण-रूप में काल केवल कल्पना है।

वर्तना वास्तविक या वैस्तारिक है। किसी वैस्तारिक विकार का अनिश्चित सतत-भाव है। वह अनिश्चित इसलिए है कि उसका भाव (होना) कितनी देर तक रहता है, इसका निर्धारण उसके द्वारा नहीं हो सकता। वर्तना बेहद और बेनाप है। वह अनिर्धारित है।

---

१. कोजिटाटा मेजाफिजिका १।४।
२. नीतिशास्त्र खण्ड २ परिभाषा ५।

वस्तुतः वर्तना को क्षणों का तारतम्य नहीं समझना चाहिए। क्षणों के तारतम्य की दृष्टि से वर्तना कभी लम्बी अवधि हो जाती है तो कभी क्षण-स्थायी अवधि। वर्तना का अनुभव क्षणों की कल्पना के पहले होता है। उस अनुभव के विश्लेषण द्वारा क्षणों की कल्पना की जाती है।

नित्यता अनन्त काल या अनादि काल नहीं है। नित्यता न तो वर्तना से सम्बन्धित है और न काल से। नित्यता एक गुण है जिसके द्वारा ईश्वर के असीम अस्तित्व का प्रत्यय किया जाता है। नित्यता केवल द्रव्य के अस्तित्व से सम्बन्धित है। केवल द्रव्य नित्य है। जो तत्त्व स्वयंसिद्ध है या जिसका अस्तित्व अनिवार्यतः स्वयंसिद्ध होता है केवल वही तत्त्व नित्य होता है। स्पिनोजा का ईश्वर या द्रव्य ऐसा तत्त्व है। अतः वह नित्य है।

नित्यता की इस परिभाषा से स्पष्ट है कि इसका सम्बन्ध काल या वर्तना से नहीं है।

सृष्ट सृष्टि (Natura Naturata) को नित्य कहना गलत है। वह अनादि और अनन्त कही जा सकती है। किन्तु वह नित्य नहीं कही जा सकती। इसके विपरीत सर्जक सृष्टि (Natura Naturans) को नित्य कहना चाहिए। नित्यता से अनादिता, और अनन्तकालता सिद्ध होती हैं। किन्तु वह अनादिता और अनन्तकालता के अतिरिक्त भी कुछ है। वह स्वकारणता है या अस्तित्व की अभिन्नता है या अनिवार्य अस्तित्व है।

११ ज्ञानमीमांसा

डेकार्ट ने अपने दर्शन का आरम्भ ज्ञान के विवेचन से किया था। उसने आरम्भ में ज्ञान-मीमांसा को तत्त्व-मीमांसा से अधिक महत्त्व दिया। उसकी तत्त्व-मीमांसा उसकी ज्ञान-मीमांसा से निकली है। किन्तु फिर भी उसने तत्त्व-मीमांसा का अन्तर्भाव ज्ञान-मीमांसा में नहीं किया। उसके पूर्व ज्ञान-मीमांसा का अन्तर्भाव तत्त्व-मीमांसा में था। उसके बाद कांट ने तत्त्व-मीमांसा का निराकरण ही कर दिया और केवल ज्ञान-मीमांसा को ही दर्शनशास्त्र बताया। किन्तु डेकार्ट के दर्शन में तत्त्व-मीमांसा और ज्ञान-मीमांमा का निश्चित सम्बन्ध निखरा नहीं है।

स्पिनोजा विशुद्ध तत्त्व-मीमांसक है। उसकी तत्त्व-मीमांसा के अन्दर ही ज्ञान-मीमांसा है। इस दृष्टि से वह प्राचीन तथा मध्ययुगीन दार्शनिक की तरह है।

विचार द्रव्य या ईश्वर का एक गुण है। विचार के विकार के रूप में अनेक प्रत्यय या वृत्तियाँ प्रकट होती हैं। विचार की मीमांसा ज्ञान-मीमासा है। द्रव्य का दूसरा गुण विस्तार है। विस्तार की मीमांसा भौतिक विज्ञान है। ज्ञान-मीमांसा और

भौतिक विज्ञान दोनों एक दूसरे के समकक्ष और स्वतन्त्र विज्ञान हैं और दोनो द्रव्य विज्ञान या दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत हैं। ज्ञान-मीमांसा तत्त्व-मीमांसा का स्थान नहीं ले सकती।

मानव-मन ईश्वर का एक विशेष विकार या परिणाम है। स्पिनोजा के शब्दों में वह ईश्वर की अनन्त बुद्धि का अंश है। मानव देह की जितनी दशाएँ हैं उतने ही प्रत्ययों से मानव-मन की रचना होती है।

यहाँ पर एक प्रश्न विचारणीय है—क्या मानव मन आध्यात्मिक द्रव्य है जैसा कि डेकार्ट ने माना था? इसके उत्तर में स्पिनोजा का कहना है कि मानव मन आध्यात्मिक द्रव्य नहीं है। प्रत्यय और प्रत्यक् अथवा दर्शन और द्रष्टा का भेद स्पिनोजावाद में नहीं है। प्रत्यय प्रत्यक है या दर्शन द्रष्टा है। द्रष्टा या प्रत्यय का ज्ञाता अनेक दर्शनों, प्रत्ययों या ज्ञानों (वृत्तियों) का संघटन है।

किन्तु प्रत्ययों का प्रकटीकरण स्वाभाविक है। जिस रूप में प्रत्ययों का स्वाभाविक प्रकटीकरण होता है उस रूप में मानव मन साक्षात् द्रव्य या ईश्वर है। जैसे विस्तार जगत् में प्रत्येक वस्तु मूलतः द्रव्य है, वैसे विचार जगत् में भी प्रत्येक प्रत्यय मूलत द्रव्य है। किन्तु इस रूप में कोई विशेष मन या प्रत्यय नहीं है। इस रूप में एक सामान्य मन या प्रत्यय है, जिसे विचार या द्रव्य का गुण कहा जाता है और ऊपर द्रव्य और गुण का सम्बन्ध स्पष्ट ही कर दिया गया है कि गुण परमार्थतः द्रव्य ही है। इस दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि स्पिनोजा एक ही आत्मा या परमात्मा को मानता है और आत्मा तथा उसके ज्ञान में भेद नहीं करता है अर्थात् वह ज्ञाता और ज्ञान के भेद को नहीं मानता है।

वह ज्ञान की शक्तियों में भी भेद नहीं करता है। ज्ञान एक और अखण्ड है। इच्छा और ज्ञान ये दो विभिन्न शक्तियाँ नहीं हैं। प्रत्येक ज्ञान में ज्ञान और इच्छा दोनों का योगदान है। ज्ञान और इच्छा अभिन्न हैं; सोचना निर्णय करना हैं और निर्णय करना स्वीकार करना है। इस प्रकार सोचना एक क्रिया है जिसमें जानना और इच्छा करना दोनों मिले हैं।

मानव मन देह की दशाओं के ज्ञान से बनता है। उसका विकास देह के विकास के साथ होता है। मानव मन का विकास और उसके देह का विकास एक दूसरे का निर्धारण करने हैं।

मानव-मन के विकास के तीन मुख्य स्तर हैं—

(क) अज्ञान और दासता का स्तर।

(ख) ज्ञान और स्वतन्त्रता का स्तर।

(ग) दर्शन और ईश्वर से बौद्धिक प्रेम का स्तर।

यहाँ प्रत्येक स्तर में ज्ञान और इच्छा की सम्मिलित क्रिया होती है। केवल ज्ञान के सन्दर्भ में ये तीन स्तर क्रमशः अज्ञान या कल्पना, बौद्धिक ज्ञान या बुद्धि और दर्शन या प्रातिभ ज्ञान के स्तर हैं। कल्पना के स्तर पर मनुष्य अपनी वृत्तियों का दास रहता है। इस कारण इसे दासता का भी स्तर कहा जाता है। फिर बौद्धिक ज्ञान के स्तर पर मनुष्य अपनी वृत्तियों से स्वतन्त्र रहता है और उन पर अपना नियन्त्रण रखता है, इस कारण इस स्तर को स्वतन्त्रता का स्तर कहा जाता है। अन्त में तीसरे स्तर पर मनुष्य ईश्वर से बौद्धिक प्रेम करता है। वह केवल ईश्वर-दर्शन ही नहीं करता है वरन् ईश्वर से बौद्धिक प्रेम भी करता है। यह दर्शन और बौद्धिक प्रेम दोनों की अवस्था है।

अब हम क्रमशः इन स्तरों का वर्णन करेंगे। हम इन्हें ज्ञान के तीन प्रकार कहेंगे। इनको हम क्रमशः कल्पना, बौद्धिक ज्ञान और प्रातिभ ज्ञान कहेंगे।

१२ ज्ञान का पहला प्रकार : कल्पना

ज्ञान का पहला प्रकार द्विविध है। इसकी पहली विधा के अन्दर निम्नलिखित ज्ञान आते हैं—

(क) इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से उत्पन्न ज्ञान।

(ख) अनुभव से उत्पन्न ज्ञान।

(ग) अस्पष्ट अनुभव (Experimenta Vaga) से उत्पन्न ज्ञान।

रंग, आकार, ध्वनि, शैत्य, उष्णता, आदि का ज्ञान इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से होता है। चक्षु, श्रवण, घ्राण, रसना और स्पर्शेन्द्रिय से जो ज्ञान होता है वह इन्द्रिय-प्रत्यक्ष है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से स्मृति उत्पन्न होती है, स्मृतियों के बार-बार होने से अनुभव पैदा होता है। अनुभव से हम जानते हैं कि किसी साध्य को प्राप्त करने के लिए किस साधन का उपयोग करना चाहिए। उदाहरण के लिए हम अनुभव से जानते हैं कि नीबू का चूसना शरद ऋतु में स्वास्थ्यवर्धक है। फिर अस्पष्ट अनुभव से स्पिनोजा का तात्पर्य कारण-कार्य का ज्ञान है। वह कहता है कि "मैं अस्पष्ट अनुभव से जानता हूँ कि तेल अग्नि की उचित खूराक है और पानी उसे बुझाने में पर्याप्त है।"

ज्ञान के पहले प्रकार की दूसरी विधा परम्परा है। इसके अन्दर निम्नलिखित ज्ञान आते हैं—

(क) जनश्रुति से प्राप्त ज्ञान।

(ख) श्रुत ज्ञान।

(ग) कुछ संकेत से प्राप्त ज्ञान।

(घ) संकेतों से प्राप्त ज्ञान।

जनश्रुति, किंवदंती लोक-प्रवाद, लोकोक्ति, लोक-गाथा, कहावत और परम्परा से प्राप्त ज्ञान को स्पिनोजा श्रुत ज्ञान कहता है। संकेत-ज्ञान शब्द-ज्ञान है। बोलचालके शब्द संकेत हैं। लोक-व्यवहार में मनुष्य जिस शब्दावली या भाषा का प्रयोग करते हैं, वह वस्तुओं को संकेतित करती है। स्पिनोजा के अनुसार शब्द कल्पना की वस्तुओं के संकेत हैं। इसलिए वह जनश्रुति तथा संकेत के माध्यम से प्राप्त ज्ञान को कल्पना के अन्दर रखता है। अपनी रचनाओं में कहीं-कहीं वह जनश्रुति और संकेत से प्राप्त ज्ञान को एक अन्य प्रकार का ज्ञान भी कहता है। किन्तु अपने ग्रंथ **'नीतिशास्त्र'** में वह इसको कल्पना के अन्दर ही रखता है।

कल्पना को ही वह विश्वास (Belief) या मत (Opinion) कहता है।

१३ ज्ञान का दूसरा प्रकार : बौद्धिक ज्ञान

बौद्धिक ज्ञान के अन्दर निम्नलिखित ज्ञान आते हैं :—

(क) मूल प्रत्ययों (Simple Ideas) का ज्ञान।

(ख) सामान्य तत्त्वों (Gommon Notions) का ज्ञान।

(ग) निगमन।

मूल प्रत्यय मूल विषय (या बस्तु) का प्रत्यय है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से वस्तुओं का प्रतिबिम्ब प्राप्त होता है, बुद्धि से उनका प्रत्यय होता है। प्रतिविम्ब कल्पना है और काल के माध्यम से (Sub Specie Temporis) प्राप्त होता है। प्रत्यय बौद्धिक ज्ञान है और नित्यता के माध्यम से (Sub Specie Aeternitatis) प्राप्त होता है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तथा बुद्धि से जिन बिषयों का ज्ञान होता है वे एक ही हैं। किन्तु इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से उनके अनित्य या चल रूप का ज्ञान होता है और बुद्धि से उनके नित्य या अचल रूप का ज्ञान होता है। सामान्य तत्त्व सामान्य (Universals) से भिन्न हैं। सामान्य, जैसे मानव, अश्व, श्वान आदि कल्पना और स्मृति से उत्पन्न होते हैं। इसके विपरीत सामान्य तत्त्व बुद्धि से प्राप्त होते हैं। सामान्य सर्वगत प्रत्यय नहीं हैं। वे सर्वगत प्रत्यय के प्रतिबिम्ब हैं। सामान्य व्यक्ति-विशेष की निजी कल्पना है। इसके विपरीत सामान्य तत्त्व सर्वगत प्रत्यय है। वह सभी मनुष्यों द्वारा एक ही प्रकार से प्राप्त किया जाता है।

सामान्य तत्त्व स्वयंसिद्धियाँ (Axioms) हैं। वे साक्षात् या अपरोक्षतया ज्ञात होते हैं। वे तर्कवाक्यों की मूल प्रतिज्ञा हैं।

मूल प्रत्ययों और सामान्य तत्त्वों के ज्ञान से निगमन होता है। निगमन दो प्रकार का होता है :—

(क) कार्य से कारण का निगमन करना।

(ख) तर्क-वाक्यों से निष्कर्ष का निगमन करना।

निगलन परोक्ष ज्ञान है। वह हेतु के माध्यम से पक्ष तथा साध्य का ज्ञान है।

बौद्धिक ज्ञान को स्पिनोजा सत्य विश्वास (True Belief) या बुद्धि (Ratio or Reason) कहता है। इसे वह सार्वभौमिक ज्ञान कहता है।

१४ ज्ञान का तीसरा प्रकार : प्रातिभ ज्ञान

ज्ञान का तीसरा प्रकार प्रातिभ ज्ञान (Scientia intuitiva) है। इसके अन्दर निम्नलिखित ज्ञान आते हैं :—

(क) किसी सृष्ट वस्तु की परिभाषा से प्राप्त ज्ञान और

(ख) असृष्ट वस्तु, उदाहरणार्थ, ईश्वर के प्रत्यय की परिभाषा से प्राप्त ज्ञान।

प्रातिभ ज्ञान किसी परिभाषा का स्पष्टीकरण है। उस परिभाषा में जो निहित रहता है उसी को वह अभिव्यक्त करता है। इसके विपरीत बौद्धिक ज्ञान सार्वभौम स्वयं-सिद्धियों या सामान्य तत्त्वों से निष्कर्ष निकालना है। बौद्धिक ज्ञान इस अर्थ में व्यवहित या परोक्ष ज्ञान है और प्रातिभ ज्ञान अव्यवहित या अपरोक्ष। प्रातिभ ज्ञान से विशेष विषयों का ज्ञान होता है; बौद्धिक ज्ञान से सामान्य प्रत्ययों या सामान्य का ज्ञान होता है।

प्रातिभ ज्ञान की चार विशेषताएँ हैं। पहली, वह ईश्वर के कुछ गुणों के तत्त्व का ज्ञान है अथवा ईश्वर के अनन्त और नित्य तत्त्व का ज्ञान है। दूसरी, प्रातिभ ज्ञान तब होता है जब कोई वस्तु केवल अपने तत्त्व-रूप से या तथता द्वारा देखी जाती है। तीसरी, जब कोई वस्तु अपने आसन्न कारण के माध्यम से देखी जाती है तब यह ज्ञान उत्पन्न होता है। चौथी, प्रातिभ ज्ञान स्पष्ट और विविध अवधारणा (Conception) का प्रतिफल है।

प्रातिभ ज्ञान की तीसरी विशेषता के अनुसार यह ईश्वर के माध्यम से जो सभी वस्तुओं का आसन्न कारण है, किसी स्पष्ट वस्तु का ज्ञान है। फिर पहली, दूसरी और चौथी विशेषता के अनुसार यह ईश्वर तथा उसके गुणों का ज्ञान है।

स्पिनोजा प्रातिभ ज्ञान को ज्ञान या स्पष्ट ज्ञान भी कहता है। इसका लेशमात्र भी इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से सम्बन्ध नहीं है। बौद्धिक ज्ञान का मूल इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में ढूंढा जा सकता है, किन्तु प्रातिभ ज्ञान का मूल वहाँ नहीं है। यह स्वतः बुद्धि में ही उत्पन्न होता है, क्योंकि मनुष्य की बुद्धि ईश्वर की अनन्त बुद्धि का अंश है। "जहाँ तक हमारी बुद्धि वस्तुओं को सत्यतः देखती है वहाँ तक वह ईश्वर की अनन्त बुद्धि का अंश है[1]"

१. नीतिशास्त्र खंड २, उपप्रमेय—प्रमेय ११।

प्रातिभ ज्ञान बुद्धि का ही स्वाभाविक स्फुरण है। इस स्फुरण में देह या विस्तार का कुछ भी योगदान नहीं है।

ज्ञान के तीनों प्रकारों में अपरोक्षता है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष साक्षात् तथा अपरोक्ष है। सामान्य तत्त्वों का बौद्धिक ज्ञान भी साक्षात् तथा अपरोक्ष है। प्रातिभ ज्ञान भी साक्षात् और अपरोक्ष है। इस तरह अपरोक्षता ज्ञानमात्र का लक्षण है। वह किसी विशेष प्रकार के ज्ञान का ही लक्षण नहीं है।

किन्तु जहाँ एक ओर ज्ञान अपरोक्ष है वहाँ दूसरी ओर वह अन्याभिमुख भी है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष स्मृति की ओर उन्मुख है। बौद्धिक ज्ञान निगमन की ओर उन्मुख है। प्रातिभ ज्ञान सर्वज्ञान या ईश्वरीय ज्ञान की ओर उन्मुख है। इससे ज्ञान के स्वभाव में अपरोक्षता तथा अन्योन्मुखता है। ज्ञान विंदु-रूप नहीं है; वह प्रवाह-रूप है।

१५ सत्यता की कसौटी

स्पिनोजा ज्ञान के तीनों प्रकारों की सत्यता के विषय में कहता है कि "केवल प्रथम प्रकार का ज्ञान असत्यता (अनृत) का कारण है, द्वितीय और तृतीय प्रकार के ज्ञान अनिवार्यतः सत्य हैं[1]।"

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि स्पिनोजा प्रथम प्रकार के ज्ञान को पूर्णतः अनृत नहीं घोषित करता है। वह केवल यह कहता है कि प्रथम प्रकार का ज्ञान अनृत का कारण है अर्थात् वह अनृत हो सकता है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, कल्पना तथा विश्वास सदैव अनृत नहीं हैं, किन्तु वे अनृत हो सकते हैं क्योंकि हमारी इन्द्रियाँ अविश्वसनीय हैं। प्रथम प्रकार के ज्ञान में अपना प्रमाण पेश करने की क्षमता नहीं है। "द्वितीय और तृतीय प्रकार का ज्ञान ही हमें अनृत से सत्य को पृथक् करने की शिक्षा देता है, प्रथम प्रकार का ज्ञान नहीं[2]।" द्वितीय और तृतीय प्रकार का ज्ञान केवल अपनी सत्यता का ही स्रोत नहीं है, वह प्रथम प्रकार के ज्ञान की सत्यता की कसौटी भी है।

द्वितीय प्रकार का ज्ञान अपनी प्रामाणिकता के लिए अन्ततः तृतीय प्रकार के ज्ञान पर ही निर्भर है। द्वितीय प्रकार का ज्ञान यौक्तिक ज्ञान है। इसके लिए यह जरूरी है कि यह न्यायवाक्यात्मक (Syllogistic) हो। फिर न्यायवाक्य की प्रामाणिकता के लिए जरूरी है कि उसके तर्कवाक्य स्वतः प्रमाणित हों। यदि वे स्वतः प्रमाणित नहीं हैं और उनकी प्रामाणिकता के लिए अन्य तर्कवाक्यों की आवश्यकता है तो इस प्रकार अनवस्था उत्पन्न हो जायगी और कोई प्रामाणिकता की

१. नीतिशास्त्र, प्रमेय ४१।

२. वही, प्रमेय ४२।

व्याख्या न हो सकेगी। इसलिए यह मानना जरूरी है कि न्याय-वाक्य के तर्कवाक्य स्वतः प्रमाणित हैं। इसका तात्पर्य है कि बुद्धि स्वयं अपने में ही उनकी प्रामाणिकता को जानती है। यह प्रातिभ ज्ञान है अर्थात् जब बुद्धि स्वयं अपने में ही किसी वाक्य की प्रामाणिकता का ज्ञान प्राप्त करती है तब यह ज्ञान प्रातिभ ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार स्पिनोजा अन्ततः प्रातिभ ज्ञान को ही स्वतः प्रमाणित और अन्य प्रकार के ज्ञानों का प्रमापक मानता है।

प्रातिभ ज्ञान स्पष्ट (Clear), सुविविक्त (Distinct) और निश्चित (Certain) होता है। स्पष्टता, सुविविक्तता तथा निश्चितता (निश्चय) सत्यता के आन्तरिक लक्षण हैं। प्रथम दो लक्षण डेकार्ट ने भी बताये थे। स्पिनोजा ने उनमें निश्चय को और जोड़ दिया। इन आन्तरिक लक्षणों के अतिरिक्त सत्यता का एक और लक्षण है। वह है किसी प्रत्यय का अपने विषय के अनुरूप होना। इसे हम अनुरूपता या संवाद (Correspondence) कह सकते हैं। जब मेज का प्रत्यय मेज वस्तु के अनुरूप होता है या मेज वस्तु का संवादी है, तब वह सत्य है और जब वह ऐसा नहीं है, तब वह असत्य है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, कल्पना तथा विश्वास के प्रत्ययों की प्रामाणिकता या सत्यता संवाद से जानी जाती है। संवाद सत्यता का बाह्य लक्षण है। इसके विपरीत सत्यता के आन्तरिक लक्षणों के आधार पर सत्यता की जो कसौटी बनायी जाती है उसे सुसंगति (Coherence) कहते हैं। स्पिनोजा सुसंगति को मानता है। किन्तु उसने सुसंगति के अन्दर संवाद को शामिल करने का प्रयास किया है। वह कहता है :—

'सत्यता के स्वरूप के विषय में यह निश्चित है कि सत्य विचार को असत्य विचार से केवल बाह्य लक्षण द्वारा भिन्न नहीं किया जाता, प्रत्युत मुख्यतः आन्तरिक लक्षण द्वारा ऐसा किया जाता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी कारीगर ने किसी मकान की वास्तविक अवधारणा की है यद्यपि वह मकान अस्तित्व में न था, न है और न कभी रहेगा, तो भी उसकी अवधारणा सत्य है और उसकी अवधारणा वही है चाहे वह मकान हो या न हो[1]।" यहाँ सुसंगति की कसौटी है। किन्तु सुसंगति के अन्दर संवाद को रखने का प्रयास किया गया है। यहाँ संवाद का मतलब अपने स्वभाव के अनुरूप होना है, क्योंकि यह अपने स्वभाव में निहित है और अपने स्वभाव से उत्पन्न होता है। "प्रत्यय को अपने स्वाभाविक तत्त्व (Formal Essence) के अवश्य अनुरूप होना है। स्पष्ट है कि बुद्धि प्रकृति के रूपाकार को यथार्थतः पुनः उत्पन्न कर सके इसलिए उसे अपने सभी प्रत्ययों को उस

---

१. बुद्धिशोध, ६९।

प्रत्यय से निकालना है जो सम्पूर्ण प्रकृति के उद्‌भव तथा स्वरूप को पुनः उत्पन्न करता है, ताकि वह अन्य प्रत्ययों का भी स्रोत बन सके[१]।" जब कोई प्रत्यय अपने स्वभाव की यथार्थता के अनुरूप होता है तब उसे सुसंगत (Coherent) कहा जाता है। जब दो या दो से अधिक प्रत्यय आपस में समंजस रहते हैं तो उन्हें सुसंगत कहा जाता है। यही सुसंगति की कसौटी हैं। स्पष्ट है कि इसके अन्दर संवाद का अर्थ शामिल कर लिया गया है। किन्तु अगर संवाद का अर्थ प्रत्यय तथा विषय की अनुरूपता है, न कि प्रत्यय का अपने स्वभाव की यथार्थता के अनुरूप होना, तब स्पिनोजा के मत में सुसंगति के अन्दर संवाद का अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

सुसंगति की कसौटी को स्पिनोजा ने पर्याप्तता (Adequacy) की कसौटी कहा है। उसका सिद्धान्त वास्तव में पर्याप्तता का सिद्धान्त है। इसी सिद्धान्त से आधुनिक युग में हेगल तथा ब्रिटेन के हेगलवादियों ने सुसंगति का सिद्धान्त निकाला है।

सभी सत्य प्रत्यय पर्याप्त हैं और सभी पर्याप्त प्रत्यय सत्य हैं। पर्याप्तता सत्यता का अनिवार्य और पूर्ण हेतु है।

"पर्याप्त प्रत्यय (Adequate idea) से मेरा मतलब वह प्रत्यय है जिसमें एक सत्य प्रत्यय के सभी गुण या आन्तरिक लक्षण हों; यदि उसका स्वतः अर्थात् विना किसी विषय के सन्दर्भ में, विवेचन किया जाय[२]।" यहाँ आन्तरिक लक्षण का तात्पर्य बाह्य लक्षण की, यानी अपने विषय से प्रत्यय की अनुरूपता की, व्यावृत्ति है।

"हमारे जो भी प्रत्यय निरपेक्ष अर्थात् पर्याप्त और पूर्ण हैं वे सत्य हैं[३]।" जब हम कहते हैं कि प्रत्यय पर्याप्त और पूर्ण है तब इसका अर्थ है कि एक पर्याप्त और पूर्ण प्रत्यय ईश्वर में है। चूंकि ईश्वर मानव मन या बुद्धि का अन्तर्यामी तत्त्व है, इसलिए यह प्रत्यय बुद्धि में स्वतः स्फुरित होता है। "जहाँ तक सभी प्रत्ययों का सम्बन्ध ईश्वर से है, वहाँ तक वे सभी सत्य हैं। कोई प्रत्यय स्वतः अनृत या असत्य नहीं है[४]।" अनृत शुद्ध अभाव नहीं है। वह खण्डित ज्ञान है। जब उसे अनृत कहा जाता है, तब इसका तात्पर्य है कि वह अन्य प्रत्ययों से कम मेल खाता है। वह प्रत्ययों के उस संस्थान में ठीक तरह से बैठता नहीं है जो ईश्वर के प्रत्यय से अनिवार्यतः निगमित होता है। जो भी प्रत्यय सत्य है वह ईश्वर के चिन्तन में आने वाले प्रत्यय-संस्थान का अंग है।

---

१. बुद्धिशोध, ४२।
२. नीतिशास्त्र खण्ड २, परिभाषा ४।
३. वही प्रमेय ३४।
४. वही प्रमेय ३२ और ३३।

ज्ञान के जो तीन प्रकार बताये गये हैं वे सत्यता या पर्याप्तता के तारतम्य हैं। सबसे निम्न स्तर पर इन्द्रिय-प्रत्यक्ष है। इसके उदाहरण में स्पिनोजा हमारे सूर्य-ज्ञान को लेता है। सबसे निम्न स्तर पर हम सूर्य का जो ज्ञान प्राप्त करते हैं वह बताता है कि सूर्य पृथ्वी से लगभग २०० फुट की दूरी पर है और उसका आकार गोली थाली के बराबर है। यह ज्ञान या प्रत्यक्ष हमारे देह के परिणाम से होता है और देह के अन्य परिणामों से सम्बन्वित है। इस रूप में देखने पर यह सत्य प्रत्यय है। किन्तु जब हम इसे देह के अन्य परिणामों से सम्बन्वित करते हैं तो यह प्रत्यय अपर्याप्त या असत्य उतरता है और हम एक दूसरा प्रत्यय करते हैं जिसके अनुसार सूर्य एक विशाल वस्तु है और पृथ्वी से लाखों मील दूर है। यह सूर्य का बौद्धिक ज्ञान है। फिर जब हम इसके आगे बढ़ते है और खगोल-विज्ञान को सभी विज्ञानों की एकता के सन्दर्भ में देखते हैं तब हमें सूर्य का एक तीसरा प्रत्यय मिलता है, जो बताता है कि सभी विज्ञानों के सन्दर्भ में इस प्रत्यय का क्या स्थान है। यह प्रातिभ ज्ञान का स्तर है। इस तरह सूर्य के जो तीन प्रत्यय होते हैं, वे अपने-अपने स्तर पर पर्याप्त हैं। किन्तु अपने से आगे स्तर के लिए वे अपर्याप्त है। यही अपर्याप्तता या अपूर्णता उनकी असत्यता है।

स्पष्ट है कि स्पिनोजा ने जो पर्याप्तता की कसौटी दी है उसके अनुसार सत्यता की कई अवस्थाएँ या स्तर हैं। पर्याप्तता का अनिवार्य निष्कर्ष सत्यता का तारतम्य है। आगे चलकर इसीलिए हेगल और ब्रैडले ने सुसंगति के सिद्धांत के साथ ही साथ सत्यता के तारतम्य का भी प्रतिपादन किया। दोनों सिद्धान्त तर्कतः एक दूसरे से सम्बन्धित हैं।

१६ स्पिनोजा की ज्ञानमीमांसा का रूप

स्पिनोजा की ज्ञानमीमांसा को किसी ने बुद्धिवादी कहा तो किसी ने रहस्यवादी। कुछ लोगों ने उसे प्रत्यक्षवादी (Empiricist) भी कहा। अतः देखना है कि वास्तव में स्पिनोजा की ज्ञानमीमांसा क्या है ?

अभी तक जो विवेचन किया गया है उसके अनुसार सिद्ध होता है कि स्पिनोजा प्रातिभ ज्ञान को ही अन्ततः पूर्ण और पर्याप्त ज्ञान कहता है और इसी ज्ञान के फल-स्वरूप अन्य प्रकार के ज्ञान प्रकट होते हैं। प्रातिभ ज्ञान को कुछ लोग रहस्यज्ञान कहते हैं। उनके अनुसार स्पिनोजा रहस्यवादी हैं। जब प्रातिभ ज्ञान का उदय होता है तब मनुष्य का पुनर्जन्म होता है, उसकी दृष्टि दूसरी होती है। तब उसकी चर्म-दृष्टि का दिव्य दृष्टि में परिवर्तन हो जाता है, उसका ज्ञान पूर्ण और पर्याप्त हो जाता है। पूर्ण ज्ञान का विषय ईश्वर है। उसका अनिवार्य अनुषंगी प्रेम या भक्ति है। इस तरह पूर्ण ज्ञान ईश्वर और उसके प्रत्ययों का भक्तिपूर्ण आस्वादन है। ईश्वर के

प्रति बौद्धिक प्रेम (Intellectual Love of God) ज्ञान की पराकाष्ठा है। स्पिनोजा इसी पराकाष्ठा पर आसीन होकर अपना दार्शनिक विवेचन करता है। इस प्रकार से देखने पर स्पिनोजा ईश्वर-भक्त, संत और महात्मा लगता है। नौवलिस, रियोन राय आदि ने स्पिनोजा को इसी रूप में चित्रित किया है।

किन्तु प्रोफेसर जोखिम ने स्पिनोजा को आदर्शवादी दिखलाया है। उन्होंने सिद्ध किया है कि स्पिनोजा का प्रातिभ ज्ञान ऐसा नहीं है कि उसका बौद्धिक निरूपण और विश्लेषण नहीं किया जा सकता, या उसका प्रवचन नहीं हो सकता। वास्तव में प्रातिभ ज्ञान युक्तियुक्त है। वह बौद्धिक ज्ञान की पूर्णता है। स्टुअर्ट हैम्पशायर ने भी स्पिनोजा को इसी रूप में चित्रित किया है। उसके मत से स्पिनोजा प्रखर बुद्धिवादी है। वह कबीर, गेटे, शेली, कोलरिज आदि कवियों की तरह रहस्यवादी नहीं है। उसका रहस्यवाद काल्पनिक क्षणिक अनुभव नहीं है। वह केवल प्रतिभा का स्फुरण नहीं है। वह उसकी तार्किक और तात्त्विक मान्यताओं से अनिवार्यतः निष्पन्न होता है। वह कहता है कि 'हम विशेष वस्तुओं को जितना अधिक समझते हैं उतना ही अधिक हम ईश्वर को समझते हैं'।[1] ईश्वर को समझने के लिए प्रकृति और उसके रचनात्मक रूप को समझना जरूरी है। ईश्वर का अनुभव कोई पृथक् अनुभव नहीं है जो जगत् की वस्तुओं के अनुभव से पृथक् या निरपेक्ष है या उनके अभाव के अनुभव के उपरान्त होता है। ईश्वर का अनुभव जगत् की वस्तुओं के अनुभव में व्याप्त है। बिना इस व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध को समझे कोई ईश्वर को समझ नहीं सकता है। स्पष्ट है कि ईश्वर को इस प्रकार से समझने के लिए सुव्यवस्थित और सुमर्यादित बुद्धि की आवश्यकता है, न कि संतों की समाधि की या कवियों की कल्पना की[2]।

स्पिनोजा की ज्ञानमीमांसा एक संस्थान है। वह फुटकल और कभी कभी असंगत वाक्यों का संग्रह नहीं है।

प्रोफेसर वुल्फसन कहते हैं कि 'स्पिनोजा रहस्यवादी नहीं था और न ऐसा आदर्शवादी ही था जिसके लिए प्रत्येक वस्तु जो चोट करती है, लड़खड़ाती है और प्रतिरोध करती है, अवास्तविक है। अनेक विपरीत धारणाओं के होते हुए भी वह अधिकांश मध्ययुगीनों और अरस्तू की तरह कठोर मस्तिष्क और स्पष्ट बुद्धि वाला प्रत्यक्षवादी (Empiricist) था[3]।"

---

१. नीतिशास्त्र, प्रमेय २४।

२. स्टुअर्ट हैम्पशायर कृत स्पिनोजा, पृ० १६८ आदि।

३. H. A. Wolfson, The Philosophy of Spinoza, जिल्द एक पृ० 74.

जहाँ तक प्रोफेसर वुल्फसन का कहना है कि स्पिनोजा रहस्यवादी नहीं था वहाँ तक वे ठीक हैं। किन्तु जब वे कहते हैं कि स्पिनोजा प्रत्यक्षवादी है, तब उनकी बात ठीक नहीं लगती। उन्होंने स्वयं अपने ग्रन्थ में दिखाया है कि स्पिनोजा केवल प्रातिभ ज्ञान को ही स्वतः प्रमाण मानता है और यही ज्ञान अन्य प्रकार के ज्ञानों को प्रमाणित ठहराता है। ऐसी दशा में स्पिनोजा को प्रत्यक्षवादी कहना ठीक नहीं है। वे उसे प्रत्यक्षवादी इसलिए कहते हैं कि वह विकारों को सत मानता है। किन्तु विकारों का ज्ञान इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से नहीं होता है। उनका ज्ञान बुद्धि से होता है। बुद्धि उन्हें नित्य रूप में द्रव्य से सम्बन्धित देखती है। यदि प्रोफेसर वुल्फसन इस बात को ध्यान में रखते तो उन्हें पता चलता कि स्पिनोजा प्रत्यक्षवादी न होकर बुद्धिवादी है।

स्टुअर्ट हैम्पशायर ने ठीक ही दिखाया है कि स्पिनोजा की ज्ञानमीमांसा में दो विरोधी तत्त्वों का सुसामंजस्य है जिसको न समझने के कारण लोग उसको असंगत या एकाँगी समझते हैं। उसकी ज्ञानमीमांसा में एक ओर हाब्स की विशेषवादी (Nominalist) परम्परा है और दूसरी ओर आदर्शवादी और बुद्धिवादी परम्परा है[1]।

निम्नलिखित सिद्धांतों को मानने के कारण स्पिनोजा विशेषवादी है—

(क) सामान्य पदों या जातियों (Genera) का अस्तित्व नहीं हैं। वे केवल व्यक्तिगत कल्पनाएँ हैं।

(ख) सामान्य प्रत्ययों की रचना की शरीर-वैज्ञानिक व्याख्या की जा सकती हैं। वे विपर्यस्त प्रतिबिम्ब हैं जो विशेष प्रतिबिम्बों (Images) के साहचर्य और पुनरावर्तन से उत्पन्न होते हैं। प्रतिबिम्ब शरीर में उत्पन्न होने वाले विकार हैं।

(ग) विकार नित्य सत् हैं और विशेष हैं।

किन्तु स्पिनोजा को मात्र विशेषवादी कहना ठीक नहीं है। वह निम्नलिखित सिद्धान्तों को मानने के कारण विशेषवादी नहीं हैं :—

(क) ईश्वर या प्रकृति सत है और सभी विकारों में व्याप्त है। विकार उस पर निर्भर हैं।

(ख) प्रत्येक विकार में द्रव्य या ईश्वर निहित है।

(ग) प्रतिबिम्ब खण्डित ज्ञान है। वह पूर्ण ज्ञान नहीं है।

(घ) प्रतिबिम्ब इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से उत्पन्न होता है। बुद्धि प्रतिबिम्ब नहीं बनाती है। वह प्रत्यय बनाती है। प्रत्यय निःसंदिग्ध और पर्याप्त ज्ञान है और प्रतिबिम्ब संदिग्ध और अपर्याप्त ज्ञान है।

---

1. Stuart Hampshire, Spinoza पृ० 116.

(ङ) प्रतिबिम्बों के साहचर्य और पुनरावर्तन से उत्पन्न ज्ञान के अतिरिक्त प्रत्ययों का साहचर्य है। प्रत्ययों का साहचर्य तार्किक अनिवार्यता है। यह प्रामाणिक और सार्वभौमिक ज्ञान है और सभी मनुष्यों के लिए एकसमान सत्य है।

इन सिद्धान्तो को हम स्पिनोजावाद का सार कह सकते हैं। इनके आधार पर स्पिनोजा बुद्धिवादी और आदर्शवादी सिद्ध होता है। वास्तव में तार्किक क्रिया पर बल देना, सुसंगति या पर्याप्तता को प्रामाणिकता की कसौटी मानना, सत्यता के तारतम्य का प्रतिपादन करना, ईश्वर के प्रत्यय से ही समस्त प्रत्ययों का निगमन करना और अद्वैतवाद को प्रस्तावित करना, ये ऐसे सिद्धान्त हैं जो स्पिनोजा को एक महान् बुद्धिवादी-आदर्शवादी दार्शनिक सिद्ध करते हैं।

१७ स्पिनोजा का महत्त्व

स्पिनोजा विश्व के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिकों में से एक है। कुछ लोग उसे विश्व का सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक भी मानते हैं तो कुछ लोग उसे प्लेटो के बाद दूसरे नम्बर का दार्शनिक मानते हैं। कुछ लोग उसे ईसामसीह के बाद दूसरा सर्वश्रेष्ठ मानव मानते हैं। ऐसे सभी लोग स्पिनोजा की महानता का आकलन करते हुए केवल पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के दार्शनिकों को सामने रखते हैं। यदि इसमें हम भारत और भारतेतर पूर्व के दार्शनिकों को भी शामिल कर लें तो फिर हमें स्पिनोजा को उस कोटि में रखना होगा जिस कोटि में गौतम बुद्ध तथा शंकराचार्य हैं।

स्पिनोजा मध्ययुग और आधुनिक युग की मध्य कड़ी है। प्रोफेसर वुल्फसन ने कहा है कि स्पिनोजा के नीतिशास्त्र में वास्तव में दो स्पिनोजा दिखाई देते हैं। एक वह स्पिनोजा है जो प्रकट है, जिसे हम उसके लातोनी नाम वेनेडिक्टस से सम्बोधित कर सकते हैं जो परिभाषा, स्वयंसिद्धि और प्रमेयों के द्वारा बोलता है और ज्यामिति की प्रणाली में तर्क करता है। फिर दूसरा वह स्पिनोजा है जो प्रच्छन्न है, जिसे हम उसके इब्रानी नाम बारुच से सम्बोधित कर सकते हैं, जो परिभाषा, स्वयंसिद्धि और प्रमेयों की पृष्ठभूमि में है और जो अपने को टीका-टिप्पणियों में यदा-कदा प्रकट करता है तथा मध्ययुगीन तर्कणा की प्रणाली में सोचता-विचारता है। "बेनेडिक्टस आधुनिकों में प्रथम है और बारुच मध्ययुगीनों में अन्तिम है[१]।" इस प्रकार स्पिनोजा के दोनों नाम से दो युगों का प्रतिनिधित्व होता है और आश्चर्य यह है कि दोनों नामों का अर्थ एक ही है, आनन्दात्मा या प्रसन्नात्मा। वास्तव में स्पिनोजा ने एक ओर प्राचीन और मध्ययुगीन दर्शन को पूर्णतः हृदयंगम किया था जिसके कारण उसके दर्शन में उसकी पूरी अभिव्यक्ति है तो दूसरी ओर उसने एक नवीन दर्शन

१. वुल्फसन का उपर्युक्त ग्रन्थ भाग १, आमुख।

को जन्म दिया है जो आधुनिक युग का निर्धारक सिद्ध हुआ है। उसके व्यक्तित्व और दर्शन में मध्ययुगीन दर्शन की पराकष्ठा तथा आधुनिक दर्शन की पूर्ण उत्पत्ति हुई है। यही कारण है कि उसे मध्ययुगीनों में अन्तिम और आधुनिकों में सर्वप्रथम कहा जाता है। उसके माध्यम से मध्ययुगीन दर्शन आधुनिक दर्शन से सुव्यवस्थित रूप में समन्वित होता है।

डेकार्ट को आधुनिक युग का जनक कहना और स्पिनोजा को आधुनिकों में सर्वप्रथम कहना कुछ विरोधाभाव लगता है। परन्तु वास्तव में दोनों ही कथन ठीक हैं। स्पिनोजा ने सर्वप्रथम नया दर्शन-सम्प्रदाय (System) दिया; डेकार्ट ने सर्व-प्रथम नयी दार्शनिक प्रणाली (Method) दी। डेकार्ट प्रेरक है; स्पिनोजा विचारक है। डेकार्ट की प्रेरणा और स्पिनोजा के विचार दोनों ही बुद्धिवाद के उन्नायक हैं।

प्रोफेसर वुल्फसन ने स्पिनोजा के निम्नलिखित चार सिद्धान्तों को उसकी नवीन और क्रान्तिकारी देनें कहा है :—

(क) ईश्वर के दो समकक्ष गुण हैं—विचार और विस्तार। ईश्वर को विस्तारवान् कहकर स्पिनोजा ने प्रकृति की एकता में पड़ने वाली एक बड़ी बाधा को दूर किया है। उसके पूर्व लोग जड़ और चेतन के आत्यन्तिक द्वन्द्व को मानते थे।

(ख, ईश्वर किसी उद्देश्य तथा प्रयोजन से काम नहीं करता है। वह निरु-द्देश्य और निष्प्रयोजन है। स्पिनोजा के इस सिद्धान्त ने प्रकृति के नियमों की एक-रूपता में आनेवाली एक दूसरी बाधा को दूर किया है। उसके पूर्व लोग मानते थे कि जड़ जगत् कार्यकारण की श्रृंखला में बँधा हुआ है और ईश्वर तथा उसका आध्यात्मिक जगत् इस श्रृंखला से उन्मुक्त है तथा सोद्देश्यता से अनुशासित होता है।

(ग) आत्मा और देह एक दूसरे से पूर्णतया अपृथक् हैं। न तो विदेह आत्मा है और न निरात्म देह। स्पिनोजा के इस सिद्धान्त ने प्रकृति की एकता में आनेवाली एक तीसरी बाधा को समाप्त कर दिया है।

(घ) मनुष्य की इच्छा स्वतंत्र नहीं है। इच्छा-स्वातंत्र्य के निराकरण के द्वारा स्पिनोजा ने प्रकृति के नियमों की एकरूपता में आने वाली एक चौथी बाधा को दूर किया है।

इस प्रकार प्रकृति की एकता तथा प्राकृतिक नियमों की एकरूपता का आदि से अन्त तक प्रतिपादन करना स्पिनोजावाद का अद्वितीय वैशिष्ट्य है। इस विशेषता ने सन्तों, कवियों और वैज्ञानिकों को बहुत ही प्रभावित किया है। स्पिनोजा का प्रभाव-क्षेत्र जितना विशाल है उतना किसी अन्य दार्शनिक का नहीं है। उसके प्रभाव में आनेवाले केवल दार्शनिक ही नहीं वरन् सन्त, कवि, विज्ञानवेत्ता और राज-नीतिज्ञ भी हैं।

किन्तु स्पिनोजा का अद्वैतवाद और प्रकृतिवाद ही उसके प्रभाव के मुख्य कारण नहीं हैं ? वह सत्रहवीं शताब्दी का प्रधान विचारक है। उसके दर्शन में तत्कालीन सभी विचार-पद्धतियों का मेल होता है। रहस्यवाद तथा प्रकृतिवाद, अध्यात्मवाद तथा भौतिकवाद, ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्ग, आदर्शवाद तथा वस्तुवाद, विशेषवाद तथा सामान्यवाद, ईश्वरवाद तथा निरीश्वरवाद, एकत्ववाद तथा बहुत्ववाद, ब्रह्म-परिणामवाद तथा प्रकृति-परिणामवाद और प्रतीत्यसमुत्पाद, इन सभी विरोधी सिद्धान्तों का उसमें सामंजस्य है। इतने विरोधी सिद्धान्तों का सामंजस्य होते हुए भी स्पिनोजा-वाद कोई समन्वयवाद या समुच्चयवाद नहीं है। वह अपने ढंग का सर्वथा नवीन, और स्वतंत्र दार्शनिक सिद्धान्त है।

इस स्पिनोजावाद का इतिहास विचित्र है। स्पिनोजा के जीवन-काल में इसको निरीश्वरवाद समझा गया। फिर सौ साल तक यह उपेक्षा और घृणा का विषय बना रहा। लेसिंग और गेटे के द्वारा इसका उद्धार हुआ। तब इसके सर्वेश्वरवाद, अद्वैतवाद और बुद्धिवाद का प्रचार निखार हुआ। शेलिंग और हेगल ने इसके आदर्श-वाद को प्रकट किया। उनके माध्यम से स्पिनोजा आधुनिक युग की आदर्शवादी परम्परा का प्रधान विचारक हो गया। इस परम्परा के अन्तिम महान विचारक प्रो० जोखिम हैं जिन्होंने स्पिनोजा के ग्रन्थों पर आदर्शवादी भाष्य लिखे और जिनके द्वारा स्पिनोजा की आदर्शवादी व्याख्या को एक प्रामाणिक स्वरूप मिला। किन्तु क्या स्पिनोजा आदर्शवादी है ? इस प्रश्न की छानबीन आधुनिक युग में होने लगी। कुनो फिशर, वुल्फसन आदि विचारकों ने स्पिनोजा की वस्तुवादी व्याख्या की है। वर्तमान समय में स्पिनोजा के विशेषवाद, प्रकृतिवाद, निर्धारणवाद या नियतिवाद तथा बुद्धिवाद का विशेष प्रभाव है। इस प्रकार स्पिनोजा के समय से लेकर आज तक इसकी क्रमशः निरीश्वरवादी, सर्वेश्वरवादी तथा वस्तुवादी व्याख्याएँ हो चुकी हैं। वर्तमान समय में हेग में स्पिनोजावाद के अनुशीलन के लिए एक स्पिनोजा-समाज (Societas Spinozanum) गठित किया गया है जो १९२१ ई० से **स्पिनोजा पत्रिका** (Chronicum Spinozanum) का प्रकाशन कर रहा है। १९५१ ई० में अमरीकी कोशकार डी० डी० रूनेस ने **स्पिनोजा-कोश** (Spinoza Dictionary) प्रकाशित करके एक ओर स्पिनोजावाद के विद्यार्थियों की सहायता की है तो दूसरी ओर स्पिनोजावाद को बहुत महत्त्वपूर्ण बना दिया है। जैसे दर्शन-कोश महत्त्वपूर्ण होता है वैसे स्पिनोजा-कोश महत्त्वपूर्ण है क्योंकि अनेक दार्शनिकों के मत से स्पिनोजावाद ही एकमात्र दर्शन है। क्लिने के सम्पादन में १९५२ ई० में **सोवियत दर्शन में स्पिनोजा** (Spinoza in Soviet Philosophy) नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है जिसमें स्पिनोजावाद की मार्क्सवादी व्याख्या की गई है। भारत

में श्रीराम माधव चिंगले और संगमलाल पाण्डेय ने क्रमशः '**स्पिनोजा और उसका दर्शन**' तथा '**स्पिनोजा का दर्शन**' हिन्दी में प्रकाशित किया है जिनमें स्पिनोजावाद की वेदान्त-सम्मत व्याख्या की गई है। पश्चिमी जगत्, साम्यवादी रूस तथा गुट-निरपेक्ष भारत तीनों प्रकार के देशों में आज भी स्पिनोजावाद का प्रगाढ़ अनुशीलन हो रहा है और उसको प्रमुख दर्शन माना जा रहा है। स्पिनोजा ही एकमात्र दार्शनिक है जिसके दर्शन के प्रति आज विश्व भर में श्रद्धा तथा जिज्ञासा है। स्पिनोजावाद आज विभिन्न गुटों और राष्ट्रीय संस्कारों को संसार में एक करने की क्षमता रखता है। जब कभी संसार एक होगा तब उसका दर्शन स्पिनोजावाद या उसके समान ही कोई दर्शन होगा। किन्तु स्पिनोजावाद की सभी व्याख्याएँ उसके किसी विशेष पहलू पर आधारित हैं। स्पिनोजावाद अपने असली रूप में इनमें से किसी में नहीं है। ईश्वर, प्रकृति और द्रव्य की एकता का सिद्धान्त और गुणों का सिद्धान्त-इन दो सिद्धान्तों ने स्पिनोजावाद को एक ऐसा अनोखा दार्शनिक संस्थान बना दिया है कि उसको असली रूप में कोई मान नहीं सकता है। यही कारण है कि विशुद्ध रूप में कोई स्पिनोजावादी नहीं हुआ, यद्यपि अनेक महान् विचारकों ने अपने को स्पिनोजावादी कहा है। बहुतों ने तो स्पिनोजावाद को ही एकमात्र दर्शन कहा है। कुछ भी हो, स्पिनोजावाद एक सुव्यवस्थित दार्शनिक संस्थान है जिसमें दार्शनिक कर्म का पूर्ण परिचय मिलता है।

अध्याय ४

लाइबनीज का चेतनाणुवाद

१ लाइबनीज का जीवनवृत्त

फ्रांसीसी विद्वान् वाल्टेयर ने लाइबनीज के बारे में लिखा है कि 'बौद्धिक उपलब्धि में वह कदाचित् योरोप में सबसे अधिक सुपठित व्यक्ति है; वह ऐसा इतिहासकार हैं जो लेखानुसंधान में न थकने वाला है; ऐसा गम्भीर विधिवेत्ता (कानूनदाँ) है जो केवल दर्शन के द्वारा कानून के अध्ययन की व्यवस्था करता है, यद्यपि वह कानून के अभ्यास से दूर है; ऐसा तत्त्वज्ञानी है जो निष्पक्ष होकर तत्त्वज्ञान और धर्मशास्त्र के समन्वय को सम्भव समझता है। वह लातीनी भाषा का कवि भी है और इतना सिद्ध गणितज्ञ है कि न्यूटन के साथ आकलन (Calculus) के आविष्कारक होने का दावा करता है।'' वाल्टेयर का यह कथन नितान्त सत्य है। लाइबनीज केवल महान् दार्शनिक ही नहीं वरन् महान् तर्कशास्त्री, महान् गणितज्ञ, महान् विधिवेत्ता, महान् धर्मशास्त्री और महान् इतिहासकार भी है।

उसका पूरा नाम गाटफ्रियड विल्हेल्म लाइबनीज है। उसका जन्म ३ जुलाई १६४६ को लाइपजिग नगर, जर्मनी में हुआ था[१]। उसका पिता लाइपजिग विश्वविद्यालय में नैतिक दर्शन का प्रोफेसर था। जब लाइबनीज ६ वर्ष का था तभी उसके पिता का देहान्त हो गया। उसके पालन-पोषण का भार उसकी माँ पर आ गया। वह भक्त महिला थीं और अपने पुत्र की शिक्षा की देख-भाल अच्छे ढंग से करती थी। वह एक प्रोफेसर की लड़की थी। उसके माता और पिता दोनो कुलीन तथा शिक्षित परिवार के थे। लाइबनीज के विश्वविद्यालय की पढ़ाई समाप्त करने के पूर्व ही उसकी माता का देहान्त हो गया। वह किशोरावस्था में ही अनाथ हो गया। किन्तु वह निराश नहीं हुआ। वह प्रतिभशाली व्यक्ति था। घर पर उसने अपने पिता के पुस्तकालय का खूब सदुपयोग किया। ८ साल की अवस्था में उसने

---

१. लाइबनीज की जन्म-तिथि प्रायः २१ जून १६४६ दी जाती है। ग्रेगरियन कैलेण्डर उसके समय में लाइपजिग में प्रचलित नहीं था। अतः इस कैलेण्डर के अनुसार उसकी जन्मतिथि १२ दिन बाद होती है।

लातीनी भाषा सीखी और १२ साल की अवस्था में वह उसमें व्युत्पन्न हो गया। उसकी आरम्भिक रचनाएँ लातीनी में हैं। बाद में उसने फ़्रांसीसी भाषा में काफी लिखा। जर्मन भाषा में उसकी रचनाएँ बहुत कम हैं।

१५ साल की अवस्था में लाइबनीज ने लाइपजिग विश्वविद्यालय में कानून के विद्यार्थी के रूप में प्रवेश किया। १६ साल की अवस्था में १६६३ में उसने '**व्यष्टि के सिद्धान्त पर दार्शनिक विवाद**' नामक स्नातकीय निबन्ध (स्नातक उपाधि के लिए लिखा गया निबन्ध) लिखा। बाद में चलकर उसने जो दार्शनिक संस्थान बनाया वह इसी निबन्ध का विस्तार है। स्नातक होने के बाद ३ वर्ष उसने कानून के अध्ययन में लगाये। उसने १६६६ में डाक्टर आव् ला में प्रविष्ट होना चाहा, किन्तु उसकी उम्र कम होने के कारण उसे प्रविष्ट नहीं किया गया। उसने लाइपजिग विश्वविद्यालय छोड़ दिया और एल्टडोर्फ विश्वविद्यालय से डाक्टर आव् ला की उपाधि प्राप्त की। उसका शोध-निबन्ध इतना उत्तम था कि उसे वहाँ कानून के प्रोफ़ेसर का पद दिया गया। किन्तु उसने इसे इन्कार कर दिया। लाइबनीज अध्यापक नहीं होना चाहता था। वह न कानून का अध्यापक था, न दर्शन का और न किसी और विषय का। वह चाहता था एक ओर आजीवन अनुसंधान करना और दूसरी ओर प्रशासन में रहकर संसार में अच्छी शासन-व्यवस्था स्थापित करना।

१६६७ ई० में उसने मेन्ज के एलेक्टर और आर्चविशप के दरबार में नौकरी कर ली। १६७२ में उसे दरबार का राजदूत बनाकर पेरिस भेजा गया। पेरिस से वह लन्दन गया और वहाँ के विद्वानों, दार्शनिकों तथा वैज्ञानिकों से परिचय प्राप्त किया। १६७३ में वह पेरिस में बस गया, मेन्ज की एलेक्टर की नौकरी से इस्तीफा दे दिया और ब्रुन्सविक के ड्यूक के यहाँ नौकरी कर ली। यहीं १६७६ ई० में उसने अत्यणुकलन (Infinitissimal Calculus) का अन्वेषण किया। इसी वर्ष ड्यूक ने उसे हैनोवर बुला लिया और अपने पुस्तकालय का अध्यक्ष बनाया। अब लाइबनीज का काम हैनोवर परिवार का इतिहास लिखना हो गया। यहाँ वह मृत्यु पर्यन्त रहा।

यहाँ से कभी-कभी कुछ समय के लिए कार्यवश वह बर्लिन, वियना, इटली तथा अन्य जगह चला जाता था। अन्त में यहाँ २४ नवम्बर १७१६ ई० को उसका देहान्त हो गया। उसकी मृत्यु की ओर किसी का ध्यान नहीं गया। उसके अन्तिम संस्कार में केवल उसका सचिव ईक्खर्ड उपस्थित था। जानकेर, जो लाइबनीज का परिचित था और उसकी मृत्यु के समय हैनोवर में ही था, लिखता है कि वह (लाइबनीज) वास्तव में अपने देश का रत्न था, किन्तु उसे देश-रत्न की तरह नहीं वरन् एक डाक

की तरह दफनाया गया। लन्दन और बर्लिन में उसकी मृत्यु का समाचार भी नहीं निकला। किन्तु पेरिस में उसको खूब सत्कार मिला। उसकी वर्षी के अवसर पर फ्रांसीसी अकादमी में फान्टनेले ने उसकी प्रशस्ति गायी और अकादमी के पुराने ऐतिहासिक लेखों में उसे अंकित किया।

लाइबनीज ने विवाह नहीं किया था। फान्टनेले कहता है कि जब वह ५० साल का था तब उसने एक महिला से विवाह का प्रस्ताव किया। किन्तु महिला ने विवाह करने के प्रस्ताव पर विचार करने का समय लिया और लाइबनीज को पश्चात्ताप करने तथा प्रस्ताव वापिस करने का मौका दिया। जब उसका देहान्त हुआ तब उसका एकमात्र उत्तराधिकारी उसकी बहिन का लड़का था। कहा जाता है कि उसके भानजे की पत्नी उसकी सम्पत्ति पाने के समाचार से सहसा इतनी प्रभावित हुई कि दिल के धड़कन से उसका देहान्त हो गया। लाइबनीज का जीवन सुख-समृद्धि में बीता था। वह एकान्तवासी सन्त नहीं था प्रत्युत राजनीति, धर्म, गणित, विज्ञान, कानून तथा दर्शन की सैद्धांतिक रचनाओं और व्यवहारिक घटनाओं में निमग्न कर्मयोगी था। वह राजदरबारों में राजनयिक कार्य करता था और अच्छा वेतन पाता था। आर्थिक मामलों में वह सिद्धान्ततः बीते हुए साल की आय पर ही निर्वाह करता था और चालू साल की आय को पूरी मात्रा में बचा लेता था।

यद्यपि लाइबनीज को अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में राजकीय उपेक्षा सहनी पड़ी थी, तथापि उसे जर्मनी के राजाओं और रानियों से काफी सम्मान भी मिला था। प्रायः वह सभी जर्मन राजाओं और रानियों से पत्र-व्यवहार करता था। वह वेड्नवर्ग और हैनोवर की रियासतों में प्रिवी कौन्सिलर था। बाद में वह जर्मनी-साम्राज्य का भी प्रिवी कौन्सिलर और बेरन (लार्ड) बनाया गया। वह अपने समय का राजनीति और कानून का सबसे बड़ा विद्वान् माना जाता था।

पेरिस से हैनोवर जाते समय लाइबनीज ने हेग में स्पिनोजा से भेंट की। स्पिनोजा के बारे में वह पेरिस में ही बहुत कुछ सुन चुका था। लाइबनीज ने उसके **'धर्मशास्त्र-राजनीति-विषयक ग्रन्थ'** को देखा था और शीर्नहाउस से उसके **नीतिशास्त्र** के बारे में सुन रखा था। वह स्पिनोजा का **नीतिशास्त्र** देखना चाहता था। हेग में लाइबनीज कई बार स्पिनोजा से मिला। दोनों में काफी दार्शनिक संलाप हुआ। स्पिनोजा पहले अपना **नीतिशास्त्र** लाइबनीज को नहीं दिखाना चाहता था क्योंकि वह लाइबनीज पर अविश्वास करता था। किन्तु जब लाइबनीज से गाढ़ा सम्बन्ध हो गया तब उसने अपना **नीतिशास्त्र** उसे दिखाया। लाइबनीज ने उसे पढ़ा और

कुछ नोट किया। बाद में जब वह प्रकाशित हुआ तब उसने उसका पुनः अध्ययन किया और उसका संक्षेप लिखा।

लाइबनीज ने स्पिनोजा के अभेदवाद को बहुत पसन्द किया। दोनों के मत से भौतिक द्रव्य और आध्यात्मिक द्रव्य या जड़ और चेतन में अभेद है। द्रव्य चेतन है। जड़ता का अर्थ प्रसुप्त चेतना है।

किन्तु लाइबनीज को स्पिनोजा के निम्नलिखित तीन सिद्धान्तों के प्रति आपित्त है—

(क द्रव्य एक ही हो सकता है।

(ख) द्रव्य मे इच्छा और बुद्धि नही है। इच्छा और बुद्धि विकार में है।

(ग) प्रयोजन-कारण (Final Cause) नहीं है।

इन तीन सिद्धान्तों के स्थान पर लाइबनीज क्रमशः मानता है कि द्रव्य अनेक है, द्रव्य में इच्छा और बुद्धि है और प्रत्येक वस्तु सप्रयोजन है।

स्पिनोजा यान्त्रिकतावादी और नियतिवादी है। लाइबनीज प्रयोजनवादी और स्वतन्त्रेच्छावादी है। लाइबनीज ने स्पिनोजा से बहुत कुछ सीखा। पहले वह अपने को स्पिनोजावादी भी कहता था। किन्तु बाद में स्पिनोजा की अपकीर्ति के कारण तथा उसके कुछ सिद्धान्तों को न मानने के कारण उसने अपने को स्पिनोजा-वादी नही कहा। निःसन्देह उसका दर्शन वैपुल्यवाद है जो स्पिनोजावाद का विरोधी है। इसलिए यदि लाइबनीज ने अपने दर्शन को स्पिनोजा के दर्शन से उत्तम समझा तो इसमें कोई अचरज नहीं है।

स्पिनोजा और लाइबनीज का संलाप सदा के लिए अलिखित और अज्ञात रह गया। यदि यह ज्ञात होता तो दर्शन-जगत् का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संलाप होता, क्योंकि यह दो महान् दार्शनिकों का संलाप था। इतना महत्त्वपूर्ण संलाप कभी दो इतने महान् दार्शनिकों के बीच नहीं हुआ।

लाइबनीज ने चार वर्ष पेरिस में बिताये, १६७३ से १६७६ तक। वे उसके जीवन के बहुत महत्त्वपूर्ण वर्ष थे। इसके पूर्व वह लातीनी मे लिखता था। किन्तु इस समय से वह प्रायः फ्रांसीसी भाषा में लिखने लगा। इसी काल में वह आर्नाल्ड मैल-ब्रान्श और शीर्नहाउस जैसे दार्शनिकों के सम्पर्क में आया। इसी समय उसने क्रिश्चियन ह्यूजेन्स के निर्देशन में गणित का अध्ययन किया। उसे फ्रांसीसी अकादमी का सदस्य बनाया गया। इसी बीच वह इंग्लैंड गया और वहाँ ब्याले तथा ओल्डेन वर्ग से मिला और रायल सोसाइटी का सदस्य बन गया। इसी काल में उसने आकलन (Calculus) का आविष्कार किया। बाद में चलकर आकलन के प्रथम आविष्कारक के बारे में विवाद उठा। कुछ लोगों ने न्यूटन को इसका प्रथम

आविष्कारक कहा तो कुछ लोगों ने लाइबनीज को। कुछ लोगों ने लाइबनीज के ऊपर आकलन की चोरी का दोषारोपण भी किया। किन्तु सत्य बात यह है कि लाइबनीज ने न्यूटन से स्वतन्त्र रहकर आकलन का आविष्कार किया था। यद्यपि न्यूटन ने भी प्रायः १६६५ में आकलन का आविष्कार किया था, किन्तु उसने अपनी खोज को प्रकाशित नहीं किया था। पहले पहल १६७६ ई० में लाइबनीज ने ही आकलन की खोज को प्रकाशित किया। लाइबनीज की आकलन-प्रणाली अद्यतन है और न्यूटन की प्रणाली से सर्वथा भिन्न है। लाइबनीज के प्रतीक न्यूटन के प्रतीक से अधिक उपयोगी सिद्ध हुए हैं। इन सब बातों से स्पष्ट है कि भले ही न्यूटन ने भी आकलन का आविष्कार लाइबनीज से स्वतंत्र रहकर किया हो किन्तु लाइबनीज ने अपने ढंग से इसका आविष्कार किया और उसने ही सबसे पहले आकलन की खोज को प्रकाशित किया।

लाइबनीज की प्रतिभा नये-नये उन्मेषों से युक्त थी। आकलन के अतिरिक्त उसने प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र (Symbolic Logic) का अन्वेषण किया। मैक्समूलर ने उसे आधुनिक भाषा-विज्ञान (Philology) की सर्वप्रथम खोज करने का श्रेय दिया है। वास्तव में लाइबनीज ज्ञान-विज्ञान के प्रचार में दत्तचित था। उसने प्रयास किया कि योरोप के प्रत्येक देश की राजधानी में वैज्ञानिक परिषदें स्थापित हों और उसने वैज्ञानिक शोधपत्रिकाएँ निकलें। उनसे स्वयं बर्लिन में बर्लिन-अकादमी या प्रशियन अकादमी आव सायन्स की स्थापना की और जर्मनी की प्रथम शोध-पत्रिका **एक्टा इरुडिटोरम** (Acta Eruditorum) की स्थापना की। वह अपने समय के वैज्ञानिकों और दार्शनिकों से पत्र-व्यवहार करता था और यथा-सम्भव उनसे मिलने का प्रयास करता था। इस तरह वह अद्यतन विचारों से अवगत था और अपने समय में योरोप का सबसे बड़ा प्रतिभाशाली विद्वान् था। कुछ लोगों ने उसकी बहुमुखी प्रतिभा के कारण उसकी तुलना अरस्तू से की है। अरस्तू और लाइबनीज दोनों की प्रतिभा बहुमुखी थी और दोनों को अपने-अपने समय के समस्त ज्ञान-विज्ञान हस्तामलकवत् थे। किन्तु आज अरस्तू का दर्शन अजायबघर की वस्तु हो गया है और लाइबनीज का दर्शन आज भी नवीन बना हुआ है।

ज्ञान-विज्ञान की उन्नति के अतिरिक्त लाइबनीज ने जर्मन की उन्नति, सभी ईसाई सम्प्रदायों की एकता तथा रोमन कानूनी संहिता के तार्किक पुनर्वर्गीकरण के लिए भी प्रयास किया। वह स्वयं प्रोटेस्टन्ट ईसाई था। किन्तु वह गिरजाघर नहीं जाता था। इसलिए ईसाई महन्तों को उसके धर्म पर संदेह हुआ और उन्होंने उसका नाम बिगाड़कर लावेनिक्स (Lowenix) रखा जिसका अर्थ होता है नास्तिक या वह जो किसी चीज में विश्वास नहीं करता। उसके धार्मिक लेखों से पता चलता है

कि वह जितना विश्वास प्राकृतिक धर्म में करता था उतना किसी पैगम्बर-प्रोक्त धर्म में नहीं। वह मानवतावादी था और अपने को मानवता का दार्शनिक कहता था। उसने कहा है :—

"मैं मानवता के श्रेय की खोज करता हूँ। मैं न तो यूनान का प्रेमी हूँ और न रोम का प्रेमी, किन्तु मानवता का प्रेमी हूँ।"

२ रचनाएँ

लाइबनीज ने अपने दर्शन की कोई पुस्तक विधिवत् नहीं लिखी है, जैसे स्पिनोजा ने अपने दर्शन की पुस्तक **नीतिशास्त्र** (Ethica) लिखी है। वास्तव में ग्रन्थ लिखने के लिए उसके पास समय नहीं था। वह राजनीतिक लेखों और पत्रों को लिखने में विभिन्न राजाओं और रानियों को दर्शन तथा धर्म पर पत्र लिखने में और विभिन्न दार्शनिकों, गणितज्ञों और वैज्ञानिकों से वादविवाद करने में इतना व्यस्त था कि उसे अपने दर्शन की एक भी पुस्तक लिखने का समय नहीं मिला। पत्र-व्यवहार के अतिरिक्त उसने शोध-पत्रिकाओं में बहुत से लेख लिखे हैं। उसके लेख और पत्र-व्यवहार हैनोवर के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं, क्योंकि लाइबनीज का संबंध राजघरानों और तत्कालीन राजनयिक सम्बन्धों से था, इसलिए उसके लेख और पत्र-व्यवहार हैनोवर के राजवंश की सामग्री हो गये हैं।

लाइबनीज के जीवनकाल में उसकी केवल एक पुस्तक छपी थी, **थिओडिसी (ईश्वरीय विधान) की सिद्धि**। इसको उसने डेकार्टवादी द्वैतवादी पियर वेयले (१६४७ १७०६) के जवाब में लिखा था। पियर बेयले (Pierre Bayle) प्रसिद्ध **ऐतिहासिक और आलोचनात्मक कोश** (Historical and Critical Dictionary) का लेखक है। इसमें उसने रोरेरियस (Rorarius) नामक लेख के अन्तर्गत अनेक दार्शनिकों और धर्मशास्त्रियों की आलोचना की। उसका मत था कि जगत् के अश्रेय के साथ ईश्वर का समन्वय नहीं हो सकता, जगत् में इतनी भौतिक और नैतिक बुराई है कि जगत में सर्वगुण-सम्पन्न सम्पूर्ण ईश्वर का साम्राज्य नहीं हो सकता, प्रकृति का नियम ईश्वरीय नियम से भिन्न है, प्रकृति दर्शन का विषय है और ईश्वरीय नियम धर्म या श्रद्धा का।

बेयले के इस मत के जवाब में लाइबनीज ने अपनी पुस्तक '**ईश्वरीय विधान की सिद्धि**' में सिद्ध किया कि दर्शन और धर्मशास्त्र में एकवाक्यता है। उसने माना कि ईश्वर में अनन्त यथार्थता (Actuality) के अतिरिक्त अनन्त सम्भावना (Possibility) भी है। ईश्वर अनन्त यथार्थता से अधिक है, वह अनन्त सम्भावना है। जगत् की सृष्टि संभावनाओं की सृष्टि है। इन सब सम्भावनाओं को यथार्थ

होने के लिए समन्वित होना चाहिए। सृष्टि का तात्पर्य अनेक सम्भावनाओं में से एक का वर्णन करना है। अश्रेय अनिवार्य हो सकता है, किन्तु फिर भी अश्रेय से युक्त जगत् सभी सम्भव जगतों से उत्तम हो सकता है। वर्तमान जगत् सभी सम्भव जगतों में उत्तम है। ईश्वर ऐसे जगत् की सृष्टि कर सकता था जिसमें अश्रेय कम होता या बिलकुल न होता। किन्तु वह जगत् उत्तम न होता। अश्रेय श्रेय का सहचर और संवर्धक है। ईश्वर ने अश्रेय को रहने दिया है, क्योंकि अश्रेय श्रेय का संवर्धक है। इस प्रकार लाइबनीज ने सिद्ध किया कि प्राकृतिक जगत् पर ईश्वर का साम्राज्य है। जहाँ बेयले दर्शन और धर्म का, बुद्धि और श्रद्धा का, प्रकृति और अध्यात्म का, अश्रेय और श्रेय का द्वन्द्व मानता था वहाँ लाइबनीज ने इन सबके अभेद का प्रतिपादन किया।

अठारहवीं शती में लाइबनीज के दर्शन का परिचय उसकी **थियोडिसी** से ही होता था। किन्तु आज सिद्ध हो गया है कि यह उसका सबसे निकृष्ट ग्रन्थ है। आज उसका सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ **नवीन निबंध** (Nouveaux Essais) है। यह ग्रन्थ लाक के ग्रंथ **मानव बुद्धि पर निबंध** (Essay on the Human Understanding) की समीक्षा के फलस्वरूप लिखा गया था। लॉक के पास लाइबनीज ने अपने निबन्ध की एक समीक्षा भेजी थी, किन्तु लाक ने लाइबनीज को कोई जवाब नहीं दिया था। लॉक प्रत्यक्षवादी था और लाइबनीज बुद्धिवादी। लॉक का मत था कि बुद्धि में कोई ऐसी चीज नहीं है जो पहले इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में प्रदत्त न हो। इससे सिद्ध होता है कि बुद्धि के पास जो भी ज्ञान है उसका स्रोत इन्द्रिय-प्रत्यक्ष है। लॉक के इस सिद्धान्त पर लाइबनीज ने आपत्ति व्यक्त की और कहा कि '**बुद्धि को छोड़कर** बुद्धि के पास जो भी है वह पहले इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में प्रदत्त हैं।' इस तरह लाइबनीज ने सिद्ध किया कि बुद्धि प्रत्यक्ष से उत्पन्न नहीं होती है, उल्टे प्रत्यक्ष ही बुद्धि के सहारे सम्पन्न होता है। लाइबनीज का **नवीन निबन्ध** उसके जीवनकाल में प्रकाशित न हो सका। यह उसकी मृत्यु के ५० साल बाद प्रकाशित हुआ। इन पचास सालों में लॉक के प्रत्यक्षवाद का काफी विकास बर्कले और ह्यूम की कृतियों में हो चुका था। किन्तु जब इस निबंध का प्रकाशन हुआ तब इसका प्रभाव कांट पर पड़ा और उसने इसके आधार पर ह्यूम को उत्तर दिया। कांट ने प्रत्यक्षवाद की धारा को वैसे ही दूषित दिखाया जैसे लाइबनीज ने। फिर उसने लाइबनीज की ही भाँति सिद्ध किया कि प्रत्यक्ष उन बौद्धिक व्यापारों के आधार पर टिका है जो स्वयं प्रत्यक्ष से निरपेक्ष हैं। इस तरह लाइबनीज का **नवीन निबन्ध** आधुनिक दर्शन के इतिहास में काफी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। यदि बर्कले और ह्यूम को इस निबंध का ज्ञान रहता तो इंग्लैंड में दर्शन की जो धारा बही है उसमें कुछ परिवर्तन अवश्य हुआ होता।

जिस समय लाइबनीज की मृत्यु हुई उस समय वह इंग्लैंड के दार्शनिक **सैमुअल क्लार्क** से पत्राचार कर रहा था। सैमुअल क्लार्क न्यूटन का शिष्य था। न्यूटन इंग्लैंड की महारानी के दरबार में आता-जाता था। लाइबनीज ने वेल्स की राजकुमारी को जो बाद में इंग्लैंड की महारानी हो गयी एक पत्र लिखा था। राजकुमारी ने लाइबनीज के ग्रन्थ **थियोडिसी** का अध्ययन किया था। उसने देखा कि लाइबनीज का दृष्टिकोण न्यूटन के दृष्टिकोण से टकराता है। इसलिए उसने लाइबनीज से प्रश्न किया था। इसी प्रश्न के उत्तर में लाइबनीज ने उसको पत्र लिखा था। वह पत्र सैमुअल क्लार्क को दिया गया और उससे कहा गया कि वह लाइबनीज को उत्तर लिखे। क्लार्क ने चार पत्र लिखे जिनका लाइबनीज ने जवाब दिया था। अन्त में उसने पाँचवाँ पत्र लिखा जो लाइबनीज की मृत्यु के कारण बिना जवाब के रह गया। इस प्रकार क्लार्क के पाँच पत्र और लाइबनीज के चार पत्र हैं। लाइबनीज ने फ्रांसीसी में पत्र लिखा था। क्लार्क ने अँग्रेजी में पत्र लिखे थे और लाइबनीज के लिए उन्हें फ्रांसीसी में अनूदित कराये थे। लाइबनीज की मृत्यु के कुछ साल बाद यह पत्रचार फ्रांसीसी मे प्रकाशित हुआ। इस पत्राचार में यह उल्लेखनीय है कि वेल्स की राजकुमारी ने स्वयं न्यूटन को विवाद में नहीं फँसाया यद्यपि क्लार्क का लाइबनीज से विवाद न्यूटन के ही सिद्धान्तों के ऊपर था। लाइबनीज ने देशकाल से सम्बन्धित न्यूटन के प्रत्ययों की आलोचना की थी। बीसवीं शती में लाइबनीज की आलोचना के आधार पर ही सापेक्षतावाद (Theory of Relativity) बना और न्यूटन-चर्चित विश्व को अपर्याप्त समझा गया। इस तरह यद्यपि लाइबनीज को अपने समय में पर्याप्त मान्यता नहीं मिली थी, तथापि तीन शताब्दियों के बाद उसे पर्याप्त मान्यता मिली। वह न्यूटन का प्रतिद्वन्द्वी था। उसने न्यूटन के भौतिक विज्ञान को गलत सिद्ध किया था। यह सब **लाइबनीज और क्लार्क पत्राचार** में है। अतः आज इस पत्राचार का महत्त्व बढ़ गया है।

लाइबनीज और आर्नाल्ड के पत्राचार। आर्नाल्ड **पोर्ट रायल लाजिक** के लेखकों में से था। वह डेकार्टवादी तार्किक और दार्शनिक था। लाइबनीज ने उसके साथ तत्त्वदर्शन और तर्कशास्त्र पर काफी पत्र-व्यवहार किया था। इसी पत्र-व्यवहार में लाइबनीज ने प्रातिपादन किया था कि सत्य वाक्य में विधेय पद उद्देश्य पद के अन्तर्गत रहता है। वाक्य चाहे सामान्य हों या विशेष, उसका विधेय पद उसके उद्देश्य पद के अन्दर रहता है। विशेष वाक्यों के प्रति लाइबनीज के पूर्व ऐसा किसी ने नहीं कहा था। तर्कशास्त्र के इस सिद्धान्त से ही लाइबनीज का दर्शन निकलता है। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक द्रव्य या विशेष पद जो उद्देश्य है अपने अन्दर अपने समस्त सम्भव विधेयों को छिपाये है। यहीं से लाइबनीज का दर्शन आरम्भ

होता है। इस दर्शन की मान्यता है कि द्रव्य बिलकुल स्वतन्त्र है और दो द्रव्यों का पारस्परिक सम्पर्क नहीं होता। लाइबनीज और आर्नाल्ड के पत्राचार में लाइबनीज के तर्कशास्त्र और तत्त्वदर्शन स्पष्ट हुए हैं। इसलिए इस पत्राचार का भी विशेष महत्त्व है।

आर्नाल्ड के लिए ही लाइबनीज ने अपने दर्शन का संक्षेप ३७ अनुच्छेदों में लिखा जिसे **तत्त्वदर्शन का विमर्श** (Discousre on Metaphysics) कहा जाता है। किन्तु इसको उसने हैसे—राइनफेल्स के राजकुमार अर्नस्ट के पास भेजा और उससे कहा कि वह इसे आर्नाल्ड के पास भेज दे। राजकुमार यूजेन के लिए उसने अपने दर्शन का संक्षेप **'प्रकृति और कृपा के सिद्धान्त'** (Principles of Nature and Grace) नामक निबन्ध भी लिखा। इसी राजकुमार को दर्शन समझाने के लिए उसने **चेतनाणुविज्ञान**[1] (Monadology) लिखा। इन तीन निबन्धों में उसके तत्त्वदर्शन की स्पष्ट व्याख्या हुई है।

उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त लाइबनीज की अनेक और रचानाएँ हैं। १६२३ ई० में प्रशियन एकेडेमी आव साय़न्सेज ने ४० जिल्दों में उसकी समस्त रचनाओं को प्रकाशित करने की योजना बनायी। ये ४० जिल्दें ७ खण्डों में विभक्त हैं :—(१) सामान्य, राजनीतिक और ऐतिहासिक पत्राचार, ११ जिल्द। (२) दार्शनिक पत्राचार, ६ जिल्द। (३) गणित, विज्ञान और तकनीकी से सम्बन्धित पत्राचार, ५ जिल्द (४) राजनीतिक कृतियाँ, ४ जिल्द। (५ ऐतिहासिक कृतियाँ, ४ जिल्द। (६) दार्शनिक कृतियाँ, ६ जिल्द। (७) गणित, विज्ञान और तकनीकी से सम्बन्धित कृतियाँ, ४ जिल्द। किन्तु इस योजना के अन्तर्गत अभी तक केवल ८ जिल्दों का प्रकाशन हुआ है। अभी तक लाइबनीज की समस्त कृतियों और पत्राचारों का प्रकाशन नहीं हो सका है। ४० जिल्दों की योजना से ही अनुमान लगाया जा सकता है कि लाइबनीज ने कितना अधिक लिखा है। उसकी रचनाओं की संख्या जितनी अधिक है उतनी ही उनकी गम्भीरता भी अधिक है। लेखन में गुण और मात्रा का ऐसा मणि-कांचन-संयोग अन्यत्र मिलना कठिन है।

३ चेतनाणुवाद

लाइबनीज का दर्शन चेतनाणुवाद (Monadology) है। उसने द्रव्य को चेतनाणु (Monad) कहा। उसके पहले डेकार्ट ने चेतना और जड़ इन दो प्रकार के द्रव्यों का लक्षण क्रमशः विचार और विस्तार किया था। स्पिनोजा ने द्रव्य का लक्षण स्वतन्त्रता किया था। लाइबनीज ने द्रव्य को क्रियाशील माना। उसके मत से क्रियाशीलता या शक्ति द्रव्य का लक्षण है। उसकी यह परिभाषा बौद्धों द्वारा दी गयी

१. इसका हिन्दी अनुवाद शिवानन्द शर्मा ने **चिदणु-विज्ञान** नाम से किया है जिसका प्रकाशन हिन्दी समिति उत्तर प्रदेश, लखनऊ ने किया है।

सत् की परिभाषा से मेल खाती है। अर्थक्रियाकारित्वं सत् अर्थात सत वह है जो अर्थक्रिया-कारक हो, यानी जिससे कुछ उत्पन्न हो। सत् की इस परिभाषा में शक्ति पर बल है, न कि विस्तार या आकार पर। शक्ति ही सत् है। शक्ति कोई गुण या विकार नहीं है। वह द्रव्य है। जो शक्ति है वही द्रव्य है। जो द्रव्य है वह शक्ति (Force) है। द्रव्य के इस लक्षण ने डेकार्ट और स्पिनोजा के द्वारा किये गये द्रव्य के लक्षणों को बदल दिया। इस लक्षण के अनुसार द्रव्य अनेक हैं, विशेष हैं, क्योंकि, जो विशेष वस्तुएँ या व्यक्ति देखे जाते हैं उनमें शक्ति या क्रियाशीलता भी देखी जाती है। फिर इस लक्षण ने भौतिक द्रव्य और आध्यात्मिक द्रव्य के भेद को दूर कर दिया। शक्ति दोनों प्रकार के द्रव्यों का लक्षण है। भौतिक वस्तुएँ शक्तिशाली हैं और आध्यात्मिक व्यक्ति तो शक्तिशाली हैं ही। प्रत्येक चेतनाणु जो शक्ति-कण है, स्वतः चालित है। उसमें चरिष्णुता (Appetition) है।

जैसे चेतनाणु का अनिवार्य लक्षण शक्ति है वैसे ही उसका एक दूसरा अनिवार्य लक्षण अविभाज्यता है। वह मूल द्रव्य है। उसके भाग-विभाग नहीं हैं। वह अकल या निरंश है, परमाणु है। किन्तु वह भौतिक परमाणु नहीं है, क्योंकि प्रत्येक भौतिक परमाणु दैशिक होता है, और इस कारण वह विभाज्य होता है। फिर वह विन्दु या ज्यामितीय परमाणु भी नहीं है क्योंकि विन्दु यद्यपि अविभाज्य है तथापि वह अवास्तविक स्थान है। चेतनाणु चेतन या आध्यात्मिक अणु है। वह वास्तविक है। वह अदैशिक है। वह आत्मा की भाँति है, न कि भौतिक परमाणुओं की भाँति। यह उल्लेखनीय है कि भारतीय दर्शन में भी रामानुज आदि सगुण वेदान्तियों ने आत्मा को अणु और अनेक बताया है। उन्हीं की तरह लाइबनीज भी मानता है कि द्रव्यभूत शक्तिकण चेतन हैं।

यहाँ पर शंका हो सकती है कि यदि द्रव्यभूत शक्तिकण अनिवार्यतः चेतन हैं तो जड़ वस्तुओं को कैसे चेतनाणु कहा जायगा? इसके उत्तर में लाइबनीज का कहना है कि वास्तव में जड़ वस्तुएँ भी चेतन हैं, किन्तु उनकी चेतना प्रसुप्त है या मूर्च्छित है। इस प्रकार लाइबनीज जड़ता का खण्डन करता है। वह विशुद्ध अध्यात्मवादी है। उसके अनुसार केवल चेतनाणुओं का ही अस्तित्व है।

शक्ति और अविभाज्यता के अतिरिक्त चेतनाणुओं का एक और लक्षण है स्वतन्त्रता। प्रत्येक चेतनाणु परम स्वतंत्र है। इस बात को लाइबनीज ने काव्यमय शैली में कहा है कि "चेतनाणुओं में गवाक्ष या द्वार नहीं हैं जिनके द्वारा कोई चीज उनमें प्रविष्ट कर सके या उनसे बाहर निकल सके"[1]। चेतनाणु गवाक्षहीन हैं।

१. मोनैडोलाजी, ७।

इन्द्रियों को आत्मा का द्वार या गवाक्ष कहा जाता है। यह भी कहा जाता है कि आत्मा इन्द्रियों की सहायता से देखती है और उसमें इन्द्रियों के द्वारा बाह्य जगत को वस्तुओं के प्रतिबिम्ब या संस्कार पड़ते हैं। लाइबनीज आत्मा को इस प्रकार की नहीं मानता है। उसके अनुसार आत्मा एक चेतनाणु है जिसके कोई गवाक्ष या इन्द्रियरूपी द्वार नहीं हैं। प्रत्येक चेतनाणु अन्य चेतनाणुओं से स्वतंत्र है। दो चेतनाणुओं का सम्पर्क या पारस्परिक क्रिया असम्भव है। प्रत्येक चेतनाणु स्वतः अपने अन्दर ही क्रियाशील है। वह अपने में पर्याप्त या पूर्ण है। इसलिए उसे पूर्णक (Entelechy) कहा जाता है।

सभी मूल द्रव्यों या सृष्ट चेतनाणुओं को पूर्णक कहा जा सकता है क्योंकि उनमें एक प्रकार की पूर्णता है। उनमें एक पर्याप्तता है जो उन्हें उनके आन्तरिक कार्यों का स्रोत, या कहिए अभौतिक स्वयंचालक, बनाती है[1]।

प्रत्येक चेतनाणु अनश्वर है क्योंकि वह अकल या अविभाज्य है। फिर उसमें न तो विस्तार (Extension) है और न आकार (Figure), क्योंकि यदि उसमें विस्तार और आकार होते तो वह अंशवान् या विभाज्य होता। चेतनाणु वास्तविक इकाई है।

चेतनाणु में चरिष्णुता (Appetition) और प्रत्यक्ष (Perception) दो प्रकार की क्रियाएँ होती हैं। चरिष्णुता परिवर्तन का सिद्धान्त है। इसके कारण चेतनाणु एक प्रत्यक्ष से स्वभावतः दूसरे प्रत्यक्ष तक गति करता है। फिर, प्रत्यक्ष चेतनाणु की अभिव्यक्ति है। चेतनाणु अपने अन्दर समस्त जगत् को अभिव्यक्त करने की क्षमता रखता है और धीरे-धीरे यह उसे अभिव्यक्त करता है। "प्रत्येक चेतनाणु अपने ढंग से विश्व का दर्पण है[2]।"

जो संघात है वह चेतनाणुओं का समूह है। जगत् की वस्तुएँ संघात हैं। वे अनेक चेतनाणुओं के संगठन से बनी हैं।

चेतनाणुओं का व्यवहार नियमबद्ध है। निम्नलिखित चार नियम उनके व्यवहार में देखे जाते हैं:—

(क) **सातत्य का नियम**। चेतनाणुओं में सातत्य है। वे एक अटूट शृंखला में बद्ध हैं। किन्हीं दो चेतनाणुओं के बीच कोई रिक्तता नहीं है। उनमें एक तारतम्य है। इस तारतम्य में न तो कहीं तोड़-मरोड़ है और न तो कहीं पुनरावृत्ति। प्रकृति छलांग नहीं मारती है। वह सातत्य के नियम से अनुशासित है। वह निरन्तर

---

१. वही, १८।

२. वही, ६३।

विकास करती है। जिन दो द्रव्यों या चेतनाणुओं में हमें काफी अन्तर दीख पड़ता है, वस्तुतः उनके बीच अनेक चेतनाणु हैं जो उन दोनों चेतनाणुओं को क्रमबद्ध या शृंखलाबद्ध करते हैं। चेतनाणुओं के सातत्य को हम संख्या के सातत्य से समझ सकते हैं। १, २, ३, ४, ५, आदि अंकों में सातत्य है। एक और दो के बीच में भी असंख्य संख्याएँ हैं। एक और दो के बीच में कोई रिक्तता या अभाव नहीं है। दोनों के बीच में असख्य संख्याओं का व्यवधान है। एक से धीरे-धीरे असंख्य संख्याओं के बीच से बढ़ते-बढ़ते दो की संख्या आती है। ऐसे ही दो और तीन, तीन और चार, आदि अंकों के बीच भी असंख्य संख्याएँ हैं जो इन अंकों को एक शृंखला में व्यक्त करती है। इसी प्रकार चेतनाणुओं में नैरन्तर्य है।

सातत्य के नियम से सिद्ध होता है चेतनाणुओं में अवस्था का भेद होता है। कोई चेतनाणु निम्न है तो कोई उच्च। चेतनाणुओं के तारतम्य में सबसे निम्न अवस्था उन चेतनाणुओं की है जिन्हें सामान्यतः जड़ वस्तु कहा जाता है। वे लाइबनीज के मत से सुप्त चेतनाणु हैं। उनकी चेतना प्रसुप्त है। वे चेतन हैं किन्तु उनकी चेतना जाग्रत नहीं है। यही कारण है कि वे जड़वत् प्रतीत होते हैं।

सुप्त चेतनाणुओं से उच्चतर जीव (Soul) हैं। जीव के अन्तर्गत पशु आते हैं। उनमें जो चेतना है वह जागरूक है। वे प्रत्यक्ष करते हैं। उनसे उच्चतर मानव आत्माएँ हैं जिनकी चेतना पाशव चेतना से अधिक जागरूक है। मानव की चेतना मननात्मक है; पशुओं की चेतना मननात्मक नहीं है। फिर मानव आत्माओं से उच्चतर वे आत्माएँ हैं जिन्हें लाइबनीज जिन्द (Genii) कहता है। जिन्दों की चेतना मानव चेतना से अधिक जागरूक है। अंत में सर्वोच्च चेतनाणु है जो ईश्वर है।

ईश्वर और अन्य चेतनाणुओं में केवल मात्रा का अन्तर है। ईश्वर सबसे बड़ा या सबसे अधिक जागरूक चेतनाणु है। वास्तव में वह पूर्णतः जागरूक है। उसकी जागरूकता इतनी पूर्ण है कि उसके साथ कोई पिण्ड या देह या आकार नहीं लगा हुआ है। जिन चेतनाणुओं के साथ कोई पिण्ड या देह या आकार लगा रहता है वे पूर्णतया जागरूक नहीं है, क्योंकि जो चेतनाणु उसके देह का निर्माण करते हैं वे जागरूक नहीं हैं। इस भेद के कारण ईश्वर निराकार और पूर्ण चेतनाणु है और अन्य सभी चेतनाणु अपूर्ण तथा देहधारी हैं। अन्य चेतनाणुओं को लाइबनीज पूर्णक (Entelechy) कहता है। वे सृष्ट या सीमित चेतनाणु हैं। वे ईश्वर की सतत अभिव्यक्ति-प्रक्रिया में प्रकट होते हैं।

यह न समझना चाहिए कि चेतनाणुओं के तारतम्य में केवल उपर्युक्त पाँच अवस्थाएँ ही हैं। वास्तव में उनकी अनन्त अवस्थाएँ हैं। इनमें से किन्हीं दो अवस्थाओं के बीच भी अनेक अवस्थाएँ हैं। चेतनाणुओं के समाज में कोई सहसा

छोटा या बड़ा नहीं होता है। जो छोटे और बड़े हैं उनके बीच में अनेक ऐसे चेतनाणु हैं जो छोटे चेतनाणु से क्रमशः धीरे-धीरे बड़े हैं और अन्त में बड़े चेतनाणु से मिल जाते हैं।

(ख) **सादृश्य का नियम**। सभी चेतनाणुओं की जाति एक ही है। वे सब सजातीय हैं। चेतनाणु होने के कारण उनमें कोई विजातीय भेद नहीं हैं। विराम गति का विरोधी नहीं है, वह सूक्ष्म गति है। बुराई अच्छाई का विरोधी नहीं है, वह अल्पतर अच्छाई है। अन्धकार प्रकाश का विरोधी नहीं है, वह अल्पतर प्रकाश है। इसी प्रकार कंकड़-पत्थर, घास-फूस, पेड़-पौधे, जीव-जन्तु आदि और मनुष्य विरुद्ध जाति वाले नहीं हैं। सब की जाति एक है। केवल प्राणिमात्र ही नहीं वरन् भूत-मात्र की एक जाति है। उनमें केवल मात्रा का भेद है। सभी चेतनाणु हैं और सभी में सादृश्य तथा संवाद है।

(ग) **वैसादृश्य का नियम**। किन्तु सदृश होते हुए भी कोई दो चेतनाणु एक ही नहीं हैं। प्रत्येक चेतनाणु का अपना व्यक्तित्व है। वह एक व्यक्ति है। प्रकृति में कहीं पुनरावृत्ति नहीं है। कोई दो वस्तुएँ, दो व्यक्ति या दो घटनाए एक ही नहीं हैं। उनमें विषमता या पृथक्ता है। दो पत्तियाँ या एक चने की दो दालें भी एकरूप नहीं हैं। प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तुओं से स्वरूपतः भिन्न है। इतिहास कभी अपने को दोहराता नहीं है। जो समझते हैं कि इतिहास अपने को दोहराता है उनमें भेदों को देखने की शक्ति नहीं रहती है, उनका ज्ञान भ्रान्त रहता है। वैसादृश्य के नियम को लाइबनीज अदृश्यों का अभेद (Identity of Indiscernibles) कहता है, क्योंकि जहाँ हम दो वस्तुओं का अभेद देखते हैं, वस्तुतः वहाँ उनके भेद हमसे अदृश्य रह जाते हैं और हम उनके अदृश्य भेदों को न देख सकने के कारण उनको अभिन्न कहते हैं। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो प्रत्येक वस्तु निराली है और किन्हीं दो वस्तुओं को परमार्थतः अभिन्न नहीं कहा जा सकता है।

(घ) **शक्ति के संरक्षण का नियम**। चेतनाणुओं का स्वरूप शक्ति (Force) है। लाइबनीज के अनुसार उनकी शक्ति का योग सदा एक ही रहता है। विश्व में जितनी शक्ति है वह सदा उतनी ही बनी रहती है, न घटती है, न बढ़ती है।

डेकार्ट ने गति के संरक्षण का नियम ढूँढ़ा था। उसके अनुसार वास्तविक गतियों का महायोग सदा एक ही रहता है। लाइबनीज ने उसके मत की आलोचना की और गति के संरक्षण के स्थान पर शक्ति के सरक्षण का नियम बनाया। लाइबनीज के अनुसार जिसे आजकल क्रियात्मक शक्ति (Kinetic Energy) कहते हैं उसका योग सदा स्थिर रहता है। किन्तु आजकल लाइबनीज का मत भी गलत सिद्ध हो गया है। आजकल क्रियात्मक शक्ति (Kinetic Energy) और संभाव्य शक्ति (Potential Energy) के योग को स्थिर माना जाता है। स्वयं लाइबनीज ने भी क्रियात्मक शक्ति

ओर संभाव्य शक्ति का भेद किया था और शक्ति के संरक्षण का वर्तमान नियम बहुत कुछ उसके आधार पर बना है।

सारा विश्व इन नियमों से अनुशासित चेतनाणुओं से भरा हुआ है। भूत-तत्त्व केवल विभाज्य ही नहीं वरन् वस्तुतः अनन्त अंशों में विभक्त है। भूततत्त्व के छोटे से छोटे अंश में जीवों, प्राणियों, पशुओं, पूर्णकों, आत्माओं का एक जगत् है। भूततत्त्व के प्रत्येक अंश को पौधों से भरा उपवन या मछलियों से भरा सरोवर समझा जा सकता है। किन्तु पौधे की प्रत्येक शाखा, मछली का प्रत्येक अंश, रस या रक्त का प्रत्येक विंदु भी ऐसा ही उपवन या सरोवर है। और यद्यपि पृथ्वी और वायु उपवन के पौधों के बीच व्यवधान रूप में रहते हैं और वे स्वयं पौधे नहीं हैं, या जल सरोवर की मछलियों के बीच रहता है और स्वयं मछली नहीं है; तथापि इस पृथ्वी और वायु में ऐसे पौधे हैं और इस जल में ऐसी सूक्ष्म मछलियाँ हैं जो हमें दृष्टिगोचर नहीं होते। इस तरह विश्व में कहीं ऊसर, बंजर या मरण नहीं हैं, कहीं अव्यवस्था नहीं है, कहीं विपर्यय नहीं है; ये सब केवल आभास हैं। इन सबको हम वैसे ही देखते हैं जैसे दूर से विना मछलियों को देखे हम सरोवर में उनकी भ्रान्त सामूहिक गति को देखते हैं[१]।

४ मन और देह

लाइबनीज सर्वजीववादी है। वह अजीव के अस्तित्व का खण्डन करता है और सिद्ध करता है कि जिसे लोग अजीव समझते हैं वह अनेक क्षुद्र जीवों का पुंज है। खुर्दबीन की खोज और उसके सहारे क्षुद्र कीटाणुओं की खोज ने लाइबनीज के इस कथन का वैज्ञानिक ढंग से समर्थन किया है। लाइबनीज का सर्वजीववाद भारतीय दर्शन में जैन मत का स्मरण कराता है जो पृथ्वी, वायु, जल, अग्नि में भी अनेक जीवों को मानता है।

ईश्वर को छोड़कर प्रत्येक चेतनाणु देही है। उसका देह अनेक चेतनाणुओं का संगठन है। देही चेतनाणु को पूर्णक (Entelcchy) और देह-चेतनाणुओं को देह (Body) कहा जाता है। इस पूर्णक को हम मन भी कह सकते हैं। इस तरह ईश्वर को छोड़कर प्रत्येक चेतनाणु के मन और देह हैं।

देह अनेक चेतनाणुओं का संस्थान या संगठन है। इस संस्थान में एक चेतनाणु संगठन-कर्त्ता या प्रभु होता है। उसे ही मन कहा जाता है। देह के सभी चेतनाणु उस मन के अधीन रहते हैं। मन उनको संगठित और प्रेरित करता है। मन उनका

१. मोनैडोलाजी, ६७-६९।

साध्य है, वे मन के साधन हैं। मन अकल या अंशहीन है। किन्तु देह अंशवान् है। उसके प्रत्येक अंश में अनेक देह हैं। इस प्रकार देह के अन्दर देह का तारतम्य अनन्त तक जाता है। देह ऐसा यन्त्र है जिसके अन्दर-अन्दर यन्त्र ही यन्त्र भरे हैं।

देह के घटक चेतनाणु वैसे ही कार्य करते हैं जैसे मधु की मक्खियाँ छत्ते में काम करती हैं या चीटियाँ अपने समूह में काम करती हैं। हर मधुमक्खी अन्य मक्खियों से स्वतंत्र है। किन्तु फिर भी सभी मधुमक्खियाँ अपने छत्ते के उद्देश्य से काम करती हैं। उनकी एक साम्राज्ञी मधुमक्खी होती है जिसके इर्द-गिर्द अन्य मधुमक्खियाँ अपना व्यापार करती हैं। इसी प्रकार देह के घटक चेतनाणु भी मन के पूरे इर्द-गिर्द अपना व्यापार करते हैं।

मन ऐसा चेतनाणु है जो जागरूक है। वह क्रियाशील है। देह-चेतनाणु जागरूक नहीं हैं वे क्रियाशील भी नहीं हैं, वे प्रसुप्त और उदासीन हैं।

उदासीनता को लाइबनीज मूल भूततत्त्व (Materia prima) कहता है। प्रत्येक सृष्ट चेतनाणु पूर्णतः क्रियाशील नहीं है। उसमें कुछ उदासीनता है। केवल ईश्वर ही पूर्णतः क्रियाशील है। इसलिए उसे विशुद्ध कर्म (Actus Purus) कहा जाता है। उसमें अकर्म लेशमात्र भी नहीं है। परन्तु सृष्ट चेतनाणुओं में कर्म की प्रधानता होते हुए भी न्यूनाधिक अकर्म रहता है। उनकी यह अकर्मण्यता मूल भूततत्त्व है। यह ध्यान देने की बात है कि विशुद्ध अकर्मण्यता नाम की कोई चीज नहीं है। अकर्मण्यता केवल कर्मठता या क्रियाशील चेतनाणु का एकपक्ष है। इस कारण मूल भूततत्त्व कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है। वह चेतनाणु का केवल एक पक्ष है।

चेतनाणुओं का संघात या पुंज लाइबनीज के शब्दों में गौण भूततत्त्व (Materia Secunda) है। मूल भूततत्त्व वास्तविक है। किन्तु गौण भूततत्त्व केवल देखने में है। गौण भूततत्त्व किसी चेतनाणु का गुण या पक्ष नहीं है। वह चेतनणुओं के समूह का आभास मात्र है। किन्हीं चेतनाणुओं का कोई एक स्थिर समूह नहीं होता है। उनका समूह बनता-बिगड़ता रहता है। चेतनाणु एक समूह (शरीर) को छोड़कर दूसरे समूह में आते-जाते रहते हैं। उनके समूह-परिवर्तन से एक गौण भूततत्त्व लुप्त होता है और दूसरा गौण भूततत्त्व प्रकट होता है। यह परिवर्तन जब आत्यन्तिक होता है तब उसे क्रमशः मृत्यु और जन्म कहते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि मृत्यु और जन्म वास्तविक घटनाएँ नहीं हैं। वे केवल आभास हैं या चेतनाणुओं के समूह के परिवर्तन से किसी तत्त्व का नाश या उदय नहीं होता है। जो तत्त्व है वह मूल भूततत्त्व से युक्त चेतनाणु है और वह अनश्वर है। लाइबनीज किसी संघात के पहले और बाद उस संघात के घटक-चेतनाणुओं को अक्षर या अनश्वर मानता

है। इसलिए वह चेतनाणु को जन्म से पूर्व और मृत्यु के पश्चात् दोनों प्रकार से अमर मानता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि हर सृष्ट चेनताणु के मन और देह अमर हैं। मन वह चेतनाणु है जो क्रियाशील है और देह वह चेतनाणु-समूह है जो अपेक्षाकृत कम क्रियाशील है।

कोई ऐसा मन नहीं है जो विना देह के हो और कोई ऐसा देह भी नहीं है जो विना मन के हो। जिन वस्तुओं को हम विशुद्ध भौतिक समझते हैं, लाइबनीज के मत से उनके भी मन हैं। इस प्रकार मन और देह का नित्य साहचर्य है। मन और देह का सम्बन्ध अटूट है। यह सम्बन्ध उतना ही मौलिक और अनश्वर है जितना स्वयं चेतनाणु क्योंकि यह चेतनाणु का स्वरूप है[1]। किन्तु इस साहचर्य का यह तात्पर्य नहीं है कि देह की भौतिकता परमार्थतः मौलिक तत्त्व है जो मन के साथ संलग्न रहती है। देह वह चेतनाण-समूह है जिसके चेतनाणु अज्ञ हैं। मूल भूततत्त्व वस्तुतः अज्ञान है। यदि इन चेतनाणुओं के अतिरिक्त हम उनके व्यूह को देह कहें तो वह व्यूह बिलकुल आभास या मिथ्या है। यह वैसे ही है जैसे आकाश में पक्षियों के उडने का मार्ग-निशान। यह गौण भूततत्त्व है और मात्र आभास है।

देह अनेक चेतनाणुओं की आपसी मिलन-योग्यता (Compossibility) है। सामान्यतः लाइबनीज इस मिलन-योग्यता को अनित्य, परिवर्तनशील मानता है। किन्तु उसने जेमस क्राइस्ट के देह को प्रतिवर्ष होने वाले अन्तिम भोज (Lord's Supper) नामक त्योहार में वस्तुतः उपस्थित माना है। यह रोमन कैथलिकों का अन्धविश्वास है। इसके अनुसार जेमस क्राइस्ट का देह नित्य है। लाइबनीज के चेतनाणवाद के अनुसार यह सिद्ध नहीं होता है। किन्तु अर्डमन और रसल ने लाइबनीज के इस मत पर बल देते हुए कहा है कि वास्तव में प्रत्येक सृष्ट चेतनाणु अस्तिकाय (Corporeal) है क्योंकि वह सीमित है[2]। अस्तिकाय होने के कारण उसके मन और देह का सम्बन्ध दव्यार्थक (तात्त्विक) है, मन और देह का सम्बन्ध द्रव्यार्थक है। मन और देह का सम्बन्ध स्वयं एक द्रव्य या पदार्थ है। यह द्रव्यमूलक बन्धन (Vinculum Substantiale) है। किन्तु यहाँ अर्डमन और रसल का मत लाइबनीज के इस मत के विरोध में है कि प्रत्येक चेतनाणु स्वरूपतः क्रियात्मक शक्ति है और भूततत्त्व वास्तव में अज्ञान का पर्याय है। इसलिए उनके मत गलत हैं। लाइबनीज रोमन कैथोलिक ईसाई और प्रोटेस्टेण्ट ईसाइयों को एक करना चाहता

---

१. देखिए, ए० डबल्यु० कार की पुस्तक 'लाइबनीज,' पृ० १२१।

२. हिस्ट्री आव फिलासफी, अर्डमन, जिल्द दो, पृ० १८८-१२१; फिलासफी आव् लाइबनीज, रसल, अध्याय ११।

था। इसलिए व्यवहार में इस एकता को कायम करने के लिए उसने कुछ ऐसी बातें भी कहीं जो उसके दर्शन के प्रतिकूल हैं। क्राइस्ट के देह को अन्तिम भोज के त्योहार में उपस्थित मानना ऐसी ही एक बात है।

५ पूर्वस्थापित एकता

मन और देह का सम्बन्ध शास्ता और शासित का सम्बन्ध है। मन शास्ता है और देह शासित है। किन्तु यह सम्बन्ध वैचारिक है। मन और देह में कोई सम्पर्क नहीं होता है। मन देह का संस्पर्श नहीं करता है। दोनों में उद्देश्य की एकता है। मन जो अधिक चेतन है इस उद्देश्य की स्पष्ट व्याख्या करता है। देह इस उद्देश्य को स्पष्ट नहीं जानता है। उसे इसका मन्द ज्ञान या अज्ञान है। किन्तु वह भी इसी उद्देश्य से स्वभावतः कार्य करता है।

अब प्रश्न है कि मन और देह के उद्देश्य की एकता का कौन विधान करता है। उद्देश्य की एकता के कारण उनके व्यापारों में भी एकता रहती है। लाइबनीज का मत है कि उनकी एकता पूर्वस्थापित है। यह पूर्वस्थापित एकता (Pre-established Harmony) उनके स्वभाव में है। ईश्वर ने उनकी सृष्टि के अवसर पर ही उनमें इस एकता का आधान किया है।

लाइबनीज ने दो घड़ियों के उदाहरण से मन और देह की पूर्वस्थापित एकता को स्पष्ट किया है। मान लीजिए दो घड़ियाँ हैं जो एक दूसरे के पूर्णतः अनुरूप हैं। यह अनुरूपता तीन विभिन्न विधियों में से किसी एक द्वारा सम्पन्न हो सकती है। पहली विधि है कि एक का दूसरे पर पारस्परिक प्रभाव हो सकता है। दूसरी विधि है कि दोनों किसी चौकीदार की सतत निगरानी में हैं जो उनको अनुरूप बनाता रहता है। तीसरी विधि है कि प्रत्येक स्वयं ठीक-ठीक समय बता रही है, दोनों घड़ियाँ आरम्भ में ही इतनी कुशलता से बनायी गयी हैं कि हम उनके ठीक चलने के बारे में आश्वस्त हैं। यही तीसरी विधि पूर्वस्थापित एकता की विधि है।

पहली विधि डेकार्ट का अन्तरक्रियावाद (Interactionism) है। दूसरी विधि डेकार्टवादियों का ईश्वरनिमित्तवाद (Occasionalism) है। इन दोनों विधियों की लाइबनीज ने आलोचना की है। "पारस्परिक प्रभाव की विधि साधारण दर्शन की विधि है। किन्तु कैसे भौतिक अणु या अभौतिक अणु या संवेद्य वस्तुएँ आपस में एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य में बदलती हैं? हम इनके इस बदलाव की अवधारणा नहीं कर सकते। अतः हमें इस कल्पना को छोड़ देना चाहिए।" फिर ईश्वर-निमित्तवाद को लीजिए। "मेरा मत है कि एक साधारण और प्राकृतिक घटना के लिए यह विधि ईश्वर का चमत्कारी हस्तक्षेप ढूंढ़ती है। बुद्धिवाद के

अनुसार प्राकृतिक वस्तुओं के सामान्य क्रम के विरोध में जो है उसे उस क्रम पर हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए[1]।"

इस प्रकार पारस्परिक क्रिया और ईश्वर के हस्तक्षेप की आलोचना करते हुए लाइबनीज ने पूर्वस्थापित एकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। मन और देह दोनों में पूर्वस्थापित एकता है जिसके फलस्वरूप उनके व्यापार एक दूसरे के अनुरूप होते हैं। जब मामूली घड़ीसाज ऐसी घड़ियाँ बना देता है जो हमेशा ठीक चलती रहती हैं और सभी एक ही समय बताती हैं, तब ईश्वर की क्या बात ? वह तो बहुत ही कुशल चितेरा है ! फिर उसने जो मन और देह बनाये हैं उनमें स्वाभाविक एकरूपता क्यों न हो ?

'देह मन पर क्रिया करता है,' इस वाक्य का अर्थ है कि देह-चेतनाणुओं की अपेक्षाकृत निष्क्रिय अवस्था मन-चेतनाणु में स्पष्टतः प्रतिबिम्बित होती है। फिर जब कहा जाता है कि मन देह पर क्रिया करता है, तब उसका अर्थ है कि मन-चेतनाणु आन्तरिक अवस्था को अभिव्यक्त करते हुए एक कथन करना चाहता है और उसकी यह चाह देह-चेतनाणुओं में प्रतिबिम्बित होती है।

पूर्वस्थापित एकता केवल मन और देह के ही सम्बन्ध की ही व्याख्या नहीं है वरन् समस्त चेतनाणुओं के पारस्परिक सम्बन्ध की भी व्याख्या है। सभी चेतनाणुओ में पूर्वस्थापित एकता हैं। प्रत्येक चेतनाणु एक जीवन्त दर्पण है। वह अपने दृष्टिकोण से स्वभावतः समस्त विश्व को प्रतिबिम्बित करता है। उसके प्रतिबिम्बों का वही क्रम और विन्यास है जो विश्व की वस्तुओं का क्रम और विन्यास है।

पूर्वस्थापित एकता का सिद्धान्त वास्तव में स्पिनोजावाद के निकट है। जैसे स्पिनोजा ने माना कि वैचारिक जगत् और वैस्तारिक जगत् में एक ही द्रव्य की अभिव्यक्ति होने के कारण दोनों जगत् परस्पर स्वतन्त्र होते हुए भी एक दूसरे क अनुरूप हैं, वैसे लाइबनीज ने माना कि सभी चेतनाणुओं में पूर्वस्थापित या पूर्वनिहित एकता के कारण अनुरूपता है।

हमारे प्रत्यक्ष से पूर्वस्थापित एकता सिद्ध होती है। हम लोग अपने-अपने ढंग से प्रत्यक्ष प्राप्त करते हैं और देखते हैं कि हमारे प्रत्यक्षों में एक ही जगत प्रतिबिम्बित होता है। इससे सिद्ध होता है कि हमारे प्रत्यक्षों में एकरूपता है। हमारी आकांक्षाओं, भावनाओं और वासनाओं में भी वैसे ही एकरूपता दीख पड़ती है, जैसे हमारे प्रत्यक्षों में। फिर प्रत्येक चेतनाणु का स्वरूप वास्तव में प्रत्यक्ष और

---

१. कार की उपर्युक्त पुस्तक में उद्धृत लाइबनीज के वचन १०७-१०८।

आकांक्षा (या चरिष्णुता) है। इससे सिद्ध है कि सभी चेतनाणुओं में पूर्वनिहित एकता है।

बेयले ने लाइबनीज के मत की आलोचना करते हुए कहा है कि वास्तव में ईश्वरनिमित्तवाद ईश्वर के चत्मकारी हस्तक्षेप का सहारा नहीं लेता, क्योंकि इस मत में यह ईश्वर का सतत या नित्य व्यापार है और वह सृष्टि में सर्वत्र व्यापक है। चूंकि ईश्वर सर्वव्यापी है इसलिए वह सर्वत्र नित्य हस्तक्षेप करता है। उसका यह हस्तक्षेप आकस्मिक या चमत्कारपूर्ण नहीं है, किन्तु प्रकृति के नियम के अनुसार है। इसके विपरीत लाइबनीज का मत ईश्वर को सृष्ट चेतनाणुओं से पृथक् करता है और फिर उन पर ईश्वर का हस्तक्षेप दिखाता है। इसलिए पूर्व-स्थापित एकता का सिद्धान्त चेतनाणुओं के लिए एक बाह्य हस्तक्षेप और चमत्कार है। बेयले की इस आलोचना को आये-दिन दर्शन के इतिहास में अनेक लोगों ने व्यक्त किया है। बेयले के उत्तर में लाइबनीज ने दो बातों पर जोर दिया था। पहले, उसने बेयले के इस मत को गलत बताया कि ईश्वर निमित्तवाद में चमत्कार (Miracle, का सहारा नहीं है। "यदि ईश्वर नित्य चमत्कार करता है तो चमत्कार चमत्कार ही रहेंगे। चमत्कार तब आकस्मिक और आश्चर्यजनक न होगा जैसा कि वह साधारणतः समझा जाता है। किन्तु दार्शनिक दृष्टि से वह तब भी चमत्कार ही रहेगा, क्योंकि चमत्कार वह है जो प्राणियों की प्राकृतिक शक्ति के परे है। यह पर्याप्त नहीं है कि ईश्वर ने एक सामान्य नियम बनाया है क्योंकि सामान्य नियम की व्यवस्था के अतिरिक्त, उसको प्राकृतिक ढंग से कार्यान्वित करने की व्यवस्था होनी चाहिए, अर्थात् जो सामान्य नियम के अनुसार घटित होता है, उसकी व्याख्या वस्तुओं के उस स्वरूप के अनुसार होनी चाहिए जिसे ईश्वर ने उन्हें प्रदान किया है। प्रकृति के नियम उतने यादृच्छिक या अनिश्चित नहीं हैं जितना बहुत-से लोग सोचते हैं।" स्पष्ट है कि ईश्वरनिमित्त-वाद में मन और देह का सम्बन्ध ईश्वर के माध्यम से होता है, न कि मन और देह के स्वरूप के अनुसार। इसलिए ईश्वरनिमित्तवाद मन और देह के स्वरूप के विपरीत है और उनके संबन्ध की चमत्कारपूर्ण व्याख्या करता है।

फिर दूसरे, लाइबनीज ने सिद्ध किया कि पूर्वस्थापित एकता का सिद्धान्त चमत्कारपूर्ण व्याख्या नहीं है। जगत् जब सृष्ट हो गया तब वह एक आत्म-निर्धारित स्वयंचालक (Automaton) हो गया। फिर ईश्वर उस पर हस्तक्षेप नहीं करता है। जगत् की प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव के अनुसार ही अन्य वस्तुओं के अनुकूल व्यवहार कर रही है। मन और देह अपने स्वभाव के अनुसार ही एक दूसरे से समन्वित हैं।

बेयले ने प्रश्न किया, "क्या आन्तरिक शक्ति (चेतनाणु) जिन कर्मों को उत्पन्न करती है, वह उनके परिमाण को जानती है ? नहीं, हमें अनुभव से पता

चलता है कि भविष्य में या एक घन्टे बाद जो होने वाला है हम उससे पूर्णतः अनभिज्ञ हैं। अतः कोई बाहरी तत्त्व है जो चेतनाणुओं को उनके कर्मों के सम्पादन में निर्दिष्ट करता है। वह तत्त्व उनके कर्मों और कर्मफलों को जानता है। क्या यह ईश्वर-निमित्तवाद नहीं हुआ ?"

बेयले ने इस प्रकार चेतनाणुवाद से ईश्वर-निमित्तवाद का निष्कर्ष निकाला। किन्तु इसके उत्तर में लाइबनीज ने कहा कि चेतनाणु भावी प्रत्यक्षों को स्पष्टतः नहीं जानता है, किन्तु वह उनको अस्पष्टतः अनुभव करता है। प्रत्येक चेतनाणु में जो कुछ घटित हुआ है उसके संस्कार रहते हैं और जो कुछ घटित होने वाला है उसकी कुछ अनुसूचना रहती है। किन्तु इन प्रत्यक्षों की अनन्तता हमें उनके विवेक से वंचित करती है, ठीक जैसे किसी भीड़ की आवाज को सुन कर हम एक व्यक्ति की आवाज को दूसरे व्यक्ति की आवाज से भिन्न नहीं कर पाते। अतः यह सिद्ध नहीं होता कि चेतनाणुओं का निर्देशक कोई बाहरी तत्त्व है।

इस प्रकार लाइबनीज ने सिद्ध किया कि पूर्व-स्थापित एकता चेतनाणुओं के स्वभाव में निहित है। अतः बेयले की यह आलोचना निराधार है कि पूर्व-स्थापित एकता का सिद्धान्त ईश्वरनिमित्तवाद-जैसा ही है। लाइबनीज पूर्व-स्थापित एकता की खोज से इतना मग्न था कि उसे अपने को पूर्व-स्थापित एकता के सिद्धान्त का रचयिता कहने में गर्व होता था। उसने अपने दर्शन को भी पूर्व-स्थापित एकता का दर्शन कहा है। पूर्व-स्थापित एकता का सिद्धान्त उसके चेतनाणुवाद की पराकाष्ठा है।

६ ईश्वर

लाइबनीज के दर्शन में ईश्वर के दो स्वरूप है। पहला, ईश्वर सर्वोच्च चेतनाणु (Supreme Monad) है। अन्य चेतनाणुओं की तरह ईश्वर का भी मुख्य लक्षण प्रत्यक्ष और चरिष्णता है। किन्तु जहाँ अन्य चेतनाणु अपूर्ण हैं या पूरी मात्रा में प्रत्यक्षकर्त्ता और चरिष्णु नहीं हैं वहाँ ईश्वर पूर्ण है और पूरी मात्रा में प्रत्यक्षकर्त्ता तथा चरिष्णु है। वह पूर्णतः गतिशील है। उसमें अगति का सर्वथा अभाव है। वह पूर्णतः शक्तिशाली है। उसमें अशक्ति, निष्क्रियता या अकर्मण्यता का सर्वथा अभाव है। उसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति और अनन्त इच्छा है। यहाँ अनन्त का अर्थ तत्त्वतः 'पूर्ण' है। इस प्रकार पूर्ण ज्ञान, पूर्ण शक्ति और पूर्ण इच्छा होने के कारण ईश्वर अन्य चेतनाणुओं से भिन्न है। जहाँ अन्य चेतनाणु अपेक्षाकृत निष्क्रिय होने के कारण देही या शारीरक हैं वहाँ ईश्वर पूर्णतः क्रियाशील होने के कारण विदेह या निराकार है। अन्य चेतनाणु प्रगति या विकास

कर रहे हैं। किन्तु ईश्वर का सम्पूर्ण विकास हो चुका है, क्योंकि वह पूर्ण चेतनाणु है।

ईश्वर का दूसरा स्वरूप यह है कि वह चेतनाणुओं का सृष्टिकर्त्ता है। उसने चेतनाणुओं की सृष्टि की है और उनमें ऐसी एकता स्थापित की है जिससे सभी चेतनाणु एक-दूसरे के अनुरूप रहते हैं।

किन्तु ईश्वर के इन दो रूपों में असंगति दीख पड़ती है। यदि ईश्वर चेतनाणुओं का सृष्टिकर्त्ता है, तो वह स्वयं चेतनाणु नहीं हो सकता है। सृष्टिकर्ता ईश्वर अपनी सृष्टि यानी चेतनाणुओं से परे या बाहर है। और यदि वह स्वयं एक चेतनाणु है तो फिर वह अन्य चेतनाणुओं का सृष्टिकर्त्ता नहीं हो सकता। इस असंगति को रसल ने लाइबनीज के दर्शन का सबसे बड़ा दोष कहा है। इस दोष के कारण रसल के अनुसार लाइबनीज के दो दर्शन हैं, जो एक दूसरे के प्रतिकूल हैं। उसका एक दर्शन चेतनाणुवाद है जिसमें ईश्वर सृष्टिकर्त्ता नहीं है किन्तु सबसे विकसित एक चेतनाणु है और अन्य चेतनाणु भी विकास करते-करते ईश्वर हो सकते हैं। ईश्वर स्वयं कुछ-न-कुछ विकास करता रहता है। अतः चेतनाणुवाद वास्तव में निरीश्वर-वाद है। अन्य चेतनाणु और ईश्वर के बीच कोई खाईं नहीं हैं। फिर, लाइबनीज का दूसरा दर्शन ईश्वरवाद है, जिसके अनुसार ईश्वर और अन्य चेतनाणुओं के बीच एक खाईं है, क्योंकि अन्य चेतनाणु ईश्वर से जातितः भिन्न हैं। जातिगत भेद यह है कि अन्य चेतनाणु सृष्टिकर्त्ता, विदेह या निराकार और पूर्ण नहीं है जब कि ईश्वर सृष्टिकर्त्ता, विदेह या निराकार और पूर्ण है। इस जातिगतभेद के कारण ईश्वर और चेतनाणुओं के बीच सातत्य का नियम नहीं है और यहाँ सातत्य का नियम जो चेतनाणुवाद का आधार है, भंग हो जाता है। फिर ईश्वर चेतनाणुओं को उत्पन्न करता है। चेतनाणु अपनी उत्पत्ति और संरक्षण के लिए ईश्वर पर निर्भर हैं। अतः वे पूर्णतः स्वतन्त्र या गवाक्षहीन भी नहीं हैं, जैसा कि चेतनाणुवाद की मान्यता है।

इस प्रकार रसल ने दिखाया है कि चेतनाणुवाद और ईश्वरवाद एक दूसरे के विरोधी हैं। उसने कहा है कि लाइबनीज का सच्चा दर्शन चेतनाणुवाद है। वह 'स्वान्तः सुखाय' चेतनाणुवाद को मानता था और दूसरों को खुश करने के लिए ईश्वरवाद को मानता था। चेतनाणुवाद का अवसान निरीश्वरवाद में होता है। लाइबनीज स्पिनोजा की उन यातनाओं को देख चुका था जिन्हें उसके युग ने उसे निरीश्वरवाद के कारण दी थी। इससे लाइबनीज को साहस न हुआ कि वह दुनिया के सामने अपने को निरीश्वरवादी घोषित करे और इसलिए उसे डरकर दुनिया के सामने

ईश्वरवाद मानना पड़ा। इस प्रकार ईश्वरवाद लाइबनीज के लिए एक विवशता है, ईश्वरवाद उसका पाखण्ड है और चेतनाणुवाद उसकी असलियत है[१]।

कुछ लोग लाइबनीज को उतना पाखण्डी नहीं मानते हैं जितना रसल मानता है। किन्तु उसके मत से भी चेतनाणुओं की दुनिया में ईश्वर एक अजनबी और भगेलू सत्ता है और उसमें उसका अस्तित्व खप नहीं रहा है[२]।

किन्तु कार जैसे आदर्शवादी व्याख्याकारों का कहना है कि "ईश्वर का प्रत्यय चेतनाणुओं के उसके निकाय में स्वभावतः प्रविष्ट होता है। वह बाहर से लादा नहीं जाता है। ईश्वर यन्त्र के बाहर नहीं जाता है। परमाणुओं के प्रतिकूल, चेतनाणुओं का भेद केवल गुणों के आधार पर है। उनकी अनेकता आन्तरिक क्रिया की विविधता है। उनका बाहरी विन्यास वास्तविक सम्बन्धों का संस्थान नहीं है, किन्तु दृष्टिकोण की विशिष्टता है। एक मानदण्ड या निकर्ष है जिससे उनकी तुलना की जा सकती है। अगर यह मानदण्ड न हो तो वे एक संस्थान के अन्तर्गत नहीं हो सकते। चूंकि उनकी क्रिया प्रत्यक्षीकरण है इसलिए यह मानदण्ड उनके प्रत्यक्षों की स्पष्टता की तथा उनके प्रत्ययों की पर्याप्तता या अपर्याप्तता की मात्रा है। इस प्रकार ईश्वर का प्रत्यय प्रत्यक्षीकरण और चरिष्णुता की पूर्णता का, या कहें ज्ञान और क्रिया की पूर्णता का, आदर्श बनकर चेतनाणुओं के संस्थान में स्वभावतः और अनिवार्यतः आ जाता है। उसकी अनेक मात्राएँ (Degrees) हैं[३]।"

वस्तुतः आदर्शवाद ही लाइबनीज का सिद्धान्त है। इसके आधार पर ईश्वर के उपर्युक्त दोनों रूपों में सामंजस्य स्थापित हो जाता है। इस सामंजस्य को जानने के लिए पहले लाइबनीज के अनुसार सृष्टि-प्रक्रिया का अर्थ जानना होगा।

लाइबनीज ने सृष्टि-प्रक्रिया का वह अर्थ नहीं किया है जो उसके पहले के दार्शनिकों ने किया था। उसके अनुसार "ईश्वर ने अलग-अलग व्यक्तिगत रूप से चेतनाणुओं को सृष्ट नहीं किया है, उसने विश्व को सृष्ट किया है जो स्वतन्त्र व्यक्तियों (चेतनाणु) से बना है और जिसमें वे क्रियाशील हैं।" "कोई चेतनाणु जन्म के समय उत्पन्न नहीं होता; वह अपने जन्म से पहले ही मौजूद है। कोई चेतनाणु मृत्यु से मरता नहीं हैं, मृत्यु के पश्चात् भी उसका अस्तित्व है। इस प्रकार वास्तव में प्रत्येक चेतनाणु अज या अजन्मा और अमर है। भारतीय दर्शन में भी प्रायः सभी दार्शनिकों ने आत्मा को अजन्मा और अमर माना है। लाइबनीज भी इसी

१. रसल, लाइबनीज का दर्शन, विशेषतः द्वितीय संस्करण का आमुख।
२. रूथ लोडिया सा, लाइबनीज।
३. हर्बर्ट विल्डन कार, लाइबनीज, पृ० ११५।

बात को कहता है। वह चेतनाणुओं को सृष्ट नहीं मानता है। किन्तु प्रकृति की व्यवस्था (Order) प्रकृति की सत्ता का आधार है (The Order of Nature is a pre condition of the existence of Nature)। जिस संस्थान में चेतनाणु है वह ईश्वर की सृष्टि है। ईश्वर की सृष्ट की हुई एक व्यवस्था है। वह व्यवस्था चेतनाणुओं में निहित है। इसी व्यवस्था को पूर्व-स्थापित एकता कहा जाता है। इसी के कारण चतनाणुओं का एक संस्थान बनता है।

लाइबनीज ने 'सृष्ट' शब्द का प्रयोग अवश्य किया, किन्तु उसने इसका एक नया अर्थ किया। वह कहता है कि केवल ईश्वर ही वह मूलतत्त्व है या मौलिक द्रव्य है जिसके सभी सृष्ट या निर्गमित चेतनाणु परिणाम हैं। या यों कहिए कि उनका (चेतनाणु का) जन्म प्रतिक्षण होने वाले ईश्वर मे शाश्वत विकरण (Fulguration) से होता है[२]। यहाँ स्पष्ट है कि लाइबनीज सृष्टि (Creation) को न मान कर विकरण (Fulguration) को मानता है। विकरण सृष्टि की अपेक्षा आविभाव (Emanation) के अधिक निकट है। चेतनाणु ईश्वर के विकरण हैं।

ईश्वर अन्य चेतनाणुओं की तरह सम्पूर्ण विश्व को अपने अन्दर प्रतिबिम्बित करता है। किन्तु ईश्वर मे सम्पूर्ण विश्व का प्रतिबिम्ब पूर्ण है और अन्य चेतनाणुओं में वह प्रतिबिम्ब न्यूनाधिक अपूर्ण या धुधला है। इस प्रकार चेतनाणुओं की आन्तरिक क्रिया मे विविधता के कारण उनकी अनेकता है। यह अनेकता दृष्टिकोणो की अनेकता है। ईश्वर अनन्त दृष्टिकोणों से सम्पूर्ण विश्व को प्रतिबिम्बित करता है। अतः दृष्टिकोणो की अनेकता ईश्वर में मिलती है। प्रत्येक चतनाणु जो भी दृष्टिकोण अपनाता है वह ईश्वर में है। बस इसी अर्थ मे कहा जाता है कि ईश्वर से अन्य सभी चेतनाणुओं का विकरण होता है।

ईश्वर अन्य सभी चेतनाणुओं के अस्तित्व का पर्याप्त-हेतु (Sufficient Reason) है। वही उनकी गति का मूल स्रोत है।

ईश्वर और चेतनाणुओं का सम्बन्ध दैशिक या तात्त्विक नहीं है। तत्त्वतः ईश्वर चेतनाणुओं की परम्परा में एक चेतनाणु है। सभी चेतनाणु स्वतंत्र हैं। किन्तु ज्ञान और विभूति में ईश्वर अन्य चेतनाणुओं से महान् है। वह उस ज्ञान और संकल्प-शक्ति को प्राप्त कर चुका है जो अन्य चेतनाणुओं के लिए साध्य हैं। इसलिए उसकी विभूति हर चेतनाणु में अंकित साध्य है। हर चेतनाणु उसकी पूर्णता की दिशा में ही अग्रसर है। योग-दर्शन के ईश्वर और पुरुष से लाइबनीज के ईश्वर

१, हर्बर्ट विल्डन कार, लाइबनीज, पृ० १२५।
२ मोनेडोलाजी, ४७।

और चेतनाणु की तुलना की जा सकती है। योग-दर्शन ने ईश्वर को एक विशेष पुरुष माना जिसमें थोड़ा भी मल या कल्मष नहीं है। इसी प्रकार लाइबनीज ने ईश्वर को एक विशेष चेतनाणु माना जिसमें थोड़ी भी निष्क्रियता और थोड़ा भी अज्ञान नही है। अपने वैभव के कारण ईश्वर चेतनाणुओं या पुरुषों पर प्रभाव रखता है जो तात्त्विक न होकर नैतिक और मूल्यात्मक है। ईश्वर या सर्वोच्च चेतनाणु स्वतंत्र आत्माओं या चेतनाणुओं के राज्य का पूर्ण सम्राट् है। वह विश्व का नैतिक शासक है। सभी चेतनाणु आपस में ईश्वर-पुरी या बैकुण्ठपुरी (City of God) स्थापित करते है जहाँ ईश्वर का राज्य है। इस बैकुण्ठपुरी को ही कांट ने साध्यों का राज्य (Kingdom of Ends) कहा है। इसी प्रकार यदि ईश्वर और चेतनाणुओं के सम्बन्ध को वैचारिक या मूल्यात्मक माना जाय जो वास्तव में लाइबनीज को अभीष्ट था, तो ज्ञात होता है कि ईश्वरवाद और चेतनाणुवाद में विरोध नहीं है, उल्टे ईश्वरवाद चेतनाणुवाद की पराकाष्ठा है।

ईश्वर एक है। वह अद्वितीय, सार्वभौम और अनिवार्य है। उसके बाहर कुछ नहीं है जो उससे स्वतंत्र है। उसका अस्तित्व सम्भव अस्तित्व से निकाला गया एक साधारण निष्कर्ष है। वह असीम है। जितनी सम्भव यथार्थता है उसमें उतनी यथार्थता है। वह पूर्ण या अनन्त है।

अन्य चेतनाणु ईश्वर के प्रभाव से पूर्णता प्राप्त करते हैं। उनकी पूर्णता का स्रोत ईश्वर है। किन्तु उनकी पूर्णता उनके ही स्वरूप के कारण है। उनका स्वरूप असीम नही है। वे ससीम हैं। संक्षेप में यही ईश्वर और अन्य चेतनाणुओं का भेद है।

ईश्वर के अच्छाई (Goodness), ज्ञान (Wisdom) और शक्ति (Power) के बारे में लाइबनीज ने कहा कि वह अनन्त शिव (अच्छाई), अनन्त ज्ञान और अनन्त शक्ति है। उसके शिवम् ने उसको हेतु-रूप में समस्त सम्भव शिवम् को उत्पन्न करने को प्रवर्तित किया, किन्तु उसके ज्ञान ने इनमें से वरण किया और फलस्वरूप जो उसका सर्वश्रेष्ठ वरण हुआ उसका हेतु उसका ज्ञान बना। अन्त में उसकी शक्ति ने उसे उसकी स्वनिर्मित योजना (Design) को यथार्थतः कार्यान्वित करने का साधन दिया। इस प्रकार ईश्वर ने प्रस्तुत सृष्टि की। इस सृष्टि में उसके शिवम्, ज्ञान और शक्ति तीनों हेतु हैं।

७ ईश्वर के अस्तित्व में प्रमाण

लाइबनीज ने ईश्वर के अस्तित्व के लिए चार युक्तियाँ दी हैं जो क्रमशः तत्त्वदार्शनिक युक्ति (Ontological Argument), पर्याप्त हेतु की युक्ति

(Argument of Sufficient Reason), नित्य सत्य के आधार पर युक्ति (Argument from the Eternal Truths) और पूर्व-स्थापित एकता की युक्ति (Argument from the Pre-established Harmony) हैं। दूसरी युक्ति को सृष्टिवैज्ञानिक युक्ति (Cosmological Argument) भी कहा जाता है।

(क) तत्त्वदार्शनिक युक्ति। लाइबनीज डेकार्ट की तत्त्वदार्शनिक युक्ति के बारे में कहता है कि यदि ईश्वर का प्रत्यय संभव है, तो वह युक्ति सही है। लेकिन डेकार्ट ने यह दिखलाने का प्रयास नहीं किया कि ईश्वर का प्रत्यय सम्भव है। इसलिए डेकार्ट की युक्ति का आधार निर्बल है।

लाइबनीज ने पहले सिद्ध किया है कि ईश्वर का प्रत्यय सम्भव (Possible) है। यह सभी पूर्णताओं का समन्वय है। "मैं प्रत्येक साधारण गुण को जो विधिमूलक और निरपेक्ष है और जो अपने कथ्य को निःसीमतापूर्वक व्यक्त करता है, पूर्णता कहता हूँ। चूँकि ऐसा गुण साधारण या मूल है, इसलिए वह अपरिभाष्य और अविश्लेष्य है। अगर वह परिभाष्य और विश्लेष्य होता तो वह मूल न होकर अनेक का संघात होता। अथवा अगर वह ऐसा होता तो वह सीमाओं से बँधा होता और भावी प्रगति के निषेध द्वारा उसकी अवधारणा होती; किन्तु यह इस मान्यता के विपरीत है कि वह गुण विशुद्ध रूप में विधिमूलक है। अतः यह दिखलाना कठिन नहीं है कि सभी पूर्णताएँ आपस में समन्वय-योग्य हैं या एक ही विषय में रह सकती है[१]।"

इस प्रकार लाइबनीज ने सिद्ध किया कि सभी पूर्णताओं के आस्पद (विषय) की अवधारणा की जा सकती है अर्थात पूर्णतम व्यक्ति की अवधारणा में बाधा नहीं है। अस्तित्व एक पूर्णता है। अतः पूर्णतम व्यक्ति में अस्तित्व है अर्थात ईश्वर है।

लाइबनीज ने इस युक्ति को लिखकर स्पिनोजा को दिखाया था और स्पिनोजा ने अन्त में इसे सही बताया था। इस युक्ति का सार यह है कि पूर्णतम व्यक्ति के प्रत्यय में कोई बाधा नहीं है। वह सम्भव है। फिर, पूर्णतम व्यक्ति अनिवार्य व्यक्ति है क्योंकि वह अन्य व्यक्तियों का आदर्श है। यदि पूर्णतम व्यक्ति का प्रत्यय सम्भव है, तो उसका अस्तित्व अनिवार्य है।

(ख) पर्याप्त हेतु की युक्ति। लाइबनीज ने दो प्रकार के सत्य माने हैं : तर्कणा के सत्य (Truths of Reasoning) और घटना के सत्य (Truths of fact)।

---

१. रसल, फिलासफी आव लाइबनीज, पृ० २८७ में।

तर्कणा के सत्य की कसौटी अबाध का नियम है। जो बाधित है वह असत्य है और जो अबाधित है वह सत्य है। घटना के सत्य की कसौटी उसकी पर्याप्त-हेतुता है। जिसके होने के पर्याप्त हेतु हैं वह सत्य घटना है और जिसके होने के पर्याप्त हेतु नहीं हैं वह असत्य घटना है। तर्कणा के सत्य को अवश्यंभावी या अनिवार्य सत्य (Necessary Truth) और घटना के सत्य को प्रायशोभावी सत्य (Contingent Truth) कहा जाता है।

पर्याप्त हेतु के आधार पर लाइबनीज ने ईश्वर का अस्तित्व निम्नलिखित प्रकार से सिद्ध किया है—

प्रायशोभावी सत्य या घटना के सत्य के लिए, यानी उन वस्तुओं के क्रम के लिए जो सृष्ट व्यक्तियों के जगत में सर्वत्र फैली हुई हैं, एक पर्याप्त हेतु अवश्य होना चाहिए। प्रकृति में वस्तुओं की अनन्त विविधता है और वस्तुओं के अनन्त खण्ड हो सकते हैं। इसलिए अगर उनके विशेष हेतुओं का विश्लेषण किया जाय तो यह विश्लेषण अनन्त तक जायेगा। वर्तमान समय में मेरे लिखने का जो निमित्त कारण है उसमें वर्तमान और अतीत, अनन्त आकार और गतियाँ हैं, और उसका अन्तिम कारण मेरी आत्मा की अनन्त सूक्ष्म प्रवृत्तियाँ और रुचियाँ हैं। फिर, इस ब्रहत समूह के आगे भी और ब्रहत प्रायशोभावी सत्य हैं जिनमें से प्रत्येक के इतने ही ब्रहत कारण हैं। इस प्रकार हम कारणों की खोज में आगे नहीं बढ़ पाते। इसे बचाने के लिए यानी अनवस्था बचाने के लिए मानना पड़ता है कि पर्याप्त हेतु या अन्तिम हेतु को विशेष प्रायशोभावी सत्यों की माला से बाहर होना चाहिए, फिर यह माला चाहे जितनी अनन्त हो। इस तरह सिद्ध होता है कि वस्तुओं का अन्तिम हेतु एक अवश्यम्भावी द्रव्य है जिसमें विशेष परिवर्तनों की विविधता केवल अतिशय मात्रा में रहती है। वह द्रव्य इन परिवर्तनों का स्रोत है। उसे हम ईश्वर कहते हैं। अब चूँकि वह द्रव्य विषयों की समस्त विविधता का एक पर्याप्त हेतु है जो आरम्भ से लेकर अन्त तक परस्पर सम्बद्ध भी है, इसलिए केवल एक ही ईश्वर है और वह ईश्वर पर्याप्त है[१]।"

पर्याप्त हेतु की युक्ति के सम्बन्ध में यह कहना जरूरी है कि मानव की बुद्धि प्रत्येक वस्तु को समझने की चेष्टा करती है और लाइबनीज के मत से किसी वस्तु को तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक उसके पर्याप्त हेतु को न जान लिया जाय। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु के पर्याप्त हेतु को मानना एक बौद्धिक अनिवार्यता है। फिर वस्तुओं का पर्याप्त हेतु उनमें से कोई एक वस्तु नहीं हो सकता, क्योंकि उस वस्तु के भी अनेक खण्ड हैं और उन खण्डों के भी पर्याप्त हेतु होने चाहिए। यदि वस्तुओं को

१. मोनेडोलाजी, ३६-३९

ही एक दूसरे का पर्याप्त हेतु माना जाय तो अनवस्था उत्पन्न होती है। इसको बचाने के लिए मानना पड़ता है कि उनका पर्याप्त हेतु वह तत्त्व है, जिसके कोई खण्ड नहीं है और जो अपना पर्याप्त हेतु स्वयं है। ऐसा तत्त्व ईश्वर है। इसलिए ईश्वर है।

(ग) **नित्य सत्यों पर आश्रित युक्ति**। यदि कोई नित्य द्रव्य न हो, तो नित्य सत्य न हो। 'हमें नहीं कहना चाहिए कि नित्य सत्य होंगे, चाहे कोई बुद्धि न हो; यहां तक कि चाहे ईश्वर-बुद्धि न हो। क्योंकि, मेरे मत में ईश्वर की ही बुद्धि नित्य सत्यों की वास्तविकता को उत्पन्न करती है, यद्यपि उसकी इच्छा का इसमें कोई योगदान नहीं है। प्रत्येक वास्तविकता का आधार कोई सत् वस्तु होना चाहिए। यह सत्य है कि एक निरीश्वरवादी ज्यामितिकार हो सकता है। किन्तु यदि ईश्वर न हो, तो ज्यामिति का विषय नहीं हो सकता। और ईश्वर के विना इतना ही नहीं है कि कुछ अस्तित्व में नहीं हो सकता, बल्कि कुछ सम्भव भी नहीं हो सकता है[१]।"

यह युक्ति तत्त्वदार्शनिक युक्ति की पुष्टि करती है। यदि नित्य सत्य हैं तो नित्य बुद्धि भी है, जिसमें वे नित्य सत्य हैं। स्पष्ट है कि तर्कणा के सत्य नित्य सत्य हैं। इसलिए उनके आधार के लिए नित्य बुद्धि यानी ईश्वर का होना आवश्यक है।

(घ) **पूर्वस्थापित एकता की युक्ति**। द्रव्य अनेक हैं और उनमें आपस में किसी प्रकार का विनिमय नहीं होता है। फिर भी उनके व्यवहारों में पूर्ण समन्वय या एकता है। यह समन्वय या एकता किसी एक ऐसे कारण से उत्पन्न है जो सभी द्रव्यों का कारण है[२]।

यह युक्ति लाइबनीज के दर्शन की अपनी युक्ति है। चेतनाणुओं को गवाक्ष-हीन मानने पर निष्कर्ष निकलता है कि उनकी एकता का स्रोत कोई सत्ता है जो चेतनाणुओं से परे है। वह सत्ता ईश्वर है। वह चेतनाणुओं में परिस्थितिवश उपस्थित नहीं है, किन्तु स्वरूपतः उपस्थित है। उसके अव्यवहित व्यापार से उसकी उपस्थिति अभिव्यक्त होती है।

इन चारों युक्तियों में प्रधानता दो की है, तत्त्वदार्शनिक युक्ति और पर्याप्त हेतु वाली युक्ति की। नित्य सत्य की युक्ति तत्त्वदार्शनिक युक्ति के समर्थन में है और पूर्वस्थापित एकता की युक्ति पर्याप्त हेतु की युक्ति के समर्थन में। तत्त्वदार्शनिक युक्ति

---

१. रसल, फिलासफी आव् लाइबनीज, पृ० २८९ में उद्धृत लाइबनीज के वचन।

२. कोपलस्टन, ए हिस्ट्री आव् फिलासफी; भाग ४, पृ० ३२५ में उद्धृत।

ईश्वर को पूर्ण बतलाती है और पर्याप्त हेतु की युक्ति उसे सृष्टिकर्त्ता। हम पहले देख चुके हैं कि कैसे पूर्णता और सृष्टिकर्त्ता के प्रत्ययों का समन्वय होता है। सभी युक्तियों के अनुसार यह सिद्ध होता है कि ईश्वर सर्वव्यापी है। वह स्वरूपतः सभी चेतनाणुओं में है। यह लाइबनीज का सर्वेश्वरवाद है। इसलिए कुछ आलोचकों का कहना है कि लाइबनीज का दर्शन अन्ततः स्पिनोजा के दर्शन से भिन्न नहीं है। दोनों सर्वेश्वर-वादी हैं। सर्वेश्वरवाद के आधार पर उसकी युक्तियाँ सही हैं[1]।

किन्तु यदि लाइबनीज के ईश्वरवाद को सर्वेश्वरवाद से पृथक् किया जाय तो उसकी युक्तियों में दोष दीख पड़ेंगे[2]।

तत्त्वदार्शनिक युक्ति के खण्डन में रसल का कहना है कि यह ईश्वर के प्रसंग में अस्तित्व को एक विधेय मानती है। ईश्वर है (God exists) यह एक विश्लेषणात्मक वाक्य है। इसमें विधेय पद 'है' है। यह उद्देश्य पद ईश्वर के अन्तर्गत है, क्योंकि विश्लेषणात्मक वाक्यों के विधेय पद उनके उद्देश्य पदों के अन्तर्गत होते हैं।

किन्तु अन्य चेतनाणुओं के प्रसंग में लाइबनीज अस्तित्व को विधेय नहीं मानता है। वह कहता है कि अस्तित्व-वाचक वाक्य विश्लेषणात्मक नहीं हैं।

अस्तित्व विधेय है या नहीं ? इस समस्या पर लाइबनीज के दो मत हैं जो एक दूसरे के विरुद्ध हैं। ऐसी परिस्थिति में तत्त्वदार्शनिक युक्ति को प्रमाणित नहीं माना जा सकता क्योंकि 'ईश्वर है', इस वाक्य को विश्लेषणात्मक मानना उस युक्ति का आधार है जो अनिश्चित है।

पर्याप्त हेतु की युक्ति कहती है कि प्रत्येक सत्ता का पर्याप्त हेतु होना चाहिए। इससे तत्त्वदार्शनिक युक्ति कट जाती है, क्योंकि फिर ईश्वर का भी पर्याप्त हेतु होना चाहिए। यह कहकर इस समस्या को टाला नहीं जा सकता कि ईश्वर स्वयं अपने अस्तित्व का पर्याप्त हेतु है। पर्याप्त हेतु की युक्ति और तत्त्वदार्शनिक युक्ति में विरोध है।

नित्य सत्य की युक्ति के बारे में जानना चाहिए कि यहाँ ईश्वर के ज्ञान और ईश्वर द्वारा ज्ञात सत्य में घपला है। स्वयं लाइबनीज ने कहा है कि "यह नहीं कहा जा सकता कि ईश्वर और ईश्वर द्वारा ज्ञात वस्तुएँ एक ही वस्तु हैं, जैसे यह नहीं कहा जा सकता कि मन और मन द्वारा ज्ञात वस्तुएँ एक ही वस्तु है[3]।" इससे

१. रसल, फिलासफी आव् लाइबनीज पृ० २८६।
२. देखिए कोपल्सन कृत ए हिस्ट्री आव् फिलासफी, भाग ४, पृ० ३२५ में उदधृत लाइबनीज के वचन।
३. रसल, फिलासफी आव लाइबनीज, पृ० १७६ में उदधृत।

सिद्ध है कि ईश्वर द्वारा ज्ञात सत्य ईश्वर से भिन्न है। अतः नित्य सत्य और ईश्वर एकार्थक नहीं है। ईश्वर के ज्ञान के बिना भी नित्य सत्य हैं। इसलिए नित्य सत्य से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता।

अन्त में पूर्वस्थापित युक्ति की आलोचना में उल्लेखनीय है कि यदि पर्याप्त हेतु की युक्ति सही है तो वह व्यर्थ है। फिर इस युक्ति का चेतनाणणों की परम स्वतंत्रता से विरोध भी है।

बर्ट्रेण्ड रसल ने लाइबनीज की इन चारों युक्तियों की कटु आलोचना की हैं। उसने सिद्ध किया है कि जब लाइबनीज इन युक्तियों को गम्भीरतापूर्वक रखता है तब वह स्पिनोजा के सवेश्वरवाद में पड़ जाता है, और जब वह उससे बाहर निकलने की कोशिश करता है तब वह अनेक असंगतियों के पुंज में पड़ जाता है। रसल का यह कथन सही है; किन्तु इससे रसल ने निष्कर्ष निकाला कि उसकी युक्तियाँ सही नहीं हैं और ईश्वर का प्रत्यय उसके दर्शन के लिए बेकार है। वास्तव में इससे यह निष्कर्ष निकालना चाहिए था कि उसकी युक्तियाँ सही हैं और ईश्वर के बारे में उसका मत सवेश्वरवाद है। फिर आदर्शवादियो ने लाइबनीज की युक्तियों को सही माना है और यह दिखाया है कि ईश्वर और ज्ञान में अभेद है। ईश्वर के अन्य गुण उसके ज्ञान के अन्तर्गत हैं।

८ देश-काल

आधुनिक विज्ञान पर लाइबनीज के देश-काल के सिद्धान्त का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। उसका यह सिद्धान्त न्यूटन के सिद्धान्त के विरोध में बना है और उसके चेतनाणुवाद के सर्वथा अनुकूल है।

न्यूटन ने देश और काल को स्वतंत्र और निरपेक्ष सत्ता माना है। उसके गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त की मान्यता है कि वस्तुएँ देश में स्थित हैं। देश (Space) स्वतः सत् है, उसमें कहीं वस्तुएँ हैं और कहीं वस्तुएँ नहीं भी है। डेकार्ट ने देश को विस्तार यानी भूततत्त्व और काल (Time) को गति से अभिन्न किया था। न्यूटन ने इस अभेद का खण्डन किया और उसके स्थान पर माना कि भूततत्त्व देश में हैं और गति काल में है अर्थात् देश भूततत्त्व का आश्रय है और काल गति का आश्रय है। देश और काल अनन्त हैं। न्यूटन के इस मत का समर्थन लॉक और क्लार्क ने किया था। उन्होंने दिखाया है कि मन और आत्मा एक भौतिक अंगी (जीवधारी) हैं जिस पर देश-काल में फैले हुए विश्व का प्रभाव या संस्कार पड़ता है।

लाइबनीज ने न्यूटन के सिद्धान्त पर आपत्ति की है। उसके अनुसार देश और काल स्वतंत्र तथा निरपेक्ष सत्ता नहीं हैं। वे प्रतिबिम्बित वस्तु की वर्गणा हैं,

न कि विश्व की। देश-काल वैचारिक या आदर्श हैं। वे स्वतः सत्य नहीं हैं। जिन प्रत्यक्षो मा प्रत्ययो को थे सम्बन्धित करते हैं उनके विना उनका अस्तित्व नहीं रह सकता है। देश प्रत्यक्षों या प्रत्ययो के सह-अस्तित्व या युगपद्भाव का विन्यास (Order) है। काल प्रत्यक्षों या प्रत्ययों के पौर्वापय (आगे-पीछे होने का भाव) का विन्यास है। इस प्रकार देश-काल चेतनाणुओं के प्रत्यक्षों या प्रत्ययों से संबन्धित हैं। वे सापेक्ष हैं, निरपक्ष नहीं है। वे प्रत्ययों के विन्यास हैं और वस्तु-सत् नहीं हैं।

फिर लाइबनीज ने कहा कि न्यूटन के देश-काल का सिद्धांत विशुद्ध भौतिकवाद है और उससे ईश्वर की अनन्तता और आत्मा के स्वाभाव का समन्वय नहीं हो सकता है। न्यूटन को इस आपत्ति से बेचैनी हुई। उसने इस समस्या का हल सोचा और कहा कि देश-काल ईश्वर के संवेदना-केन्द्र (Sensorium) हैं। जैसे मनुष्यों में संवेदना-केन्द्र होता है, जो उनके प्रत्यक्षों को संगठित और विन्यस्त करता है, उसी प्रकार ईश्वर में भी संवेदना-केन्द्र हैं जो उसके प्रत्यक्षों को संगठित और विन्यस्त करता है। यह संवेदना-केन्द्र देश-काल हैं, क्योंकि देश-काल में ही विश्व की सभी वस्तुएँ जो ईश्वर के प्रत्यक्ष या प्रत्यय है, संगठित और विन्यस्त हैं।

न्यूटन के इस समाधान पर लाइबनीज ने आपत्ति की कि यदि देश-काल ईश्वर का संवेदना-केन्द्र है, तो फिर ईश्वर विश्व से परे कोई बौद्धिक प्राणी नहीं हो सकता और वह विश्व की आत्मा है जो विश्व के बाहर नहीं है। किन्तु लाइबनीज और न्यूटन दोनों मानते हैं कि ईश्वर विश्व-आत्मा (World Soul) नहीं है क्योंकि ईश्वर को ऐसा मानना दोनों की दृष्टि में निरीश्वरवाद या भौतिकवाद है। अतः न्यूटन का समाधान उसके ईश्वरवाद के प्रतिकूल है।

इस प्रकार लाइबनीज ने दिखाया कि "देश-काल स्वतः कोई वस्तु नहीं है और न वस्तुओं के गुण हैं। वे वस्तुओं के विन्यास हैं। निरपेक्ष वास्तविक देश अँग्रेज दार्शनिकों का जातिगत भ्रम (Idolon tribus) हैं।"

यदि देश-काल निरपेक्ष सत्य हैं, तो वे या तो द्रव्य हैं और या तो गुण। दोनों दशाओं में वे भावात्मक पदार्थ हैं। किन्तु यदि देश-काल निरपेक्ष द्रव्य हैं तो देश रिक्त (Void) है और काल अत्यय (Lapse) है, क्योंकि द्रव्य-रूप में उनको समस्त वस्तुओं के प्रत्याहार या व्यवच्छेद के द्वारा सूचित किया जाता है। वे किसी वस्तु की उपस्थिति की सूचना नहीं देते, वरन् प्रत्येक वस्तु के अभाव की सूचना देते हैं। वे अभाव हैं। इस प्रकार विशुद्ध अभावों को भावात्मक सत्ता कहना वदतोव्याघात (विरोध) है। फिर, यदि देश को विस्तार (Extension) और काल को अवधि (Duration) माना जाय, तो वे भावात्मक हो जाते हैं। किन्तु विस्तार और अवधि द्रव्य नहीं हैं; वरन् गुण हैं। इस रूप में वे विस्तृत और परिवर्तनशील वस्तुओं के

विशेषण है। भौतिक वस्तुएँ विस्तृत और परिवर्तनशील हैं। अगर हम उनसे उनके विस्तार और अवधि को पृथक् करें तो वे भौतिक रह नहीं जातीं और उनका अस्तित्व ही नष्ट हो जाता है। विस्तार और अवधि भी उनके अस्तित्व के नाश के साथ नष्ट हो जाते हैं। इस तरह विस्तार और अवधि वस्तुओं से स्वतन्त्र और निरपेक्ष नहीं हैं। वे उनसे सापेक्ष हैं।

लाइबनीज के देश-काल का प्रभाव कांट पर पड़ा। कांट ने देश-काल को ऐसा ढाँचा बताया जो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से जन्य नहीं है। एक दृष्टि से यह लाइबनीज का ही मत है कि देश-काल प्रत्यक्ष के विन्यास हैं। किन्तु लाइबनीज और कांट के मत में थोडा अन्तर है। काट देश-काल को व्यक्तिगत मन में प्रत्यक्षों का विन्यास या ढाँचा बताता है। उसके मत से देश-काल व्यक्तिगत या विषयिनिष्ठ (Subjective) है और वे विषयगत (Objective) नहीं हैं। किन्तु लाइबनीज के मत से देश-काल व्यक्तिगत या विषयिनिष्ठ नहीं हैं। वे प्रत्यक्षों या प्रत्ययों के ऐसे विन्यास हैं जो सदा परिवर्तनशील हैं। वे बौद्धिक सत नहीं हैं। वे केवल आभास हैं। कांट के मत में देश-काल बौद्धिक सत हैं अर्थात वे बुद्धि या मन में व्यापक रूप से हैं। न्यूटन ने देश-काल को ईश्वर का संवेदना-केन्द्र कहा था। उसकी आलोचना में लाइबनीज ने उन्हें प्रत्यक्षों का विन्यास मात्र कहा था। कांट ने इन दोनों मतों का समन्वय करते हुए कहा कि देश-काल प्रत्यक्षों के विन्यास हैं और व्यक्तिगत मन में ढाँचे के रूप में हैं यानी एक तरह से वे व्यक्तिगत मन के संवेदना-केन्द्र हैं। लाइबनीज का मत आधुनिक भौतिक विज्ञान के मत से अधिक मिलता-जुलता है जिसके अनुसार देश-काल वस्तुओं से सापेक्ष है और सदा परिवर्तनशील हैं। वस्तुओं का कोई ऐसा विन्यास नहीं है जो स्थिर हो। इसलिए कोई ऐसा स्थान या क्षण नहीं है जो वस्तुओं का अनिवार्य गुण हो। परिवर्तनशील वस्तुओं या चेतनाणओं के परिवर्तनशील विन्यास में किसी परिस्थिति-विशेष को लेकर स्थान और क्षण की कल्पना की जाती है। इस तरह लाइबनीज के मत से देश-काल पूर्णतया विषयगत हैं। किन्तु विषयगत होने के कारण वे वस्तु-सत नहीं हो जाते। विषयगत होते हुए भी वे मात्र कल्पना या आभास हैं। वे अस्थिर और चल है।

लाइबनीज का यह मत अद्वैत वेदान्त के मत से अधिक मिलता-जुलता है जिसके अनुसार देश-काल मिथ्या वर्गणाएँ हैं जिनके द्वारा जगत अभिव्यक्त होता है।

९ चेतनाणुवाद की समीक्षा

लाइबनीज के अनुसार जो कुछ वास्तविक है वह दो प्रकार का है—एक चेतनाणुओं का होना और दूसरा चेतनाणुओं के प्रत्यक्षों का होना। पहले को सत,

सत्ता, अस्तित्व या द्रव्य कहा जाता है और दूसरे को ज्ञान। सत और ज्ञान के अतिरिक्त जो कुछ भी है वह आभास या मिथ्या है।

सत और ज्ञान का सम्बन्ध अभेद है। सत् ज्ञान का अधिष्ठान ही नहीं है, वरन उसका अनिवार्य लक्षण भी हैं। इसलिए वास्तव में सत और ज्ञान दो पृथक् पदार्थ नहीं हैं। वे एक ही पदार्थ हैं। अभी तक यहाँ जो विवेचन किया गया है वह सत के दृष्टिकोण से था या सत् का विवेचन था। सत के विवेचन में लाइबनीज चेतनाणुवाद को मानता है।

ऊपर से चेतनाणुवाद एक गल्प या परियों की कहानी लगता है। चेतनाणुओं का गवाक्षहीन होना, उनके भीतर अखिल विश्व का होना, उनकी शृंखला, उनकी प्रगति, उनका पारम्परिक सम्बन्ध, ये सब गल्प-से लगते हैं। किन्तु चेतनाणुवाद कोई गल्प नहीं है। इसका आधार तर्कशास्त्र है।

तर्कशास्त्र के जिस प्रमुख सिद्धान्त पर चेतनाणुवाद आधारित है वह यह है कि प्रत्येक सत्य वाक्य में विधेय उद्देश्य के अन्दर है (Predicatum inest subjecto)। लाइबनीज के पूर्व तर्कशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त का उपयोग केवल सामान्य वाक्यों के बारे में किया था। उसने इसका उपयोग विशेष वाक्यों के बारे में भी किया। गाँधी ने भारत को अँग्रेजी हकूमत से स्वतन्त्र किया—इस वाक्य का विधेय, 'भारत को अँग्रेजी हकूमत से स्वतन्त्र किया,' इसके उद्देश्य 'गाँधी ने' के अन्तर्गत है। इसका मतलब है कि गाँधी ने जो किया वह उनमें आरम्भ से ही विद्यमान था। गाँधी में एक शक्ति आरम्भ से ही थी जिसका स्वाभाविक विकास यह हुआ कि उन्होंने भारत को अँग्रेजी हकूमत से स्वतन्त्र किया। लाइबनीज का मत सांख्य दर्शन का सत्कार्यवाद है। लाइबनीज सत्कार्यवादी है किन्तु उसका सत्कार्यवाद पुरुष-सत्कार्यवाद है, न कि सांख्य का प्रकृति-सतकार्यवाद। चेतनाणु पुरुष-सत है। उसमें उसके सभी परिणाम या कार्य अव्यक्त हैं जो शनैः-शनैः व्यक्त होते हैं। लाइबनीज का तात्त्विक सत्कार्यवाद से उसका तार्किक सत्कार्यवाद जिसे हमें सद्विधेयवाद भी कह सकते हैं, निकला है। इसी सिद्धान्त के आधार पर लाइबनीज ने कहा कि प्रत्येक चेतनाणु उद्देश्य है और उसके द्वारा जो कुछ भी किया जाता है वह उसके अन्दर है। फिर, दो चेतनाणुओं में कोई पारस्परिक सम्पर्क नहीं है—यह भी इसी सिद्धान्त से निकलता है। प्रत्येक चेतनाणु एक जगत् है जो बाहर से बन्द है और भीतर से प्रगतिशील है। इस प्रकार चेतनाणुओं की परम स्वतंत्रता और उनके अन्दर अखिल विश्व का होना जो ऊपर से गल्प लगता है, वास्तव में तर्क की शिला पर आधारित है।

किन्तु यहाँ लाइबनीज का सिद्धान्त इस मान्यता पर निर्भर है कि जो तर्क से उद्देश्य है वह वस्तु-सत् है। लाइबनीज तार्किक उद्देश्त को तात्त्विक उद्देश्य मानता

है। इस मान्यता को वह अनुभव के आधार पर मानता है, न कि तर्क के आधार पर। जो तर्कतः उद्देश्य है वह तत्त्वतः उद्देश्य नहीं भी हो सकता है और जो तत्त्वतः उद्देश्य है यह वह तर्कतः उद्देश्य नहीं भी हो सकता है। इसलिए लाइबनीज का तार्किक और तात्त्विक उद्देश्य की एकता का सिद्धान्त तर्कपुष्ट नहीं है। वह मात्र एक मान्यता है जिसका खण्डन किया जा सकता है। यही उसके चेतनाणुवाद की सबसे बड़ी कमजोरी है। चेतनाणु तात्त्विक उद्देश्य है। वह तार्किक उद्देश्य नहीं है। इस कारण चेतनाणु का वर्णन तार्किक उद्देश्य की भाँति करना ठीक नहीं है। लाइबनीज ने स्वयं अपने तर्कशास्त्र में दो सत्यों को माना है—अवश्यम्भावी सत्य और प्रायशोभावी सत्य। फिर उसने इन दोनों की कसौटी भी दो मानी है—बाध-नियम और पर्याप्त हेतु का नियम। यदि उसके दर्शन में तात्त्विक उद्देश्य और तार्किक उद्देश्य की एकता थी तो फिर इन दो सत्यों और दो कसौटियों की जरूरत नहीं थी। ये उसकी इस मान्यता के विपरीत हैं कि तात्त्विक उद्देश्य और तार्किक उद्देश्य एक हैं।

सातत्य का नियम जो चेतनाणुओं की एक और अटूट क्रमिक शृंखला का विधान करता है लाइबनीज के आकलन (Calculus) का दर्शन में उपयोग है।

बर्ट्रेण्ड रसल और लुई कोटुरट ने सिद्ध किया है कि लाइबनीज का तत्व-दर्शन या चेतनाणुवाद उसके तर्कशास्त्र से निगमित हुआ है। किन्तु उनका कहना है कि लाइबनीज का दर्शन केवल तर्कतः संभव है और जो सम्भव है उसे वह यथार्थ मान लेता है। आधुनिक तर्कशास्त्री उसके चेतनाणुवाद को नहीं मानते हैं। स्वयं रसल किसी समय तार्किक अणुवाद को मानता था; किन्तु उसने बाद में इस मत को भी तर्कसंगत नहीं समझा। आज यह सिद्ध हो गया है कि तर्कशास्त्र तत्त्ववाद से निरपेक्ष है और उससे किसी विशेष तत्ववाद का निगमन नहीं होता है।

१० ज्ञानमीमांसा

चेतनाणु का लक्षण प्रत्यक्षीकरण है। किन्तु उसका प्रत्यक्षीकरण आधुनिक मनोविज्ञान का प्रत्यक्षीकरण नहीं है। चेतनाणु का प्रत्यक्षीकरण संवेदना (Sensation) या इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नहीं है। यह अज्ञात या अविज्ञप्त (Unconscious) अनुभव है जिसे चेतनाणु की चेतना स्पष्टतः नहीं जानती है। इसका विकास चेतना (Conscious) में होता है जो संवेदना और स्मृति का अनुभव है। यह चेतना आधुनिक मनोविज्ञान का प्रत्यक्षीकरण है। फिर इस चेतना का भी विकास आत्म-प्रत्यक्ष (Apperception) में होता है जो विवेकपूर्ण ज्ञान है। लाइबनीज के मत से ज्ञान की ये तीन अवस्थाएँ हैं—प्रत्यक्षीकरण, चेतना और आत्मप्रत्यक्ष।

ज्ञान क्या है ? लाइबनीज के मत में ज्ञान न तो इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न संस्कार (Impression) है और न स्वप्न की भाँति मन की रचना (Creation) है। ज्ञान अभिव्यक्ति (Expression) है। चेतनाणु के अन्दर जो अव्यक्त है वही ज्ञान के रूप में व्यक्त होता है। लाइबनीज ज्ञान-मीमांसा में सत्कार्यवाद को मानता है। सभी प्रकार का ज्ञान चेतनाणुओं में निगूढ़ या आजानिक (Innate) हैं। हम जो कुछ भी जानते हैं या जान सकते हैं वह पहले से हमारे मन में विद्यमान है। आवश्यकता केवल उसको व्यक्त या अभिव्यक्त करने की है। यहाँ ज्ञान जैनमत का आस्रव नहीं है। वह आगन्तुक या अभ्यागत नहीं है। वह मन में निगूढ़ है। ज्ञान के क्षेत्र में सातत्य के नियम का पूरा शासन है। इस नियम से निम्नलिखित परिणाम निकलते हैं—(क) चेतनाणु नित्य चिन्तनशील है। (ख) प्रत्येक प्रत्यय का पूर्वगामी प्रत्यय है। (ग) संवेदना और चिन्तन में केवल मात्रा का भेद है। (घ) काल के सन्दर्भ में संवेद तर्कणा का पूर्ववर्ती है। संवेद वास्तव में निम्नकोटि का चिन्तन है।

प्रत्ययों का एक अटट ताँता है। उनमें से बहुतो को हम जानते हैं। समुद्र की गरज में अनेक लहरों की आवाज सम्मिलित है। किन्तु हम उन लहरों में से किसी एक की आवाज को सुन नहीं पाते हैं। जब अनेक लहरों की सम्मिलित आवाज श्रवण-योग्य हो जाती है तभी हम समुद्र की गरज सुनते हैं। इसी तरह जब हम किसी प्रत्यय को स्पष्ट जानते हैं तो उसमें अनेक प्रत्ययों का संघात रहता है जिनको हम जान नहीं पाते हैं। किन्तु उनके न जानने से उनका होना अवास्तविक नहीं सिद्ध होता है।

लाइबनीज के पहले अरस्तू और उसके समय में लाक मानते थे कि मन ज्ञान-शून्य है और इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से उसे सभी ज्ञान प्राप्त होता है। इस मत के खण्डन में उसने कहा कि मन सदैव ज्ञानवान् है। यदि मन ज्ञानवान् नहीं है तो वह जड़ है और उसे मन नहीं कहा जा सकता। मन का लक्षण ही है कि उसमें ज्ञान है। इस प्रकार उसने सिद्ध किया कि मन जिसे हम आत्मा या बुद्धि भी कह सकते हैं, इन्द्रिय-अनुभव की प्रागपेक्षा है और इन्द्रिय-अनुभव से उत्पन्न नहीं होता है। जो लोग कहते हैं कि मन में कोई ऐसा ज्ञान नहीं है जो पहले इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में न हो, उनके विरोध में लाइबनीज ने कहा कि इस उक्ति में एक अपवाद है और वह यह है कि 'स्वयं मन को छोड़ कर' अर्थात् मन को छोड़कर अन्य जो कुछ है वह पहले इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में आता है और तब मन में आता है। मन या चेतनाणु में एक अन्तर्निहित शक्ति है जिसके द्वारा उसमें सभी वस्तुएँ प्रतिबिम्बित (Reflected) होती हैं। यदि यह शक्ति न हो तो संवेदना या इन्द्रिय-प्रत्यक्ष घटित नहीं हो सकते। अतः समस्त ज्ञान को प्रतिबिम्बित करने की शक्ति से खचित या अन्वित मन संवेदना या इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का पूर्ववर्ती

है। यहाँ लाइबनीज का बुद्धिवाद प्रत्यक्षवाद के विरोध में अच्छी तरह से स्पष्ट हुआ है।

दो चेतनाणुओं के ज्ञान में जो एकरूपता उपलब्ध है उसका कारण चेतनाणु की पूर्वस्थापित एकता है। प्रत्येक चेतनाणु अपने दष्टिकोण से समस्त विश्व को अपने अन्दर प्रतिबिम्बित करता है। किन्तु प्रतिबिम्बन की यह शक्ति सभी चेतनाणुओं में एकरूप है। इस कारण उनके प्रतिबिम्बों या प्रत्यक्षों में अनुरूपता, एकता या एक-रूपता रहती है।

सभी प्रकार के ज्ञान का वर्गीकरण करते हुए लाइबनीज ने कहा कि "ज्ञान या तो स्पष्ट है और या तो अस्पष्ट। स्पष्ट ज्ञान भ्रान्त या अभ्रान्त है। अभ्रान्त ज्ञान अपर्याप्त या पर्याप्त है, और वह प्रतीकात्मक या प्रातिभ है[1]।"

अस्पष्ट ज्ञान वह है जिसके विषय की प्रत्यभिज्ञा न हो सके, जैसे किसी फूल या जानवर की हमारी वह याद जिसे हमने देखा है किन्तु जिसे हम पहचान नहीं रहे हैं। फिर, स्पष्ट ज्ञान वह है कि जिसके विषय की प्रत्यभिज्ञा संभव है। रंगों, गन्धों आदि का हमारा ज्ञान स्पष्ट और भ्रान्त है। यह स्पष्ट इसलिए है कि हम इनका स्पष्टतः इन्द्रिय-प्रत्यक्ष करते हैं। फिर यह ज्ञान भ्रान्त है क्योंकि हम इन विषयों के घटकभूत प्रत्ययों को नहीं जानते हैं। ये संघाती गुण हैं। इनके घटक हैं। हम इन्हें इनके घटकों के द्वारा नहीं जानते हैं। अभ्रान्त स्पष्ट ज्ञान वह है जिसके विषय का ज्ञान उसके लक्षण से होता है, उदाहरण के लिए जब सोनार सोने को अन्य धातु से भिन्न करके जानता (या परखता) है तब उसका ज्ञान अभ्रान्त और स्पष्ट है। जिन प्रत्ययों की हम परिभाषा करते हैं उनको हम अभ्रान्त रूप से जानते हैं। संख्या, मात्रा, आकार, भय आदि का हमारा ज्ञान इस कोटि का है। जो मूल प्रत्यय हैं, स्वलक्षण हैं, उनका ज्ञान भी इसी कोटि का है।

जब किसी प्रत्यय के प्रत्येक घटक का ज्ञान अभ्रान्त रहता है तब उसका ज्ञान पर्याप्त (Adequate) है। इस ज्ञान का शायद ही कोई उदाहरण दिया जा सके। किन्तु गणित या संख्या का ज्ञान इसके सन्निकट है। वह लगभग पर्याप्त ज्ञान है। पर्याप्त ज्ञान से भिन्न जो अभ्रान्त ज्ञान है वह अपर्याप्त है। पर्याप्त ज्ञान में विश्लेषण अपनी पूर्णता तक पहुँच जाता है। अपर्याप्त ज्ञान में विश्लेषण अपूर्ण रहता है। किन्तु बहुत-से विज्ञानों को केवल अपर्याप्त ज्ञान की ही आवश्यकता है।

स्पष्ट, अभ्रान्त और पर्याप्त ज्ञान प्रतीकात्मक या प्रातिभ हो सकता है। प्रतीका-त्मक ज्ञान को लाइबनीज अन्ध (Blind) ज्ञान भी कहता है। जब किसी विषयका बृहत्

---

१. देखिये Meditations on Knowledge, Truth and Ideas

विश्लेषण होता है तब हम उसको एक दृष्टि में नहीं ग्रहण कर पाते है। उसे हम अनेक संकेतों या प्रतीकों के माध्यम से समझते है। उसके समझने में जिन संकेतों या प्रतीकों का प्रयोग होता है उनको हम अन्ध श्रद्धा से मान लेते है और उनका प्रातिभ ज्ञान नहीं करते है। इसीलिए ऐसे ज्ञान को अन्ध ज्ञान कहा जाता है। हम ज्यामिति, बीजगणित, अकगणित आदि मे अधिकतर अनक नियमो (Formulae) का सहारा लेते है जिनकी उपपत्ति हमारी समझ मे नही आती है।

फिर अभ्रान्त प्रातिभ ज्ञान वह है जो विश्लेषण के प्रत्येक स्तर पर हर प्रत्यय या उसके घटक का स्पष्ट और अभ्रान्त ज्ञान हो।

पूर्ण ज्ञान यही स्पष्ट अभ्रान्त और पर्याप्त प्रातिभ ज्ञान है। कोइ विज्ञान इस कोटि में नही है। लाइबनीज ने इस पूर्ण ज्ञान की खोज मे सार्वभौम या सामान्य गणित (Universal Mathematics) या सामान्य विज्ञान (Universal Science) की कल्पना की। डेकार्ट ने भी इस विज्ञान की कल्पना की थी, किन्तु उसने इसे बाद मे छोड़ दिया। लाइबनीज डेकार्ट के इस मत से सहमत है कि मनुष्य का मन एक सामान्य वैज्ञानिक प्रणाली को उत्पन्न कर सकता है और इसकी रचना मे विश्लेषण तथा संश्लेषण का उपयोग होना चाहिए। फिर उसने डेकार्ट से आगे बढ़कर तीन बातें कहीं—(क) केवल व्यक्तिगत मन के अन्दर उपलब्ध प्रत्ययों का ही विश्लेषण न होना चाहिए, वरन् विज्ञान के प्रत्ययो के भी विश्लेषण होने चाहिए। सामान्य विज्ञान को समस्त विज्ञानों का विश्वकोष या निर्देशिका होना चाहिए। (ख) डेकार्ट के विश्लेषण में मूल तत्त्वों की उपलब्धि के बाद विश्लेषण कार्य बन्द हो जाता है। लाइबनीज के मत में इन मूल तत्त्वों का संगठन भी अपेक्षित है। इनका संगठन एक आकल (Calculus) या सम्मिश्रण के संस्थान में होता है। (ग) इस संगठन को सुविधापूर्वक करने के लिए इसके प्रत्येक सदस्य या मूल तत्त्व को एक प्रतीक या अंक के द्वारा अभिव्यक्त करना चाहिए। इन प्रतीकों के सम्मिश्रण से संघाती या मिश्रित सत्य उत्पन्न हो जायेंगे। इस प्रकार मूल प्रत्ययों और सिद्धान्तों की सूची या वर्णमाला बनायी जा सकती है। इस वर्णमाला में प्रत्येक विज्ञान के सत्यों को अभिव्यक्त किया जा सकता है। आजकल यह वर्णमाला विकसित हो चुकी है और इसे प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र (Symbolic Logic) कहा जाता है। लाइबनीज इस तर्कशास्त्र का आविष्कारक है।

११ लाइबनीज का प्रभाव

लाइबनीज ने अपने दर्शन की महत्त्वपर्ण कृतियों को लैटिन या फ्रांसीसी में लिखा था। जर्मनी में उसको अपने समय में दार्शनिक ख्याति नहीं मिली थी।

इंग्लैंड में उसका विरोध हो रहा था और फ्रांस में उसको कुछ सम्मान मिला था। किन्तु उसकी मृत्यु के बाद जर्मनी में उसके दर्शन का महत्त्व बहुत बढ़ गया। वह जर्मनी के दर्शन का प्रतिनिधि-दार्शनिक हो गया।

जोहान क्रिश्चियन बुल्फ (१६७९-१७५४) ने उसके दर्शन को सुसंगठित किया और एक निकाय की स्थापना की जिसे लाइबनीज-वुल्फ का मत कहा जाता है। कांट (१७२४-१८०४) के विद्यार्थी-जीवन के समय जर्मनी के विश्वविद्यालयों में इसी मत को पढ़ाया जाता था। १७६५ ई० में लाइबनीज का **'नवीन निबन्ध'** प्रकाशित हुआ और कांट पर उसका विशेष प्रभाव पड़ा। इसके फलस्वरूप उसने **शुद्ध बुद्धि की आलोचना** (Critique of Pure Reason) लिखा और उसमें ह्यूम के मत की आलोचना की। कांट के **'व्यावहारिक बुद्धि की आलोचना'** (Critique of Practical Reason) और **'निर्णय की आलोचना'** (Critique of Judgment) पर भी क्रमशः लाइबनीज के 'इच्छा-सम्बन्धी विचार' और 'पूर्वस्थापित एकता' का प्रभाव पड़ा है। कांट के बाद लाइबनीज का प्रभाव हेगल-जैसे बुद्धिवादियों और नीटशे-जैसे स्वच्छन्दतावादियों (Romanticists) दोनों पर पड़ा। फिर उसके शुद्ध प्रत्यक्षों का सिद्धान्त और ज्ञान-सातत्य का सिद्धांत मनोविज्ञान के क्षेत्र में बहुत प्रभावकारी हुआ। इस ओर आगे चलकर उपचेतन, अवचेतन या अचेतन से सम्बन्धित मनोविज्ञान की खोज हुई। क्रियाशीलता के सिद्धांत ने परवर्ती विज्ञान और दर्शन को प्रभावित किया। वह द्रव्य का अकाट्य लक्षण समझा गया। देश-काल के सिद्धान्त ने भौतिक विज्ञान में क्रांति कर दी और आइंस्टीन ने लाइबनीज की पद्धति के अनुसार न्यूटन के विरोध में सापेक्षतावाद की स्थापना की। तर्कशास्त्र में लाइबनीज का प्रभाव सर्वाधिक रहा। आधुनिक तर्कशास्त्रियों में से अधिकांश उसके प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र से प्रभावित हैं। रसल और ह्वाइटहेड ने तो **गणित-सिद्धान्त** (Principia Mathematica) लिख कर लाइबनीज के द्वारा सोचे गये सामान्य गणित की व्याख्या ही कर दी।

दर्शन के क्षेत्र में लाइबनीज का प्रभाव ईश्वरवाद और अनीश्वरवाद, आदर्शवाद और यथार्थवाद, बुद्धिवाद तथा रहस्यवाद आदि पर समान रूप से पड़ा है। उससे हम वह प्रत्यक्षवाद सीख सकते हैं जो बुद्धि के विषयगत अर्थ से सम्बन्ध रखता है वह अस्तित्ववाद सीख सकते हैं जो तर्कशास्त्र में अधिक विश्वास करता है, वह ईश्वरवाद सीख सकते हैं जो वैज्ञानिक विश्लेषण को अग्रसर करता है। उसने सनातन धर्म को समझने और अभिव्यक्त करने की कोशिश की थी। उसने विज्ञान और मानविकी का समन्वय किया था। इस कारण उसका प्रभाव विशालतर है।

लाइबनीज के व्यक्तिवाद (Individualism) ने जनतन्त्र को आगे बढ़ाया और मानव स्वतंत्रता का प्रतिपादन किया। उसने चेतनाणओं की नित्य प्रगति का

प्रतिपादन किया था। इससे आगे चलकर विकासवाद स्थापित हुआ। उसके मानववाद (Humanism) का प्रभाव सदैव रहेगा क्योंकि यह वह मानववाद है जिसमें वैज्ञानिक मूल्यों के साथ राजनीतिक, सामाजिक, वैधानिक, धार्मिक, नैतिक और सौंदर्य-शास्त्रीय मूल्यों का समन्वय है।

परवर्ती दर्शन पर लाइबनीज के समग्र दर्शन का उतना प्रभाव नहीं पड़ा जितना उसके कुछ प्रत्ययों और सिद्धान्तों का पड़ा है। क्रियाशीलता को द्रव्य का लक्षण मानना, आत्मा को नित्य ज्ञानवान् और विकासशील मानना, सातत्य, वैसादृश्य और सादृश्य के सिद्धांत, बाध का नियम, पर्याप्त हेतु का नियम, पूर्वस्थापित एकता, आदि बहुत ही सारगर्भित और विचारोत्तेजक प्रत्यय तथा सिद्धांत हैं जिनसे परवर्ती दर्शन प्रभावित है। अपने दार्शनिक निकाय या प्रत्ययों और सिद्धान्तों के व्यापक प्रभाव के कारण लाइबनीज योरोपीय दर्शन की सामान्य धारा का अंग बन गया है।

१२ लाइबनीज-दर्शन के भाष्य

लाइबनीज के दर्शन के कई प्रकार के भाष्य किये गये हैं। कोटुरट और रसल के भाष्य सिद्ध करते हैं कि वह वास्तव में तर्कशास्त्री था और उसका दर्शन उसके तर्कशास्त्र से निष्पन्न हुआ है। रसल यह भी मानता है कि लाइबनीज का दर्शन चेतनाणुवाद है और ईश्वरवाद से उसका मेल नहीं है। किन्तु जीन वारुजि के भाष्य से लाइबनीज प्रधानतः धार्मिक विचारक है और ईश्वरवाद ही उसका प्रमुख दर्शन है। इस मत से तर्कशास्त्र उसके दर्शन का आधार नहीं है। फिर कुनो फिशर का कहना है कि लाइबनीज जागरण-युग (Enlightenment) का दार्शनिक है और बुद्धिवाद को प्रस्तावित करता है। अनेक ईसाई सम्प्रदायों की एकता, सभी ईसाई राज्यों की एकता विज्ञान की उन्नति वैज्ञानिक परिषदों की स्थापना और कानून की बुद्धिवादी व्याख्या, इन सभी को लाइबनीज ने प्रस्तावित किया। विंडलबैंड ने सिद्ध किया कि लाइबनीज का दर्शन कांट के दर्शन का अग्ररूप है और कांट ने इसी दर्शन को विकसित किया है। फिर, कार ने दिखाया कि लाइबनीज एक आदर्शवादी दार्शनिक है और उसका दर्शन हेगल तथा क्रोचे के दर्शनों से मिलता-जुलता है। कुछ लोगों ने सिद्ध किया है कि लाइबनीज प्रधानतः इतिहासकार था, वह पेशे से दार्शनिक नहीं था और केवल रुचिवशात् दार्शनिक कृतियों को लिखता था।

इन सभी भाष्यों में कुछ सत्य है और कुछ अतिशयोक्ति है। ये सब प्रवृत्तियाँ लाइबनीज में मिलती हैं। यही इनका सत्य है। फिर इनमें से किसी एक को लाइबनीज का मत नहीं कहा जा सकता है। उसको किसी दायरे के भीतर नहीं रखा जा

सकता। सभी भाष्य उसको किसी एक दायरे के अन्दर रखते हैं। यह उनकी अतिशयोक्ति है।

एक दृष्टि से लाइबनीज सर्वक्रियावादी है तो अन्य दृष्टियों से सर्वजीववादी, सर्वतर्कवादी (Panlogist) और ईश्वरवादी। एक दृष्टि से वह अद्वैतवादी है तो दूसरी दृष्टि से अनेकान्तवादी या वैपुल्यवादी। वस्तुतः लाइबनीज की प्रतिभा बहु-मुखी थी। उसने विविध प्रत्ययों और सिद्धान्तों की खोज की। सबका उसने समन्वय करने का प्रयास किया। इस समन्वय को उसने अपने चेतनाणुवाद में प्रकट किया। उसके व्यक्तित्व में पाखंड नहीं था। यह कहना ठीक नहीं है कि उसके दो दर्शन हैं, एक भीतरी और दूसरा बाहरी। उसका एक ही दर्शन है। इस दर्शन को हम बौद्धिक आदर्शवाद (Rational Idealism) कह सकते हैं। लाइबनीज के विभिन्न भाष्य इस बौद्धिव आदर्शवाद के सहकारी अंग हैं।

अध्याय ५

लाक का अनुभववाद

१ लाक का जीवनवृत्त

अभी तक हम योरोप महाद्वीप में थे और फ्रांस (डेकार्ट), हालैण्ड (स्पिनोजा) और जर्मनी (लाइब्नीज) के दर्शनों का अध्ययन कर रहे थे। अब हम इंग्लैण्ड द्वीप में चलते है और वहाँ के प्रमुख दार्शनिक जान लाक के दर्शन का अध्ययन करेंगे। जान लाक इंग्लैण्ड का पहला दार्शनिक नहीं है। उसके पहले भी वहाँ दर्शन था। वहाँ ईसाई विद्वानों के दर्शन थे, कैम्ब्रिज प्लेटोवाद था और बेकन और हाब्स के आधुनिक दर्शन थे। किन्तु इन सब को दर्शन-जगत् में उतना ऊँचा स्थान नहीं मिला जितना जान लाक के दर्शन को मिला। वह सच्चा अंग्रेज था और उसके दर्शन को अँग्रेजी दर्शन का प्रतिनिधि माना जाता है।

जान लाक का जन्म रिंगटन, सामरसेट में २९ अगस्त १६३२ ई० को हुआ, उसी वर्ष जिस वर्ष स्पिनोजा का जन्म हुआ था। किन्तु लाक का दर्शन उसके जीवन के अन्तिम वर्षों में बना और स्पिनोजा का दर्शन उसके जीवन के आरम्भिक वर्षों में। स्पिनोजा लाक से अधिक प्रतिभाशाली और मौलिक था। वह बाल-प्रतिभा था।

लाक का पिता वकील था। वह अपने माता-पिता की प्रथम सन्तान था। उसकी माता उसके पिता से १० साल बड़ी थी। वह भक्त महिला थी। लाक उसको बहुत स्नेह करता था। किन्तु उस पर उसके पिता का प्रभाव अधिक था। उसकी शिक्षा पहले घर पर हुई और फिर १६४६ में वह वेस्टमिन्स्टर स्कूल में भर्ती हुआ। १६५२ में वह स्कूल की शिक्षा समाप्त करके क्राइस्ट चर्च कालेज, आक्सफोर्ड में भर्ती हुआ और वहाँ से बी० ए०, एम० ए० तथा एम० बी० की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। अन्तिम परीक्षा डाक्टरी की थी। लाक डाक्टर था, किन्तु उसने कभी डाक्टरी की नहीं। आक्सफोर्ड के वह बुद्धिमान् छात्रों में से था। उसे वहाँ की आजीवन छात्रवृत्ति भी मिली थी। उसके अध्ययन में यूनानी, लातीनी, इब्रानी और अरबी भाषाएँ थीं तथा मध्य-युगीन ईसाई दर्शन और यूनानी दर्शन थे। किन्तु उसे इन दर्शनों से सन्तोष न हुआ। उसने स्वयं घर पर डेकार्ट के दर्शन का स्वाध्याय किया और डेकार्ट से दार्शनिक

चिन्तन करने की प्रेरणा ली। किन्तु उसने डेकार्ट-मत को स्वीकार नहीं किया। उसे डेकार्ट-मत एक ऊहा या दूर की कौडी प्रतीत हुआ। वह केवल डेकार्ट की स्पष्ट चिन्तन-प्रणाली से प्रभावित हुआ था। डेकार्ट ने उसे उसके नैराश्य और अस्पष्ट मतों से मुक्त किया था। जहाँ तक दार्शनिक विश्वासों का प्रश्न है वहाँ तक लाक डेकार्ट के विरोधी और आलोचक गैसेण्डी के मतों को अधिक मानता था। गैसेण्डी के मतों का ज्ञान उसे बाद में हुआ, जब वह फ्रान्स में रहने लगा था।

लाक के सामने कई पेशे खुले थे। वह धर्म-गुरु पादरी हो सकता था या डाक्टर हो सकता था। किन्तु इन दोनों पेशों में उसकी रुचि नहीं थी। वह क्राइस्ट चर्च में यूनानी का ट्यूटर हो गया था और बाद में नैतिक दर्शन का सेन्सर (Censor) भी हुआ था। किन्तु ट्यूटर के जीवन से उसे सन्तोष न था और न इससे पर्याप्त पैसे ही मिलते थे। १६६१ ई० में उसके पिता का देहान्त हो गया और उसे थोडी-बहुत पैतृक सम्पत्ति मिली। इसी बीच वह शादी करने को सोच रहा था, इसलिए उसकी आजीवन छात्रवृत्ति भी अनिश्चित थी, क्योंकि विवाह कर लेने पर वह समाप्त हो जाती। इन सारी बातों का सोच-विचार करके लाक ने अन्त में कूटनीति का पेशा चुना। १६६५ ई० में वह एक कूटनीतिक मिशन में बेडनबर्ग गया। घर वापिस आने पर उसे स्पेन में अंग्रेजी राजदूत के सचिव का पद मिला। किन्तु इसको उसने अस्वीकार किया। वह आक्सफोर्ड वापिस गया और अपना अनुशीलन प्रारम्भ किया। अब उसने स्पष्टतः अपने पेशे को चुन लिया। वह धर्म-गुरु डाक्टर या कूटनीतिज्ञ नहीं था। उसका पेशा दर्शन था। किन्तु वह व्यवहार-कुशल व्यक्ति था और जनसम्पर्क से दूर नहीं रहना चाहता था। वह स्पिनोजा की तरह एकान्त-सेवी विचारक नहीं था।

१६६६ ई० में वह लार्ड एश्ले से मिला जो बाद में शेफ्टसबरी का अर्ल हुआ। उसने उसके सचिव का कार्य किया। यही नहीं उसने डाक्टर का भी काम किया और एक बार अपने लार्ड के जीवन को शल्यचिकित्सा के द्वारा बचाया। इस प्रकार दोनों में काफी मैत्री हो चली। लाक अर्ल के पुत्र का ट्यूटर भी हो गया। जब शेफ्ट-सबरी लार्ड चान्सलर हुआ, तो उसने लाक को सचिव के कई महत्त्वपूर्ण कार्य दिये। किन्तु शेफ्टसबरी के भाग्य ने पलटा खाया और राजनीतिक झगड़ों के कारण उसे इंग्लैंड छोड़कर हालैण्ड भागना पड़ा और वहाँ १६८३ में उसका देहान्त हो गया। अब लाक को भी खतरा था। इसलिए वह भी हालैण्ड चला गया। उसका नाम विद्रोहियों की सूची में दर्ज था। बाद में उसका नाम इस सूची से हटाया गया जब इंग्लैंड की राजनीतिक बागडोर विलियम आव् ओरेन्ज के हाथ में आयी। अब लाक

को कोई खतरा न था। इसलिए वह स्वदेश वापस आया। उसको वैण्डनवर्ग में राजदूत का पद दिया गया. किन्तु उसने इंकार कर दिया। १६६१ ई० तक लन्दन में उसने एक छोटी नौकरी की और अन्त में निवृत्त होकर ओट्स में मेशम परिवार के साथ रहने लगा। रानी मेशम कैम्ब्रिज प्लेटोवादी कडवर्थ की पुत्री थी। वह लाक को बाइबिल के भजन सुनाती थी और उसकी सेवा करती थी। उसी परिवार में अक्टूबर १७०४ ई० में लाक का देहान्त हो गया। उसने विवाह नहीं किया था। उसने अपनी सम्पत्ति को रानी मेशम के पुत्र फ्रांसिस कडवर्ड मेशम के नाम लिख दिया था।

लाक का स्वास्थ्य अच्छा नहीं था। १६७५ ई० में वह स्वास्थ्य-लाभ करने के लिए फ्रांस गया था और वहाँ १६८० ई० तक रहा। इसी बीच वह डेकार्टवादियों और डेकार्ट-विरोधियों से मिला। गैमेण्डी की विचार-धारा का उसके ऊपर बहुत प्रभाव पड़ा। गैमेण्डी की मृत्यु के बाद उसके मत का अनुयायी और अग्रणी व्याख्याता फ्रैंसिस बर्नियर था। लाक बर्नियर के सम्पर्क में था। दोनों में मैत्री थी। बर्नियर केवल एक उच्चकोटि का दार्शनिक ही नहीं था वरन् वह डाक्टर भी था. यद्यपि लाक की ही तरह उसने भी कभी डाक्टरी का पेशा किया नहीं। इसके अतिरिक्त वह बहुत बड़ा यात्री था और उसने उत्तरी अफ्रीका, मिस्र, एशिया, सीरिया और भारत का भ्रमण किया था। उसने अपनी यात्राओं के वर्णन लिखे हैं। लाक को उससे गैमेण्डी का दर्शन ही नहीं वरन बाहरी दुनिया का भी ज्ञान मिला था। लाइबनीज लाक और बर्नियर के सम्पर्क को जानता था। उसने लिखा है कि लाक का मत बर्नियर द्वारा स्पष्टीकृत गैमेण्डी का मत है। गैमेण्डी डेमोक्राइटस की परम्परा के भौतिकवाद को मानता था। वह मानता था कि भौतिक पदार्थ चिन्तन कर सकता है आजानिक प्रत्यय नहीं हैं, मन कोरी पाटी है और मन में जो कुछ भी है वह पहले इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में है। लाक इन मतों से बहुत प्रभावित था और उसका मत गैमेण्डी के मत का ही संवर्धन-परिवर्धन है।

लाक की प्रमुख रचना **मानव बुद्धि से सम्बन्धित एक निबन्ध** (An Essay Concerning Human Understanding) है। यह दर्शन का एक श्रेष्ठ ग्रन्थ (Classic) है। इसमें ज्ञान का विश्लेषण है। यह सर्वप्रथम १६९० ई० में प्रकाशित हुआ। लाक ने इसको लिखने में लगभग २० वर्ष लगाये। उसके जीवनकाल में इसके चार संस्करण छप चुके थे और इसका लातीनी तथा फ्रांसीसी में अनुवाद हो चुका था। यह अंग्रेजी में लिखा गया पहला उच्चकोटि का दार्शनिक ग्रन्थ है। इसकी रचना का तात्कालिक हेतु एक विवाद था। लाक के पाँच-छः मित्र बैठकर नैतिकता के किसी प्रश्न पर विवाद कर रहे थे। उसे सुनकर लाक ने कहा कि जब तक ज्ञान

का विश्लेषण न हो, नैतिकता के ज्ञान को समझ न लिया जाय, तब तक विवाद करना व्यर्थ है। सभी मित्रों ने इस पर लाक को अपनी सम्मति दी और उसी क्षण से लाक ज्ञान के विश्लेषण में लग गया।

लाक के पूर्व दर्शन का प्रधान विषय द्रव्य का विवेचन या तत्त्ववाद या तत्त्व-दर्शन था। लाक ने कहा कि जब तक ज्ञान का प्रामाणिक वर्णन न हो, उसकी शक्ति और सीमा का ज्ञान न हो, तब तक द्रव्य का विवेचन करना अप्रामाणिक है उसने ज्ञान-मीमांसा को तत्त्व-मीमांसा का पूर्ववर्ती बताया। ज्ञान-मीमांसा पहले होनी चाहिए और तत्त्व-मीमांसा बाद में। उसके पहले ज्ञान-मीमांसा और तत्त्व-मीमांसा का यह क्रम उल्टा था। लाक ने गम्भीरतापूर्वक विशद रीति से ज्ञान के स्वरूप उद्भव, शक्ति, प्रकार, सीमा और निकष या मानदण्ड का विवेचन किया। उसके विवेचन में प्रायः शब्दाडम्बर तथा पुनरुक्ति है। किन्तु फिर भी यह एक साहसपूर्ण और मौलिक रचना है। इसका दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक है। बाद में कांट ने ज्ञान का जो विवेचन किया वह प्रमाण-मीमांसा के दृष्टिकोण से है। लाक के दृष्टिकोण में ज्ञान की उत्पत्ति प्रधान है। कांट के दृष्टिकोण में ज्ञान का प्रामाण्य प्रधान है। दृष्टिकोणों के इस भेद के कारण लाक की ज्ञान-मीमांसा मनोविज्ञान रह गयी और कांट की ज्ञान-मीमांसा दर्शन का पर्याय बन गयी। परन्तु कांट को प्रेरणा लाक की ज्ञान-मीमांसा के परिणामों को विकसित करने वाले ह्यूम से मिली थी। इसलिए ज्ञान-मीमांसा को दर्शन की गद्दी पर बैठाने वालों में लाक का नाम अग्रगण्य है।

'मानव बुद्धि से सम्बन्धित एक निबन्ध' चार भागों में लिखा गया है। पहले भाग में आजानिक प्रत्ययों (Innate Ideas) और सिद्धान्तों का खण्डन है। दूसरे भाग में दिखाया गया है कि सभी प्रत्ययों की उत्पत्ति अनुभव से होती है और प्रत्ययों के मुख्यतः दो भेद हैं-मूल प्रत्यय और मिश्रित प्रत्यय। मिश्रित प्रत्यय मूल प्रत्ययों के सम्मिश्रण हैं। तीसरे भाग में भाषा की समीक्षा है। भाषा का विचार पर क्या प्रभाव है? भाषा कैसे एक ओर चिन्तन को अग्रसर करती है तो दूसरी ओर उसे कुण्ठित करती है? शब्द कैसे घटाटोप बन जाते हैं? चौथे भाग में ज्ञान के प्रकार और ज्ञान की सीमाओं का विवेचन है। शुद्ध ज्ञानमीमांसा दूसरे और चौथे भाग में है। ये अंश पहले लिखे गये थे। बाद में इनमें पहला और तीसरा भाग जोड़ दिया गया। ये भाग खण्डनात्मक हैं।

इस निबन्ध के अतिरिक्त लाक की अन्य मुख्य रचनाएँ हैं :—(१) **शासन पर दो प्रबन्ध** (Two Treatises on Government), (२) **शिक्षा पर विचार** (Thoughts on Education), (३) **ईसाई मत की युक्तियुक्तता** (Reasonab

leneess of Christianity), (४) **सहिष्णुता पर चार लेख** (Four Letters on Toleration), (५) **बुद्धि का आचरण** (Conduct of Understanding) और (६) **ईश्वर में सभी वस्तुओं को देखने से सम्बन्धित मैलब्रान्श के मत का** परीक्षण (An Examinaton of F. Malebranche's Opinion of seeing all things in God)। इनके अतिरिक्त भी उसके बहुत-से लेख हैं, किन्तु वे दार्शनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। लाक कवि भी था। अंग्रेजी और लातीनी में उसकी कुछ कविताएँ भी प्रकाशित हैं।

दर्शन, राजनीति और शिक्षाशास्त्र पर लाक का बहुत प्रभाव है। इन विषयों में उसके विचार आज भी आधुनिक हैं। यहाँ हम केवल उसके दर्शन का ही अनुशीलन करेंगे।

२ आजानिक प्रत्ययों का खंडन

लाक के समय में आजानिक प्रत्ययों की समस्या का विवेचन हो रहा था। डेकार्ट और उसके अनुयायी कुछ प्रत्ययों और सिद्धान्तों को आत्मा में आजानिक या निगूढ़ मानते थे। उसके विपरीत गैसेंडी तथा उसके अनुयायी सभी प्रत्ययों और सिद्धान्तों को अनुभवजन्य मानते थे। लाक की सहानुभूति गैसेंडी के मत के प्रति थी। डेकार्ट-मत के अतिरिक्त उस समय कैम्ब्रिज प्लेटोवाद, ईसाई मत के कुछ नैकायिकों (Schoolmen) का मत तथा कुछ नीतिज्ञों का मत था कि जो सार्वभौम, अनिवार्य और स्वयंसिद्ध प्रत्यय तथा सिद्धान्त हैं, वे आत्मा में निहित या निगूढ़ हैं। इस प्रसंग में प्लेटो का संलाप **'मीनो'** उल्लेखनीय है। उसमें सुकरात ने **मीनो** के एक अशिक्षित नौकर से इस प्रकार प्रश्न पूछे कि उसने बिना बताये वर्ग (Square) और उसके गुणों को बता दिया। इससे सुकरात ने सिद्ध किया कि नौकर को जो ज्ञात होता है वह अनुस्मरण (Recollection) है। उसका ज्ञान उसकी आत्मा में है किन्तु वह अज्ञान से परिवेष्ठित है। इस अज्ञान को हटा देने से ज्ञान प्रकाशित हो जाता है। सुकरात और प्लेटो ने ज्ञानमात्र को आत्मा में निहित या आजानिक माना था। आजानिक प्रत्ययों को मानने वालों ने अपने पक्ष में निम्नलिखित युक्तियाँ दी हैं :—

(क) **सर्व-सम्मति**। बहुत-से प्रत्यय ऐसे हैं जो सभी मानवों की सर्वसम्मति से मान्य हैं। अभेद का नियम, बाध का नियम, ईश्वर का प्रत्यय, कुछ ऐसे ही सर्वसम्मत प्रत्यय और नियम हैं। जो सर्वसम्मत है वह अवश्य ही सर्वान्तर है। इसलिए सर्वसम्मत प्रत्यय और नियम सभी आत्माओं में निगूढ़ हैं, क्योंकि यदि वे

निगूढ़ नहीं हैं तो उन पर सर्वसम्मति नहीं हो सकती। यदि वे आगन्तुक हैं तो बहुत-से लोग उनको न मानेंगे।

(ख) **अनिवार्यता**। कुछ प्रत्यय और नियम अनिवार्यतः सत्य हैं। यदि वे आगन्तुक होते तो कादाचित्क या प्रायशोभावी होते। अतः सिद्ध है कि वे आगन्तुक नहीं हैं। वे सभी मनुष्यों की आत्मा में निहित हैं। अभेद का नियम, बाध का नियम आदि इस कोटि में आते हैं।

(ग) **स्वयंसिद्धता**। जो प्रत्यय और नियम स्वयंसिद्ध हैं वे आत्मा में विद्यमान हैं। यदि वे आत्मा में विद्यमान न होते तो वे स्वयंसिद्ध न होते, किन्तु दूसरे के द्वारा सिद्ध होते। आत्मा का प्रत्यय, कारणता का प्रत्यय आदि इस कोटि में हैं।

(घ) **अव्यक्तता**। जब कहा जाता है कि ज्ञान आत्मा में निगूढ़ है तो इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वह आत्मा में व्यक्त है। इसका अभिप्राय है कि ज्ञान आत्मा में अव्यक्त है और उसके व्यक्त होने की आवश्यकता है। उसके व्यक्त होने में अनुभव की उपयोगिता है।

(ङ) **शक्ति**। अन्त में कुछ लोग कहते हैं कि आत्मा में ज्ञान अव्यक्तरूप से भी नहीं है, वरन् शक्ति-रूप से है। आत्मा में कुछ शक्ति है जिसके फलस्वरूप ज्ञान उत्पन्न होते हैं।

लाक ने आजानिक प्रत्ययों के खण्डन में उपर्युक्त युक्तियों को ध्यान में रखा था। इसलिए उनके खंडन में उसने निम्नलिखित युक्तियाँ दीं—

(क) **सर्वसम्मति-युक्ति का खंडन**। सर्वसम्मति प्रत्ययों की निगूढ़ता या आजानिकता का प्रमाण नहीं है। उदाहरण के लिए जो लोग किसी मेज को देखते हैं, उनमें मेज के प्रत्यय को लेकर सर्वसम्मति हो सकती है। किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता कि मेज का प्रत्यय मेज के प्रत्यक्ष से पहले ही आत्मा में था। फिर वस्तुतः किसी प्रत्यय पर सर्वसम्मति नहीं है। बच्चे, अशिक्षित, पागल, आदि उन प्रत्ययों और नियमों को नहीं जानते हैं जिन पर सर्वसम्मति बतायी जाती है। बच्चों और पागलों को ईश्वर का कोई प्रत्यय या ज्ञान नहीं है। जिन लोगों के पास ईश्वर का प्रत्यय या ज्ञान है उनके भी ईश्वर भिन्न-भिन्न हैं। उनमें ईश्वर के प्रत्यय के ऊपर मतैक्य नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि ईश्वर का प्रत्यय तथा ऐसे ही अन्य प्रत्यय सर्वसम्मत नहीं हैं और वे आत्मा में निहित नहीं हैं। वे अनुभवजन्य हैं। लोग अपने अनुभवों के अनुसार ईश्वर का तथा अन्य विषयों का प्रत्यय करते हैं।

(ख) **अनिवार्यता-युक्ति का खंडन**। नियमों या प्रत्ययों की अनिवार्यता भी उनके आजानिक होने का प्रमाण नहीं है। जो नियम या प्रत्यय अनिवार्य

बताये जाते हैं उनका तात्पर्य यह नहीं है कि वे आजानिक हैं। उनका तात्पर्य यह है कि जब कोई मनुष्य वस्तुओं के स्वभाव पर विचार करता है तो उसे उन पर विचार करना पड़ता है और वह अन्यथा नहीं कर सकता है। वह उन्हें उसी प्रकार से जानता है जिस प्रकार से वह वस्तुओ को जानता है।

(ग) स्वयंसिद्धता-युक्ति का खंडन। अनिवार्यता की तरह स्वयंसिद्धता भी प्रत्ययों के आजानिक होने का प्रमाण नहीं है। जिन प्रत्ययों या नियमों को स्वयंसिद्ध कहा जाता है वे सभी मानवों के लिए स्वयंसिद्ध नहीं हैं। फिर वे किसी विशेष दृष्टिकोण से ही स्वयंसिद्ध हैं और दूसरे दृष्टिकोण से स्वयंसिद्ध नहीं हो सकते। उदाहरण के लिए, समानान्तर रेखाओं की स्वयंसिद्धि को लीजिए। यूकलिड के लिए एक विशेष दृष्टिकोण से यह स्वयंसिद्ध है। किन्तु आधुनिक युग में अनेक ज्यामितिकारों ने इस स्वयंसिद्धि का खंडन किया है और इसके विरोध में दूसरी स्वयंसिद्धि बनाकर यूकलिड-भिन्न ज्यामिति की स्थापना की है। इससे सिद्ध है कि स्वयंसिद्ध प्रत्यय या नियम सभी दृष्टिकोणों से स्वयंसिद्ध नहीं हैं। फिर जो लोग स्वयंसिद्ध प्रत्यय और नियमों को आजानिक मानते हैं वे गणित के समस्त सिद्धान्तों को आजानिक नहीं मानते, यद्यपि वे भी स्वयंसिद्ध हैं।

(घ) अव्यक्तता-युक्ति का खंडन। लाक का कहना है कि ज्ञान अव्यक्त नहीं हो सकता। जो अव्यक्त है वह ज्ञान नहीं है। प्रत्यय आत्मा में निहित हों और आत्मा उससे अनभिज्ञ हो, यह एक वदतोव्याघात है। जो लोग प्रत्ययों को आजानिक मानते हैं वे ऐसे ही व्याघात में फँसे हैं। आत्मा वह तालाब नहीं है जिसमें प्रत्यय रूपी मछलियाँ भरी हैं, या जिसमें समस्त ज्ञान खचित है। आत्मा रिक्त है। वह प्रत्ययों से सर्वथा शून्य है। वह ज्ञानशून्य है।

(ङ) शक्ति-युक्ति का विमर्श। लाक शक्ति की युक्ति का सर्वथा खंडन नहीं करता है। वह मानता है कि आत्मा में कुछ मौलिक या निहित शक्ति है। आत्मा की मूल प्रवृत्तियाँ हैं। उदाहरण के लिए, सुख पाने की और दुःख से बचने की मूल प्रवृत्ति है जो आजानिक है। जिन्हें मनोविज्ञान में चरिष्णुता (Tropisms), सहजक्रिया (Reflexes) और मूल प्रवृत्ति (Instincts) कहा जाता है उन्हें लाक आजानिक मानता है। किंतु वह समस्त ज्ञान को आगन्तुक या उपलब्ध मानता है और किसी प्रकार के ज्ञान को आजानिक नहीं मानता है। दूसरे शब्दों में वह कुछ क्रियाओं और भावनाओं को अवश्य आजानिक मानता है, पर ज्ञान को वह सर्वथा उत्पन्नधर्मा मानता है।

किंतु ज्ञान को वह संवेदना, युक्ति और प्रातिभ ज्ञान द्वारा उपलब्ध बताता है और मानता है कि मनुष्य में संवेदना, युक्ति तथा प्रातिभज्ञान प्राप्त करने की शक्ति

हैं। यह शक्ति ज्ञान-रूप नहीं है। यह भावना-रूप और क्रिया-रूप है। इस शक्ति से ज्ञान उत्पन्न होता है। लाक संवेदना, युक्ति और प्रातिभ ज्ञान के अतिरिक्त किसी चौथे प्रकार का ज्ञान नहीं मानता है। उसके मत से ज्ञान उपलब्ध है। आजानिक प्रत्ययों के उसके खंडन से यह नहीं सिद्ध होता कि उसका मत शुद्ध संवेदवाद (Sensationalism) है। उपलब्ध ज्ञान केवल संवेद-ज्ञान नहीं है, वह यौक्तिक और प्रातिभ भी है। संवेद आजानिक नहीं हैं वे उपलब्ध होते हैं। इसलिए लाक आजानिक प्रत्ययों के खंडन द्वारा संवेदवाद का समर्थन नहीं कर रहा है।

अब प्रश्न है कि क्या लाक प्रागनुभविक ज्ञान (Apriori Knowledge) का खण्डन करता है। स्वयं लाक ने 'प्रागनुभविक ज्ञान' इस पदावली का व्यवहार नहीं किया है। किन्तु उसके बाद बहुत-से दार्शनिकों ने आजानिक प्रत्ययों के खण्डन का तात्पर्य यह लगाया कि उसने प्रागनुभविक ज्ञान का खंडन किया है। इस प्रसंग में आरान का कहना है कि यदि प्रागनुभविक ज्ञान का मतलब है कि कोई उपलब्धि-भिन्न ज्ञान है, यदि यह उन सिद्धांतों का ज्ञान है जिनके द्वारा हम अनुभव को व्यवस्थित करते हैं, यदि यह वह ज्ञान है जो स्वयं अनुभव से तर्कतः पूर्व है तो निःसन्देह लाक इस प्रकार के ज्ञान का खण्डन करता है। वह मानता है कि जो अनिवार्य सम्बन्ध प्रत्ययों के बीच हैं, वे प्रत्ययों के साथ ही उपलब्ध होते हैं। किन्तु यह उपलब्धि संवेदना द्वारा नहीं होती है। यह केवल आगमन-क्रिया (Process of Induction) द्वारा भी नहीं होती है। इसकी उपलब्धि युक्ति और प्रातिभ ज्ञान से होती है। इसलिए यदि प्रागनुभविक ज्ञान का मतलब है उस विषय का ज्ञान जो सार्वभौम और अनिवार्य है, तो लाक इस ज्ञान की संभावना को मानता है[१]।

लाक का कहना है कि जो लोग नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र के क्षेत्र में आजानिक प्रत्ययों को मानते हैं वे ज्ञान-शत्रु हैं। वे सामान्य जनता को दिखाना चाहते हैं कि कुछ धार्मिक और नैतिक नियम सभी आत्माओं में निहित हैं जिन्हें वे जानते हैं और सामान्य जनता उन्हें नहीं जानती है। इसलिए वे सामान्य जनता को उन नियमों को बताना चाहते हैं और उसे अपने मत में दीक्षित करना चाहते हैं। बस इसी झूठे तर्क के आधार पर लोग सामान्य जनता में अपने धार्मिक और नैतिक अन्धविश्वासों को फैलाते हैं। यदि इन अन्धविश्वासों और धार्मिक तथा नैतिक नियमों का विश्लेषण किया जाय तो पता चलेगा कि वे सभी कुछ परिस्थितियों में कुछ मनुष्यों के सम्पर्क के कारण उत्पन्न हुए हैं और वे सभी मनुष्यों की आत्मा में निहित नहीं हैं। आजानिक प्रत्ययों का खंडन विश्लेषण और ज्ञान का उन्नायक है।

---

१. John Locke, R. I. Aaron, P. 97-98

३ ज्ञान का स्वरूप

ज्ञान प्रत्ययों के आनुकूल्य और प्रातिकूल्य या सादृश्य और विरोध के प्रत्यक्षीकरण के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं[1]। ज्ञान प्रत्ययों की अनुकूलता या प्रतिकूलता का प्रत्यक्ष है। जब हम कहते हैं कि सफेद काला नहीं है तो हम सफेद और काला इन दो प्रत्ययों की प्रतिकूलता का प्रत्यक्ष करते हैं। फिर जब हम कहते हैं कि त्रिभुज के तीनों कोणों का योग दो समकोण होता है तब हम त्रिभुज के तीनों कोण और दो समकोण इन प्रत्ययों की अनुकूलता का प्रत्यक्ष करते हैं। प्रत्ययों की अनुकूलता या प्रतिकूलता को लाक चार प्रकार की बताता है। पहले, उनका अभेद या भेद है। अभेद प्रत्ययों की अभिन्नता (Identitv) है, जैसे रक्त रक्त है श्वेत श्वेत है, आदि। भेद प्रत्ययों की भिन्नता (Diversitv) है, जैसे श्वेत कृष्ण नहीं है। प्रत्ययों का भेदाभेद ज्ञान के लिए परमावश्यक है। उसके बिना किसी प्रकार का ज्ञान नहीं हो सकता। दूसरे, प्रत्ययों के अमूर्त सम्बन्ध (Abstract Relations) हैं। ये सम्बन्ध विशेषतः गणित के प्रत्ययों में विद्यमान रहते हैं। तीसरे, प्रत्ययों का किसी उद्देश्य में युगपद्-भाव (Co-existence) या उसका अभाव है। जैसे जब हम कहते हैं कि सोना पीला और लचीला होता है तो हम सोना में पीला और लचीला इन दो प्रत्ययों का युगपद्-भाव देखते हैं। इसी तरह जब हम कहते हैं कि मेज में स्निग्धता और पीलापन नहीं है तब हम उसमें स्निग्धता और पीलापन इन दो प्रत्ययों के युगपद्-भाव का अभाव पाते हैं। चौथे, यथार्थ सत्ता के अनुकूल या प्रतिकूल प्रत्ययों का होना है। जैसे ईश्वर है यह ज्ञान लीजिए। ईश्वर का प्रत्यय ईश्वर नामक वस्तुतः यथार्थ सत् के अनुरूप है। इसलिए यह ज्ञान है।

प्रतिकूलता-अनुकूलता दोनों सम्बन्ध के अन्तर्गत हैं। ज्ञान की उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार ज्ञान प्रत्ययों के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि ज्ञान प्रत्ययों का सम्बन्ध नहीं है, वरन उस सम्बन्ध का प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष पद से बहुतों को आशंका होती है कि क्या समस्त प्रकार का ज्ञान प्रत्यक्ष है। वास्तव में यहाँ लाक की शब्दावली उपयुक्त नहीं है। वह प्रत्ययों के सम्बन्ध के प्रत्यक्ष को प्रत्ययों के प्रत्ययों के प्रत्यक्ष से भिन्न करता है। किन्तु दोनों के लिए उसने एक ही पद का प्रयोग करके भ्रांति पैदा कर दी है। वह वास्तव में प्रस्तुत प्रसंग में प्रत्यक्ष का मतलब मानसिक स्वीकृति या निर्णय (Judgment) लेता है। प्रत्यक्ष बुद्धि की शक्ति है। यह तीन प्रकार का है, प्रत्ययों का प्रत्यक्ष, संकेतों के अर्थ का प्रत्यक्ष और प्रत्ययों की

---

१. An Essay Concerning Human Understanding, Book IV. 1. 2.

अनुकूलता तथा प्रतिकूलता का प्रत्यक्ष[1]। पहले दो प्रकार के प्रत्यक्ष वास्तव में ज्ञान के घटक हैं। तीसरे प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान है। वह निर्णय का अर्थ देता है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि ज्ञान प्रत्ययों की अनुकूलता और प्रतिकूलता का निर्णय है, और वह विषयी (ज्ञाता) और विषय (ज्ञेय) का सम्बन्ध नहीं है। ज्ञान प्रत्ययों से बना है।

ज्ञान कोई अखंड इकाई नहीं है। वह अनुत्पन्नधर्मा नहीं है। वह सर्वथा प्रत्ययाधीन है या प्रत्ययाकार है।

प्रत्यय (Idea) किसे कहते हैं ? अपने **निबन्ध** की भूमिका में ही लाक ने प्रत्यय की परिभाषा दी है। "यह वह पद है जो बुद्धि का विषय है जब कि कोई मनुष्य सोचता है। मैंने इसका प्रयोग वह सब अभिव्यक्त करने के लिए किया है जो कल्पना (Phantasm), बोध (Notion), जाति (Species), या चिन्तन में मन जो कुछ भी व्यवसाय करता है वह, अर्थ देते हैं[2]।" प्रत्यय संवद, मन में उपस्थित कोई प्रतिबिम्ब या वृत्ति तथा चिन्तन का विषय है। इसे हम विषय या गोचर (Phenomenon) कह सकते हैं। संवद, प्रत्यक्षीकरण, कल्पना स्मरण, तर्कणा सब चिन्तन के अन्तर्गत हैं। फिर चिन्तन का जो विषय है, वह प्रत्यय है।

प्रत्यय मन में है या मन प्रत्यय का आश्रय है। प्रत्यय स्वयं मन या आत्मा या उसके विकार (परिणाम) नहीं है, किन्तु वे अमानसिक या अनात्मिक भी नहीं हैं। वे भौतिक वस्तुएं भी नहीं हैं। सैमुअल एलेकजेन्डर ने ठीक ही कहा है कि उनका अपना निजी प्रकार का अस्तित्व है जो मन और भौतिक वस्तुओं के बीच धूप-छाया (धूपछाँही) या संध्या है[3]। प्रत्यय मन और भौतिक वस्तुओं से भिन्न तथा दोनों के मध्य में हैं। वे मन में भौतिक वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं या उनको प्रतिबिम्बित करते हैं। प्रत्यय प्रतिबिम्ब या प्रतिनिधि हैं। प्रत्ययों से बना हुआ ज्ञान प्रतिबिम्ब या प्रतिनिधि (Representation) है। मन भौतिक वस्तुओं को प्रत्ययों के माध्यम से ही जानता है। प्रत्ययों का अस्तित्व मन में क्षणिक रहता है। वे आगन्तुक, क्षणिक और चंचल हैं। लाक ज्ञान तथा प्रत्यक्ष को प्रतिनिधिमूलक मानता है। उसका सिद्धान्त प्रतिनिधिवाद (Representationism) है।

प्रत्यय दो प्रकार के हैं—मूल और मिश्रित। मूल प्रत्यय (Simple Ideas) वे हैं जो साक्षात् बुद्धि को अनुभव से उपलब्ध होते हैं। फिर मिश्रित प्रत्यय (Com-

१. वही भाग दो, अध्याय २१, अधिकरण ५।

२. वही, भूमिका, ८।

३. Locke, Samuel Alexander पृ० ३३।

plex Ideas) वे हैं जो मूल प्रत्ययों के संघात से बनते हैं। दोनों प्रकार के प्रत्यय उत्पन्न होते हैं।

४ ज्ञान की उत्पत्ति

आत्मा या मन स्वभावतः ज्ञान-शून्य है। वह कोरा कागज या कोरी पाटी है। उसमें कुछ लिखा या अंकित या चिह्नित नहीं है। अब प्रश्न है कि मन में कहाँ से बहुत-से प्रत्यय या ज्ञान आ जाते हैं। इसका उत्तर लाक एक शब्द में देता है—'अनुभव से'। अनुभव से सभी ज्ञान मन में आते हैं। उसी में हमारा सम्पूर्ण ज्ञान स्थापित है और उसी से वह अन्ततः अपने को निकालता है। अनुभव का अर्थ लाक संवेदना (Sensation) और अन्तर्दर्शन (Reflection) करता है। ये ही दो ज्ञान के स्रोत हैं जिनसे सभी प्रत्यय, जिन्हें हम प्राप्त करते हैं या स्वभावतः प्राप्त कर सकते हैं, उत्पन्न होते हैं।

"संवेदना देह के किसी भाग में उत्पन्न गति या पड़ा हुआ प्रतिघात (Impression) है जो बुद्धि में कुछ प्रत्यक्ष उत्पन्न करता है"[1]। बाह्य विषयों का इन्द्रियों पर आघात होता है। इन्द्रियाँ उस आघात की सूचना मस्तिष्क के पास ले जाती हैं। मस्तिष्क उस सूचना से मन को प्रभावित करता है। फलतः मन में एक प्रत्यय उपस्थित हो जाता है। मन में इस प्रकार प्रत्यय उत्पन्न होने की क्रिया को संवेदना कहते हैं। संवेदना हमारे अधिकांश प्रत्ययों का स्रोत है।

अनुभव का दूसरा स्रोत अन्तर्दर्शन है। अन्तर्दर्शन मन के व्यापारों का प्रत्यक्षीकरण है। संवेदना से अनेक प्रत्ययों को प्राप्त करके मन प्रत्यक्षीकरण, चिंतन, संदेह, विश्वास, तर्कणा, जानना, इच्छा करना आदि व्यापार करता है। जब मन इन व्यापारों पर चिंतन करता है या दूसरे शब्दों में आत्मनिरीक्षण या अंतर्दर्शन करता है, तब उसे कुछ स्पष्ट प्रत्यय वैसे ही मिलते हैं, जैसे संवेदना से उसको प्रत्यय मिलते हैं। यद्यपि अंतर्दर्शन इन्द्रिय नहीं है, क्योंकि इसका सम्बन्ध बाह्य विषयों से नहीं है, तथापि यह उसकी तरह है और इसलिए इसे अंतःकरण (Internal Sense) या आंतरिक इन्द्रिय कहा जाता है।

पहले संवेदना होती है और तब अंतर्दर्शन होता है। अंतर्दर्शन संवेदना का अनुगामी है। संवेदना के आधार पर बाहरी दुनिया का ज्ञान होता है। इससे कुछ लोगों ने निष्कर्ष निकाला है कि लाक संवेदवादी (Sensationalist) है; क्योंकि संवेदना के रूप में वह मौलिक ज्ञान घटित होता है जिसके आधार पर बाहरी दुनिया

१. वही भाग दो, अध्याय १ अधिकरण २।

२. वही २। १। २३,।

और अन्तःकरण का ज्ञान होता है। किन्तु यह निष्कर्ष गलत है और लाक संवेदवादी नहीं है। संवेदना बाहरी दुनिया का ज्ञान नहीं देती है। वह ज्ञान की सामग्री प्रदान करती है। वह मन को प्रत्ययों से भरती है। जब मन इन प्रत्ययों को संयुक्त या वियुक्त करता है, तब ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान की उत्पत्ति में संवेदना और अन्तर्दर्शन दोनों की आवश्यकता है।

लाक का प्रमुख मन्तव्य अनुभववाद है। यह अनुभववाद या प्रत्यक्षवाद (Empiricism) क्या है? अनुभववाद के अर्थ में तीन बातें हैं। पहली, मानव ज्ञान के मूल तत्त्व अनुभव में उत्पन्न होते हैं वे मानव मन के लिए प्रदत्त हैं। वे मानव के मन में परिभाषा या विवरण द्वारा संकेतित नहीं होते हैं। उनको मूल प्रत्यय कहा जाता है। दूसरी, समस्त मानव ज्ञान के मूल इन्हीं मूल प्रत्ययों में हैं। "वे सभी उदात्त विचार जो गगनचुम्बी हैं या स्वर्ग तक पहुँचे हैं यहीं से उत्पन्न होते हैं और यहीं प्रतिष्ठित हैं।" तीसरी मूल प्रत्ययों के द्वार संवेदना और अन्तर्दर्शन हैं।

संवेदना और अन्तर्दर्शन से ही समस्त ज्ञान उत्पन्न होता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि लाक का अन्तर्दर्शन आधुनिक मनोविज्ञान का अन्तर्दर्शन (Intro spection) नहीं है, इसमें स्मृति (Memory), युक्ति (Demonstration) और प्रातिभ ज्ञान (Intuitive Knowledge) भी शामिल हैं।

लाक के अनुभववाद की मुख्य मान्यता यह है कि सर्वसाधारण मानव को जो अनुभव संवेदना तथा अन्तर्दर्शन से मिलते हैं उन्हीं से समस्त मानव ज्ञान बना है। मानव ज्ञान की अनुभवजन्यता और अनुभव का सर्वसाधारण प्रत्यक्ष या लोकप्रत्यक्ष होना उसके अनुभववाद के प्रमुख सिद्धान्त हैं।

५ मूल प्रत्यय

मूल प्रत्ययों की दो विशेषताएँ हैं। पहली, मूल प्रत्यय मन के लिए प्रदत्त हैं। मन उनको उत्पन्न या नष्ट नहीं कर सकता है। वह उनको केवल ग्रहण करता है। दूसरी, वे आणविक अमिश्रित और अविभाज्य इकाई हैं।

किन्तु मूल प्रत्ययों की प्रदत्तता तथा आणविकता में विरोध है। उनकी प्रदत्तता का तात्पर्य है कि वे मूर्तिमान् हैं और उनकी आणविकता का तात्पर्य है कि वे अमूर्त हैं और तर्कतः अमूर्तीकरण (Abstraction) से या अनुभव को खण्ड-खण्ड करने पर ज्ञात होते हैं। अनुभव को खण्ड-खण्ड करने से जो उसकी अविभाज्य इकाई ज्ञात होती है वह अनुमानित या प्रकल्पित है। वह प्रदत्त नहीं है। इस तरह मूल प्रत्ययों की आणविकता का उनकी प्रदत्तता से विरोध है।

लाक इस विरोध को दूर करने का प्रयास नहीं करता है। वह यह मानकर चलता है कि मूल प्रत्यय प्रदत्त और आणविक दोनों हैं। मूल प्रत्यय [illegible]

से पृथक् होकर प्रदत्त नहीं हैं । "मूल प्रत्यय आपस में संगठित कई संघातों में विद्यमान देखे जाते हैं[1] ।" लाक के इस कथन का तात्पर्य है कि मिश्रित प्रत्यय प्रदत्त है और उस प्रदत्त में विभिन्न मूल प्रत्यय देखे जाते हैं । मूल प्रत्यय ऐसे प्रदत्त नहीं है जो पृथक्-पृथक् स्वतः उपलब्ध हों । वे अपने संघातों में ही स्थित देखे जाते हैं । इस तरह मूल प्रत्ययों को उनके संघातों से पृथक् करके लेना उनको अमूर्त बना देना है । वे मूर्तिमान् तभी हो सकते हैं जबकि उनकी उपलब्धि उनके संघातों में हो । वास्तव में उनका संघात ही मूर्तिमान् है और वे उसके घटक हैं । एक मूर्तिमान् संघात में उसके वास्तविक घटकों को उपलब्ध करना लाक के लिए तार्किक विश्लेषण या फक्किका नहीं हैं, वरन् संवेदना तथा अन्तर्दर्शन से मूल प्रत्यय उपलब्ध करना है ।

मूल प्रत्यय चार प्रकार के हैं :—

(क) केवल किसी एक इन्द्रिय द्वारा प्राप्त प्रत्यय,
(ख) एक से अधिक इन्द्रियों द्वारा प्राप्त प्रत्यय,
(ग) केवल अन्तर्दर्शन के द्वारा प्राप्त प्रत्यय, और,
(घ) संवेदना तथा अन्तर्दर्शन की संयुक्त रीतियों से प्राप्त प्रत्यय ।

बर्फ के एक टुकड़े की शीतलता और कठोरता, कमलपुष्प की गन्ध और सफेदी, चीनी का मीठापन, आदि केवल एक इन्द्रिय से प्राप्त मूल प्रत्यय हैं । सफेदी का प्रत्यय चक्षु-इन्द्रिय से, गन्ध का प्रत्यय घ्राण-इन्द्रिय से, शीतलता या कठोरता का प्रत्यय स्पर्श-इन्द्रिय से मिलता है । इसी प्रकार श्रवण-इन्द्रिय से ध्वनि का प्रत्यय और रसना-इन्द्रिय से रस का प्रत्यय मिलता है । ये सभी एक इन्द्रिय के प्रत्यय हैं । सभी प्रकार के रंग और प्रकाश चक्षु-इन्द्रिय से, सभी प्रकार की ध्वनि श्रवण-इन्द्रिय से, सभी प्रकार के गन्ध घ्राण-इन्द्रिय (नासिका) से और सभी प्रकार के स्वाद रसना से मिलते हैं । ये सभी मूल प्रत्यय हैं । इनके अतिरिक्त इसी कोटि में शीतलता, उष्णता, चिकनापन, खुर्दुरापन, कठोरता, कोमलता और ठोसपन के प्रत्यय हैं जो स्पर्श-इन्द्रिय से प्राप्त होते हैं ।

देश या विस्तार, आकृति, विराम और गति के प्रत्यय एक से अधिक इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होते हैं । इनकी प्राप्ति में चक्षु-इन्द्रिय और स्पर्श-इन्द्रिय दोनों का योगदान है ।

अन्तर्दर्शन के प्रमुख मूल प्रत्यय हैं प्रत्यक्षीकरण या चिन्तन और ईहण या इच्छा करना । चिन्तन की शक्ति को बुद्धि (Understanding) और ईहण की शक्ति को इच्छा (Will) कहा जाता है । प्रत्यक्षीकरण या चिन्तन के कई प्रकार

१ लाक का निबन्ध, २।१२।१ ।

हैं। प्रत्यक्ष, धारणा, स्मरण, परामर्श निर्णय, तुलना, उपमान, समुच्चय (Compounding), संज्ञा (Naming और प्रत्याहार या व्यवच्छेद (Abstraction) प्रत्यक्षीकरण या चिन्तन के प्रकार हैं।

सुख-दुःख, शक्ति (Power), अस्तित्व (Existence) और एकता (Unity) के प्रत्यय संवेदना तथा अन्तर्दर्शन दोनों के द्वारा उपलब्ध होते हैं। अस्तित्व और एकता के प्रत्यय लाक के मत में अन्य सभी मूल प्रत्ययों के अनिवार्य सहवर्ती (Necessary Concomitants) हैं[1]। सुख या दुःख भी हमारे सभी प्रत्ययों के सहचर हैं। शक्ति का प्रत्यय हमें बाह्य प्रत्यक्ष तथा अन्तर्दर्शन दोनों से प्राप्त होता है। बाह्य प्रत्यक्ष से हम देखते हैं कि प्राकृतिक वस्तुएँ एक दूसरे में परिवर्तन उत्पन्न करती हैं। अन्तर्दर्शन से हम जानते हैं कि हम अपने अंगों को अपनी इच्छा से संचालित करते हैं।

पौर्वापर्य या अनुक्रम (Succession) को भी लाक संवेदना तथा अन्तर्दर्शन का मूल प्रत्यय कहता है। उसका कहना है कि यद्यपि अनुक्रम को हम अच्छी तरह से अन्तर्दर्शन द्वारा समझते हैं तथापि इसको समझने में संवेदना और अन्तर्दर्शन दोनों का उपयोग है। इसी प्रकार अवधि या वर्तना (Duration) को भी लाक इस कोटि के प्रत्ययों में रखता है।

मूल प्रत्ययों की इतनी ही सूची है। यह सूची ही समस्त मानव ज्ञान की वर्णमाला है।

६ मिश्रित प्रत्यय

मूल प्रत्ययों के मिश्रण से मिश्रित प्रत्ययों का निर्माण होता है। मिश्रित प्रत्यय तीन प्रकार के हैं—विकार के प्रत्यय, द्रव्य के प्रत्यय और सम्बन्ध के प्रत्यय।

"मैं उन मिश्रित प्रत्ययों को विकार कहता हूँ, जो सम्मिश्रित होने पर भी स्वतः मन की मान्यता को अपने अन्दर शामिल नहीं करते वरन् द्रव्यों के विकार या आश्रित समझे जाते हैं। त्रिभुज, कृतज्ञता, हत्या आदि शब्दों से अभिव्यंजित प्रत्यय ऐसे ही हैं[2]।" विकार दो प्रकार के हैं—साधारण विकार और संयुक्त विकार। साधारण विकार वे हैं जो एक ही मूल प्रत्यय की विभिन्न आवृत्तियों से बनते हैं और जिनमें कोई दूसरा प्रत्यय नहीं होता है। एक दर्जन, एक कोड़ी, ऐसे ही विकार हैं। १२ इकाइयों के मिलने से एक दर्जन बनता है। २० इकाइयों के मिलने से एक

१. वही, २।७।७।

२. वही, २।१२।४।

कोड़ी बनती है। इनमें इकाई और इसकी आवृत्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। फिर संयुक्त विकार वे हैं जिनमें कई मूल प्रत्यय मिले रहते हैं। उदाहरण के लिए सौन्दर्य को लीजिए, जिसमें वर्ण और आकार का ऐसा समुच्चय है जो द्रष्टा को सुख देता है। इसी प्रकार चोरी संयुक्त विकार है जिसमें अनेक प्रकार के अनेक प्रत्ययों का मिश्रण है।

देश (Space), काल (Time), गति (Motion), संख्या (Number) और अनन्तता (Infinity) के प्रत्यय साधारण विकार के प्रत्यय हैं।

द्रव्य के प्रत्यय मूल प्रत्ययों के ऐसे संघात हैं जो स्वतः सत् और विशेष वस्तुओं को अभिव्यक्त करते हैं। संघातों में द्रव्य का प्रत्यय प्रथम और मुख्य हैं। जस्ता, मनुष्य, आदि के प्रत्यय द्रव्य के प्रत्यय हैं। द्रव्य में यदि कुछ श्वेत वर्ण, वजन की कुछ मात्रा, कठोरता की कुछ मात्रा, प्रतन्यता की कुछ मात्रा और द्रवणशीलता की कुछ मात्रा मिला दी जाय, तो जस्ता का प्रत्यय बन जाता है। इसी प्रकार विशेष प्रकार के आकार को गति, विचार और तर्कणा की शक्तियों से मिला कर उसमें द्रव्य को जोड़ दिया जाय तो मनुष्य का प्रत्यय बन जाता है।

द्रव्य के प्रत्यय भी दो प्रकार के हैं—व्यक्तिगत द्रव्यों के प्रत्यय जैसे किसी मनुष्य या भेंड का प्रत्यय और कई द्रव्यों के सामूहिक प्रत्यय, जैसे सेना या झुंड का प्रत्यय।

यह उल्लेखनीय है कि लाक द्रव्य के प्रत्यय को कल्पित या भ्रान्त कहता है[1]। व्यक्तिगत द्रव्यों के प्रत्यय भी दो प्रकार के हैं—भौतिक द्रव्य के प्रत्यय और आध्यात्मिक द्रव्य के प्रत्यय।

अन्त में मिश्रित प्रत्ययों का अन्तिम प्रकार है सम्बन्धों के प्रत्यय। एक प्रत्यय की दूसरे प्रत्यय के साथ तुलना करना, एक प्रत्यय का दूसरे प्रत्यय के साथ विमर्श करना सम्बन्ध के प्रत्यय हैं। कारण और कार्य के प्रत्यय तथा अभेद और भेद के प्रत्यय सम्बन्ध के प्रत्यय हैं। इनके अतिरिक्त चार प्रकार के सम्बन्ध हैं—आनुपातिक सम्बन्ध, प्राकृतिक सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्ध और नैतिक सम्बन्ध। एक मूल प्रत्यय के गुण या परिणाम की विभिन्न वस्तुओं में अधिकता या न्यूनता का सम्बन्ध आनुपातिक है जैसे अधिक उष्ण, मिष्ट, बृहत् आदि। पिता-पुत्र, भाई-बहिन, आदि के सम्बन्ध प्राकृतिक सम्बन्ध हैं। सेनाध्यक्ष और सेना, राजा और प्रजा, नागरिक और नगर, ग्रामवासी और ग्राम, आदि के सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्ध हैं। अन्त में किसी नियम के प्रति मनुष्यों के ऐच्छिक व्यापारों की जो अनुकूलता या प्रतिकूलता है वह नैतिक सम्बन्ध है।

---

१. वही २।१२।६

कभी-कभी लाक देश और काल के प्रत्यय को भी सम्बन्ध का प्रत्यय कहता है। लगता है कि वह इनको निश्चित रूप से साधारण विकार या सम्बन्ध नहीं कहना चाहता है। वह देश-काल को विकार तथा सम्बन्ध दोनों मानता है।

सम्बन्ध के प्रत्यय वास्तव में मिश्रित प्रत्यय नहीं हैं। विकार और द्रव्य के प्रत्ययों की तरह वे मूल प्रत्ययों के संघात या समुच्चय से नहीं बने हैं, प्रत्युत उनकी तुलना से बने हैं। लाक सम्बन्ध के प्रत्ययों की इस विशेषता को स्वीकार करता है। इसलिए अपने निबन्ध के चतुर्थ संस्करण मे वह प्रत्ययों का एक दूसरा वर्गीकरण देता है जो मूल और मिश्रित प्रत्ययों के वर्गीकरण से अधिक समीचीन है। इस वर्गीकरण मे सम्बन्ध-प्रत्ययों की प्रकारता अपनी निजी है। सम्बन्ध और सम्बन्ध-प्रत्ययों में लाक कभी-कभी भेद करता है और कभी-कभी उनको अभिन्न कहता है। अन्तिम मत ही उसका परिपक्व मत लगता है। सम्बन्ध और सम्बन्ध-प्रत्यय में कोई भेद नहीं है।

७ प्रत्ययों का दूसरा वर्गीकरण

ऊपर प्रत्ययों का एक वर्गीकरण दिया गया है जिसके अनुसार प्रत्यय मूल या मिश्रित हैं। किन्तु यह वर्गीकरण अपर्याप्त सिद्ध हुआ। यदि प्रदत्तता को मूल प्रत्ययों का लक्षण माना जाय, तो फिर मिश्रित प्रत्यय भी प्रदत्त होने के कारण मूल प्रत्यय हो जायेंगे; क्योंकि वस्तुतः मिश्रित प्रत्यय ही प्रदत्त हैं जिनमें घटक-रूप से कई प्रत्यय रहते हैं। इसलिए प्रदत्तता को मूल प्रत्ययों का अनिवार्य लक्षण नहीं कहा जा सकता. फिर, आणविकता को भी मूल प्रत्ययों का अनिवार्य लक्षण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि देश और काल के प्रत्यय को मूल प्रत्यय मानते हुए भी लाक उनको आणविक नहीं कहता है। फिर, सम्बन्ध के प्रत्यय मिश्रित प्रत्ययों से भिन्न सिद्ध होते हैं। पुनश्च अन्तर्दर्शन के प्रत्ययों के वर्णन में मूल-मिश्रित का वर्णीकरण नहीं माना जाता है और उन्हें एकरूप समझा जाता है। इन कारणों से लाक को मूल-मिश्रित के वर्गीकरण को छोड़ना पड़ा और प्रत्ययों का एक दूसरा वर्गीकरण करना पड़ा जिसमें प्रत्यय चार प्रकार के हैं :—

(क) मूल प्रत्यय (Simple Ideas),
(ख) मिश्रित प्रत्यय (Complex Ideas),
(ग) सम्बन्ध-प्रत्यय (Ideas of Relations) और
(घ) सामान्य प्रत्यय (Abstract Ideas)।

मूल प्रत्यय वे हैं जिन्हें मन निष्क्रिय होकर ग्रहण करता हैं। संवेदना और अन्तर्दर्शन के उपर्युक्त मूल प्रत्यय वास्तव में इस अर्थ में मूल प्रत्यय हैं कि वे अन्य समस्त प्रत्ययों की मूल सामग्री हैं। उनके साथ मन तीन प्रकार का व्यापार करता है

जिसके फलस्वरूप अन्य तीन प्रकार के प्रत्यय उत्पन्न होते हैं। मन कई मूल प्रत्ययों को किसी एक प्रत्यय में संयुक्त या संगठित करता है और इस तरह वह मिश्रित प्रत्यय बनाता है। विकार के प्रत्यय मिश्रित प्रत्यय हैं। फिर वह किन्हीं दो प्रत्ययों को, मूल प्रत्ययों या मिश्रित प्रत्ययों को, एक साथ लेता है और दोनों की तुलना करता है। तुलना करने में वह दोनों प्रत्ययों को किसी अन्य प्रत्यय में संयुक्त या संगठित नहीं करता है। इस प्रकार से वह सम्बन्ध-प्रत्यय उत्पन्न करता है। अन्त में मन कुछ प्रत्ययों को उनकी उस परिस्थिति से अलग करता है जिसमें वे सत् हैं। मन के इस व्यापार को अमूर्तीकरण, प्रत्याहार या व्यवच्छेद (Abstraction) कहते हैं। अमूर्तीकरण की प्रक्रिया से मन सामान्य प्रत्ययों को उत्पन्न करता है।

८ सामान्य प्रत्यय

लाक ने सामान्य प्रत्ययों के बनने की मनोवैज्ञानिक तथा तार्किक व्याख्या की है। उसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या यों है—एक बालक अपने घर में माँ-बाप, भाई-बहिन, आदि को देखता है। ये सभी व्यक्ति आकार तथा अन्य गुणों में कुछ एक-से लगते हैं यद्यपि इनमें काफी भेद हैं तथापि इन सबमें कुछ गुण सर्वगत हैं। इन गुणों को लेकर एक प्रत्यय बनाया जाता है, जो मनुष्य का प्रत्यय है। इस प्रत्यय के बनाने में उन समस्त विशेषताओं का निराकरण कर दिया जाता है जो व्यक्तिगत मनुष्यों में रहती हैं। यह मानव-जाति का प्रत्यय है, न कि किसी विशेष मानव का। मानव-जाति के प्रत्यय का जो भी विश्लेषण किया जाय वह समस्त विशेष मानवों के बारे में भी ठीक उतरेगा, क्योंकि समस्त विशेष मानव मानव-जाति के ही सदस्य हैं।

आगे, सामान्य प्रत्ययों की तार्किक व्याख्या के अनुसार सामान्य प्रत्यय वर्गीकरण के लिए आवश्यक हैं। जहाँ वर्गीकरण होता है वहाँ किसी वर्ग के अन्दर कई सदस्य रखे जाते हैं। वह वर्ग एक जाति होता है। उसका प्रत्यय सामान्य प्रत्यय है। विज्ञान तथा तर्कशास्त्र के लिए वर्गीकरण आवश्यक है और वर्गीकरण के लिए सामान्य प्रत्यय आवश्यक हैं। अतः वर्गीकरण सिद्ध करता है कि मन में सामान्य प्रत्यय होते हैं। विशेष प्रत्यय किसी देश-काल की परिस्थिति में घटते हैं। किसी प्रत्यय को जब हम उसकी इस विशेष परिस्थिति से हटा देते हैं तब वह सामान्य हो जाता है।

सामान्य प्रत्यय के बनने में दो प्रक्रियाएँ हैं—निराकरण और संयोजन। कुछ विशेष प्रत्ययों की विशेषताओं को उनसे हटाना और उनके सर्वगत लक्षण को प्राप्त करना निराकरण है। फिर उस सर्वगत लक्षण को उन सभी विशेष प्रत्ययों से सम्बन्धित करना संयोजन है। मनुष्य के प्रत्यय का उदाहरण लीजिए। पहले हम

कई विशेष मनुष्यों के प्रत्यय प्राप्त करते हैं। फिर हम ऐसे प्रत्ययों से उनके विशिष्ट लक्षणों को, देश-काल को, पृथक् करते हैं। अब हमें मनुष्य का प्रत्यय मिलता है। यह प्रत्यय कोई ऐसा प्रत्यय नहीं है जो किसी विशेष मनुष्य के प्रत्यय से सम्बन्धित न हो। यद्यपि यह किसी विशेष मनुष्य के प्रत्यय की विशिष्टताओं को हटाकर बना है, तथापि यह उस प्रत्यय से संबद्ध है और उसका अर्थ देता है। यही सामान्य प्रत्ययों के बनने में निराकरण तथा संयोजन की प्रक्रिया है।

सामान्य प्रत्ययों की रचना आसानी से नहीं होती है। उनकी रचना को समझना कठिन है। इस कठिनाई को प्रकट करते हुए लाक ने कहा—"उदाहरण के लिए, क्या त्रिभुज के सामान्य प्रत्यय को बनाने में कुछ कष्ट और कुशलता की अपेक्षा नहीं है? कारण, यह न तो तिरछा हो और न सीधा, न तो विषमबाहु हो, न तो समद्विबाहु और न तो समत्रिबाहु, बल्कि यह एक साथ सभी हो और इनमें से कोई एक भी न हो। फलतः यह कोई अपूर्व वस्तु है जो सत् नहीं हो सकती। यह एक प्रत्यय है जिसमें अनेक विरोधी और असंगत प्रत्ययों के कुछ अंश एक साथे पाये जाते हैं[1]।" लाक के इस अनुच्छेद को बर्कले ने आलोचना के लिए चुना और कहा कि सामान्य प्रत्यय अनेक विरोधी और असंगत प्रत्ययों के संघात हैं। किन्तु बर्कले ने लाक के शब्दों को तोड़-मरोड़ दिया है। लाक सामान्य प्रत्ययों को अनेक विरोधी और असंगत प्रत्ययों के कुछ अंशों का संघात कहता है, न कि अनेक विरोधी और असंगत प्रत्ययों का। विरोधी प्रत्ययों के कुछ अंश आपस में समन्वय-योग्य हैं जिनको लेकर सामान्य प्रत्यय बनता है। इस तरह सामान्य प्रत्ययों की रचना में विरोध नहीं है। फिर लाक इस उदाहरण से सामान्य प्रत्यय की रचना में होने वाली कठिनाई का परिचय देना चाहता है, न कि स्वयं सामान्य प्रत्यय का। अतः इस उदाहरण से सामान्य प्रत्ययों के सम्बन्ध में उसका मत नहीं जाना जा सकता।

सामान्य प्रत्यय अमूर्त हैं। वे वर्ग हैं। वे किसी विशेष वस्तु का प्रतिनिधित्व नहीं करते। मनुष्य का प्रत्यय किसी विशेष मनुष्य का प्रतिनिधित्व नहीं करता है। विशेष मनुष्यों के अतिरिक्त कोई सामान्य मनुष्य नहीं है। विशेष मनुष्यों में ही जो एकरूपता है वह सामान्य मनुष्य का प्रत्यय है।

मन में सामान्य प्रत्यय भी वस्तुतः विशेष है। डेकार्ट ने प्रत्ययों की स्वरूप-सत्ता और विषयगत सत्ता का प्रतिपादन किया था। उसके मत को स्वीकार करते हुए लाक कहता है कि सामान्य प्रत्ययों की स्वरूप-सत्ता विशेष है और उनकी विषयगत सत्ता सामान्य है।

---

१. वही ४।७।९

लाक के समय में सामान्य प्रत्ययों को लेकर प्रायः तीन मत प्रचलित थे। पहला मत प्लेटो और उसके अनुयायियों का था, जिसके अनुसार सामान्य प्रत्यय वस्तुतः सत हैं और वे विशेष वस्तुओं के प्राग्रूप हैं। उदाहरण के लिए मनुष्य का प्रत्यय सत् है और सुकरात, प्लेटो आदि मनुष्यों का प्राग्रूप है। इस मत में सामान्य प्रत्ययों की स्वरूप-सत्ता तथा विषयगत सत्ता दोनों सामान्य हैं। इसे प्लेटो का सत्सामान्यवाद (Platonic Realism) कहा जाता है। इसके विरोध में हाब्स का नामवाद (Nominalism) है जिसके अनुसार सामान्य प्रत्यय केवल नाम हैं और वे न तो वस्तु-सत हैं और न प्रत्यय-सत्। इन दोनों मतों के अतिरिक्त तीसरा मत अवधारणावाद (Conceptualism) है जो अरस्तू तथा उसके अनुयायियों द्वारा माना जाता है। इस मत के अनुसार सामान्य (क) प्रत्ययों का अस्तित्व मानसिक है, न कि मन के बाहर वस्तु-क्रम में और (ख) वे विशेष वस्तुओं के सामान्य लक्षण हैं। लाक इन तीनों मतों में से अवधारणावाद को मानता है। किन्तु उसका अवधारणावाद अरस्तू के अवधारणावाद से भिन्न है। अरस्तू के मत में सामान्य प्रत्यय विशेष वस्तुओं के सर्वगत लक्षण हैं, किन्तु लाक के मत से वे विशेष प्रत्ययों के सर्वगत लक्षण हैं। अरस्तू के इस सिद्धान्त को अरस्तूवादी सत्सामान्यवाद Aristotelian Realism) कहा जाता है। इस प्रकार अब लाक के ही मत के शुद्ध अवधारणावाद कहा जाता है।

कुछ लोग[1] लाक के मत को नामवाद कहते हैं, क्योंकि वह सामान्य प्रत्ययों को मन में विशेष के रूप में ही मानता है और मन के बाहर उनका अस्तित्व नहीं मानता है। किन्तु वास्तव में लाक ने हाब्स के नामवाद की आलोचना की है। वह सामान्य प्रत्ययों और नामों (शब्दों) में अन्तर करता है। नामवाद सामान्य प्रत्ययों के अस्तित्व को नहीं मानता है और उनको सामान्य नामों या शब्दों से अभिन्न समझता है। लाक उनके अस्तित्व को मानता है और सामान्य नामों को उनके संकेत समझता है। यदि वह सामान्य प्रत्ययों के अस्तित्व को मन में विशेष रूप में लेता है तथापि यह विशेष निराधार नहीं है। इसका अर्थ सामान्य है और यह मन की केवल यादृच्छिक रचना नहीं है। मन अपने दृष्ट प्रत्ययों की सामनता के आधार पर ही सामान्य प्रत्ययों की रचना करता है। फिर सामान्य प्रत्ययों की समानता का आधार वास्तविक समानता है। आरान ने ऐसे कारणों के आधार पर कहा है कि लाक को नामवादी कहना सर्वथा गलत है। यह मत उसके निबन्ध में

१. अर्डमन, विण्डलबैण्ड, आदि दर्शन के इतिहासकार।

नहीं मिलता कि सामान्य एक नाम है जो एक से अधिक विशेष को अभिव्यंजित करता है और सामान्य प्रत्यय अनावश्यक है[1]।

लाक का अवधारणावाद सहसा नहीं विकसित हुआ। उसके **निबन्ध** में सामान्य प्रत्ययों के विषय में तीन धारणाएँ दीख पड़ती हैं। पहली, सामान्य प्रत्यय या सामान्य एक विशेष प्रत्यय है जो कई अन्य विशेषों का प्रतिनिधित्व करता है या उनको अभिव्यंजित करता है। लाक के शब्दों में, "विशेष वस्तुओं से लिये गये प्रत्यय अपनी जाति के सभी सदस्यों के सामान्य प्रतिनिधि बन जाते हैं[2]।' इस मत में सामान्य प्रत्यय एक विशेष प्रतिविम्व या आभास है।

किन्तु लाक इस धारणा से सन्तुष्ट नहीं था। इस धारणा के अनुसार हम जाति को पहले से ही जानते हैं जिसके उदाहरण विशेष हैं। यहाँ वास्तव में वह यह दिखाना चाहता था कि विशेषों के ज्ञान के बाद सामान्य या जाति का ज्ञान होता है। फिर सामान्य केवल एक विशेष प्रत्यय ही नहीं है प्रत्युत प्रतिनिधि भी है। उसके प्रतिनिधित्व की व्याख्या इस धारणा में नहीं है। पुनः सामान्य प्रत्यय वास्तव में कोई प्रतिबिम्ब या आभास नहीं है, जैसे एक मेज का प्रत्यय है। इन कठिनाइयों के कारण लाक को पहली धारणा छोड़नी पड़ी।

दूसरी धारणा के अनुसार अनुभव के निर्देशन में की गई सूप-क्रिया या छँटनी के फलस्वरूप सामान्य प्रत्यय वनता है। सामान्य प्रत्यय कोई विशेष आभास या प्रतिविम्ब नहीं है। यह प्रत्याहार या सूप-क्रिया (Abstraction) से बना प्रत्यय है। यह पूर्णतया छँटनी या निराकरण से बनता है। इसको बनाने में हम किस नई चीज को नहीं पैदा करते, वरन् अपने प्राप्त प्रतिविम्बों या आभासों में से उनकी उन समस्त गुणों को हटा देते हैं जो सर्वगत नहीं हैं। 'सामान्य प्रत्ययों के संकेत होने के कारण शब्द सामान्य हो जाते हैं। और, प्रत्ययों से उनके देश, काल तथा अन्य प्रत्ययों को जो उनकी विशेष वस्तु-स्थिति को उत्पन्न करते हैं, निकाल देने से सामान्य प्रत्यय बन जाते हैं। इस सूपक्रिया या अमूर्तीकरण के द्वारा वे एक से अधिक विशेष को अभिव्यक्त करने में सक्षम हो जाते हैं। इन विशेषों में से प्रत्येक उस सामान्य प्रत्यय के अनुरूप है। इसलिए उन्हें हम उसकी जाति का कहते हैं[3]।"

किन्तु इस धारणा से भी सामान्य की समीचीन व्याख्या नहीं होती है। इससे यह पता नहीं चलता कि सूप-क्रिया या अमूर्तीकरण के बाद क्या शेष रहता है

१. 'लाक', आरान, पृ० १९९।
२. लाक का निबन्ध २।११।९
३. वही ३।३।३६

जो सामान्य प्रत्यय कहा जाता है। अतः इससे सामान्य प्रत्यय का रूप स्पष्ट नहीं होता है। फिर क्या सूप-क्रिया की प्रत्यक्षमूलक क्रिया से सामान्य प्रत्यय बन जाते हैं? क्या सभी विशेषों को देख लिया गया है जिनके सर्वगत लक्षण को लेकर सामान्य प्रत्यय बनता है? स्पष्ट है कि यह असम्भव है। उदाहरण के लिए हम सभी मनुष्यों को नहीं देख सकते हैं। और, जब तक हम सभी मनुष्यों को न देख लें, तब तक हम उनके सर्वगत लक्षण को नहीं समझ सकते हैं। हो सकता है कि जिन मनुष्यों को हमने आज तक देखा है उनमें कोई सामान्य लक्षण हमें मिला हो। किन्तु सम्भव है कि कल हमें कोई ऐसा मनुष्य देखने को मिले जिसमें वह लक्षण नहीं है। अतः केवल प्रत्यक्ष के आधार पर क्या सामान्य प्रत्ययों की रचना हो सकती है? अन्त में, दूसरी धारणा के अनुसार सामान्य प्रत्यय एक विशेष प्रत्यय ही है। पहली धारणा में यह एक विशेष प्रतिबिम्ब या आभास है। दूसरी धारणा में यह उस विशेष प्रतिबिम्ब या आभास का एक अंश है। किन्तु स्पष्ट है कि सामान्य किसी विशेष प्रतिबिम्ब या आभास का एक अंश नहीं है। अतः पहली धारणा की तरह दूसरी धारणा भी पर्याप्त नहीं है।

अन्त में सामान्य प्रत्ययों की तीसरी धारणा है जो लाक के निबन्ध में पायी जाती है। इस धारणा के अनुसार सामान्य प्रत्यय कोई विशेष प्रत्यय या विशेष प्रत्यय का अंश नहीं है। यह एक अर्थ (Meaning) है। यह एक जाति-तत्त्व है। इस जाति-तत्त्व का एक लक्षण होता है जो इसके सभी सदस्यों में एकरूप से विद्यमान रहता है। यह जाति-तत्त्व स्थिर और अविनाशी है। इस प्रकार सामान्य प्रत्यय एक अपरिवर्तनीय, स्थिर और नित्य तत्त्व (Essence) है।

इस तत्त्व को लाक वास्तविक (Real) और वाचसिक (Nominal), दो प्रकार का मानता है। उसके सामान्य वाचसिक तत्त्व हैं। मूल प्रत्ययों और विकार के प्रत्ययों के बारे में लाक कहता है कि उनके वास्तविक तत्त्व और वाचसिक तत्त्व एक ही हैं। द्रव्य के प्रत्ययों के सम्बन्ध में भी वास्तविक तत्त्व और वाचसिक तत्त्व में भेद है। सोने का प्रत्यय वाचसिक तत्त्व है जिसके अन्दर सभी सुनहली वस्तुओं के सामान्य लक्षण आते हैं। फिर उसका वास्तविक तत्त्व वह पदार्थ है जो उसके असंवेद्य अंशों की प्रतिष्ठा है और वर्ण, गुरुता, द्रवणशीलता आदि का उत्तेजक है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि लाक वास्तविक तत्त्व का खण्डन नहीं करता है यद्यपि वह सामान्य को वास्तविक तत्त्व से भिन्न करता है। यहाँ लाक का मत अरस्तू और उसके अनुयायियों के मत से भिन्न है जिनके अनुसार सामान्य वास्तविक तत्त्व है। लाक के अनुसार वास्तविक तत्त्व या द्रव्य अवश्य है, किन्तु वह अज्ञात है और सामान्य तत्त्व से सर्वथा भिन्न है।

गणित और प्राकृतिक विज्ञानों में प्रयुक्त होने वाले सामान्यों के उदाहरण से लाक का सामान्य अधिक स्पष्ट हो जाता है। प्रकृति में व्यक्तिगत वस्तुएँ या द्रव्य हैं। हमारे पास उनके मिश्रित प्रत्यय हैं जो मूल प्रत्ययों के मिश्रण से बने हैं। हम देखते हैं कि इन मिश्रित प्रत्ययों में बहुत-से एक दूसरे के सदृश हैं। उनमें कुछ सामान्य लक्षण हैं। उदाहरण के लिए किन्हीं चार मिश्रित प्रत्ययों को लीजिए य, र, ल, व। हम इनमें से प्रत्येक में क ख ग लक्षणों को पाते हैं। कुछ और मिश्रित प्रत्ययों में भी क ख ग मिलते हैं। इसलिए हम क ख ग लक्षणों वाले मिश्रित प्रत्ययों के एक वर्ग की कल्पना या रचना करते हैं। यह वर्ग या जाति है जो एक सामान्य प्रत्यय है। यह हमारे मन की रचना है। यहाँ सामान्य प्रत्यय वास्तविक तत्त्व नहीं हैं। वह प्रज्ञप्ति-तत्त्व या वाचसिक तत्त्व (Nominal Essence) हैं। वह वास्तविक वस्तुओं के स्वरूप में निहित तत्त्व नहीं है। प्रकृति में यह तत्त्व हो सकता है, किन्तु लाक इसको भी मानने के पक्ष में नहीं है, क्योंकि प्रत्येक जाति या वर्ग में कुछ ऐसे सदस्य या व्यक्ति हैं जो उससे मेल नहीं खाते हैं और जिन्हें हम अप्राकृतिक विकृत, आश्चर्यजनक कृति आदि कहते हैं। उदाहरण के लिए कभी बिना मुँह के शिशु और कभी दो या अधिक मुँह वाले शिशु पैदा होते हैं जो शिशु के सामान्य प्रत्यय से मेल नहीं खाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि सामान्य शिशु भले ही वस्तु-क्रम में सभी शिशुओं के सामान्य लक्षण के रूप में न हो, किन्तु इससे उसके सामान्य प्रत्यय होने में बाधा नहीं आती है। सामान्य शिशु प्रत्यय-रूप में सत् है।

अब प्रश्न है कि क्या सामान्य विषयगत हैं ? इसके उत्तर में लाक का कहना है कि यदि विषयगत होने का अर्थ स्थिरता और नित्यता है तो सामान्य विषयगत हैं। लेकिन अगर विषयगत होने का अर्थ मन से स्वतंत्र होना है, मन-बाह्य वस्तु-जगत् में विद्यमान होना है और मन द्वारा केवल अभिज्ञात होना है तो सामान्य विषयगत नहीं है।

वास्तव में लाक का अवधारणावाद अरस्तू के अवधारणावाद और हाब्स के नामवाद का समन्वय है। उसका मत अनुभववाद से सुसंगत है। उसमें अरस्तू या डेकार्ट के बुद्धिवाद की गन्ध नहीं है जिसके अनुसार सामान्य सर्वगत या व्यापक लक्षण के रूप में वस्तुओं में विद्यमान हैं। वह विशुद्ध अनुभववाद है जिसके अनुसार सामान्य मन के द्वारा प्रत्यय-रूप में विशेष प्रत्ययों की समानता के आधार पर बनाये जाते हैं। किन्तु इतना होते हुए भी यह मानना पड़ता है कि लाक ने सामान्य प्रत्ययों के बारे में किसी एक निश्चित मत का प्रतिपादन नहीं किया है। उसके निबन्ध में तीन धारणाएँ मिलती हैं जिनका वर्णन ऊपर किया गया है। यदि इन तीनों का आलो-

चनात्मक विमर्श किया जाय तो तीसरी धारणा अन्य दो धारणाओं से अधिक सुसंगत सिद्ध होगी। इसलिए यहाँ इस धारणा को लाक का मत निश्चित किया गया है। वैसे यह एक खुला प्रश्न है और लाक के **निबन्ध** को पढ़ने वाले आज तक इस समस्या पर मतैक्य नहीं स्थापित कर सके हैं।

६ प्राथमिक और द्वैतीयक गुण

प्रत्ययों को भलीभाँति समझने के लिए लाक ने प्राथमिक और द्वैतीयक गुणों के भेद को प्रस्तावित किया है। सबसे पहले हम यह देखेंगे कि गुण क्या है। सामान्यतः द्रव्य की विशेषताओं को गुण कहा जाता है। लाक के अनुसार द्रव्य का प्रत्यय एक मिश्रित प्रत्यय है। फिर उसने मिश्रित प्रत्ययों की सूची में गुण के प्रत्ययों को नहीं रखा है। अतः प्रश्न होता है कि गुण और प्रत्यय का क्या सम्बध है ?

किन्तु हम इस प्रश्न की छानबीन नहीं कर सकते, क्योंकि लाक के अनुसार प्राथमिक गुण और द्वैतीयक गुण दो भिन्न-भिन्न गुण हैं और इन दोनों में कोई वास्तविक सामान्य लक्षण नहीं हैं। इसलिए प्रस्तुत प्रश्न को लाक के अनुसार यों रखना चाहिए—प्राथमिक गुण और प्रत्यय का क्या सम्बन्ध है ? द्वैतीयक गुण और प्रत्यय का क्या सम्बन्ध है ?

इस प्रश्न के उत्तर में लाक के **निबन्ध** में चार मत मिलते हैं :—

(क) हम वस्तुओं के प्राथमिक गुण को साक्षात् जानते हैं। गुरुता (Solidity), विस्तार, आकार, गति या विराम तथा संख्या प्राथमिक गुण हैं। हम उनके द्वैतीयक गुणों को परोक्षतः जानते हैं, वर्ण, ध्वनि, गन्ध इत्यादि के अपने प्रत्ययों के द्वारा। इस मत में प्राथमिक गुण और द्वैतीयक गुण दोनों का आश्रय वस्तु है। प्राथमिक गुण मूल प्रत्यय हैं और द्वैतीयक गुण हमारे मूल प्रत्ययों के द्वारा अभिज्ञात होते हैं। इस तरह द्वैतीयक गुण प्रत्यक्ष नहीं हैं प्रत्युत प्रत्ययों के माध्यम से अभिज्ञात हैं।

(ख) हम वस्तुओं के प्राथमिक गुण को साक्षात् जानते हैं, जैसा कि (क) में; किंतु द्वैतीयक गुण वस्तुओं में नहीं हैं, बल्कि मन में केवल प्रत्यय हैं। इस मत में प्राथमिक गुण और द्वैतीयक गुण दोनों को प्रत्यय कहा जाता है। किंतु जहाँ द्वैतीयक गुण को केवल मनोगत माना जाता है वहाँ प्राथमिक गुण को मन-बाह्य।

(ग) हमारे पास प्राथमिक गुणों के प्रत्यय हैं जो प्राथमिक गुणों के पूर्णतः अनुरूप या प्रतिबिम्ब हैं। फिर हमारे पास कुछ अन्य प्रकार के प्रत्यय हैं जो द्वैतीयक गुण हैं। यहाँ (ख) की तरह ही द्वैतीयक गुण को प्रत्यय समझा गया है। किन्तु प्राथमिक गुण को यहाँ प्रत्ययों से भिन्न किया गया है और माना गया है कि हम प्राथमिक गुणों को साक्षात् नहीं जानते प्रत्युत उनके प्रत्ययों के माध्यम से जानते हैं।

(घ) जैसे (ग) में माना गया है वैसे ही हमारे पास प्रत्यय हैं जो प्राथमिक गुणों के पूर्ण प्रतिबिम्ब या अनुकृति हैं। फिर हमारे पास कुछ अन्य प्रत्यय हैं जो व्यवहारतः द्वैतीयक गुण के प्रत्यय कहे जाते हैं। ये दूसरे प्रकार के प्रत्यय वास्तव में बाह्य गुणों के प्रतिबिम्ब नहीं हैं। किन्तु बिना प्रतिबिम्ब हुए ही वे वस्तुओं की कुछ शक्तियों को अभिव्यंजित करते हैं। इन शक्तियों को द्वैतीयक गुण कहा जाता है। इस प्रकार प्राथमिक गुण और द्वैतीयक गुण दोनों का आश्रय वस्तु हैं। दोनों के प्रत्यय हैं। प्राथमिक गुणों के प्रत्यय उनको पूर्णतः प्रतिबिम्बित न करके अभिव्यंजित करते हैं और द्वैतीयक गुणों के प्रत्यय उनको बिना प्रतिबिम्बित किये ही अभिव्यंजित करते हैं।

यद्यपि लाक के निबन्ध में ये चारों मत पाये जाते हैं तथापि चौथा मत ही सर्वोत्तम हैं। यह लाक के प्रतिनिधिवाद के अनुकूल है। अन्य मत इसके प्रतिकूल हैं। प्रतिनिधिवाद के अनुसार प्रत्येक प्रत्यय प्रतिनिधि है। फिर यह ध्यान देने की बात है कि प्रतिनिधित्व का अर्थ केवल प्रतिबिम्ब नहीं है। हमारे सभी प्रत्यय प्रतिबिम्ब नहीं हैं। किन्तु प्राथमिक गुण मूल रूप से वस्तुओं में है और प्राथमिक गुण के प्रत्यय उनके पूर्ण प्रतिबिम्ब है। द्वैतीयक गुणों के प्रत्यय प्रतिबिम्ब नहीं हैं। द्वैतीयक गुण वस्तुओं में नहीं हैं किन्तु वस्तुओं में कुछ शक्ति है जो उनके प्राथमिक गुणों के द्वारा हमारे अन्दर विभिन्न प्रकार के संवेद, जैसे वर्ण, रस आदि उत्पन्न करती है। इस शक्ति को द्वैतीयक गुण कहा जाता है। इसे हम लाक्षणिक अर्थ में गुण भी कह सकते हैं; क्योंकि यहाँ गुण का वाच्यार्थ नहीं लिया जाता। गुण का वाच्यार्थ प्राथमिक गुण है और द्वैतीयक गुण में केवल यह शक्ति का वाचक है। गुण का वाच्यार्थ है वह विशेषता या लक्षण जो वस्तु में है।

इस प्रकार लाक के मत से किसी भौतिक वस्तु में विस्तार, आकार, गुरुता, गति या विराम और संख्या प्राथमिक गुण हैं। वह गेहूँ के एक दाने का उदाहरण लेता है। इस दाने को चाहे जितने खण्डों में बाँटा जाय, प्रत्येक खण्ड में गुरुता, विस्तार, आकार और गतिशीलता मिलेगी। इन गुणों का इस दाने से अपरिहार्य सम्बन्ध है। फिर प्राथमिक गुणों से युक्त होने के कारण प्रत्येक वस्तु में कुछ शक्तियाँ होती हैं जो इन्द्रियों के माध्यम से मन को प्रभावित करती हैं और मन में द्वैतीयक गुण के प्रत्ययों को उत्पन्न करती हैं।

प्राथमिक और द्वैतीयक गुणों के अतिरिक्त लाक ने एक तीसरे प्रकार के गुण को यानी तार्तीयक गुणों (Tertiary Qualities) को भी मान्यता दी है। वे द्वैतीयक गुण की तरह मात्र शक्ति (Power) हैं जो किसी वस्तु में रहती है और अन्य वस्तुओं की रचना में कुछ ऐसा परिवर्तन लाती है जो द्रष्टा के मन में किसी द्वैतीयक गुण का नया प्रत्यय उत्पन्न करता है। उदाहरण के लिए सूर्य मोम को

प्रभावित करने की शक्ति रखता है और उसमें परिवर्तन करता है। जो मनुष्य इस परिवर्तन को देखता है उसके मन में यह एक नये रंग का प्रत्यय पैदा करता है।

द्वैतीयक गुण प्राथमिक गुणों पर निर्भर हैं। गुणाः गुणेषु वर्तन्तो; गुण में गुण हैं, यह कहावत यहाँ चरितार्थ होती है। प्राथमिक गुणों से युक्त रहने पर ही कोई वस्तु द्वैतीयक गुणों के प्रत्ययों को उत्पन्न करती है।

लाक ने यह समझाने का बहुत स्पष्ट प्रयास किया है कि द्वैतीयक गुण वस्तु-जगत् में नहीं हैं और वे केवल मन में हैं। उदाहरण के लिए मेज वस्तुतः रंगीन नहीं है, चीनी वस्तुतः मीठी नहीं है, आग वस्तुतः उष्ण नहीं है आदि। मेज केवल देखने में रंगीन है, चीनी केवल चखने में मीठी है, और आग केवल छूने में उष्ण है। यदि मेज, चीनी और आग को प्रत्यक्ष-सम्बन्ध से हटा दिया जाय, तो वे क्रमशः रंगीन, मीठी और उष्ण न होंगी। किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता कि द्वैतीयक गुण स्वप्नवत् मात्र कल्पना हैं। मेज वस्तुतः रंगीन नहीं है, तथापि उसमें एक शक्ति है जो उसके रंगों को हमारे मन में उत्पन्न करती है। यह शक्ति द्वैतीयक गुण है। रंग इस शक्ति का प्रतिबिम्ब नहीं है, किन्तु उसका प्रतिफल है। यह शक्ति उसकी उत्पत्ति में हेतु है।

यदि द्वैतीयक गुण को मात्र शक्ति माना जाय जो द्वैतीयक गुण के प्रत्ययों को उत्पन्न करती है, तो फिर वस्तु-जगत् में द्वैतीयक गुण का विद्यमान रहना कहा जा सकता है। किन्तु द्वैतीयक गुण का यह अर्थ सामान्यतः नहीं लिया जाता। हम रंग, मीठापन, उष्णता आदि को द्वैतीयक गुण कहते हैं और उन्हें वस्तु-जगत् में वास्तविक मानते हैं। तार्तीयक गुण मात्र वस्तु-शक्ति हैं, और इसी रूप में वे लिये भी जाते हैं। किन्तु द्वैतीयक गुण जो तार्तीयक गुण की तरह मात्र वस्तु-शक्ति हैं, इस रूप में नहीं लिये जाते हैं। वे प्राथमिक गुणों की भाँति गुणरूप से वस्तु में विद्यमान भी समझे जाते हैं। यह द्वैतीयक गुण और तार्तीयक गुण का भेद है।

अब प्रश्न है कि द्वैतीयक गुण को लोग मात्र वस्तु-शक्ति न समझकर क्यों वस्तु का वास्तविक गुण मानते हैं? क्यों लोग मेज को रंगीन, चीनी को मीठी या आग को उष्ण समझते हैं? इसके उत्तर में लाक का कहना है—क्योंकि हम द्वैतीयक गुणों के जो प्रत्यय करते हैं वे प्राथमिक गुणों के अनुरूप नहीं है, वे प्राथमिक गुणों के फल नहीं प्रतीत होते हैं और उनका कोई सम्बन्ध प्राथमिक गुणों से दृष्टिगत नहीं होता है, इसलिए हम समझ लेते हैं कि वे प्रत्यय वस्तुओं में स्थित किन्हीं गुणों के प्रतिबिम्ब हैं। तार्तीयक गुणों के प्रत्यय को हम ऐसा नहीं समझते। यहाँ हम देखते हैं कि प्रत्यय वस्तुओं में स्थित किसी गुण के प्रतिबिम्ब नहीं है वरन् दो वस्तुओं के पारस्परिक सम्पर्क के कारण हमारे मन में उत्पन्न हो जाते हैं। प्राथमिक गुणों और द्वैतीयक गुणों में जो हेतुफल का सम्बन्ध है यदि वह स्पष्ट हो, तो लोग द्वैतीयक

गुणों को भी मात्र वस्तु-शक्ति ही मानें। इस प्रकार यद्यपि हम तार्तीयक गुण को मात्र वस्तु-शक्ति मानते है तथापि अज्ञानवश द्वैतीयक गुण को ऐसा नहीं मानते। प्राथमिक गुणों और उनके प्रत्ययों में हेतु-फल का नहीं, किन्तु बिम्ब-प्रतिबिम्ब का भी सम्बन्ध है। द्वैतीयक गुणों और उनके प्रत्ययों में वस्तुतः केवल हेतु-फल का सम्बन्ध है। फिर प्राथमिक गुण और द्वैतीयक गुणों के प्रत्ययो में भी हेतु-फल सम्बन्ध है। प्राथमिक गुणों के साथ रहकर ही द्वैतीयक गुण जो शक्तिरूप है, द्वैतीयक गुण का प्रत्यय उत्पन्न करता है। इस प्रक्रिया को न जानने के कारण लोग द्वैतीयक गुण को प्राथमिक गुण की तरह वास्तविक गुण समझ लेते हैं और उन्हें द्वैतीयक गुणों के प्रत्ययों का बिम्ब कहते हैं।

अतः गुण-रूप में द्वैतीयक गुण अवास्तविक हैं, इस पक्ष में अन्य प्रमाण देते हुए लाक ने कहा कि जल एक हाथ को गर्म और दूसरे हाथ को ठंडा लगता है. एक ही रत्न विभिन्न प्रकाशों या परिप्रेक्ष्यों में विभिन्न रंग का दीख पड़ता है, और बादाम को पीसने पर उसके रंग और स्वाद में अन्तर आ जाता है। स्पष्ट है कि जल गर्म और ठंडा एक साथ नहीं हो सकता। उसकी उष्णता या शीतलता वास्तविक नहीं किन्तु प्रतीयमान है। रत्न का कोई एक वर्ण नहीं है और न बादाम का कोई एक वर्ण और एक स्वाद है। ये सब गुण अवास्तविक हैं।

इस प्रकार प्राथमिक गुण और द्वैतीयक गुण में महान् अन्तर है। प्राथमिक गुण वस्तुतः गुण हैं, द्वैतीयक गुण वस्तुतः शक्ति हैं। गुण-रूप से प्राथमिक गुण वस्तु में है, किन्तु द्वैतीयक गुण मनोगत हैं। द्वैतीयक गुण प्राथमिक गुण पर आधारित हैं। प्राथमिक गुण अपना प्रतिबिम्ब अपने द्रष्टा के मन में उत्पन्न करते हैं। द्वैतीयक गुण जो शक्ति है, केवल अपना फल द्रष्टा के मन में उत्पन्न करता है। द्वैतीयक गुण को गुण समझना अज्ञान है। प्राथमिक गुण को गुण समझना यथार्थ ज्ञान है। वास्तव में प्राथमिक गुण और द्वैतीयक गुण के भेद का सिद्धांत लाक के दर्शन में महत्त्वपूर्ण है। यह उसके प्रतिनिधिवाद (Representationism) को प्रतिबिम्बवाद (Copy-Theory) से भिन्न और व्यापक बनाता है। प्रतिनिधि का अर्थ प्रतिबिम्ब नहीं हैं, क्योंकि द्वैतीयक गुण के प्रत्यय प्रतिनिधि होते हुए भी प्रतिबिंब नहीं है।

१० ज्ञान का प्रामाण्य

ज्ञान की उत्पत्ति का वर्णन करने के पश्चात् लाक उसके प्रामाण्य का विवेचन करता है। पहले वह प्रत्ययों की वास्तविकता या यथार्थता का निरूपण करता है। यह निरूपण दो दृष्टिकोणों से है—एक जिन वस्तुओं से प्रत्यय उत्पन्न होते हैं उनका

दृष्टिकोण और दूसरा जिन वस्तुओं का प्रतिनिधित्व वे करते हुए समझे जाते हैं, उनका दृष्टिकोण। इन दोनों दृष्टिकोणों से प्रत्ययों में निम्नलिखित भेद किये जाते हैं :—

(क) कुछ प्रत्यय वास्तविक या यथार्थ (Real) हैं और अन्य काल्पनिक या अवास्तविक (Fantastical)।

(ख) कुछ प्रत्यय पर्याप्त (adequate) हैं और अन्य अपर्याप्त (Inadequate)।

(ग) कुछ प्रत्यय सत्य (True) हैं और अन्य असत्य (False)।

क) जिन प्रत्ययों का आधार प्रकृति में है, वे यथार्थ प्रत्यय हैं। वे वस्तुओं की यथार्थ सत्ता के अनुरूप हैं। वस्तु-जगत् में उनके मूल रूप या बिम्ब हैं। वे इन बिम्बों के प्रतिबिम्ब हैं या प्रतिफल हैं। सभी मूल प्रत्यय यथार्थ हैं। किन्तु सभी मूल प्रत्यय बाह्य वस्तुओं के प्रतिबिम्ब नहीं है। केवल प्राथमिक गुणों के प्रत्यय बाह्य वस्तुओं में स्थित प्राथमिक गुणों के प्रतिबिम्ब हैं। किन्तु सभी मूल प्रत्यय बाह्य वस्तुओं में स्थित शक्तियों के प्रतिफल हैं इसलिए उनका मूल वस्तु-जगत् है। वे वस्तुओं की शक्तियों के संवादी हैं। संयुक्त विकार और सम्बन्ध के प्रत्यय केवल मन में है। वे बाह्य जगत् की वस्तुओं के प्रतिबिम्ब नहीं हैं किन्तु वे यथार्थ हैं, क्योंकि वे इस तरह बनाये जाते हैं कि उनके अनुरूप या संवादी बाह्य जगत् में वस्तुओं के होने की सम्भावना है। वे स्वय बिम्ब हैं जिनके संवादी प्रतिबिम्ब बाह्य जगत् में हो सकते हैं। अन्त में द्रव्य के मिश्रित प्रत्यय हैं। यदि वे वाह्य द्रव्यों के प्रतिनिधि या प्रतिबिम्ब हैं तो वे यथार्थ हैं। सामान्यतः द्रव्यों के प्रत्यय के अन्तर्गत मूल प्रत्ययों को मन उसी क्रम और रीति से संगठित करता है जिस क्रम और रीति से इन मूल प्रत्ययों के मूल रूप बाह्य जगत् में स्थित किसी द्रव्य में विद्यमान रहते हैं। किन्तु यदि किसी द्रव्य के प्रत्यय का निर्माण इस तरह हुआ है कि वह किसी बाह्य द्रव्य का संवादी नहीं है, तो वह प्रत्यय अयथार्थ है। उदाहरण के लिए नृसिह, गजानन, पंचानन आदि के प्रत्यय अयथार्थ हैं।

प्रत्ययों की यथार्थता की इस कसौटी को संवाद का सिद्धांत (Theory of Correspondence) कहा जाता है। कुछ लोग इसको विम्बप्रतिबिम्बवाद या अनुकृति का सिद्धांत (Copy Theory) समझते हैं। किन्तु प्राथमिक गुण और द्वैतीयक गुण के भेद को ध्यान में रखते हुए लाक के ऊपर इस बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद का आरोप नहीं लगाया जा सकता। उसका सिद्धान्त प्रतिनिधिवाद (Representationism) है। वह प्रत्यय यथार्थ हैं जो किसी बाह्य द्रव्य, गुण, विकार और सम्बन्ध का प्रतिनिधित्व करता है या कर सकता है। प्रतिनिधि प्रतिबिम्ब या अनुकृति नहीं है। वह चित्र भी

नहीं है। वह मानचित्र या रेखा-चित्र भी नहीं है। किन्तु प्रतिनिधि अवश्यमेव किसी वास्तविक सत्ता का संवादी है। इसीलिए लाक के संवाद के सिद्धांत को अनुकृति का सिद्धांत नहीं समझना चाहिए।

(ख) यथार्थ प्रत्ययों में से कुछ पर्याप्त हैं और कुछ अपर्याप्त। पर्याप्त प्रत्यय वे हैं जिससे उनके द्वारा अभिव्यंजित वस्तु का पूर्ण संवाद या सारूप्य रहता है। जहाँ यह सारूप्य या संवाद आंशिक रहता है वहाँ हमारे प्रत्यय अपर्याप्त हैं।

हमारे सभी मूल प्रत्यय पर्याप्त हैं, क्योंकि जिन शक्तियों से वे उत्पन्न होते हैं उनसे उनका पूर्ण सारूप्य या संवाद है। फिर विकार और सम्बन्ध के हमारे सभी प्रत्यय पर्याप्त है. क्योंकि ये स्वयं अपने मूल हैं और बाह्य वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करने के उद्देश्य से नहीं निर्मित हुए हैं। इनके अन्तर्गत संगठित मूल प्रत्ययों में सुसंगति है। अंत में द्रव्य के प्रत्यय हैं जो सभी अपर्याप्त हैं। ये प्रत्यय बाह्य जगत् में स्थित द्रव्यों के प्रतिबिम्ब होने का प्रयास करते हैं, किन्तु इस प्रयास में पूर्णतः सफल नहीं होते। ये द्रव्यों के आंशिक प्रतिबिम्ब मात्र रह जाते हैं।

(ग) सत्यता या असत्यता का सम्बंध परामर्श (Proposition) से होता है। कोई परामर्श ही सत्य या असत्य होता है। परामर्श संकेतों का सारूप्य या वैरूप्य, अनुकूलता या प्रतिकूलता है। संकेत दो प्रकार के हैं—प्रत्यय और शब्द। कोई प्रत्यय सत्य या असत्य नहीं होता है। जिस परामर्श में वह रहता है वह सत्य या असत्य होता है। परामर्श से सम्बन्धित प्रत्यय सत्यता या असत्यता के पात्र नहीं हैं। परामर्श ही ज्ञान की मूल इकाई है। प्रत्यय ज्ञान की इकाई नहीं है।

प्रत्ययों को जो यथार्थ या अयथार्थ अथवा पर्याप्त या अपर्याप्त माना गया है, उस मान्यता में भी वे परामर्श में ही रहते हैं।

परामर्श को मानसिक स्वीकृति या अस्वीकृति की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए जब हम 'यह मेज' और 'गोल,' इन दो प्रत्ययों की अनुकूलता को लेते हैं तो 'यह मेज गोल है,' एक परामर्श बनता है। इसको मानसिक स्वीकृति या अस्वीकृति की आवश्यकता है। जब मन इस परामर्श को यथार्थ पाता है अर्थात् जब वह देखता है कि यह मेज वस्तुतः गोल है और जो वस्तुतः तथ्य है यह परामर्श उसी का अनुवाद है, तब वह इस परामर्श को स्वीकार करता है। यदि वह इसको तथ्य का अनुवाद नहीं पाता तो वह उसे अस्वीकार करता है। मन की स्वीकृति परामर्श का सत्यापन है और उसकी अस्वीकृति उसका खंडन।

सत्यता की कसौटी संवाद या सारूप्य है। जो परामर्श तथ्य के संवादी या अनुवाद हैं वे सत्य हैं और जो उसके विपरीत हैं वे असत्य हैं। यदि संकेतित वस्तुओं

के पारस्परिक सम्बन्ध के अनुसार या अनुकूल संकेतों के सम्बन्ध (परामर्श) होते हैं तो वे सत्य हैं, अन्यथा असत्य ।

लाक ज्ञान को स्वतः सत्य मानता है । ज्ञान स्वाभावतः असत्य नहीं होता । असत्यता का कारण ज्ञान की प्रक्रिया नहीं है । उसका कारण निर्णय की प्रक्रिया में त्रुटि है । असत्यता निर्णय का दोष है, न कि ज्ञान का । निर्णय देना किसी ज्ञान को स्वीकार या अस्वीकार करना है । जब किसी ज्ञान को जल्दबाजी, पूर्वाग्रह या आलस्य से स्वीकार किया जाता है, तब यह असत्य निर्णय हो जाता है । असत्यता के मूल कारण निर्णय करने में जल्दबाजी, पूर्वाग्रह या आलस्य करना है । यदि मन इन दोषों से मुक्त रहे तो उसका निर्णय सदैव सत्य रहे ।

११ ज्ञान के तारतम्य

ज्ञान में सत्यता की कई अवस्थाएँ हैं । सबसे अधिक सत्यता प्रातिभ ज्ञान में है । जब हम किन्हीं दो प्रत्ययों की अनुकूलता या प्रतिकूलता को साक्षात् जानते हैं अर्थात् विना किसी माध्यम के जानते हैं, तो लाक के अनुसार हमारा यह ज्ञान प्रातिभ ज्ञान है । मन प्रातिभ ज्ञान के द्वारा जानता है कि सफेद काला रंग नहीं है, या तीन दो से अधिक है । यह सबसे अधिक प्रामाणिक ज्ञान है । प्रतिभा (Intuition) मन की एक शक्ति है जिससे वह सत्य का साक्षात्कार करता है । इसमें वह कुछ सिद्ध नहीं करता हैं । यहाँ वह केवल देखता है । उसकी यह अन्तर्दृष्टि है जो अकाट्य होती है ।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि लाक डेकार्ट की ही भाँति प्रातिभ ज्ञान को सबसे अधिक प्रामाणिक ज्ञान मानता है । दोनों के लिए प्रातिभ ज्ञान आदर्श ज्ञान है । किन्तु लाक का मत यहाँ डेकार्ट के मत से भिन्न है । डेकार्ट के अनुसार प्रातिभ ज्ञान के विषय शुद्ध बौद्धिक हैं और इन्द्रियों से अगोचर हैं । किन्तु लाक के अनुसार प्रातिभ ज्ञान के विषय पूर्णतया बौद्धिक और इन्द्रियों से अगोचर नहीं हैं । सवेदना तथा अन्तर्दर्शन से जो मूल प्रत्यय उपलब्ध होते हैं उन्हीं में से कुछ प्रातिभ ज्ञान के विषय हैं । इस प्रकार जहाँ डेकार्ट का प्रातिभवाद (Intuitionism) प्रत्यक्षवाद या अनुभववाद का विरोधी है, वहाँ लाक का प्रातिभवाद उसके अनुभववाद पर आधारित है ।

ज्ञान की दूसरी अवस्था यौक्तिक ज्ञान (Demonstrative Knowledge) है । यहाँ मन प्रत्ययों की अनुकूलता या प्रतिकूलता को साक्षात् नहीं देखता है । वह इसको अनेक प्रत्ययों के माध्यम से देखता है । किन्तु वह इन माध्यमों को भी अन्ततः प्रातिभ ज्ञान से ही प्राप्त करता है । इसलिए उसका यौक्तिक ज्ञान शृंखला

बद्ध प्रातिभ ज्ञान है और वह प्रातिभ ज्ञान की तरह प्रामाणिक है। यौक्तिक ज्ञान कई सोपानों में सम्पन्न होता है। प्रत्येक सोपान या तो यौक्तिक ज्ञान हैं और या तो प्रातिभ ज्ञान। फिर यदि वह यौक्तिक ज्ञान है तो पुनः वह या तो प्रातिभ ज्ञान है और या तो यौक्तिक। यदि वह पुनः यौक्तिक ज्ञान है तो इसी प्रकार वह पुनः-पुनः यौक्तिक है या किसी सोपान में प्रातिभ है। जो भी सोपान यौक्तिक ज्ञान है, वह मूलतः किसी प्रातिभ ज्ञान से निकलता है। इस प्रकार यौक्तिक ज्ञान का निश्चय या प्रामाण्य अन्ततः प्रातिभ ज्ञान पर निर्भर करता है। इस कारण यद्यपि यौक्तिक ज्ञान की सत्यता मन को साक्षात् नहीं दृष्टिगत होती है, तथापि प्रातिभज्ञान के कई सोपानों के माध्यम से वह उसको जानता है। गणित का ज्ञान यौक्तिक ज्ञान का उदाहरण है। नीतिशास्त्र का भी ज्ञान, लाक के मत से, गणित के ही ज्ञान की तरह सुनिश्चित और प्रामाणिक है, क्योंकि दोनों के प्रत्यय अपने लिए स्वयं मूल या बिम्ब हैं और उनके मूल अन्यत्र नहीं हैं।

यौक्तिक ज्ञान में एकाग्रता, स्मृति और निरालस्य (परिश्रम) की आवश्यकता पड़ती है। यदि प्रातिभ ज्ञानों को शृंखलाबद्ध करने में कहीं एकाग्रता की कमी हुई, या विस्मरण हुआ अथवा आलस्य किया गया तो फिर यौक्तिक ज्ञान को प्राप्त नहीं किया जा सकता है, या उसको गलत ढंग से प्राप्त किया जायगा। इन दोषों की संभावना यौक्तिक ज्ञान में बनी रहती है। इसलिए वह अकाट्य नहीं हो पाता। किन्तु यदि सिद्धान्ततः इन दोषों को दूर करके यौक्तिक ज्ञान प्राप्त किया जाय तो वह उतना ही अकाट्य होगा जितना प्रातिभ ज्ञान है।

यौक्तिक ज्ञान के विवेचन में भी लाक डेकार्ट का अनुसरण करता है। डेकार्ट ही की भाँति वह गणित के ज्ञान को यौक्तिक ज्ञान का आदर्श ही नहीं मानता किन्तु उसे अननुभविक (Non-empirical) भी मानता है। कुछ लोग इस मत को उसके अनुभववाद से असंगत पाते हैं। किन्तु कुछ लोग यह भी कहते हैं कि यौक्तिक ज्ञान के प्रत्यय मूलतः संवेदना और अन्तर्दर्शन से ही निकले हैं; यद्यपि वे अपनी उत्पत्ति के अनन्तर संवेदना तथा अन्तर्दर्शन से निरपेक्ष हो जाते हैं। इस तरह गणित के ज्ञान और अनुभववाद के सम्बन्ध पर लाक के भाष्यकारों में मतभेद है। स्वयं लाक ने इस समस्या को सुलझाने का प्रयास नहीं किया।

अन्त में ज्ञान की तीसरी अवस्था है—संवित्ति-ज्ञान (Sensitive Knowledge)। लाक कहता है कि हम संवेदना से साक्षात् जानते हैं कि सूरज है, यह मेज है, यह वृक्ष है, आदि। हम इन वस्तुओं को अपने से स्वतन्त्र जानते हैं। हमें विश्वास है कि ये सत् हैं।

यहाँ लाक के **निबन्ध** को पढ़ने वालों को हैरत होती है। लाक एक ओर मानता है कि संवेदना ज्ञान नहीं है, वरन् ज्ञान की सामग्री है, और दूसरी ओर वह यहाँ कह रहा है कि संवेदना ज्ञान है। फिर एक जगह वह सूरज, मेज, वृक्ष आदि के प्रत्ययों को द्रव्य के मिश्रित प्रत्यय कहता है और यह कहता है कि हम इन द्रव्यों को साक्षात् जानते हैं। स्पष्ट है कि यहाँ वह संवेदना का नया अर्थ करना है। यहाँ संवेदना का मतलब एक भावना या विश्वास है, जो हमें बतानी है कि बाह्य जगत् की वस्तुएँ सत् हैं। यह उल्लेखनीय है कि जहाँ पहले कहा गया है कि संवेदना से बाह्य वस्तुओं के गुणों का ज्ञान होता है, वहाँ अब कहा जाता है कि संवेदना (हमारी शब्दावली में भावना या विश्वास) से इन वस्तुओं की सत्ता का ज्ञान होना है। क्या लाक संवेदना के इन दोनों अर्थों में संगति बैठा सकता है? संवेदना के दोनों अर्थों में बाहरीपन का सन्देश है। संवेदना बाहर का संदेश है। जहाँ एक अर्थ में वह गुणों का सन्देश देती है, वहाँ दूसरे अर्थ में वह द्रव्य का संदेश देनी है। बस इसी आधार पर दोनों में संगति बैठायी जा सकती है।

किन्तु संवेदना का द्रव्य-विषयक संदेश उतना स्पष्ट और प्रामाणिक ज्ञान नहीं है, जितना दो मूल प्रत्ययों का सम्बन्ध। यहीं नहीं इसकी प्रामाणिकता को युक्तियुक्त नहीं दिखाया जा सकता। इस प्रकार संवित्ति-ज्ञान प्रातिभ ज्ञान और यौक्तिक ज्ञान की तरह प्रामाणिक नहीं है। किन्तु यह सर्वथा अप्रामाणिक भी नहीं है। इसकी प्रामाणिकता है यद्यपि उसकी मात्रा अत्यल्प है।

इस प्रकार ज्ञान के तारतम्य में संवित्ति-ज्ञान निम्नतम है और प्रातिभ ज्ञान उच्चतम तथा यौक्तिक ज्ञान मध्यवर्ती है। ज्ञान को लाक सत्य ज्ञान या निश्चित ज्ञान के रूप में लेता है। इसलिए ज्ञान के ये तीन तारतम्य वास्तव में सत्यता या निश्चित ज्ञान के तारतम्य हैं। इनके अतिरिक्त लाक एक प्रकार के और ज्ञान का वर्णन करता है जो सत्य (True) नहीं है किन्तु प्रायिक ज्ञान (Probable Knowledge) है। जो सत्य न हो किन्तु जिसके सत्य होने की सम्भावना हो उसे प्रायिक ज्ञान कहा जाता है। जो प्रायिक है उसे लाक निर्णय (Judgment) कहता है और उसको 'ज्ञान' से भिन्न करता है। प्रायिकता सत्यता की न्यून मात्रा नहीं है, अपितु वह एक भिन्न प्रकार का ज्ञान है। प्रायिकता मतों या विश्वासों का गुण है। मत या विश्वास निर्णय हैं जो हम करते हैं या जिन्हें हम अन्य लोगों से प्राप्त करते हैं। गणित के ज्ञान को छोड़कर शेष जितने प्रकार के ज्ञान हैं वे प्रायः मत या विश्वास हैं। वे सब प्रायिकता के विषय-क्षेत्र हैं। प्रायिकता की अनेक मात्राएँ या अवस्थाएँ (Degrees) होती हैं। उनको नापने की दो कसौटियाँ हैं। पहली, हमारे शेष अनुभव के साथ किसी मत या विश्वास की

संगति । दूसरी, किसी मत के पक्ष और विपक्ष में होने वाले गवाहों की संख्या, उनकी ईमानदारी और कुशलता का विमर्श तथा उनके साक्ष्य की सुसंगति ।

सबसे अधिक प्रायिक मत वह है जो हमारे शेष अनुभव के साथ सुसंगत है और जिसे सभी युगा में सभी मानव मानते आये हैं । लोहा जल में डूब जाता है, ऐसा ही एक मत है । यह दृष्टिगोचर विषयों से सम्बन्धित मत है जिसे हम मानते हैं और हर युग में लोग मानते आये हैं, यद्यपि सिद्धान्ततः इस पर संदेह किया जा सकता है । दृष्टिगोचर विषयों से संबंधित हमारे सभी मत इसी प्रकार प्रायिक हैं । जिन विषयों को हम प्रत्यक्ष नहीं कर सकते उन्हें हम उपमान या सादृश्य के आधार पर प्रायिक मानते हैं । उदाहरण के लिए देवदूतों के विषय में हमारे जो मत हैं वे उपमान के आधार पर हैं । हम उनको महान् मानवों के सदृश समझकर उनकी कल्पना करते हैं और उनके विषय में अपना मत बनाते हैं ।

निश्चित ज्ञान और प्रायिक ज्ञान से भिन्न एक प्रकार का और ज्ञान है जिसे लाक मानता है । यह आगम (Revelation) है । इसको स्वीकार करना श्रद्धा (Faith) है । आगम यौक्तिक ज्ञान तथा प्रातिभ ज्ञान की तरह निश्चित नहीं है । यह प्रायिक ज्ञान से अधिक उच्च है । आगम वह ज्ञान है जो पैगम्बरों या ऋषियों को होता है । आगम युक्ति से परे जा सकता है । किन्तु वह युक्तियुक्त रहता है । वह युक्ति का विरोधी नहीं है । आगम बढ़ी हुई या विशालतर युक्ति है । युक्ति ही आगम की सच्चाई की कसौटी है । जो युक्तिसंगत हो जाता है और युक्ति से ऊर्ध्व है वही आगम है ।

उपसंहार में कहा जा सकता है कि ज्ञान के मुख्यतः तीन प्रकार हैं—निश्चित ज्ञान, प्रायिक ज्ञान और आगम । पहला सत्य है, दूसरा प्रायिक है और तीसरा सत्य और प्रायिक के बीच में है और इसे हम सत्यप्राय कह सकते हैं । सत्यप्राय की एक ही अवस्था होती है । किन्तु निश्चित ज्ञान और प्रायिक ज्ञान की अनेक अवस्थाएँ होती हैं । प्रातिभ ज्ञान, यौक्तिक ज्ञान और संवित्ति-ज्ञान निश्चित ज्ञान की अवस्थाएँ हैं । प्रायिक ज्ञान की अनेक अवस्थाएँ हैं । प्रायिकता की इन अवस्थाओं का वर्णन लाक के **निबन्ध** में नहीं मिलता है । उसने प्रायिकता का सम्यक् निरूपण नहीं किया है । उसने यह भी नहीं दिखाया है कि प्रायिकता का आधार आगमन (Induction) है ।

१२ ज्ञान की सीमाएँ

सामग्री, उत्पत्ति, प्रामाणिकता और प्रकृति के दृष्टिकोणों से ज्ञान अत्यन्त सीमित सिद्ध होता है । प्रथम, सामग्री की दृष्टि से ज्ञान प्रत्ययों की अनुकूलता का प्रत्यक्ष है । इससे ज्ञान की दो सीमाएँ निश्चित होती हैं । पहले, ज्ञान प्रत्ययों से

आगे नहीं बढ़ सकता है। जहाँ तक प्रत्यय हैं वहीं तक ज्ञान है। दूसरे, ज्ञान प्रत्ययों की अनुकूलता या प्रतिकूलता के प्रत्यक्ष से आगे नहीं जा सकता है। प्रत्ययों की अनुकूलता या प्रतिकूलता का जितना प्रत्यक्ष होगा उतना ही ज्ञान होगा। हम अपने सभी प्रत्ययों की अनुकूलता का प्रत्यक्ष नहीं कर पाते हैं। इसलिए हमारा ज्ञान हमारे प्रत्ययों से भी कम है।

द्वितीयतः, ज्ञान की उत्पत्ति की सीमाएँ हैं। हमारे पास जितने प्रत्यय मूलतः आते हैं वे संवेदना या अन्तर्दर्शन से उपलब्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त हमारे पास ज्ञान के साधन नहीं हैं। संवेदना हमारी इन्द्रियों पर निर्भर करती है। हमारी इन्द्रियाँ संख्या और शक्ति दोनों में अल्प हैं। अधिक न होने के कारण हम बहुत-सी वस्तुओं के मूल प्रत्यय नहीं प्राप्त कर सकते हैं। फिर इन्द्रियों के निर्बल होने के कारण हम दूरवर्ती और सूक्ष्म वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं कर पाते हैं। अंतर्दर्शन से भी हमें अपनी आत्मा के बारे में बहुत-से प्रत्यय नहीं प्राप्त होते हैं और जो बहुत-से प्रत्यय प्राप्त होते हैं वे स्पष्ट भी नहीं हैं। इस प्रकार पहले हमारे पास प्रत्ययों का अभाव है। फिर दूसरे, जो प्रत्यय हमारे पास हैं भी, हम उनके सभी सम्बन्धों को जान नहीं पाते हैं। अन्ततः हम अपने बहुत-से प्रत्ययों के मूल को नहीं जानते हैं। इन तीन कारणों से अज्ञान होता है। इससे स्पष्ट है कि अज्ञान का क्षेत्र ज्ञान के क्षेत्र से बड़ा है। लाक के समकालीन न्यूटन ने ठीक-ठीक कहा है कि हमें समुद्र के कुछ कंकड़-पत्थर का ही ज्ञान है और अगाध समुद्र जिसमें अनेक रत्न हैं, हमें अज्ञात है। अज्ञान का क्षेत्र बहुत विशाल है। वह अगाध समुद्र है। उसके अनेक रत्नों का ज्ञान हमें नहीं है। हम केवल उसके कुछ कंकड़-पत्थर ही जानते हैं। ज्ञान के समझने के लिए उसको सीमाओं को समझना और अज्ञान की अपेक्षा उसके संकुचित विस्तार को समझना जरूरी है।

तृतीयतः, ज्ञान के निश्चय के दृष्टिकोण से भी ज्ञान सीमित है। निश्चित ज्ञान तीन प्रकार का है प्रातिभ ज्ञान, यौक्तिक ज्ञान और संवित्तिज्ञान। इससे स्पष्ट है कि हमें प्रत्ययों की सभी अनुकूलता या प्रतिकूलता का प्रत्यक्ष प्रातिभ ज्ञान से नहीं होता है। हमारे प्रातिभ ज्ञान का क्षेत्र संकुचित है। यौक्तिक ज्ञान का क्षेत्र भी संकुचित है। इसके अनेक सोपानों को हम प्रातिभ ज्ञान से साक्षात् या परम्परा से नहीं जान पाते हैं। संवित्ति-ज्ञान तो अत्यन्त सीमित है ही, क्योंकि अब और यहाँ जो विशेष संवेद्य वस्तुएं हैं उन्हीं के ज्ञान तक वह सीमित है।

अन्ततः ज्ञान के स्वरूप के अनुसार ज्ञान की सीमाएँ हैं। ज्ञान के स्वरूप के चार प्रकार हैं—अभेद या भेद, अमूर्त सम्बन्ध, युगपद्भाव या उसका अभाव और यथार्थ सत्ता से सारूप्य।

भेद और अभेद के दृष्टिकोण से हमारा ज्ञान उतना ही विशाल है जितने प्रत्यय हैं। हर प्रत्यय अपने से अभिन्न है और दूसरे प्रत्ययों से भिन्न है। इस तरह प्रत्ययों के भेद और अभेद को सीमित करने वाली चीज केवल प्रत्ययों की संख्या है। किन्तु भेद-अभेद के अतिरिक्त भी कुछ सम्वन्ध हैं जिनका प्रातिभ ज्ञान हमें होता है। लाक इनको अमूर्त सम्बन्ध कहता है। वे सम्बन्ध अनिवार्य सम्बन्ध हैं जो अमूर्त प्रत्ययों के बीच पाये जाते हैं। चूंकि वे सम्बन्ध स्वतः अपने मूल रूप हैं अर्थात् किसी सम्बन्ध के प्रतिबिम्ब नहीं हैं, इसलिए हमें उनका प्रातिभ ज्ञान होता है। इस ज्ञान का उदाहरण गणित या नीतिशास्त्र का ज्ञान है। इसको हम अनन्त तक बढ़ा सकते हैं, क्योंकि इसके प्रत्यय और सम्वन्ध हमारी रचनाएँ हैं। अमूर्त सम्बन्ध के दृष्टिकोण से ज्ञान अनन्त है।

किन्तु प्रत्ययों के यौगपद्य (युगपद-भाव) और अयौगपद्य (युगपद्-भाव का अभाव) के दृष्टिकोण से ज्ञान अनुभव (संवेदना और अन्तर्दर्शन) से अधिक आगे नहीं है। सोने में हम पीलापन, लचीलापन, वजन और द्रवणीयता (पिघलन) का यौगपद्य पाते हैं। किन्तु इन प्रत्ययों का यौगपद्य आवश्यक नहीं है। हम इनमें कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं देखते हैं। हम द्रव्य की शक्तियों और उनसे उत्पन्न प्रत्ययों में भी कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं पाते हैं। इन सब को जानने के लिए हम अनुभव के अधीन हैं। प्रत्ययों के यौगपद्य का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए उनके अनिवार्य सम्बन्ध को जानना जरूरी है। गणित के प्रत्ययों के यौगपद्य को हम इसी तरह जानते हैं। किन्तु सभी प्राकृतिक विज्ञान और मनोविज्ञान के प्रत्ययों के यौगपद्य को हम इस तरह नहीं जान सकते हैं, क्योंकि यह यौगपद्य अनुभव से नियंत्रित है। इसलिए सभी प्राकृतिक विज्ञान (Natural Science) और मनोविज्ञान निश्चित ज्ञान नहीं देते हैं। वे केवल प्रायिक ज्ञान देते हैं। विस्तार और प्रामाण्य दोनों के दृष्टिकोणों से प्राकृतिक विज्ञान और मनोविज्ञान अत्यन्त संकुचित हैं और अनुभव के सन्निकट हैं।

अन्त में ज्ञान का वह प्रकार है जो यथार्थ सत्ता का सारूप्य है। दूसरे शब्दों में हमारे कितने प्रत्यय हैं जो यथार्थतः सत् वस्तुओं के अनुरूप हैं? इसके उत्तर में लाक कहता है कि हमें अपनी आत्मा का प्रातिभ ज्ञान है, ईश्वर का यौक्तिक ज्ञान है और विशेष भौतिक द्रव्यों का संवित्ति-ज्ञान है। आत्मा का प्रत्यय आत्मा-वस्तु के अनुरूप है। ईश्वर का प्रत्यय ईश्वर-वस्तु के अनुरूप है और किसी द्रव्य का प्रत्यय उस द्रव्य के अनुरूप है; ऐसा लाक कहता है। इन अनुरूपताओं के अतिरिक्त प्रत्यय और वस्तु की और कोई अनुरूपता नहीं है। आत्म-वस्तु और आत्म-प्रत्यय की अनुरूपता को लाक अभेद-सम्बन्ध बताता है। किन्तु यह उतना स्पष्ट नहीं है

जितना मूल प्रत्यय के अन्य अभेद स्पष्ट हैं। भौतिक द्रव्य और उसके प्रत्यय का सारूप्य अत्यन्त अस्पष्ट है। इसी तरह ईश्वर-वस्तु और ईश्वर-प्रत्यय का सारूप्य भी अस्पष्ट है। इनके स्पष्टीकरण की अपनी सीमाएँ हैं जो अनुभव से बँधी हैं। इसलिए इनके ज्ञान को भी हम स्वेच्छा से अनन्त तक नहीं ले जा सकते।

इस तरह गणित और नीतिशास्त्र के ज्ञान को छोड़कर शेष सभी विज्ञानों का ज्ञान सीमित है। लाक नीतिशास्त्र को गणित की श्रेणी में इसलिए रखता है कि दोनों में सामान्य प्रत्ययों का व्यवहार होता है। वह मानता है कि इनके सामान्य प्रत्यय सार्वभौम और सनातन सत्य हैं और इन प्रत्ययों में आपस में अनिवार्य सम्बन्ध हैं। मन इन सम्बन्धों की खोज करता है। वह इनका न तो खण्डन कर सकता है और न तो परिवर्तन। इन प्रत्ययों के प्रति उसका दो ही रुख हो सकता हैं: पहले, वह इनसे अनभिज्ञ रह सकता है। यह अज्ञान की दशा है। दूसरे, वह इनको जान सकता है। यह ज्ञान की दशा है। इस दशा में वह इनकी सत्यता को स्वीकार करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकता है। यहाँ लाक का दृष्टिकोण बुद्धि-वादी हो गया है। उसका यह मत प्लेटो के आदर्शवाद के समीपतर है जिसके अनुसार प्रत्यय नित्य सत्य हैं और उनके बीच अनिवार्य सम्बन्ध हैं।

सामान्य प्रत्ययों के ज्ञान की सार्वभौमिक सत्यता का आधार अनुभव नहीं है। इसका आधार मानव स्वभाव है जो प्रकृति से ही बुद्धिमान् है। सभी मनुष्यों का एक ही स्वभाव है। वे बुद्धिमान् पशु हैं। इसलिए उनके सामान्य प्रत्ययों के ज्ञान में सार्वभौमिकता है।

फाल्केनवर्ग ने लाक के इस मत के आधार पर कहा है कि लाक वास्तव में बेकनवाद[1] से प्रभावित डेकार्टवादी है, न कि डेकार्टवाद से प्रभावित बेकनवादी[2]। उसके कथन का तात्पर्य है कि लाक बेकन की अपेक्षा डेकार्ट के अधिक समीप है। डेकार्ट बुद्धिवादी था और बेकन प्रत्यक्षवादी। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि लाक के ऊपर बेकन का उतना प्रभाव नहीं पड़ा था जितना डेकार्ट का। किन्तु यह भी सत्य है कि लाक ने डेकार्ट-मत का खण्डन किया था और उसका मत बेकन के मत से अधिक मिलता-जुलता है। सिर्फ गणित और नीतिशास्त्र के बारे में लाक जो कहता है वह डेकार्टवाद की परम्परा के अनुसार है। किन्तु इस मत के अतिरिक्त भी लाक के मत हैं जो उसके लिए इससे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। अन्ततः गणित

---

१. फ्रान्सिस बेकन लाक के पूर्व का अँग्रेज दार्शनिक है। वह प्रत्यक्षवादी था। उसने तर्कशास्त्र की आगमन-विधि खोजी थी।

२. A History of Modern Philosophy, पृ० १८५।

और नीतिशास्त्र के प्रत्यय भी अनुभव से उपलब्ध प्रत्ययों से ही छाँटे जाते हैं। इस कारण लाक को बुद्धिवादी या डेकार्टवादी कहने की अपेक्षा प्रत्यक्षवादी (अनुभववादी) या बेकनवादी ही कहना अधिक युक्तिसंगत है।

उसके अनुभववाद ने ज्ञान को सीमित ठहराया है। गणित और नीतिशास्त्र का ज्ञान निःसन्देह असीम या अनन्त है। किन्तु इस ज्ञान की वास्तविकता नहीं हैं। वह वाचसिक सत् का ज्ञान है, न कि यथार्थ सत् का। अतः जहाँ तक यथार्थ सत् का ज्ञान है वह अत्यन्त संकुचित है।

किन्तु ज्ञान के संकुचित होने का यह अर्थ नहीं है कि हम उसका विस्तार नहीं कर सकते। हम दो तरह से उसको बढ़ा सकते हैं। पहले, अनुभव द्वारा और दूसरे, अपने प्रत्ययों को स्पष्ट तथा अभ्रान्त करके उनके सम्बन्ध की खोज से। अनुभव को हम तीव्र, सशक्त तथा नित्य नवीन बना सकते हैं। कूपमण्डूकता तथा पूवाग्रह का परित्याग, सूक्ष्मनिरीक्षण, वैज्ञानिक यंत्रों का प्रयोग जैसे उपनेत्र, ध्वनि-यन्त्र, दूरबीन और खुर्दबीन तथा वैज्ञानिक-विधि का प्रयोग, ये ऐसे उपाय हैं जिनसे हम अपने अनुभव को बढ़ा सकते हैं। फिर दर्शन का अनुशीलन और गणित का अनुशीलन वह उपाय है जिससे हम अपने प्रत्ययों को स्पष्ट तथा अभ्रान्त कर सकते हैं और उनके सम्बन्ध की खोज कर सकते हैं। यद्यपि ज्ञान काक्षेत्र संकुचित है तथापि वह अपनी सीमाओं के अन्दर जितना है उतना भी हम नहीं जानते हैं और उतना जानने के लिए हमें सदैव सचेष्ट रहना चाहिए। कोई मानव उतना भी ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता है। इसलिए मानव ज्ञान के विकास का क्षेत्र बहुत बड़ा है।

१३ तत्त्वमीमांसा

लाक ने ज्ञान की मीमांसा को प्रमुखता दी है। उसके पूर्व दार्शनिकों ने द्रव्य की मीमांसा को प्रमुखता दी थी। डेकार्ट ने अकाट्य और स्वयंसिद्ध ज्ञान से अपने दर्शन का आरम्भ अवश्य किया था, किन्तु उसने ज्ञान की मीमांसा को तत्त्वमीमाँसा से अधिक महत्व नहीं दिया। उसका प्रधान लक्ष्य द्रव्य की मीमांसा था। लाक ने तत्त्व-मीमांसा से अधिक महत्त्व ज्ञान-मीमांसा को दिया तो अवश्य, किन्तु उसकी ज्ञान-मीमांसा उसकी तत्त्वमीमांसा पर निर्भर है। वह ऐसी ज्ञान-मीमांसा न दे सका जिसका आधार कोई तत्त्वमीमांसा न हो। फिर वह ऐसी तत्त्वमीमांसा न दे सका जो ज्ञान-मीमांसा पर आधारित हो, या ज्ञान-मीमांसा से अभिन्न हो। उसके बाद कांट ने वह ज्ञानमीमांसा दी जो तत्त्वमीमांसा से निरपेक्ष है और हेगल ने वह ज्ञान-मीमांसा दी जो तत्त्वमीमांसा से अभिन्न है।

लाक का अनुभववाद किसी तत्त्ववाद को सिद्ध करने के बजाय स्वयं एक प्रकार

के वस्तुवाद पर आधारित है। अनुभव के सम्पन्न होने के लिए बाह्य जगत् में स्थित किसी विशेष द्रव्य का होना एक मनुष्य का होना और उसके मन का होना तथा मन और विशेष द्रव्य के बीच प्रत्ययों का होना जरूरी है। ज्ञानमीमांसा प्रत्ययों की मीमांसा है। विशेष द्रव्य और मानव मन की मीमांसा तत्त्वमीमांसा है। विशेष द्रव्य भौतिक पदार्थ हैं और मानव मन आध्यात्मिक। प्रत्यय इन दोनों द्रव्यों से भिन्न हैं। द्रव्य और प्रत्यय अभिन्न नहीं हैं। उनके भेद का प्रतिपादन करके लाक प्रत्ययवाद या आदर्शवाद का खण्डन करता है और वस्तुवाद का समर्थन। किन्तु वस्तुवादी होते हुए भी वह भौतिकवादी नहीं हैं। उसके वस्तुवाद में भौतिक और आध्यात्मिक दो प्रकार की वस्तुएँ हैं। वह अनेक भौतिक द्रव्यों और अनेक आध्यात्मिक द्रव्यों में विश्वास करता है। आध्यात्मिक द्रव्यों में मानव मन या आत्माएँ तथा ईश्वर हैं। ईश्वर, आत्माएँ और भौतिक द्रव्य सभी विशेष सत् हैं। लाक किसी समष्टि या सामान्य मन को नहीं मानता है। वह व्यष्टिवादी, व्यक्तिवादी विशेषसत्तावादी हैं। अब हम क्रमशः भौतिक द्रव्य, आत्मा और ईश्वर का वर्णन करेंगे।

१४ भौतिक द्रव्य का स्वरूप

सोना, चाँदी, मेज, कुर्सी आग, पानी इत्यादि विशेष वस्तुएँ भौतिक द्रव्य हैं। हमारे मन के बाहर उनका अस्तित्व है। भौतिक द्रव्य के अस्तित्व में प्राथमिक गुण, द्वैतीयक गुण तथा तार्तीयक गुण हैं। ये गुण उसकी शक्तियाँ हैं। इनमें से हम केवल प्राथमिक गुणों की स्पष्ट कल्पना कर सकते हैं क्योंकि उनके अनुरूप हमारे पास मूल प्रत्यय है। द्वैतीयक गुणों और तार्तीयक गुणों की स्पष्ट कल्पना हम नहीं कर सकते हैं क्योंकि उनके अनुरूप हमारे पास प्रत्यय नहीं हैं। किन्तु इससे उसका अभाव नहीं सिद्ध होता है। द्रव्य मन हैं इनकी शक्तियाँ हैं। इन्हीं के कारण हमारे पास द्वैतीयक गुणों और तार्तीयक गुणों के प्रत्यय होते हैं।

भौतिक द्रव्य प्राथमिक गुणों द्वैतीयक गुणों और तार्तीयक गुणों का आश्रय है। प्राथमिक गुणों और द्वैतीयक गुणों का जो भेद लाक की ज्ञानमीमांसा में किया गया है, उसके अनुसार वह भौतिक द्रव्यों को उस रूप में नहीं मानता है जिस रूप में उनको साधारण जन मानते हैं। उदाहरण के लिए साधारण जन समझते हैं कि यह मेज लाल है। किन्तु लाक के मत में मेज लाल नहीं है और वह लाल केवल देखने में है। इस तरह साधारण जन संसार की चीजों को रंगीन मीठी, सुन्दर इत्यादि मानते है। किन्तु लाक उनको रंगीन, मीठी, सुन्दर आदि नहीं मानता है। उसके मत से भौतिक द्रव्य में अस्तित्व के अतिरिक्त विस्तार, आकार, गुरुता, गतिशीलता तथा संख्या हैं और इन गुणों का यौगपद्य है। बस, इसके अतिरिक्त भौतिक द्रव्य कुछ नहीं है।

इनमें से हम अस्तित्व और यौग पद्यका प्रत्यय उस तरह नहीं प्राप्त करते हैं जिस तरह विस्तार, आकार, गुरुता, गतिशीलता और संख्या के प्रत्यय प्राप्त करते हैं। अस्तित्व और प्राथमिक गुणों का यौगपद्य हमें संवेदना या संवित्ति से उपलब्ध होता है। यही ज्ञान भौतिक द्रव्य के अस्तित्व में एकमात्र प्रमाण है। यह एक विशेष प्रकार का प्रत्यक्षीकरण है जो मूल प्रत्ययों के प्रत्यक्षीकरण तथा प्रायिक ज्ञान से भिन्न है।

भौतिक द्रव्य का अस्तित्व अनुमान का विषय नहीं है। वह अभ्युपगम (Hypothesis) भी नहीं है। वह मूल प्रत्ययों के यौगपद्य से बनी हुइ मनोरचना भी नहीं है। वह एक स्वतन्त्र विषय है जिसका निश्चित ज्ञान एक प्रकार की संवेदना से होता है। यदि यह संवेदना न हो, तो भौतिक द्रव्य का निश्चित ज्ञान नहीं हो सकता। इसके होने पर ही इसके साक्ष्य के रूप में हमें अपने अनुभव में कुछ युक्तिया मिलती हैं। पहले, हमें जो मूल प्रत्यय उपलब्ध होते हैं, वे हमारे मन क बाहर स आते हैं। उनका कोइ मूल स्रोत है जिसमें उनको उत्पन्न करने की शक्ति है। दूसर संवेदना के विषय स्मृति के विषय से भिन्न हैं। हमें दिन में जो सूरज का प्रत्यय होता है वह रात में सूरज के होने वाले प्रत्यय से भिन्न है। गुलाब के फूल की गन्ध का मूल प्रत्यय उस गन्ध की स्मृति या कल्पना से भिन्न है। अगर कोई कहे कि सभी प्रत्यय काल्पनिक हैं, स्वप्नवत् हैं, तो यह कथन ठीक नहीं होगा; क्योंकि आग की कल्पना करना और आग को छूना एक ही कर्म नहीं है। तीसरे, हमारी इन्द्रियाँ एक दूसरे के प्रत्यय को समर्थन देती है। हम आँख से जो आग देखते है उसे छूकर यथार्थ पाते हैं। हमें आँख से जिस आम को देखते हैं उसे खाकर यथार्थ पाते हैं। इससे भौतिक द्रव्यों का जो ज्ञान हमें होता है वह प्रमाणित उतरता है। इस तरह भौतिक द्रव्य के अस्तित्व का ज्ञान सवेदना से होता है और इस ज्ञान का प्रमाणीकरण अनुभव की युक्तियों से होता है।

भौतिक द्रव्य का प्रमुख अनिवार्य गुण गुरुता (Solidity) या दुर्भेद्यता है। डेकार्ट ने विस्तार को भौतिक द्रव्य का अनिवार्य गुण बताया था। किन्तु लाक कहता है कि हम विस्तार की कल्पना विना भौतिक द्रव्य के भी कर सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि विस्तार देश (Space) का पर्याय है और देश में शून्यता भी कहीं-कहीं है अर्थात् देश में कहीं-कहीं भौतिक द्रव्य नहीं हैं।

किन्तु गुरुता ही भौतिक द्रव्य का अनिवार्य गुण नहीं है। इसके अतिरिक्त विस्तार, गतिशीलता, संख्या और आकार भी उसके गुण हैं। भौतिक द्रव्य के अनन्त टुकड़े किये जा सकते हैं। हर टुकड़े में ये गुण मिलेंगे। इस प्रकार भौतिक द्रव्य अनेक कणों से बना है। किन्तु हम इन कणों को देख नहीं पाते हैं। हम उनके संबंध को भी नहीं जान पाते हैं। इसलिए वास्तव में कणों के आधार पर किसी विज्ञान की रचना नहीं की जा सकती है।

कणवाद लाक के लिए एक अभ्युपगम है। उसका कणवाद अणुवाद या परमाणुवाद नहीं है, क्योंकि उसके मत से कण नित्य विभाज्य हैं, अर्थात् उनकी कोई ऐसी सूक्ष्मतम इकाई नहीं है जो अविभाज्य या परमाणु हो।

भौतिक द्रव्य अनेक और विशेष हैं। वे एक दूसरे पर घात-प्रतिघात करते हैं। उनका पारस्परिक सम्बन्ध अन्तरक्रिया (Interaction) है। दूसरे शब्दों में वे कारण और कार्य की श्रृङ्खला में बद्ध है।

भौतिक द्रव्य का प्रत्यय एक मिश्रित प्रत्यय है। उस प्रत्यय के अनुरूप वस्तु-जगत् में भौतिक द्रव्य है। लाक इस अनुरूपता या सारूप्य को मूलतः सांवृतिक मानता है। किन्तु क्या यह सारूप्य ठीक है ? क्या हम किसी वस्तु और प्रत्यय का सारूप्य समझ सकते हैं। स्पष्ट है कि यदि वस्तु अज्ञात और अज्ञेय है तो हम किसी प्रत्यय से उसका सारूप्य नहीं निश्चित कर सकते क्योंकि जिन्हें हम जानते हैं केवल उन्हीं के सारूप्य हम निश्चित कर सकते हैं। अब प्रश्न है कि क्या भौतिक द्रव्य अज्ञात और अज्ञेय है। लाक उसको ज्ञात मानता है। इसलिए वह ज्ञात भौतिक द्रव्य और उसके प्रत्यय का सारूप्य निश्चित कर सकता है। किन्तु प्रश्न है कि ज्ञात भौतिक द्रव्य प्रत्यय है या प्रत्यय-भिन्न वस्तु है ? लाक उसको प्रत्यय से भिन्न वस्तु मानता है। किन्तु फिर वस्तु और प्रत्यय में क्या अन्तर होगा ? प्रत्यय वह है जो हम ज्ञात होता है। यही अर्थ लाक वस्तु को भी दे रहा है। इसलिए लाक के दर्शन में प्रत्यय का अर्थ विभिन्न है और इसके कारण उसके दर्शन में असंगति आ गयी है। यदि भौतिक द्रव्य ज्ञात है तो फिर वह प्रत्यय ही है और लाक का मत वस्तुवाद न होकर प्रत्ययवाद हो जाता है। और यदि भौतिक द्रव्य प्रत्यय नहीं है तो फिर लाक यहाँ एक प्रकार का ऐसा ज्ञान मान रहा है जो प्रत्ययों से परे है। यह मान्यता उसकी इस मान्यता के विरोध में है कि उसका समस्त ज्ञान प्रत्ययमय है। यहाँ वह अपने प्रतिनिधि-वाद को भी छोड़ रहा है और भौतिक द्रव्य के साक्षात् ज्ञान की बात कर रहा है। अन्ततः यदि भौतिक द्रव्य केवल हमारे प्रत्ययों से सम्बन्धित है और इनकी उत्पत्ति का स्रोत है तो फिर हम भौतिक द्रव्य को नहीं जान सकते हैं क्योंकि जो भी सम्बन्ध ज्ञात होता है वह प्रत्ययों का सम्बन्ध है और लाक प्रत्ययों को भौतिक द्रव्य का कार्य कहकर प्रत्ययवस्तु का सम्बन्ध स्थापित कर रहा है। ऐसा सम्बन्ध ज्ञान में नहीं आता है, फिर चाहे वह कारण-कार्य सम्बन्ध हो या सारूप्य सम्बन्ध हो। इसलिए भौतिक द्रव्य की मान्यता का मेल लाक के दर्शन के साथ नहीं बैठता है। यदि लाक के इस मत का सहानुभूतिपूर्वक विवरण किया जाय तो यही स्पष्ट होगा कि भौतिक द्रव्य का जो संवित्ति-ज्ञान होता है वह मूल प्रत्ययों की संवेदना से सर्वथा भिन्न है। दोनों को संवेद कहना असंगति है जिससे लाक को बचाया नहीं जा सकता है। किन्तु लाक

को यह असंगति स्वीकार थी और भौतिक द्रव्य को प्रत्यय कहना या उसका अस्तित्व न मानना अस्वीकार्य था। वह शुद्ध वस्तुवाद में प्रतिपन्न था।

१५ आत्मा का स्वरूप

लाक जैसे भौतिक द्रव्य के अस्तित्व को स्वीकार करता है वैसे ही वह आत्मा के भी अस्तित्व को स्वीकार करता है। उसके मत से आत्मा एक आध्यात्मिक द्रव्य है। आध्यात्मिक का अर्थ यहाँ अभौतिक है। भौतिक द्रव्य निष्क्रिय हैं, आध्यामिक द्रव्य कर्ता है। आध्यात्मिक द्रव्य को भौतिक द्रव्य नहीं उत्पन्न करता है। वास्तव में भौतिक द्रव्य कुछ नहीं उत्पन्न करता है।

आध्यात्मिक द्रव्य को हम आत्मा या मन कहते हैं। लाक आत्मा और भौतिक द्रव्य के द्वैतवाद को डेकार्ट की तरह मानता है। किन्तु उसने आत्मा का जो लक्षण किया है वह डेकार्ट के द्वारा किये गये लक्षण से भिन्न है। डेकार्ट के अनुसार आत्मा नित्य चिन्तनशील है, किन्तु लाक के अनुसार चिन्तन आत्मा के अनेक व्यापारों में से केवल एक व्यापार है और यह व्यापार उसका अनिवार्य लक्षण नहीं है। सुषुप्ति में आत्मा चिन्तन नहीं करती है। डेकार्टवाद की आलोचना करते हुए लाक ने कहा, "यह आश्चर्य है कि लोग सोते हुए मनुष्यों को चिन्तनशील मानते हैं, जबकि वे जागते हुए पशुओं को जो सोचते हुए दिखाई पड़ते हैं, चिन्तन के लिए सर्वथा अयोग्य समझते हैं।"

आत्मा वह द्रव्य है जिसमें संवेदना तथा अन्तर्दर्शन की शक्ति है। यदि आत्मा में यह शक्ति न होती तो फिर प्रत्ययों की उपलब्धि न होती। इस शक्ति से आत्मा का सम्पर्क बाह्य जगत् से होता है। इस सम्पर्क से आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व आत्मा ज्ञानवती नहीं है। यहाँ लाक का मत न्याय-वैशेषिक मत से अभिन्न है। जयंत भट्ट ने **न्यायमंजरी** में स्पष्ट लिखा है कि जब तक प्रत्यक्ष से ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है तब तक आत्मा ज्ञानवान् नहीं होती है और इसलिए तब तक उसे जड़ समझना चाहिए। लाक के मत को भी जड़वाद या भौतिकवाद समझा गया। स्टिलिंग फ्लीट ने उसकी आलोचना करते हुए कहा कि उसके मत में आत्मा या मानव मन देश में स्थित एक वस्तु है। देश में ही भौतिक द्रव्य हैं, वहीं मानव मन है। इसलिए आत्मा या मानव मन वस्तुतः भौतिक या जड़ है। फिर लाक स्वयं कहता है कि ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता से यह सम्भव है कि उसने भौतिक द्रव्य या जड़ को चिन्तन की शक्ति प्रदान कर दी हो। यदि ईश्वर ने ऐसा किया है तो मनुष्य वस्तुतः भौतिक द्रव्य है जिसको ईश्वर ने चिन्तन-शक्ति प्रदान कर दी है। यहां यह उल्लेखनीय है कि लाक चिन्तन का स्रोत ईश्वर को

मानता है और भौतिक द्रव्य से उसकी उत्पत्ति नहीं दिखाता है। किन्तु फिर भी यहाँ मानव मन या आत्मा जड़ है जिसे ईश्वर ने चिन्तन की शक्ति प्रदान की है। चिन्तन भौतिक आत्मा का गुण है, जो अनिवार्य न होकर आकस्मिक है। इससे स्पष्ट है कि लाक के मन में मनुष्य की आत्मा मूलतः जड़ है और मनुष्य एक चिन्तन करने वाला देह है।

वास्तव में लाक के सिद्धान्त में जड़वाद छिपा है। किन्तु वह स्पष्टतः जड़वाद का विरोध करता है। वह यह मानने को तैयार नहीं है कि भौतिक द्रव्य से चिन्तन की उत्पत्ति हुई है। यदि ईश्वर ने भौतिक द्रव्य को चिन्तन प्रदान किया है तो फिर उसने चिन्तन के साथ ही उसको एक ऐसे द्रव्य से संयुक्त भी किया है जिसमें चिन्तन की शक्ति है। इस तरह मनुष्य के रूप में देह और आत्मा के सम्बन्ध हैं। आत्मा देह से नहीं उत्पन्न हुई है। वह देह से भिन्न एक तत्त्व है।

जैसे हमें भौतिक द्रव्य का ज्ञान होता है वैसे ही हमें आत्मा का ज्ञान होता है। यही नहीं, हमें आत्मा का प्रातिभ ज्ञान होता है अर्थात् हम आत्मा को अधिक निश्चयपूर्वक जानते हैं। मैं निश्चयपूर्वक जानता हूँ कि मैं हूँ। मैं प्रत्यक्षों की केवल एक धारा नहीं हूँ। मैं एक स्थायी या द्रष्टा पुरुष हूँ जो इस धारा को जानता है। मैं इस पुरुष से साक्षात परिचित हूँ। मैं जानता हूँ कि मैं वही हूँ जो आज देखता हूँ और जो कल देखता था। यह पुरुष प्रत्यक्षीकरण, कल्पना, स्मरण, अवधारणा, आदि व्यापारों का आश्रय है।

वास्तव में लाक आत्मा के अस्तित्व के बारे में निश्चित है। वह कहता है—"यह निर्विवाद है कि हमारे अन्दर कोई है जो सोचता है। यह क्या है? इस प्रश्न के बारे में जितने सन्देह हैं वे उसके अस्तित्व को पुष्ट करते हैं। किन्तु वह किस प्रकार का अस्तित्व है? इसके अज्ञान पर हमें संतोष करना पड़ता है[1]।" अन्तर्दर्शन से हमें आत्मा का ज्ञान नहीं होता है। उससे हमें केवल आत्मिक व्यापारों का ज्ञान होता है।

आत्म-ज्ञान या आत्म-प्रत्यय क्या है? आत्म-ज्ञान को लाक पुरुष (Person) कहता है। पुरुष की अपनी इकाई है जिसे वह पौरुषेय अभिन्नता (Personal Identity) कहता है। पौरुषेय अभिन्नता तार्किक अभिन्नता, कालगत सातत्य की अभिन्नता तथा संगठन की अभिन्नता से भिन्न है। पुरुष की अभिन्नता या इकाई पूर्णतः आत्म-ज्ञान पर निर्भर है। वर्तमानकाल में हर मनुष्य अपना आत्म-ज्ञान रखता है। वह अपने को भूतकाल में भी स्मरण करता है। वह जानता है कि अब वह वही पुरुष है जो वह कल था।

---

१. लाक का निबन्ध, ४।३।६

पुरुष की अभिन्नता को तार्किक अभिन्नता, काल के माध्यम से संतत होने की अभिन्नता और संगठन की अभिन्नता नहीं समझना चाहिए। यह एक चतुर्थ प्रकार की अभिन्नता है। तार्किक अभिन्नता किसी प्रत्यय का अपने से सम्बन्ध है। यह अभिन्नता आत्मा के बारे में लागू नहीं होती है। कालगत सातत्य की अभिन्नता आत्मा के आध्यात्मिक द्रव्य होने की अभिन्नता का भी लक्षण है। प्रत्येक आत्मा अपने अस्तित्व से ही एक निर्धारित काल और देश से अवच्छिन्न है। उदाहरण के लिए एक मनुष्य की आत्मा को लीजिए। मान लीजिए वह मरने के बाद पशु होता है। उस समय हम तर्कतः नहीं मानते कि उसकी आत्मा और पशु की आत्मा एक ही है। किन्तु उस मनुष्य के जन्म से लेकर उसकी मृत्यु तक हम उसकी आत्मा को एक ही मानते हैं। यही कालगत अभिन्नता है। फिर अन्त में संगठन की अभिन्नता है। मनुष्य या किसी जीव के देह का जो संगठन है वह उसकी संगठन-अभिन्नता है। मनुष्य के देह में भौतिक द्रव्य और प्राणतत्त्व के संगठन को हम इस अभिन्नता का नाम दे सकते हैं।

द्रव्य का परिवर्तन होने पर भी पुरुष में परिवर्तन नहीं होता है। उदाहरण के लिए एक बालक और एक पुरुष दो द्रव्य हैं। किन्तु यदि बालक के अनुभव को कोई पुरुष स्मरण करता है तो वह बालक और वह पुरुष एक ही पुरुष हैं। हो सकता है कि मैं वही आध्यात्मिक द्रव्य नहीं हूँ, जो सात साल पहले था। किन्तु फिर भी मैं वही पुरुष हूँ जो सात साल पहले था, क्योंकि मैं सात साल पहले के अनुभव का स्मरण कर सकता हूँ। सम्भव है कि मैं वही आध्यात्मिक द्रव्य हूँ जो सात साल पहले था। किन्तु यह भी सम्भावना है कि दो आध्यात्मिक द्रव्य एक ही पुरुष में हो सकते हैं। ऐसी सम्भावना में यदि मैं आज एक आध्यात्मिक द्रव्य हूँ और सात साल पूर्व दूसरा था, तो भी हम अपने को एक अभिन्न पुरुष सिद्ध कर सकते हैं।

इसी प्रकार एक द्रव्य में दो पुरुष हो सकते हैं। अगर कोई कहे कि वह सुकरात है और उसका कथन ठीक मान लिया जाय तथा वह सुकरात के अनुभवों का स्मरण न करे, तो वह एक द्रव्य और दो पुरुष होगा। विक्षिप्त मानवों में प्रायः एक ही द्रव्य और दो पुरुष देखे जाते हैं।

हम अपने अस्तित्व को तीन प्रकार से देख सकते हैं। मैं प्राणवान् देह के रूप में सत् हूँ (प्राण), मैं पुरुष हूँ (आत्म-ज्ञान) और मैं एक अभौतिक द्रव्य के रूप में भी सत् हो सकता हूँ। हम यह नहीं जान सकते कि प्राणवान् देह, पुरुष और अभौतिक द्रव्य एक है या एकत्र परस्पर सम्बन्धित हैं। यद्यपि हम मानते हैं कि मनुष्य का अर्थ है कि एक प्राणवान् देह, एक पुरुष और एक आध्यात्मिक द्रव्य है, जो एकत्र परस्पर सम्बद्ध हैं।

वास्तव में लाक ने आत्मा की सम्यक् धारणा नहीं की । वह उसकी इकाई को भी न समझ सका । कभी वह उसको प्राणवान् देह कहता है तो कभी पुरुष और कभी आध्यात्मिक द्रव्य । वह अपनी पौरुषेय अभिन्नता पर अधिक बल देता है किन्तु हम लोगों के मुँह से सुनते हैं, 'मैं अब भूल गया हूँ कि मैंने यह किया था, यद्यपि मैंने ही यह किया था,' यहाँ आत्म-ज्ञान के आधार पर पुरुष की अभिन्नता नहीं है । फिर आत्म-ज्ञान और आध्यात्मिक द्रव्य का सम्बन्ध क्या है ? क्या वह सारूप्य हैं ? या क्या वह अभेद है ? दोनों दशाओं में प्रत्यय और वस्तु का सम्बन्ध अनुभववाद के आधार पर प्रतिष्ठित नहीं हो सकता है । इसलिए आत्मा के बारे में लाक का मत ठीक नहीं है ।

१६ आत्मा और देह

लाक के दर्शन में आत्मा और देह के सम्बन्ध की तीन व्याख्याएँ उपलब्ध होती हैं । पहली, आत्मा और देह आपस में एक दूसरे को प्रभावित करते हैं । यह प्रभाव संवेदना या प्रत्यक्षीकरण में अधिक स्पष्ट होता है । इन्द्रियाँ मन को विशेष संवेद्य वस्तुओं का सन्देश देती हैं । वे उनसे परिचित है । उनका यह परिचय एक प्रकार का सम्पर्क है । इस सम्पर्क से मस्तिष्क प्रभावित होता है और मस्तिष्क के प्रभाव से मन में प्रत्यय उत्पन्न होता है । मस्तिष्क देह का अंग है । मन पर उसका प्रभाव पड़ना वास्तव में देह का मन या आत्मा पर प्रभाव है । लाक का अनुभववाद आत्मा और देह की इस पारस्परिक क्रिया पर निर्भर है ।

दूसरी, लाक ईश्वरनिमित्तवाद (Occasionalism) को हास्यास्पद नहीं समझता है । एक जगह वह कहता है कि दैहिक गतियों और प्रत्ययों को ईश्वर सम्बन्धित करता है[1] । "यह सोचना असम्भव नहीं है कि ईश्वर ऐसे प्रत्ययों को ऐसी गतियों से सम्बन्धित करे जिसके साथ उनकी अनुरूपता न हो ।"

तीसरी, लाक कभी-कभी आत्मा और देह के सम्बन्ध की भौतिकवादी व्याख्या करता है । वह कहता है कि जैसे ईश्वर ने देह को प्राणवान् बनाया है वैसे उसने उसको आत्मवान् भी बनाया है । आत्मा देह का आगन्तुक गुण है, यद्यपि यह गुण उसको ईश्वर से मिला है । यदि इस व्याख्या को माना जाय तो फिर लाक भौतिक-वादी सिद्ध होता है ।

इन तीन व्याख्याओं में से लाक के सुसगत मत को निकालना कठिन है। वास्तव में उसने आत्मा और देह की स्पष्ट व्याख्या नहीं की है । उसके साथ

१. वही २।७।१३

सहानुभूति करके यही कहा जा सकता है कि वह इस व्याख्या में डेकार्ट के अन्तर-क्रियावाद को ही अधिक मानता है।

१७ ईश्वर का स्वरूप

ईश्वर है, यह ज्ञान यौक्तिक है। इसके आधारभूत दो प्रातिभ ज्ञान है। पहला आत्मा के अस्तित्व का प्रातिभ ज्ञान। मैं स्वयं हूँ, अर्थात कोई वस्तु सत् है। दूसरे, यह प्रातिभ ज्ञान की शुद्ध असत किसी सत वस्तु को उत्पन्न नहीं कर सकता है। "यदि हम जानते हैं कि एक सत वस्तु है और असत् किसी सत् को उत्पन्न नहीं कर सकता है, तो यह स्पष्ट निष्कर्ष है कि अनादिकाल से ही कोई सत वस्तु है, क्योंकि जो अनादि काल से नहीं है उसका आदि है, जो आदि है उसको किसी वस्तु ने उत्पन्न किया है[1]।

फिर यह स्पष्ट है कि जो वस्तु किसी वस्तु से अपना अस्तित्व प्राप्त करती है, उसकी समस्त शक्ति भी उसी से मिलती है और वह समस्त शक्ति उसके कारण में होनी चाहिए। इसलिए समस्त वस्तुओं का जो नित्य कारण है, वह अवश्य ही सर्व-शक्तिमान है। फिर ज्ञाता आत्मा का कारण होने के कारण उसे सर्वज्ञ होना चाहिए। इस प्रकार एक नित्य सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ वस्तु का अस्तित्व सिद्ध होता है जो अन्य समस्त वस्तुओं का कारण है। यह वस्तु ईश्वर है।

लाक ने ईश्वर के अस्तित्व का जो यह प्रमाण दिया है वह सृष्टि-वैज्ञानिक युक्ति (Cosmological Argument) है। इसके अनुसार वर्तमान क्षण में जो भी सत वस्तु है उसके अस्तित्व से सिद्ध किया जा सकता है कि एक ईश्वर आदि काल से है। यहाँ यह तात्पर्य नहीं है कि ईश्वर प्रत्येक वस्तु का साक्षात कारण है। प्रत्येक वस्तु के कारणों की एक श्रृङ्खला हो सकती है जिसमें अन्तिम कारण ईश्वर है। फिर इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि जो इस समय सत है वह अनादिकाल से सत नहीं है। जो इस समय सत है वह अनादिकाल से भी सत हो सकता है। यह युक्ति सिर्फ दिखाती है कि जो कुछ भी सत है उससे ईश्वर का अस्तित्व सम्बन्धित है।

यह उल्लेखनीय है कि लाक तत्त्वदार्शनिक युक्ति (Ontological Argument) का खंडन करता है। वह नहीं मानता कि ईश्वर का प्रत्यय आजानिक है, या ईश्वर के प्रत्यय से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होता है। उसका मत है कि यथार्थ सत को यथार्थ सत से ही सिद्ध किया जा सकता है। ईश्वर की यथार्थ सत्ता को अन्य वस्तुओं की यथार्थ सत्ता से ही सिद्ध किया जा सकता है।

किन्तु उसकी सृष्टि-वैज्ञानिक युक्ति स्वयं एक प्रकार की तत्त्वदार्शनिक युक्ति

---

१. वही, ४।१०।७

है। यह कहती है कि हम असत् से सत् के उत्पन्न होने की धारणा नहीं कर सकते या किसी सत् वस्तु का वर्तमान अस्तित्व नित्य वस्तु की अपेक्षा करता है। इसका क्या तात्पर्य है ? इसका यही तात्पर्य है कि सत् वस्तु के प्रत्यय का अनिवार्य संबंध अनिवार्य सत्ता के प्रत्यय से है। यही तत्त्वदार्शनिक युक्ति का भी मतलब है। इसलिए गम्भीरता से देखने पर लाक की सृष्टिवैज्ञानिक युक्ति तत्त्वदार्शनिक युक्ति है जिसका वह खंडन करता है। फिर लाक की युक्ति में कारणता को नित्य सत्य के रूप में माना गया है। किन्तु लाक के अनुभववाद से यह पुष्ट नहीं होता है, जैसा कि आगे चलकर ह्यूम ने दिखाया है। अन्त में उसकी युक्ति में नित्यता की भी जो अव-धारणा हैं वह असंगत है। नित्यता का कोई विधायक अर्थ नहीं हैं, किंतु उसका यहाँ लाक विधायक अर्थ कर रहा है। इन तमाम दोषों के कारण उसकी युक्ति समीचीन नहीं है।

चाहे युक्ति से ईश्वर का अस्तित्व न सिद्ध हो, किंतु फिर भी लाक ईश्वर को मानता है। वह ईश्वर में विश्वास करता है। किन्तु वह उसके प्रत्यय को अनु-भवजन्य मानता है। अस्तित्व और अवधि, ज्ञान और शक्ति, सुख तथा आनन्द, आदि के प्रत्ययों की अनन्त मात्रा को संपुटित करने से ईश्वर का प्रत्यय बनता है। इस प्रत्यय के अनुरूप वह एक वस्तु के अस्तित्व में या तत्त्व में विश्वास करता है। ईश्वर का प्रत्यय एक वाचसिक तत्त्व है। ईश्वर का अस्तित्व एक वास्तविक तत्त्व है। यह वास्तविक तत्त्व लाक के अनुभववाद के अनुसार अज्ञात और अज्ञेय है। वाचसिक तत्त्व ज्ञात हैं और इस सम्भावना का निराकरण नहीं किया जा सकता है कि इसके अनुरूप वास्तविक तत्त्व हो सकता है। इस प्रकार लाक के अनुभववाद के अनुसार ईश्वर का अस्तित्व केवल सभावना है। इस सम्भावना के स्थान पर उसके अस्तित्व को अनिवार्य मानना लाक का विश्वास है।

वह ईश्वर को सृष्टि का केवल निमित्त-कारण मानता है। इसलिए यद्यपि वह मानता है कि ईश्वर ने भौतिक द्रव्यों और आत्माओं को उत्पन्न किया है तथापि वह इनके उपादान-तत्त्वों को मूल तत्त्व मानता है। इसलिए ईश्वर, आत्माएँ और भौतिक द्रव्य ये तीन मूल तत्त्व हैं। ईश्वर आत्माओं और भौतिक द्रव्यों का केवल गतिदाता है। ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और नियन्ता है। वह समस्त सृष्टि का शासक है। उसी के विधान के अनुसार सृष्टि चल रही है।

ईश्वर के विषय में लाक का दार्शनिक मत ईश्वर-निमित्तकारणवाद (Deism) है। इसका धर्म के क्षेत्र में भी एक अर्थ है जिसके अनुसार धर्म की युक्तिसंगत व्याख्या, नैतिकता को धार्मिक जीवन कहना तथा चमत्कारों और अन्य विश्वासों को न मानना, ईश्वरनिमित्त-कारणवाद है। इस अर्थ में हम ईश्वर-

निमित्त-कारणवाद को तर्कवाद कहेंगे। लाक इस तर्कवाद का जनक कहा जाता हैं। किन्तु वास्तव में इस को लाक से पहले शेरबरी के लार्ड हरबर्ट ने जन्म दिया था। लाक ईसाई धर्म की युक्तिसंगत व्याख्या करने का प्रयास करता है। किन्तु वह धर्म को तर्क के ऊपर रखता है और मानता है कि जहाँ तर्क की गति नहीं है, वहाँ धर्म की गति है। फिर, उसने कुछ अन्धविश्वासों को माना है, जैसे, क्राइस्ट की उत्पत्ति एक कुमारी से हुई है, सृष्टि के अन्त में क्राइस्ट तथा अन्य मृतक पुरुषों के देह कब्र से चेतन होकर उठेंगे। वह चमत्कारों को भी मानता है। अतः उसको धर्म के बारे में युक्तिसंगत दृष्टिकोण रखने वाला या तर्कवादी (Deist) नहीं कहा जा सकता है।

१८ लाक का प्रभाव

फ्रांसीसी दार्शनिक डैलम्बर्ट ने कहा है कि जिस तरह न्यूटन ने भौतिक विज्ञान (Physics) को उत्पन्न किया उसी तरह लाक ने तत्त्वज्ञान (Metaphysics) को उत्पन्न किया। तत्त्वज्ञान से उसका अभिप्राय ज्ञानमीमांसा है। लाक का **निबन्ध** ज्ञान-मीमांसा की पहली गम्भीर पुस्तक है। इस पुस्तक का परवर्ती ज्ञान-मीमांसा पर जितना प्रभाव पड़ा है उतना किसी दूसरी पुस्तक का नहीं। इसने १८वी शती में बर्कले और ह्यम जैसे अंग्रेज दार्शनिकों को और वाल्टेयर, कण्डिलक और हेल्वेटियस जैसे फ्रांसीसी दार्शनिकों को प्रभावित किया। १९वीं और २०वीं शती में भी इसने दर्शन की भाववादी तथा अनुभववादी धाराओं को प्रभावित किया है। वास्तव में लाक ही अनुभववाद का वास्तविक जनक है।

किन्तु लाक का प्रभाव ज्ञानमीमांसा तक ही सीमित नहीं है। मनोविज्ञान, धर्म-शास्त्र, नीतिशास्त्र, शिक्षा-शास्त्र तथा राजनीति पर भी उसका बहुत बड़ा प्रभाव है। वह अंग्रेजी मनोविज्ञान का जनक है। अंग्रेजी मनोविज्ञान में आज तक ज्ञान, भावना तथा इच्छा में से केवल ज्ञान की व्याख्या का प्रधान महत्त्व है। इसको लाक ही ने सर्वप्रथम प्रतिपादित किया था।

प्रत्ययों के सहचर्य का सिद्धांत जिसे ह्यम, हार्टले तथा प्रीस्टले ने प्रस्तावित किया और जिसके आधार पर साहचर्यवादी मनोविज्ञान (Associationist Psychology) का सम्प्रदाय बना, लाक के अनुभववाद से ही निकलता है। इंग्लैंड में लाक का सर्वाधिक प्रभाव है। वहाँ उसके अनुभववाद की अटूट परम्परा चली आ रही है। इस परम्परा ने ज्ञानमीमांसा और मनोविज्ञान के क्षेत्र में अनुभववाद और संवेदनावाद का समर्थन किया है।

धर्मशास्त्र में लाक का प्रभाव तर्कवादी विचारधारा पर है। अनुभववाद के

आधार पर उसने ही सबसे पहले यह दिखाने का प्रयास किया कि ईसाई धर्म तर्कसंगत है। उसके पश्चात १८वीं शती में टोलैण्ड, कालिन्स, टिंडल, वुल्स्टन आदि तर्कवादी हुए जिन्होंने ईसाई धर्म की तर्कसंगत व्याख्या की और इसके अनेक अन्धविश्वासों को दूर किया। इस विचारधारा ने सिद्ध किया कि ईसाई धर्म एक प्राकृतिक धर्म है जो सनातन काल से चला आ रहा है। इस विचारधारा के विरोध में एक दूसरी विचारधारा उठी जिसने सिद्ध किया कि ईसाई धर्म प्राकृतिक धर्म न होकर पैगम्बर-प्रोक्त धर्म है।

नीतिशास्त्र में लाक स्वार्थनिष्ठ सुखवादी हैं। उसका कहना है कि मनुष्य में उचित तथा अनुचित का ज्ञान उसके अनुभव से वैसे ही उत्पन्न होता है जैसे उसका वस्तु-ज्ञान। शेफ्ट्सबरी, हचिसन, ह्यूम और एडम स्मिथ आदि नीतिशास्त्रकारों पर लाक का स्पष्ट प्रभाव दीख पड़ता है।

शिक्षाशास्त्र में लाक का प्रभाव रूसो पर पडा और फिर उसके माध्यम से समस्त संसार पर पड़ा। लाक के मत से शिक्षा का उद्देश्य अनुभव द्वारा सीखना और सुख पाना है। बालक के व्यक्तित्व का विकास प्राकृतिक ढंग से होना चाहिए। व्यक्तिगत शिक्षा, खेल द्वारा सीखना, पदार्थ-पाठ, आदि अनुभववादी प्रणाली के विषयों पर उसने बल दिया।

राजनीतिशास्त्र में लाक जनतंत्रवादी-स्वातंत्र्यवादी है। उसका कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीने का, स्वतंत्रता का तथा सुख पाने का अधिकार है। लाक के इन विचारों का प्रभाव वाल्टेयर और मांटेस्क्यू जैसे फ्रांसीसी दार्शनिकों पर पड़ा और उनके माध्यम से फ्रांसीसी क्रान्ति पर पड़ा। उसके इन विचारों का प्रभाव अमेरिका के संविधान पर पड़ा जो अधिकारों की घोषणा (Declaration of Rights) के नाम से सन् १७८९ में लिखा गया। इंग्लैंड में उसके मत ह्विग पार्टी के पक्ष में थे जिसका प्रभाव १६८८ की राज्यक्रांति पर पड़ा और एक नये संविधान की स्थापना की गई।

दर्शनशास्त्र में लाक का जितना प्रभाव ज्ञानमीमांसा पर पड़ा है उतना तत्त्व-वाद पर नहीं। किंतु तत्त्ववाद पर भी उसका प्रभाव कम नहीं है। आधुनिक दर्शन में वह आलोचनात्मक या समीक्षात्मक वस्तुवाद (Critical Realism) का संस्थापक है। इस मत का प्रचार १९वीं शती के उत्तरार्ध और २०वीं शती के आरम्भ में इंग्लैंड, जर्मनी तथा अमेरिका में विशेष रहा। इसके अनुसार वस्तुएँ जिस रूप में देखी जाती हैं उस रूप में वे यथार्थ नहीं हैं, किन्तु फिर भी उनका अस्तित्व मन से निरपेक्ष है।

लाक ने सरल अंग्रेजी भाषा में तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति, प्रामाणिकता और सीमा का वर्णन किया था। उसने शब्दों के जाल से बचने और उनके अर्थों पर ध्यान देने पर बल दिया था। इस दिशा में उसके विचार आज इंग्लैंड के दर्शन पर बहुत प्रभाव डाल रहे हैं।

लाक के दर्शन में प्रायः असंगतियाँ दिखाई जाती हैं। कहा जाता है कि वह शुद्ध अनुभववादी नहीं है, या वह शुद्ध वस्तुवादी नहीं है, या वह शुद्ध अध्यात्मवादी नहीं है। ये आलोचनाएँ सर्वथा ठीक हैं। किन्तु लाक एक कोरा दार्शनिक सम्प्रदाय उत्पन्न करने वाला विचारक नहीं था। वह प्रत्येक प्रकार के ज्ञान का विश्लेषक था। उसके दर्शन मे अनेक मूल सम्प्रदायों के मूल हैं। यदि सुसंगति किसी महान् दार्शनिक का लक्षण है तो स्पष्ट है कि वह महान् दार्शनिक नहीं है। किन्तु यदि एक नयी दिशा में चिन्तन करना और दूसरों को चिन्तन की ओर अग्रसर करना महान् दार्शनिकों का लक्षण है, तो निःसन्देह लाक एक महान् दार्शनिक है। उसका निजी दर्शन अनुभववाद है जिसकी मुख्य प्रतिज्ञा यह है कि सभी प्रकार का ज्ञान अन्ततः संवेदना तथा अन्तर्दर्शन से उत्पन्न होता है।

अध्याय ६

बर्कले का आदर्शवाद

१ बर्कले का जीवनवृत्त

जार्ज बर्कले आदर्शवादी दार्शनिक है। आधुनिक युग में वह आदर्शवाद या प्रत्ययवाद का जनक है। उसका जन्म आयरलैण्ड में किलकिनी जिले में १२ मार्च १६८५ को हुआ। उसके जन्म-स्थान के बारे में मतभेद है। विभिन्न लोग तीन स्थानों को उसका जन्म-स्थान बताते हैं। लूस ने उनके मतों की छानबीन करके निश्चित किया हैं कि उसका जन्म स्थान किलक्रिन है[१]।

उसका पिता, विलियम बर्कले, अँग्रेज था और इंग्लैण्ड में पैदा हुआ था। किन्तु वह आयरलैण्ड में रहता था। बर्कले की माँ आयरी थी। जार्ज बर्कले अपने माँ-बाप की पहली सन्तान था। उसके ६ भाई और एक बहिन थे।

उसकी शिक्षा किलकेनी स्कूल से आरम्भ हुई। यहीं अँग्रेजी साहित्यकार स्विफ्ट ने थोड़े दिन पहले शिक्षा प्राप्त की थी। मार्च, १७०० में बर्कले ट्रिनिटी कालेज, डबलिन में प्रविष्ट हुआ। यहाँ उसने गणित, तर्कशास्त्र, दर्शन, लंटिन और अँग्रेजी का उच्च ज्ञान प्राप्त किया। यहीं से उसने बी० ए० और एम० ए० की उपाधियाँ लीं। फिर यहीं १७०७ में वह फेलो (अध्यापक) नियुक्त हुआ और आयरलैण्ड के चर्च में १७०९ में डेकन (Deacon) अर्थात् तृतीय कोटि का पादरी और १७१० में प्रीस्ट (Priest) अर्थात् द्वितीय कोटि का पादरी बनाया गया। जब १७२४ में उसे डेरी के डीन का पद मिला तब उसे अध्यापन छोड़ना पड़ा।

ट्रिनिटी कालेज का बौद्धिक वातावरण बहुत अच्छा था। वहाँ डेकार्ट, लाक, हाब्स और न्यूटन के ग्रन्थों का पठन-पाठन होता था। बर्कले ने इनके ग्रन्थों को पढ़ा। फिर उसने फ्रान्सीसी दार्शनिक मैलब्रान्श का भी गम्भीर अनुशीलन किया।

---

१. देखिए, Proceedings of Royal Irish Academy, Dublin. 1943 Vol. XLVIII, Section C, No VII pp. 286-9, Appendix on Berkeley's Birth place by A. C. Luce.

जान टोलैण्ड के द्वारा प्रवर्तित डीज्म (Deism) का भी उसने अध्ययन किया। ईसाई दार्शनिकों का अध्ययन तो उस समय प्रधान पाठ्यक्रम ही था। इस तरह बर्कले को ट्रिनिटी कालेज में प्राचीन, मध्ययुगीन तथा आधुनिक दर्शन का अच्छा ज्ञान प्राप्त करने का अवसर मिला। वह स्वभावतया धार्मिक और ईश्वरवादी ईसाई था। लाक के निबन्ध ने उसको एक चिन्तन-प्रणाली दी और मैलब्रान्श की रचनाओं ने उसको एक दर्शन दिया। इन्हीं दोनों दार्शनिकों से वह बहुत प्रभावित था। लूस ने ठीक ही कहा है कि लाक ने बर्कले को पढ़ाया और मैलब्रान्श ने उसको प्रेरित किया[1]। उसका तात्पर्य है कि बर्कले को लाक से सोचने की एक प्रणाली मिली और मैलब्रान्श से एक दर्शन मिला। लाक की प्रणाली से मैलब्रान्श के दर्शन को स्थापित करना, आनुभविक या प्रत्यक्षमूलक रीति से ईश्वरवाद को सिद्ध करना बर्कले के जीवन का मुख्य कार्य है।

ट्रिनिटी कालेज में उसका अध्यापन-काल दो कालों में बँटा है। १७०७ से १७१३ तक वह जूनियर फेलो रहा और १७२१ से १७२४ तक सीनियर फेलो। १७१३ में वह लन्दन गया और स्विफ्ट, स्टील, एडिसन, ग्रे, पोप प्रायर और आर्बुथनाट से मैत्री की। स्टील की पत्रिका गार्जियन में स्वतन्त्र चिन्तन के विरोध में उसके कुछ लेख गुमनाम प्रकाशित हुए। वह तत्त्वज्ञानी डॉ० क्लार्क से मिला और उससे दार्शनिक विषयों पर वाद-विवाद किया। स्विफ्ट उसको लार्ड बर्कले के पास ले गया। उसने परिचय देते हुए कहा "महाराज! यह आपके वंश का एक नवयुवक है। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि इससे सम्बन्धित होने में आपको ही अधिक गौरव है और आपसे सम्बन्धित होने में इसको कुछ गौरव नहीं है।"

बर्कले प्रतिभाशाली विद्वान् और दार्शनिक था। लन्दन जाने के पूर्व ही उसकी ६ कृतियाँ प्रकाशित हो गई थीं और वह एक प्रसिद्ध दार्शनिक तथा लेखक माना जाने लगा था। १७०७ में उसने अर्थमेटिक और मिसलेनिया मैथमेटिका प्रकाशित कराये। ये दोनों पुस्तकें लैटिन में हैं और गणित की चिन्तन-पद्धति पर प्रकाश डालती हैं। १७०९ में 'दृष्टि का एक नवीन सिद्धान्त' (A New Theory of Vision) नामक उसका मौलिक मनोवैज्ञानिक निबन्ध प्रकाशित हुआ। १७१० में उसकी प्रमुख दार्शनिक कृति 'मानव ज्ञान की सिद्धान्तावली' (Principles of Human Knowledge) प्रकाशित हुई और १७१३ में उसके तीन संलाप (ThreeDialogues) प्रकाशित हुए जो उसके दर्शन का सामान्य भाषा में वर्णन करते हैं।

---

१. Berkeley and Malebranch by A. C. Luce पृ० 7

इनके अतिरिक्त १७१२ में उसने **'निष्क्रिय आज्ञापालन'** (Passive Obedience) नामक एक ग्रंथ प्रकाशित किया था। इन ६ ग्रंथों के अतिरिक्त उसने **दो और** पुस्तकें लिखी थीं जो प्रकाशित न हो पाई थीं। इनमें से एक पुस्तक को प्रोफेसर फ्रेजर ने १८७१ में **साधारण ग्रन्थ** (Commonplace Book) नाम शीर्षक से प्रकाशित किया। इस पुस्तक में बर्कले ने दार्शनिक विषयों पर अपनी टिप्पणियाँ लिखी हैं। बीसवीं शती में इस पुस्तक का अध्ययन गंभीरता से किया गया और इसमें बर्कले के दर्शन के मूल बीज देखे गये। थिओडोर लारेन्ज, डा० जानस्टन, प्रोफेसर लूस और डा० आरान ने इसके मूल पाठ और उसके क्रम को निश्चित करने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। प्रोफेसर लूस ने इसका नाम **साधारण ग्रन्थ** न रखकर **दार्शनिक टिप्पणियाँ** (Philosophical Commentaries) रखा है। कहना नहीं होगा कि प्रोफेसर लूस का सुझाव अधिक उचित है। स्वयं बर्कले ने इस पुस्तक का कोई नाम नहीं रखा था। किसी अच्छे शीर्षक के अभाव में फ्रेजर ने इसका नाम **साधरण ग्रंथ** रख दिया था। किन्तु यह नाम इस पुस्तक का भ्रामक परिचय देता है, जैसा कि लारेन्ज ने दिखाया है। वह वास्तव में दो नोटबुक के रूप में थी और बर्कले इन दोनों में अपने दार्शनिक विचारों को बचपन से ही नोट करता जाता था। इस कारण इन दोनों नोटबुकों के सम्मिलित प्रकाशन को **दार्शनिक टिप्पणियाँ** नाम देना अधिक न्याय-संगत है।

दूसरी अप्रकाशित पुस्तक **अनन्तता पर एक निबन्ध** (Of Infinites) थी। इसको प्रोफेसर स्विफ्ट पी० जानस्टन ने खोजा और १९०० में प्रकाशित किया।

इन ६ प्रकाशित पुस्तकों और २ अप्रकाशित पुस्तकों में बर्कले के मूल दर्शन का सुन्दर व्याख्यान हुआ है। इनमें से तीन, **दृष्टि का एक नवीन सिद्धान्त**, **मानव ज्ञान की सिद्धान्तावली** और **तीन संलाप** उसके दर्शन के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं[1]।

इस तरह ३० वर्ष की उम्र के पहले ही बर्कले का दर्शन निर्मित हो चुका था। उसकी तर्कणा, शैली और भाषा की पर्याप्त ख्याति हो चली थी। अँग्रेजी भाषा के साहित्यकारों में उसका स्थान निश्चित हो चला था। यही कारण है कि जब वह लन्दन गया तब तुरन्त ही वह वहाँ के साहित्यकारों का सर्वप्रिय आकर्षण-केन्द्र हो गया।

लन्दन में वह कुछ माह रहकर लार्ड पीटरबारो के साथ फ्रान्स और इटली गया। करीब १० माह तक वह देशाटन करता रहा। वहाँ से लौटकर दो वर्ष तक

१. हिन्दी में बर्कले की कृतियों का अनुवाद संगमलाल पाण्डेय ने **बर्कले संग्रह** में किया है। भगवान बख्श सिंह ने उसकी **सिद्धान्तावली** का अनुवाद किया है जिसे हिन्दी समिति उत्तर प्रदेश लखनऊ ने छापा है।

वह पुनः लन्दन में रहा और १७१६ में उसे फिर इटली जाने का अवसर मिला। इस बार के देशाटन में उसका एक ग्रन्थ गायब हो गया जो नीतिशास्त्र पर था और जिसे उसने इस प्रवासकाल में लिखा था। करीब ५ साल तक वह योरोप का भ्रमण करता रहा। १७२१ में वह लन्दन वापिस आया और उसी साल 'गति' नामक निबन्ध (De Motu) उसने लैटिन में प्रकाशित किया। एक साल लन्दन रहकर वह डबलिन वापिस गया। यहाँ उसका भव्य स्वागत हुआ और डाक्टर आव डिवनिटी (धर्मशास्त्र का आचार्य) की उपाधि उसको प्रदान की गई।

अब बर्कले डीन के पद को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हुआ। इसी समय १७२४ में उसे डेरी के डीन का पद मिला। इससे उसको ११०० पौंड का वार्षिक वेतन मिलता था। किन्तु इस कार्य से उसे संतोष न था। वह राजाज्ञा प्राप्त करके बरमूडा में एक विश्वविद्यालय स्थापित करना चाहता था। उसकी इस बरमूडा-योजना के लिए ब्रिटेन की संसद ने २०,००० हजार पौंड का अनुदान देने की प्रतिज्ञा की।

उसने इसके लिए व्यक्तिगत चन्दा करके ५००० पौंड एकत्रित किया।

बरमूडा उत्तरी अमरीका में है। उस समय इंग्लैंड और योरोप के लोग वहाँ बस रहे थे। बर्कले ने देखा कि उसके दर्शन के लिए नवीन संसार प्राचीन संसार से अधिक उपयोगी है। प्राचीन संसार में अनेक परम्पराएँ और कुरीतियाँ हैं जिनके कारण लोग सत्य का दर्शन नहीं कर पाते हैं। नवीन संसार में इनका अभाव है। इसलिए बर्कले ने सोचा कि वह वहाँ अपने दर्शन के अनुकूल एक मानव-समाज का निर्माण करेगा। इसी इच्छा से वह अनुदान पाने में विलम्ब देखकर जल्दी १७२८ में बरमूडा के लिए रवाना हुआ। उसके साथ उसकी पत्नी, एन्नी फार्स्टर, भी गयी। एक माह पूर्व ही उन दोनों का विवाह हुआ था।

अमेरिका में बर्कले रोड द्वीप में न्यूपोर्ट के पास बस गया। उसने वहाँ एक मकान बनाया। वह प्रायः एकान्त में रहता था। उसकी ख्याति चारों ओर होने लगी। अमरीकी दार्शनिक सैम्युअल जान्सन उसका पूर्ण शिष्य बन गया। अपनी बरमूडा-योजना में बर्कले ने थोड़ा परिवर्तन किया। उसने अब रोड द्वीप में अपना विश्वविद्यालय बनाना चाहा। उसने अनुदान के लिए प्रार्थना-पत्र भेजा। किन्तु ब्रिटेन की संसद ने उसे अनुदान नहीं दिया। फलतः तीन साल तक प्रतीक्षा करते-करते बर्कले निराश हो गया और १७३१ में अन्त में इंग्लैंड वापिस गया। उसके स्वास्थ्य पर इस निराशा का दुष्प्रभाव पड़ा। उसके कुछ बच्चे मर गये और उसकी पत्नी को कई बार गर्भपात हुआ।

यद्यपि बर्कले की बरमूडा-योजना असफल हुई, तथापि उसने अमेरिका के बारे में जो भविष्यवाणी की थी वह चरितार्थ हुई। उसकी एक कविता है जिसका

शीर्षक है **'अमेरिका में कला और विद्या के रोपण की सम्भावना'** (On the Prospect of Planting Arts and Learning in America) । इसमें उसने कहा है कि विद्या-देवी योरोप से रूठकर अमेरिका में बस रही हैं और अमेरिका काल की अन्तिम तथा सर्वश्रेष्ठ सन्तान है । योरोप के पतन और अमेरिका के विश्वनेतृत्व की बर्कले ने जो कल्पना की थी वह आज यथार्थ हो गई है ।

१७३४ में बर्कले अपने मित्रों और प्रशंसकों के प्रयत्न के फलस्वरूप क्लोयन का बिशप बना । बिशप का पद प्रथम कोटि के पादरी का है । अपने क्षेत्र की जनता की गरीबी को देखकर वह प्रभावित हुआ । उनकी गरीबी को दूर करने के लिए उसने एक योजना बनाई जो **प्रश्नकर्त्ता** (Querist) के शीर्षक से एक परिपत्र के रूप में छपी । इसी बीच उसने कोलतार-जल के द्वारा चिकित्सा करना आरम्भ किया । उसका विचार था कि इस जल से सभी रोग दूर किये जा सकते हैं । अपने दार्शनिक और चिकित्सा-सम्बन्धी विचारों को उसने **एक शृङ्खला** (Siris) नामक ग्रन्थ में १७४४ में प्रकाशित किया । इस पुस्तक का बड़ा प्रचार हुआ । इसके दर्शन को कोलतार-जल का दर्शन (Tar Water Philosophy) कहा जाने लगा । १७२४ में उसने **'कोलतार-जल के ऊपर और विचार'** नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया ।

'एक शृङ्खला' के पूर्व बर्कले की पाँच और दार्शनिक कृतियाँ प्रकाशित हुई थीं **अलिसफ्रोन या सूक्ष्मदार्शनिक** १७३२ में, **दृष्टि का सिद्धान्त या दृष्टि-भाषा की सिद्धि** १७३३ में, **विश्लेषण या नास्तिक गणितज्ञों को सम्बोधित करके दिया गया व्याख्यान** १७३४ में, **गणित में स्वतन्त्र चिन्तन के पक्ष में** १७३४ में और **प्रश्नकर्त्ता** (Querist)१७३४, १७३६ और १७७३ में ।

१७४५ में बर्कले को क्लोघर के बिशप का पद प्रदान किया गया । आर्थिक दृष्टि से यह पद क्लोयन के बिशप से अधिक लाभकारी था । किन्तु बर्कले ने इसे अस्वीकार कर दिया । डबलिन विश्वविद्यालय के कुलपति के लिए भी उसके नाम का विचार हो रहा था । किन्तु उसको भी लेना उसने उचित न समझा । १७५१ में उसका सर्वप्रिय पुत्र विलियम १५ वर्ष की आयु में मर गया । इससे वह अत्यन्त दुखी हुआ । उसके अब तीन लड़के और एक लड़की रह गये । १७५२ में उसने अपने पद से अवकाश लेने के लिए आवेदन-पत्र दिया । किन्तु ब्रिटेन के राजा ने उसके आवेदन-पत्र को खारिज कर दिया और कहा कि वह मृत्यु-पर्यन्त बिशप रहेगा । शीघ्र ही बर्कले सपरिवार आक्सफोर्ड में रहने लगा । आक्सफोर्ड अवकाश-प्राप्त विद्वानों का निवास स्थान है ठीक वैसे ही जैसे कभी काशी या वाराणसी अवकाश-प्राप्त भारतीय विद्वानों के लिए निवास-स्थान थी । आक्सफोर्ड में १४ जनवरी सन् १७४२

को बर्कले का देहावसान हो गया। ६ दिन बाद क्राइस्ट चर्च कैथिड्रेल में उसको दफनाया गया। उसका मृत देह ६ दिन तक रखा रहा। ऐसा उसकी इच्छानुसार किया गया था। उसने मरने के पूर्व अपनी इच्छा व्यक्त की थी कि जब तक उसके शव से दुर्गन्ध न निकलने लगे तब तक मरने के ४ दिन तक उसको न दफनाया जाय। स्पष्ट है कि उसने यह सम्भावना की थी कि लोग उसको जीवित दफना सकते हैं या उसने सोचा था कि शव से दुर्गन्ध निकलना या शव का गलना ही वास्तव में मृत्यु का सूचक है और इसके अतिरिक्त कोई अन्य बात मृत्यु का सूचक नहीं है।

बर्कले विद्वान्, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, साहित्यकार, दरबारी, यात्री या यायावर, शिक्षक, ईसाई, नैयायिक, बिशप, गणितज्ञ अर्थशास्त्री और चिकित्सक था। बिशप एटरबरी ने उसके बारे में कहा है—"जब तक मैंने इस सज्जन को (बर्कले को) नहीं देखा था तब तक मैं समझता था कि इतनी अधिक मेधा, इतना अधिक ज्ञान, इतनी अधिक निर्दोषिता और इतनी अधिक नम्रता देवताओं को छोड़कर किसी मानव के भाग्य में नहीं है।" निःसंदेह यह युक्ति बर्कले के बारे में अतिशयोक्ति नहीं है। वह अपने समय का सबसे बड़ा विद्वान और सबसे योग्य मानव था। जोनाथन स्विफ्ट ने लिखा है कि "धन-दौलत, उपाधि और शक्ति (राजनीतिज्ञ सत्ता) के बारे में वह पूर्ण दार्शनिक था।"

२ बर्कले का मानसिक विकास

बर्कले की रचनाएँ उसके मानसिक विकास की तीन अवस्थाओं को प्रकट करती हैं? पहली अवस्था १७०४ से १७१३ तक की है। इस समय बर्कले ट्रिनिटी कालेज डबलिन में था और उसकी जो विचारधारा बनी थी उसकी अभिव्यक्ति **मानव ज्ञान की सिद्धान्तावली** तथा **तीन संलाप** में हुई थी। दूसरी अवस्था १७१३ से १७३१ तक की है। इस समय बर्कले प्रायः आयरलैंड के बाहर इंग्लैंड, फ़्रांस, इटली और अमेरिका में था। इस समय की प्रमुख दार्शनिक रचना **अल्सिफ्रोन या सूक्ष्म दार्शनिक** और **दृष्टि-सिद्धान्त** या **दृष्टि-भाषा की सिद्धि** है। तीसरी अवस्था १७१४ से १७५४ तक की है। इस समय बर्कले आयरलैंड और इंग्लैंड में था और शान्तचित होकर एक ओर दार्शनिक चिन्तन करता था तो दूसरी ओर कोलतार-जल से सभी रोगों का निदान करता था। इस समय की प्रमुख रचना **एक शृंखला** है।

इन तीनों अवस्थाओं में बर्कले के तीन प्रमुख दृष्टिकोण हैं। पहली अवस्था में उसका प्रमुख दृष्टिकोण आत्मनिष्ठ प्रत्ययवाद (Subjective Idealism)

या केवलाहंवाद (Solipsism) है। इसके अनुसार केवल मैं और मेरे अन्दर प्रत्यय सत्य हैं और अन्य सभी वस्तुएँ असत् हैं। दूसरी अवस्था में उसका प्रमुख दृष्टिकोण ईश्वरमूलक गोचरवाद (Theocentric Phenomcnalism) है। इसके अनुसार सभी वस्तुएँ ईश्वर में हैं और उसके प्रत्यय हैं। इस अवस्था में बर्कले लोकमत तथा डेकार्ट के आत्मवाद का अधिक व्याख्यान करता है। तीसरी अवस्था में उसका दृष्टिकोण परात्परवाद (Panentheism) है जिसके अनुसार ईश्वर जगत् में अन्तर्यामी होते हुए भी जगत् से परे हैं। दूसरी अवस्था में बर्कले बौद्धिक रहता है और तीसरी अवस्था में रहस्यवादी हो जाता है।

पहली अवस्था में बर्कले लाक के प्रभाव में है और उसकी आनुभविक प्रणाली के अनुसार ज्ञान का विश्लेषण करता है। इस अवस्था में वह समस्त ज्ञान को इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से उत्पन्न मानता है। किंतु दूसरी अवस्था में वह दो प्रकार के ज्ञान में विश्वास करता है—एक प्रत्यक्षजन्य ज्ञान या प्रत्यय (Idea) और दूसरा अनुत्पन्न ज्ञान या बोध (Notion)। प्रत्यय और बोध को वह इस अवस्था में परस्पर सम्बन्धित नहीं दिखाता है। किंतु तीसरी अवस्था में वह इन दोनों के सम्बन्ध पर बल देता है और मानता है कि दोनों के साहचर्य से ही कोई ज्ञान हो सकता है। इस तरह बर्कले के दर्शन के विकास की अवस्थाएँ बताती हैं कि वह प्रत्ययवाद से समीक्षात्मक बुद्धिवाद की ओर बढ़ा है। उसकी अन्तिम अवस्था का स्पष्ट रूप कांट की रचनाओं में खिला है।

फ्रेजर ने दिखाया है कि बर्कले के दर्शन की इन अवस्थाओं को उसके बाद होने वाले योरोपीय दर्शन की तीन अवस्थाओं का रिहर्सल माना जा सकता है[1]। ह्यूम और जान स्टुअर्ट मिल पहली अवस्था के प्रशंसक और उन्नायक है। रीड और हैमिल्टन दूसरी अवस्था को विकसित करने वाले दार्शनिक हैं। कांट तथा हेगल तीसरी अवस्था के उत्तराधिकारी और उन्नायक हैं। इससे बर्कले के प्रभाव को आँका जा सकता है।

किन्तु इन तीन अवस्थाओं के कारण बर्कले का दर्शन त्रिविध नहीं हो गया है। प्रत्येक अवस्था में केवल किसी दृष्टिकोण की प्रमुखता है। ईश्वरवाद, अभौतिकवाद और प्रत्ययवाद प्रत्येक अवस्था में बर्कले को मान्य हैं। ये तीन सिद्धान्त उसके समस्त दार्शनिक विचारों को सूत्रबद्ध करते हैं। इसलिए बर्कले का दर्शन एक ही है। किन्तु इतना होते हुए भी उसके प्रतिपादन की शैली तीनों अवस्थाओं में विभिन्न है। वह कम से कम दो प्रणालियों का उपयोग करता है। यद्यपि वे प्रणालियाँ परस्पर अन्योन्याश्रित

---

१. Berkeley, A. C. Frazer पृ० २-७।

हैं, तथापि आरम्भ में एक पर बल है और अन्त में दूसरी पर। पहली प्रणाली अनुभवमूलक प्रणाली (Empirical method) है और दूसरी बोधमय प्रणाली (Notional method) है।

३ अनुभवमूलक प्रणाली

बर्कले लाक की अनुभवमूलक प्रणाली को स्वीकार करता है। उसकी प्रणाली अनुभव का परीक्षण है। अनुभव का अर्थ प्रत्यक्ष तथा अन्तर्दर्शन है। बर्कले कहता है—"अपनी बुद्धि से पूछो।" वह जब किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है तब उसके प्रतिपादन का आधार उसका अनुभव होता है। फिर उसका अनुभव कोई ऐसा विचित्र अनुभव नहीं है जो केवल उसी को होता है। अपने लिए वह कहता है "इससे बढ़कर और कुछ अपेक्षित नहीं है कि मैं अपनी बुद्धि में जो घटित हो रहा है उसे ध्यानपूर्वक देखूं[१]।" दूसरों के लिए वह कहता है, "हमारी समझ में ऐसा करना किसी के लिए कठिन नहीं है। किसी के लिए अपने ही विचारों को थोड़ा देखने से आसान और क्या हो सकता है[२]।" थोड़ा ध्यान देने पर सबको इस बात की सत्यता और प्रामाणिकता विदित हो जायगी[३]।"

इस प्रकार अन्तर्दर्शन करना, अपने निरीक्षण तथा अन्तर्दर्शन का परीक्षण करना बर्कले की चिन्तन-प्रणाली है। जब वह कोई बात कहता है तो उसके आधार के रूप में वह कहता है कि ऐसा "अपने ही विचारों के थोड़े परीक्षण से प्रतीत होता है[४]।" या ऐसा "मैं अनुभव करता हूँ[५]।"

अनुभव से जो उत्पन्न होता है उसे बर्कले लाक की ही भाँति प्रत्यय कहता है। लाक ने अनुभवमूलक प्रणाली के आधार पर ही आजानिक प्रत्ययों (Innate Ideas) का खण्डन किया। बर्कले लाक के इस खण्डन का स्वागत करता है। किंतु वह खण्डन की इस प्रक्रिया को और भी आगे बढ़ाता है। वह कहता है कि लाक ने अनुभवमूलक प्रणाली का पूर्ण निर्वाह नहीं किया, अन्यथा वह अमूर्त प्रत्ययों और भौतिक द्रव्यों को न मानता। वह दिखाता है कि अमूर्त प्रत्यय वास्तव में प्रत्यय नहीं हैं और भौतिक द्रव्य का अस्तित्व नहीं है क्योंकि अमूर्त प्रत्यय और भौतिक द्रव्य का

---

१. बर्कले-संग्रह, संगमलाल पाण्डेय, पृ० २५।

२. वही पृ० १७।

३. वही पृ० ४५।

४. वही पृ० ४५।

५. वही पृ० ४[illegible]।

प्रत्यय हमारे अनुभव में नहीं हैं । इस दृष्टि से बर्कले ने लाक की प्रणाली का परिवर्धन किया और उसकी प्रणाली लाक की प्रणाली से अधिक युक्तिसंगत तथा समीचीन है ।

बर्कले लाक के आलोचक जान सर्जेन्ट की पुस्तक **ठोस दर्शन** (Solid Philosophy) से परिचित ही नहीं वरन् प्रभावित भी था । जान सर्जेन्ट ने लाक की प्रत्यय-प्रणाली की आलोचना की है । लाक ने प्रत्ययों को मन तथा वस्तु के मध्यवर्ती माना है । उसके अनुसार हम वस्तु को साक्षात् नहीं वल्कि उसके प्रत्यय के माध्यम से जानते हैं । इस तरह लाक के मत में प्रत्यय वस्तुओं के प्रतिबिम्ब या प्रतिनिधि हैं । इस मत की आलोचना में जान सर्जेन्ट ने कहा कि इसमें अनवस्था दोष (Infinite Regress) है । देखिए, हम किसी वस्तु को केवल प्रत्यय के माध्यम से जानते हैं । मान लीजिए हम किसी वस्तु को जानते हैं । स्पष्ट है कि इसे हम उसके प्रत्यय प के माध्यम से जानते हैं । अब प्रश्न है कि हम प को कैसे जानते हैं ? उसको हम उसके प्रत्यय प १ के माध्यम से जानते हैं । इसी तरह प १ को प २ से और प २ को प ३ से और प ३ को प ४ से जानते हुए हमें प ५, प ६, प ७ आदि अनन्त प्रत्ययों की आवश्यकता है । जब तक हम इन अनन्त प्रत्ययों को न जान लें तब तक हम प और मन के सम्बन्ध को नहीं जान सकते हैं और इस सम्बन्ध को न जानने के कारण हम वस्तु और प के सम्बन्ध को नहीं जान सकते हैं । किन्तु इन अनन्त प्रत्ययों को जान लेना असम्भव है । अतः यदि प्रत्यय के माध्यम से ही प्रत्येक प्रकार का ज्ञान होता है तो वह ज्ञान तर्कतः अनवस्था दोष से ग्रस्त है । इस दोष को दूर करने के लिए यह मानना आवश्यक है कि किसी वस्तु का ज्ञान उसके प्रत्यय के माध्यम से नहीं, वरन् साक्षात् होता है । ऐसा मानने पर किसी वस्तु और उसके प्रत्यय का भेद मिट जाता है और वह वस्तु तथा उसका प्रत्यय एकार्थक हो जाते हैं । जो दृश्य या दृष्ट है वही प्रत्यय है । वस्तु दृष्ट है । इसलिए वस्तु ही प्रत्यय है । वस्तु और प्रत्यय में भेद नहीं किन्तु अभेद है ।

बर्कले लाक के इस सिद्धान्त को मानता है कि ज्ञान का आरम्भ प्रत्ययों से होता है । किन्तु वह लाक के इस मत को नहीं मानता कि प्रत्ययों के अतिरिक्त भी कुछ वस्तुएँ हैं । अनुभवमूलक प्रणाली के आधार पर उसका कहना है यदि हम जो कुछ अनुभव करते हैं वह प्रत्यय के अन्दर है तो फिर प्रत्ययों के अतिरिक्त किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है । अतः लाक का यह कहना कि प्रत्यय वस्तुओं के प्रतिबिम्ब हैं, गलत हैं क्योंकि जब तक हम वस्तुओं को न जानें तब तक हम उनको प्रत्ययों का मूल या बिम्ब नहीं कह सकते और यदि हम उनको जानते हैं तो फिर वे स्वयं प्रत्यय हैं क्योंकि वे ज्ञान के विषय हैं । इस तरह प्रत्यय और वस्तु में भेद दिखाना हास्यास्पद है । लाक दृष्ट प्रत्ययों के अतिरिक्त भौतिक द्रव्य को भी मानता है जो अदृष्ट

है । इसलिए वह सुसंगत अनुभववादी नहीं है । बर्कले दृष्ट प्रत्ययों के अतिरिक्त किसी वस्तु को नहीं मानता है । अतः वह लाक से अधिक सुसंगत अनुभववादी है । वह लाक के इस सिद्धान्त का पूर्ण समर्थन करता है कि समस्त ज्ञान केवल प्रत्ययों के बारे में होता है । किन्तु लाक स्वयं इस सिद्धान्त की अवहेलना करता है और ऐसी वस्तुओं को भी मानता है जिनका प्रत्यय नहीं हो सकता ।

जहाँ लाक प्रत्यय का अर्थ वस्तु से भिन्न करता है वहाँ बर्कले उसका अर्थ वस्तु से अभिन्न करता है । ज्ञानमीमांसा में लाक का मत द्वैतवादी और बर्कले का मत अद्वैतवादी कहा जाता है । लाक वस्तु और प्रत्यय के द्वैत को मानता है और बर्कले उनके अभेद या अद्वैत को । कहना नहीं होगा कि लाक की स्थिति असंगत है और बर्कले की स्थिति सुसंगत है ।

बर्कले की अद्वैतवादी ज्ञानमीमांसा में प्रत्यय प्रतिबिम्ब या प्रतिनिधि नहीं हैं । प्रत्यय ही साक्षात् प्रत्यक्ष के विषय है । बर्कले का यह सिद्धान्त उपलब्धिमूलक प्रत्यक्ष का सिद्धांत (Theory of Presentative Perception) कहा जाता है । प्रत्यक्ष का विषय मन में साक्षात् उपलब्ध होता है, न कि किसी प्रत्यय के द्वारा मन में उसका प्रतिनिधित्व होता है ।

सभी प्रत्यय दृश्य हैं और इस कारण अनिवार्यतः द्रष्टा से सम्बन्धित हैं । बर्कले प्रत्यय और मन या दृश्य और दृष्टा के सम्बन्ध पर गम्भीरता से विचार करता हैं । लाक ने इस सम्बन्ध की उपेक्षा की थी । बर्कले का कहना है कि द्रष्टा के होने पर ही दृश्य सम्भव है और इसलिए दृश्य द्रष्टा या मन के अन्तर्गत है ।[१] बर्कले का यह सिद्धांत प्रत्ययवाद या विज्ञानवाद है ।

फिर प्रत्यय विशेष हैं । बर्कले कहता है कि प्रत्यय से मेरा अभिप्राय किसी संवेद्य या कल्पनीय वस्तु से है[२] । **सिद्धान्तावली** में वह कहता है "जो भी मानवज्ञान के विषय का सर्वेक्षण करेगा उसे स्पष्टतया विदित होगा कि वे (क) या तो इन्द्रियों के वस्तुतः संम्पृक्त प्रत्यय हैं और (ख) या तो मन के भावों और व्यापारों को ध्यान देने से दृष्ट प्रत्यय और (ग) या तो अन्ततः ऐसे प्रत्यय हैं जो उपर्युक्त प्रकार से मूलतः दृष्ट प्रत्ययों को स्मृति और कल्पना के द्वारा प्रतिबिम्बित करने, विभाजित करने और मिश्रित करने से उत्पन्न होते हैं । दृष्टि के द्वारा मुझे प्रकाश और वर्ण के प्रत्यय तथा उनके विविध भेद और रूप मिलते हैं । स्पर्श के द्वारा मैं कठोर और कोमल, उष्णता और शीतलता, गति तथा अवरोध का प्रत्यक्ष करता हूँ । और जहाँ तक

---

१. देखिए दार्शनिक टिप्पणियाँ ।

२. दार्शनिक टिप्पणियाँ, १४७ ।

ात्रा (Magnitude) का प्रश्न है इनकी न्यूनता तथा अधिकता दोनों का अनुभव
रता हूँ । मुझे सूंघने से महकें मिलती हैं तो चखने से रस और सुनने से मन को
वर तथा लय की समस्त विविधताओं के साथ ध्वनियाँ प्राप्त होती हैं[१] ।"

स्पष्ट है कि बर्कले प्रत्यय का प्रयोग तीन अर्थों में करता है । पहला अर्थ है
जो किसी इन्द्रिय से साक्षात् प्रत्यक्ष होता है । इस अर्थ में वर्ण, प्रकाश, रस, गति,
शीतलता, गन्ध, ध्वनि आदि प्रत्यय हैं। इन्हें सवेद या इन्द्रिय-प्रदत्त (Sensedata)
कहा जाता है । फिर प्रत्यय का दूसरा अर्थ वह है जो अन्तर्दर्शन का विषय है ।
सवेद बाह्य प्रत्यय के विषय हैं । मानसिक भाव और व्यापार अन्तर्दर्शन के विषय
हैं और इस कारण वे भी प्रत्यक्ष हैं । उनको भी बर्कले प्रत्यय कहता है । इन्हें
हम अन्तर्दर्शन-प्रदत्त कह सकते हैं । फिर अन्त मे इन्द्रिय-प्रदत्त तथा अन्तर्दर्शन-
प्रदत्त के मिश्रण से जो स्मृति या कल्पना की जाती है वह भी प्रत्यय है । वह स्मृत
या कल्पित प्रत्यय है ।

इन तीनों अर्थों के अतिरिक्त बर्कले एक चौथे अर्थ मे भी प्रत्यय शब्द का
प्रयोग करता है । वह प्रत्ययो के संघात को भी प्रत्यय कहता है। यह संघात सामान्यतः
वस्तु है । उदाहरण के लिए सेव विशेष वर्ण, रस, गन्ध और आकार का सघात है ।
यह एक प्रत्ययपुँज है । इसी प्रकार पत्थर, पड़, पुस्तक आदि प्रत्ययपुँज है । बर्कले इन
प्रत्ययपुँजो को भी प्रत्यय कहता है । हम इन्हें वस्तु-प्रत्यय कह सकते हैं और इनक
घटको को गुण-प्रत्यय ।

वस्तुओं को बर्कले प्रत्यय क्यों कहता है ? इसके उत्तर में वह कहता है—"ऐसा
मैं दो हेतुओं से कहता हूं । पहला, क्योंकि वस्तु-पद प्रत्यय पद के विरोध में सामा-
न्यतया उस वस्तु को संकेतित करता है जो मन के बाहर अस्तित्व रखती हैं। दूसरा,
क्योंकि प्रत्यय की अपेक्षा वस्तु का अर्थ व्यापक है और इसके अन्तर्गत आत्मा या
चित् वस्तु या प्रत्यय दोनों आ जाते हैं । इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के विपय मात्र मन मे
हैं और अद्रष्टा तथा अकर्ता हैं । मैं उनको प्रत्यय शब्द से सम्बोधित इसलिए करता
हूँ कि इससे उन लक्षणों का तात्पर्य निकलता है[२] ।

वास्तव में बर्कले वस्तु और प्रत्यय इन दो शब्दो पर विवाद नहीं कर रहा
है। वह इनके अर्थ-बोध पर बल दे रहा है । उसका कहना है कि यदि वस्तु का अथ
किया जाय तो ज्ञात होगा कि वह प्रत्यय है । साधारणजन मानते हैं कि "जिन

१. बर्कले संगह, पृ० २८ ।
२. वही पृ० ५६ ।

वस्तुओं को वे साक्षात प्रत्यक्ष करते हैं वे वास्तविक वस्तुएँ हैं। फिर दार्शनिक गण कहते हैं कि 'साक्षात् प्रत्यक्ष की गई वस्तुएँ प्रत्यय हैं'[1]।" इन दोनों मतों को मिला देने से ही बर्कले का मत बनता है।

बर्कले ने प्रत्यय का गम्भीर अर्थ किया। वह प्रत्यय को अनिवार्यतः 'दृश्य' मानता है। प्रत्यय का अस्तित्व ही दृश्यता है। इस तथ्य को उसने, सत्ता दृश्यता है, (Esse is percipi) इस सूत्र में व्यक्त किया।

यद्यपि बर्कले लाक की ही अनुभवमूलक प्रणाली को अपनाता है तथापि वह उससे आगे बढ़ता है। वह उस प्रणाली के मूलाधार को पकड़ता है और उससे समस्त ज्ञान-विज्ञान की जड़ खोजता है। लाक के प्रति उसकी आपत्ति है कि लाक शब्दों के फेर में पड़ गया और प्रत्ययों का अर्थ न कर सका। यदि लाक प्रत्ययों का अर्थ करता और शब्दों के फेर में न पड़ता तो वह अमूर्त प्रत्ययों को न मानता। प्रत्यय का अर्थ करने पर अत्यन्त स्पष्ट हो जाता हैं कि समस्त प्रत्यय मूर्त हैं, कोई प्रत्यय अमूर्त नहीं हो सकता। प्रत्येक शब्द या नाम का अभिप्राय एक प्रत्यय है, यह मानना भ्रामक विश्वास है। इस अन्धविश्वास में ही पड़कर लोग अमूर्त प्रत्ययों की कल्पना करते हैं। "जो जानता है कि नाम सदा प्रत्ययों के लिए नहीं प्रयुक्त होते, वह जहाँ प्रत्यय नहीं हैं वहाँ प्रत्ययों को ढूँढ़ने के श्रम से बचा रहता है। अतः यह अपेक्षित है कि प्रत्येक मनुष्य अपने विचार योग्य प्रत्ययों की स्पष्ट धारणा करने के लिए भगीरथ-प्रयत्न करें और उन्हें उन शब्दों के संभार और वेषभूषा से पृथक करे जो चिन्तन को अन्धा करते हैं और ध्यान को बाँट देते हैं। व्यर्थ ही हम आकाश और पाताल तक अपनी दृष्टि दौड़ाते हैं, व्यर्थ ही हम विद्वान् लोगों की कृतियों का पर्यवेक्षण करते हैं और प्राचीन युग की अन्धकारमय लीक को खोजते हैं। हमें उस सुन्दर ज्ञान-वृक्ष को देखने के लिए जिसका फल मधुर है और जो हमारी पहुँच के अन्दर है, केवल शब्दों के पर्दे को उठाना है[2]।" इस प्रकार बर्कले प्रत्ययों के दर्शन पर बल देता है और कहता है कि इस दर्शन को प्राप्त करने के लिए शब्द-जाल से बचना चाहिए।

प्रत्ययों का अर्थ कैसे किया जाय ? इसके उत्तर में बर्कले सभी को अपने अनुभव का परीक्षण करने को कहेगा। अनुभव के परीक्षण से ही प्रत्ययों का अर्थ निश्चित होता है। अनुभव का अर्थ प्रत्यय प्राप्त करना है। प्रत्यय विषय हैं। उनके आधार पर ही कोई कथन किया जा सकता हैं।

---

१. वही पृ० १५६।
२. वही पृ० २६।

लाक की प्रणाली सामान्यतः ज्ञान का उद्गम और विकास दिखाती है। बर्कले उसको तत्त्वदर्शन का आधार बनाता है। लाक के लिए अनुभवमूलक प्रणाली केवल मनोवैज्ञानिक है। बर्कले के हाथ में वह तत्त्वदार्शनिक प्रणाली हो जाती है। बर्कले ज्ञान के उद्गम और विकास में रुचि नहीं लेता है। वह लाक की पद्धति से तत्त्वचिन्तन करता है। इसी प्रणाली से उसने अमूर्त प्रत्ययों का खंडन, प्राथमिक गुणों तथा द्वितीयक गुणों के भेद का खंडन तथा प्रत्ययवाद का प्रतिपादन किया। इन सिद्धान्तों का विवेचन हम उसकी दूसरी प्रणाली को समझने के बाद करेंगे।

४ बोधमय प्रणाली

अनुभवमूलक प्रणाली के अनुसार समस्त ज्ञान प्रत्ययों के बारे में होता है और वह प्रत्ययमय है। ज्ञान प्रत्ययमय है, इसका अर्थ है कि ज्ञान प्रत्ययों से बना है। प्रत्यय दृश्य विषय हैं। अतः प्रत्ययमय ज्ञान विषय-ज्ञान है। ज्ञान विषयगत है। इस प्रणाली के आधार पर ज्ञान आत्मगत नहीं हो सकता है क्योंकि आत्मा का प्रत्यय नहीं हो सकता है। आत्मा दृश्य नहीं है। तब क्या आत्मा का ज्ञान नहीं होता है? या क्या आत्मा का ज्ञान विषय-ज्ञान है?

आरम्भ में बर्कले अनुभवमूलक प्रणाली के प्रभाव में अधिक था। इस अवस्था में कभी वह कहता है कि आत्मा का प्रत्यय या बोध नहीं होता है[१]। यहाँ वह प्रत्यय और बोध का प्रयोग एक ही अर्थ में करता है। बाद में चलकर वह कहने लगा कि आत्मा का प्रत्यय नहीं होता है, किन्तु आत्मा का केवल बोध होता है। यह परिवर्तन **सिद्धान्तावली** के द्वितीय संस्करण में स्पष्ट हो गया है। इसमें वह कहता है—"कहा जा सकता है कि हम अपने मन, आत्मा या कर्त्तव्य का कुछ ज्ञान या बोध रखते हैं और हमारे पास पारिभाषिक अर्थ में, इसका प्रत्यय नहीं है। इसी प्रकार हम जानते हैं कि हमारे पास वस्तुओं या प्रत्ययों के सम्बन्धों का बोध है। ये सम्बन्ध अपने संबंधियों से, प्रत्ययों या वस्तुओं से भिन्न हैं क्योंकि सम्बन्ध के प्रत्यक्ष के बिना प्रत्ययों का या वस्तुओं का प्रत्यक्ष सम्भव है। मुझे प्रतीत है कि प्रत्यय, आत्मा और सम्बन्ध अपने-अपने प्रकार के, मानव ज्ञान के विषय तथा संभाषण के अधिकरण हैं और हम जो भी जानते हैं या जिनका भी हम बोध रखते हैं उनमें से प्रत्येक का संकेत प्रत्यय शब्द से करना अनुपयुक्त है[२]।"

---

१. सिद्धान्तावली १३७ में प्रथम संस्करण में कहा गया था कि यह स्पष्ट है कि किसी आत्मा का प्रत्यय या बोध नहीं हो सकता। द्वितीय संस्करण में इसमें से बोध शब्द निकाल दिया गया। देखिए बर्कले-संग्रह पृ० ९५।

२. बर्कले-संग्रह पृ० ८७-८८, १०१-१०२।

बोधमय प्रणाली से ज्ञान प्राप्त करने की बात **सिद्धान्तावली** के द्वितीय संस्करण में स्पष्ट हुई है। किन्तु वह इसके प्रथम संस्करग में भी कहीं-कहीं अभिव्यक्त है। उदाहरणार्थ अधिकरण २७ में बर्कले कहता है कि "यह मानना होगा कि हम आत्मा या मन का या मन के व्यापारों का कुछ बोध प्राप्त करते हैं, जैसे इच्छा करना, प्रेम करना, घृणा करना, आदि का, क्योंकि हम जानते हैं कि इन शब्दों का क्या अर्थ है[१]।" इस तरह बोध का सिद्धान्त बर्कले के लिए महत्त्वपूर्ण है। यह उसकी आरम्भिक रचनाओं में भी उपलब्ध होता है। इसके अनुसार द्रष्टा का बोध वैसे ही प्रदत्त है जैसे दृश्य का प्रत्यय।

स्पष्ट है कि बर्कले बोध और प्रत्यय में पर्याप्त अन्तर करता है। वह मानता है कि समस्त ज्ञान प्रत्ययमय नहीं है, और कुछ ज्ञान बोधमय भी है। समस्त ज्ञान विषयगत नहीं है; कुछ ज्ञान आत्मगत भी है। आत्मज्ञान या बोधमय ज्ञान आत्मा का ज्ञान तथा प्रत्ययों के सम्बन्ध का ज्ञान है। प्रत्ययमय ज्ञान बोधमय ज्ञान नहीं हो सकता और बोधमय ज्ञान प्रत्ययमय ज्ञान नहीं हो सकता।

डा० जी० ए० जानस्टन ने दिखाया है कि बर्कले बोध के सिद्धान्त में जान सर्जेण्ट से प्रभावित था[२]। जान सर्जेन्ट की ही भाँति बर्कले बोध और प्रत्यय में निम्नलिखित भेद करता है :—

---

१. वही पृ० ४९।

२. देखिए उसका ग्रंथ The Development of Berkeley's Philosophy पृ० १६३-१६५। जी० डी० हिक्स ने दिखाया है कि बोध का महत्त्वपूर्ण उल्लेख केवल **सिद्धान्तावली** के द्वितीय संस्करण में हुआ है। देखिए उसकी रचना **बर्कले** (अंग्रेजी में) पृ० १६२। किन्तु इस अर्थ में बोध का उल्लेख प्रथम संस्करण में भी हुआ है; यद्यपि उसमें बोध की अवधारणा कभी-कभी असंगत भी हुई है। यही नहीं; जेसप ने सिद्ध किया है कि बोध का सिद्धान्त **दार्शनिक टिप्पणियाँ** में भी मिलता है। देखिए उसके द्वारा संपादित George Berkeley, The Principles of Human Knowledge। वास्तव में बोध का सिद्धान्त बर्कले के पास आरम्भ से ही था। किन्तु इसको प्रत्यय से कभी भिन्न किया गया तो कभी अभिन्न। बर्कले आरम्भ में अनुभवमूलक प्रणाली के प्रभाव में इतना अधिक था कि वह उस अवस्था में बोध को प्रत्यय से सर्वथा भिन्न न कर सका। **सिद्धान्तावली** के द्वितीय संस्करण में उसने बोध को प्रत्यय से सर्वथा भिन्न किया है। इस प्रकार यद्यपि बोध का सिद्धान्त बर्कले की आरम्भिक रचनाओं में भी उपलब्ध है तथापि उसकी स्पष्ट व्याख्या **सिद्धान्तावली** के द्वितीय संस्करण में ही निखर पायी है।

(क) प्रत्यय संवेद्य (Sensible) या इन्द्रियगोचर है और बोध बुद्धिगम्य या बुद्धिगोचर है (Intelligible) है ।

(ख) बोधरूप ज्ञान साक्षात् और अपरोक्ष है । वह परोक्ष या व्यवहित ज्ञान से तत्त्वतः भिन्न है, उदाहरण के लिए वह स्मृति से भिन्न है क्योंकि स्मृति परोक्ष ज्ञान है और बोध अपरोक्ष है ।

(ग) चूंकि प्रत्ययों का ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से होता है और पशुओं के भी इन्द्रियाँ है, इसलिए यह पशुओं को भी सुलभ है । किन्तु पशुओं को बोध नहीं हो सकता है । बोध अर्थज्ञान है, न कि वस्तुज्ञान या वस्तु-परिचय । यह मानव ज्ञान है और मानवों को पशुओं से भिन्न करता है ।

(घ) प्रत्यय अनिवार्यतः विशेष हैं किन्तु बोध हमें सामान्य ज्ञान भी देते हैं । बोध विशेष और सामान्य दोनों हो सकते हैं ।

बोधमय प्रणाली से तीन प्रकार के विषय ज्ञात होते हैं :

(क) आत्माएँ, (ख) मानसिक व्यापार (Mental operations) और (ग) प्रत्ययों के संबंध । इससे स्पष्ट है कि बोधमय ज्ञान के सभी विषय आध्यात्मिक हैं । आत्माएँ स्पष्टतः आध्यात्मिक हैं । मानसिक व्यापार आत्माओं के कार्य हैं और इसलिए वे आध्यात्मिक हैं । और, प्रत्ययों के संबंधों में मानसिक क्रिया का सन्निवेश है, इसलिए प्रत्ययों के सम्बन्ध भी आध्यात्मिक हैं ।

प्रत्यय बोधमय ज्ञान के विषय नहीं हो सकते, वे अनुभवमूलक या इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के विषय हैं । किन्तु बोधमय ज्ञान के विषय तत्त्वतः प्रत्ययों से संलग्न है । आत्माएँ प्रत्ययों को देखती और उत्पन्न करती हैं । मानसिक व्यापार प्रत्ययों के विषय में होने वाले व्यापार हैं । और, प्रत्ययों के संबंध स्पष्टतया प्रत्ययों से संबंधित हैं । इस प्रकार यद्यपि प्रत्यय बोधमय ज्ञान के विषय नहीं हैं, तथापि उनको बोधमय ज्ञान के विषय का विषय कहा जा सकता है, क्योंकि प्रत्यय आत्मा के विषय हैं और आत्मा बोधमय ज्ञान का विषय है ।

चूंकि बर्कले बोध को सामान्य कहता है इसलिए जी० ल्योन ने उसके बोध को अमूर्त प्रत्यय (Abstract Idea) कहा है । उसके मत से अमूर्त प्रत्ययों के अतिरिक्त बोध का और कुछ अर्थ नहीं हो सकता है[1] । किन्तु यह मत ठीक नहीं है । बर्कले अमूर्त प्रत्ययों का खंडन करता है और बोध का समर्थन । अमूर्त प्रत्यय वस्तुओं के तथाकथित प्रत्यय हैं । बोध का विषय वस्तु नहीं है । अमूर्त प्रत्ययों का खंडन और बोध का प्रतिपादन दोनों एक साथ होने के कारण अमूर्त प्रत्ययों और बोध को अभिन्न मानने में असंगति है । बर्कले को इतनी भयंकर असंगति का शिकार नहीं

१. देखिए जी. ए जान्स्टन की उपर्युक्त पुस्तक, पृ० १६७ ।

बनाया जा सकता है। **सिद्धान्तावली** के द्वितीय संस्करण में भी उसने बोध के सिद्धांत की स्पष्ट व्याख्या की है। उसने वहाँ अमूर्त प्रत्ययों के खंडन को ज्यों का त्यों रहने दिया है। इससे स्पष्ट है कि उसके मत से बोध अमूर्त प्रत्यय नहीं है।

एडमन्ड हुसर्ल ने सुझाया है कि लाक के मत में जो अन्तर्दर्शन-प्रत्यय (Ideas of Reflection) हैं वे ही बर्कले के मत में बोध है[1]। यह तुलना उल्लेखनीय है। निःसन्देह बोध एक प्रकार के अन्तर्दर्शन के विषय हैं क्योंकि बोध के विषय आत्मा या मन के अपने कार्यों के अवलोकन हैं। इच्छा करना, प्रेम करना, घृणा करना, आदि मानसिक व्यापार बोध के विषय हैं और वे लाक के मत से अन्तर्दर्शन के विषय हैं। किन्तु लाक का अन्तर्दर्शन बर्कले के बोध से अधिक व्यापक है। बोध का विस्तार अन्तर्दर्शन के विस्तार से संकुचित है। फिर, अन्तर्दर्शन के विषय प्रत्यक्षवत् प्रत्यय या दशा हैं। उनमें और प्रत्यक्ष-विषयों में केवल आंतरिक इन्द्रिय और बाह्य इन्द्रिय का भेद है। अन्तर्दर्शन के प्रत्ययों में बाह्य प्रत्यक्ष सम्मिलित हैं। वे आन्तरिक इन्द्रिय के विषय हैं। किन्तु बोध आन्तरिक इन्द्रिय नहीं है। बोध का सम्बन्ध किसी इन्द्रिय से नहीं है। यह इन्द्रिय-सन्निकर्ष से जन्य ज्ञान नहीं हैं। इस प्रकार बोध अन्तर्दर्शन से तत्त्वतः भिन्न है। अतः बोध को अन्तर्दर्शन से अभिन्न करना ठीक नहीं है।

फ्रेजर का कहना है कि बोध पद का संकेत चेतन मन तथा उन सम्बन्धों से करना जो मानसिक क्रियाओं में निहित है, कांटवाद का सम्भवतः मन्द पूर्वाभास है[2]। आगे स्वयं फ्रेजर कहते हैं कि यथार्थ अनुभव के प्रागपेक्षित सम्बन्धों का कांट-जैसा आलोचनात्मक विश्लेषण करना बर्कले के विचार से परे हैं। किन्तु इतना वे भी मानते है बर्कले का बोध इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की प्राप्ति में निहित है[3]। शृङ्खला में बर्कले ने कहा है "इन्द्रिय से उद्भूत प्रत्ययों के अतिरिक्त मन में यथावत् कोई प्रत्यक्ष या निष्क्रिय विषय नहीं है, किन्तु इनके अतिरिक्त भी मन के अपने व्यापार या क्रियाएँ हैं, जैसे बोध[4]।" हिक्स ने भी फ्रेजर की तरह बर्कले को अपूर्ण कांट माना है[5]। उसके मत से बर्कले के दर्शन का प्रवाह अन्त में अनुभवमूलक प्रणाली के विपरीत जाता है।

---

१. वही, पृ० १६८।

२. बर्कले-संग्रह, पृ० १०१ टिप्पणी २।

३ वही, पृ० ३०० टिप्पणी १।

४. वही, पृ० ३००।

५. Berkeley, पृ० १२८, २१०, २१९।

फ्रेजर और हिक्स के मतानुसार बर्कले के बोध इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में निहित हैं। उनके विना इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में मानसिक व्यापार तथा आत्मा का होना निहित है। ये इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के नियत पूर्वभावी हैं। आगे चलकर कांट ने इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के सहवर्ती तथा आधारभूत तत्त्वों को देश-काल, वर्गणाएँ तथा विशुद्ध आत्मा कहा है। बर्कले भी इसी मत की ओर बढ़ रहा था। किन्तु फिर भी बर्कले का मत पूर्णतया कांट का मत नहीं है।

अब प्रश्न है कि क्या बोधमय प्रणाली को प्रस्तावित करते समय बर्कले अनुभवमूलक प्रणाली को छोड़ देता है? फ्रेजर और हिक्स जैसे व्याख्याकारों का कहना है कि निःसन्देह अन्त में बर्कले अनुभवमूलक प्रणाली को छोड़ देता है। किन्तु उनका यह समाधान बर्कले के दर्शन में असंगति ला देता है। अतः इसे ठीक नहीं कहा जा सकता है।

वास्तव में बर्कले कांट की तरह इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में निहित तत्त्वों का विवेचन नहीं करता है। फ्रेजर ने लिखा है कि बर्कले के मत से द्रव्य और कारण के बोध तथा परामर्श सतत व्यक्तित्व तथा नैतिक कर्त्तव्य की हमारी चेतना में अपरोक्षतया (Empirically) प्रदत्त है, न कि अनुभव में अनिवार्यतः निहित हैं[1]। बर्कले स्वयं बोध को साक्षात् तथा अपरोक्ष ज्ञान कहता है। यदि बोध कांट की भाषा में इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के ढांचे और वर्गणाएँ (Categories) है, तो फिर वे साक्षात् तथा अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो सकते। अतः बोध आत्मगत ज्ञान है और विषयगत ज्ञान या प्रत्यय से तत्त्वतः भिन्न है। ज्ञान द्विविध है, प्रत्ययात्मक और बोधात्मक। इस प्रकार बर्कले बोधमय प्रणाली और अनुभवमूलक प्रणाली दोनों को प्रमाण मानता है—प्रत्ययों के सम्बन्ध में अनुभवमूलक प्रणाली ठीक है और आत्माओं, मानसिक व्यापार तथा प्रत्ययों के सम्बन्धों के बारे में बोधमय प्रणाली ठीक है। यहाँ हमें भारतीय दर्शन की प्रमाण-व्यवस्था का स्मरण होता है जिसके अनुसार प्रत्येक प्रमाण का अपना विषय-क्षेत्र होता है और वह दूसरे प्रमाण के क्षेत्र में प्रवेश नहीं करता है। बोध और प्रत्यय के भी अपने-अपने क्षेत्र हैं।

बोधमय प्रणाली के द्वारा बर्कले आत्मवाद तथा ईश्वरवाद की स्थापना करता है। इनका वर्णन हम अनुभवमूलक प्रणाली के आधार पर स्थापित सिद्धान्त का वर्णन करने के बाद करेंगे।

५ अमूर्त प्रत्ययों का खण्डन

सिद्धान्तावली की भूमिका में बर्कले अमूर्त प्रत्ययों का खण्डन करता है।

---

१. बर्कले-संग्रह, पृ० ४९ टिप्पणी २।

उसके मत से नैकायिक जन (Schoolmen) अमूर्तीकरण के महापण्डित हैं। किन्तु जब भी वह प्रत्ययों के पक्ष में प्रमाण उदधृत करता है तब वह लाक के **निबन्ध** से उद्धरण देता है। वह लाक को सम्बोधित करके कहता है कि अभी हाल में एक माननीय दार्शनिक हुए हैं जिन्होंने निःसन्देह उस सिद्धान्त को बहुत सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त किया है[1]। उसकी यह आलोचना लाक के प्रति है।

पहले उसने उन प्रमाणों को प्रस्तुत किया है जो अमूर्त प्रत्ययों के पक्ष में पेश किये जाते हैं। ये प्रमाण निम्नलिखित हैं :—

(क) **मनोवैज्ञानिक प्रमाण।** "कहा जाता है कि बुद्धि वस्तुओं के अमूर्त प्रत्यय या बोध बनाने में सक्षम है[2]। बुद्धि में अमूर्तीकरण (Abstraction) की शक्ति है। "वह प्रत्येक गुण को उन सभी गुणों से पृथक करके जिनसे वह मिला हुआ है, सोच सकने के कारण अपने में अमूर्त प्रत्ययों को उत्पन्न करती है। उदाहरण के लिए, हम एक विषय का चाक्षुष प्रत्यक्ष करते हैं कि यह विस्तारयुक्त, वर्णयुक्त और गतियुक्त है। इस संमिश्रित या सामूहिक ज्ञान (समूहालंबन) को बुद्धि सरल आकारक-खण्डों में विभक्त करती है और प्रत्येक को अन्य शेष खण्डों से पृथक देखती है। इस प्रकार बुद्धि विस्तार, वर्ण और गति के अमूर्त प्रत्ययों को उत्पन्न करती है[3]।" यहाँ बर्कले ने दिखाया है कि कैसे विशेषों के सामूहिक ज्ञान से छँटकर किसी विशेष का अमूर्त प्रत्यय बनता है।

"पुनश्च बुद्धि देखती है कि इन्द्रियगोचर विशिष्ट विस्तारों में कुछ सर्वगत और सर्वसामान्य बातें हैं और कुछ असामान्य बातें, जैसे यह या वह आकृति (Figure) या मात्रा (Magnitude) जो उनको परस्पर भिन्न करती है। इससे वह उस तत्त्व को जो सर्वगत है, पृथक् करती है या पृथक् सोचती है और इस क्रिया के फलस्वरूप विस्तार का अमूर्त प्रत्यय बनाती है। यह विस्तार न रेखा है, न धरातल, न ठोस आकृति और न कोई आकृति या मात्रा। यह एक प्रत्यय है जो इन सभी से पूर्णतया पृथक है[4]।" इस प्रकार विस्तार-सामान्य का अमूर्त प्रत्यय बनता है। इसी प्रकार वर्ण-सामान्य, गति-सामान्य, मनुष्य-सामान्य (या मानवता), जीव-सामान्य, आदि के अमूर्त प्रत्यय बनते हैं। यहाँ अमूर्त प्रत्यय उस सामान्य का प्रतिबिम्ब है जो सभी विशेषों में सर्वगत है। विशेषों के सादृश्य के कारण उनके सर्वगत अंश का पता बुद्धि को चलता है।

---

१ बर्कले संग्रह पृ० १३।
२ वही, पृ० ९।
३ वही, पृ० ९।
४ वही, पृ० १०-११।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अमूर्त प्रत्यय बनाने की शक्ति का विकास धीरे-धीरे होता है। बालकों में यह शक्ति नहीं रहती है। ज्यों-ज्यों उनका विकास होता है त्यों-त्यों इस शक्ति का भी विकास होता है। प्रौढ़ों में यह शक्ति कुछ विकसित होती है। शिक्षित प्रौढ़ों में इसका और अधिक विकास होता है।

(ख) संभाषण-सम्बन्धी प्रमाण। मनुष्य आपस में बातचीत करते हैं। अपनी बातचीत में वे जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं वे उनके निजी नहीं हैं, किन्तु समस्त मानव समाज के हैं। यदि वे सामान्य न होते तो फिर मनुष्य आपस में बातचीत नहीं कर सकते थे। अब प्रश्न है कि शब्द कैसे सामान्य होते हैं? लाक का कहना है कि "सामान्य प्रत्यय के संकेत होने के कारण शब्द सामान्य बन जाते हैं[1]।" मनुष्य सामान्य प्रत्ययों के लिए सामान्य संकेतों का प्रयोग करते हैं। शब्द-सामान्य संकेत हैं। इनका प्रयोग सिद्ध करता है कि अमूर्त प्रत्यय सामान्य प्रत्यय हैं क्योंकि वे इन्हीं सामान्य प्रत्ययों के संकेत हैं। भाषा अमूर्त प्रत्ययों को सिद्ध करती है।

(ग) सार्वभौम सत्य-सम्बन्धी प्रमाण। जो सिद्धान्त सत्य और व्यापक हैं उनके लिए अमूर्त प्रत्ययों की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए, ज्यामिति के इस प्रमेय को लीजिए कि त्रिभुज के तीनों कोणों का योग दो समकोण के बराबर होता है। यह प्रमेय सभी त्रिभुजों के बारे में सत्य है। किन्तु हर त्रिभुज समत्रिबाहु समद्विबाहु या विषमबाहु है। यदि हम किसी विशेष त्रिभुज के बारे में यह प्रमेय सिद्ध करते हैं तो यह अन्य विशेष त्रिभुजों के बारे में सत्य न होगा। यदि यह समत्रिबाहु त्रिभुज के बारे में सिद्ध किया गया है तो यह विषमबाहु या समद्विबाहु त्रिभुज के बारे में सत्य न होगा। किन्तु बात ऐसी नहीं है। यह प्रमेय हर त्रिभुज के बारे में सत्य है, चाहे वह समत्रिबाहु हो या समद्विबाहु या विषमबाहु। फिर ऐसा क्यों होता है? स्पष्ट है कि ऐसा इसलिए होता है कि यह प्रमेय सामान्य त्रिभुज के बारे में सत्य होने के कारण सभी विशेष त्रिभुजों के बारे में सत्य होता है। "इस प्रमेय को सार्वभौम सिद्ध करने के लिए या तो हमें प्रत्येक त्रिभुज के बारे में ऐसा सिद्ध करना चाहिए—जो असम्भव है—और या तो सब त्रिभुजों के लिए एक ही बार सिद्ध करने के लिए इसे त्रिभुज के अमूर्त प्रत्यय के बारे में सिद्ध करना है जो सभी विशेष त्रिभुजों को समभाव से अभिव्यक्त करता है और समभाव से अपने में भागी बनाता है[2]।" अतः त्रिभुज का एक सामान्य अमूर्त प्रत्यय है। सामान्य

---

१. वही पृ० १४ में उद्घृत।

२. वही, पृ० १६।

त्रिभुज वह त्रिभुज है जो न समत्रिबाहु है, न समद्विबाहु और न विषमबाहु, किन्तु फिर भी जिसमें वे सभी सम्मिलित हैं। इस प्रकार सभी सार्वभौम सत्यों को सिद्ध करने के लिए सामान्य अमूर्त प्रत्ययों की आवश्यकता है। सार्वभौम सत्यों का विवेचन विज्ञान, तर्कशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र में होता है। इसलिए विज्ञान, तर्कशास्त्र और दर्शनशास्त्र के लिए अमूर्त प्रत्ययों की अत्यन्त आवश्यकता है।

अब बर्कले इन युक्तियों का खण्डन करता है। उसका कहना है कि यह सिद्धान्त लोकमत से दूर है[१]। लोकमत से इसकी सिद्धि नहीं होती है। "साधारण मनुष्य जो सरल तथा निरक्षर हैं कभी नहीं कहते कि उनके पास अमूर्त प्रत्यय हैं। कहा जाता है कि वे दुर्लभ हैं और परिश्रम तथा अध्ययन के बिना अलभ्य हैं। अतः हम तर्कतः निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि यदि ऐसी परिस्थिति है तो अमूर्त प्रत्यय केवल विद्वानों (पण्डितों) तक ही सीमित हैं[२]।"

किन्तु यदि इन युक्तियों पर विचार किया जाय जिन्हें विद्वानगण अमूर्त प्रत्यय के पक्ष में देते हैं, तो ये पूर्णतया गलत सिद्ध होंगी।

(क) **मनोवैज्ञानिक प्रमाण का खण्डन**। इस प्रमाण के खण्डन में बर्कले कहता है कि अमूर्तीकरण की शक्ति किसी के पास नहीं हो सकती। गति का सामान्य प्रत्यय किसी ऐसी गति के प्रत्यय को नहीं सूचित करता है जो बिना गतिशील पिंड के है या जिसके कोई निर्धारित दिशा तथा वेग नहीं है। विस्तार का सामान्य प्रत्यय किसी ऐसे विस्तार को सूचित नहीं करता है जो न तो रेखा है, न धरातल और न ठोस आकृति, न तो बड़ा है और न तो छोटा, न तो काला है न तो सफेद, न तो लाल है और न तो अन्य कोई निर्धारित वर्ण। हर विस्तार रंगीन (वर्णयुक्त है) और हर रंग विस्तृत (विस्तारयुक्त) है। बर्कले की पुस्तक, '**दृष्टि का नवीन सिद्धान्त** का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है कि दृष्टि-संवेदना से हमें जो विस्तार, आकार और गति दृष्टिगोचर होते हैं वे एक दूसरे से मिश्रित रहते हैं। विस्तार, आकार और गति के प्रत्यय परस्पर सम्मिलित रूप में ही हमारे प्रदत्त हैं।

अमूर्तीकरण की स्वाभाविक शक्ति के खण्डन में वह कहता है— 'दूसरे लोगों में अपने प्रत्यक्षों को अमूर्त बनाने की यह विस्मयकारी शक्ति है कि नहीं, इसको वे ही बता सकते हैं। जहाँ तक अपनी बात है मैं पाता हूँ कि मुझमें सचमुच उन विशेष वस्तुओं के प्रत्यय की कल्पना करने की या अपने में प्रतिबिम्ब पैदा करने की और उन्हें मिश्रित तथा विभाजित करने की शक्ति नहीं है जिनको मैंने देखा है। मैं दो सिर वाले

१. वही, पृ० १३।

२. वही, पृ० १२।

मनुष्य की, मनुष्य के ऊपरी भाग से संयुक्त अश्व के देह की, नराश्व या अश्विनी-कुमार की, कल्पना कर सकता हूँ। मैं हाथ, नाक, कान प्रत्येक को शेष देह से पृथक् करके कल्पना कर सकता हूँ। किन्तु जिस भी हाथ या आँख की कल्पना मैं करता हूँ उसका कुछ विशेष आकार और वर्ण अवश्य होना चाहिए। इसी प्रकार मैं मनुष्य का जो प्रत्यय करता हूँ उसे अवश्य ही श्वेत, कृष्ण, कपिल, ऋजु या वक्र लम्बा, छोटा या मझोला मनुष्य होना चाहिए[१]।" मनुष्य का सामान्य प्रत्यय असंभव है।

जब कहा जाता है कि अमूर्तीकरण की शक्ति परिश्रम तथा अध्ययन से प्राप्त की जाती है, तब उसके खण्डन में बर्कले कहता है—"मैं किसी भी वैचारिक प्रयत्न से उपर्युक्त अमूर्त प्रत्यय की कल्पना नहीं कर सकता। मेरे लिए यह असम्भव है कि मैं गतिशील पिण्ड से पृथक गति के अमूर्त प्रत्यय का निर्माण करूँ जो न तीव्र है न मन्द, न वक्राकार है न ऋजुरेखीय। ऐसा ही सभी अमूर्त प्रत्ययों के बारे में समझना चाहिए[२]।"

वस्तुतः अमूर्त प्रत्यय वदतो व्याघात (Contradiction in terms) है। प्रत्यय का अर्थ आभास या प्रतिबिम्ब (Image) है। अमूर्त प्रत्यय अमूर्त प्रतिबिम्ब होगा, जो स्पष्टतः बाधित है और इस कारण असम्भव है।

फिर जब कहा जाता है कि बुद्धि विशेष प्रत्ययों से सर्वगत अंश को लेकर और उनके व्यक्तिगत या विशेष अंश को छोड़कर सामान्य अमूर्त प्रत्यय बनाती है, तब जो तथ्य सिद्ध किया जाता है उसी को साधन बनाया गया है। अतः इस कथन में सिद्धसाधन दोष है। इसमें यह मान लिया गया है कि विशेष प्रत्ययों में एक सामान्य अंश है। अतः यह युक्ति भी ठीक नहीं है। फिर जो कहा जाता है कि विशेष प्रत्ययों में कुछ सादृश्य देखकर सामान्य अमूर्त प्रत्यय बनाया जाता है, वह भी वास्तव में सिद्धसाधन दोष से ग्रस्त हैं। सादृश्य का भाव सामान्य पर ही आधारित है। अतः उसमें भी उपर्युक्त दोष विद्यमान है।

(ख) **संभाषण-संबन्धी प्रमाण का खण्डन।** इस प्रमाण के खण्डन में बर्कले कहता है कि संभाषण के लिए अमूर्त प्रत्ययों की आवश्यकता नहीं है। यह माना जाता है कि अमूर्त प्रत्यय को प्राप्त करना कठिन है। फिर अमूर्त प्रत्यय को प्राप्त करना—"जैसा कठिन कर्म संप्रेषण (Communication) के लिए आवश्यक नहीं है जो सभी मानवों के लिये सरल और सुलभ है। "बच्चे अमूर्त प्रत्यय नहीं कर सकते किन्तु क्या वे आपस में बातचीत

१. वही, पृ० १२।
२. वही, पृ० १२।

नहीं करते ? क्या यह कल्पना करना कठिन नहीं है कि जब दो बच्चे आपस में अपने गट्टे, झुनझुने और अन्य खिलौने के बारे में भी बिना आपस में असंख्य असंगतियाँ किये नहीं बतिया सकते हैं तब वे भी अपने मन में अमूर्त प्रत्यय बनाते हैं और जिस किसी साधारण नाम का उपयोग वे करते हैं उसके साथ वे उन्हें संलग्न करते हैं ?"[१] निःसदेह बच्चों में अमर्त प्रत्यय बनाने की शक्ति नहीं है और फिर भी वे संभाषण कर सकते हैं।

भाषा अमूर्त प्रत्यय का प्रमाण है, यह कथन वास्तव में सिद्ध करता है कि भाषा से ही अमूर्त प्रत्यय का भ्रम उत्पन्न होता है। यदि भाषा या सर्वमान्य सकेत नाम की कोई वस्तु न होती तो अमूर्तीकरण का कोई विचार ही न उठता। किन्तु क्या कोई एक अथ किसी नाम या शब्द से जुड़ा है ? स्पष्ट है कि नहीं। 'सभी नाम समभाव से अनेक विशेष प्रत्ययों का अर्थ देते हैं[२]।" शब्द या नाम किसी सामान्य प्रत्यय के संकेत नहीं हैं। वे अनेक विशेष प्रत्ययों के संकेत हैं। फिर "कोई इन्कार नहीं करेगा कि मननशील मनुष्यों के अनेक प्रयोग में ऐसे नाम है जो दूसरों को कोई निश्चित विशेष प्रत्यय या परमार्थत. कुछ भी नहीं बताते। थोड़ा-सा ध्यान देने पर ज्ञात होगा कि यह आवश्यक नहीं है कि सार्थक नाम जो प्रत्ययों के लिए प्रयुक्त होते है जब-जब प्रयोग में आये तब-तब वे बुद्धि में उन प्रत्ययो को उत्पन्न करें जिनके लिए वे प्रयुक्त होते हैं। पढ़ने और व्याख्यान देने में नामों का प्रायः वैसा ही प्रयोग होता है जैसे बीजगणित में अक्षरों का होता है। बीजगणित में यद्यपि प्रत्येक अक्षर किसी विशेष सख्या के लिए प्रयुक्त होता है तथापि ठीक तरह से प्रश्न करने में यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक कदम पर वह अक्षर हमारे विचार में उस विशेष संख्या को उत्पन्न करें[३]।"

---

१. वही, पृ० १८।
२. वही, पृ० २१।
३. वही, पृ० २२।

उदाहरण के लिए बीजगणित का निम्नलिखित प्रश्न लीजिए : यदि $क = ४$; $ख = ३$

तो $\frac{क२ + २क\,ख + ख^{२}}{क + ख}$ का मूल्य बताइये। इसे यों लगाया जाता है :—

यह संख्या निम्नलिखित के बराबर है—

$$\frac{(क + ख)(क + ख)}{(क + ख)}$$

पुनश्च भाषा का मुख्य उद्देश्य संप्रेषण नहीं है। इसके मुख्य उद्देश्य "किसी भावना को जगाना, किसी कर्म की ओर प्रवृत्त करना या उससे निवृत्त करना, मन में किसी विशेष अभिरुचि को उत्पन्न करना है[१]।" सम्प्रेषण बहुधा इन उद्देश्यों के अधीन है। सम्प्रेषण का उद्देश्य ज्ञान का आदान-प्रदान करना है। यद्यपि इसके लिए शब्द आवश्यक है तथापि शब्दों के कारण अनेक भ्रम उत्पन्न हो गये हैं। "शब्दों और प्रत्ययों का सम्बन्ध बचपन से ही आरम्भ हो जाता है और सतत अभ्यास से यह परिपुष्ट हो जाता है। इस सम्बन्ध का पूर्णतया विच्छेद करना इसलिए कठिन है। फिर यह कठिनाई कृत्रिम अमूर्तीकरण के सिद्धान्त के द्वारा अधिक बढ़ गयी है। जब तक मनुष्य सोचते हैं कि अमूर्त प्रत्ययों का संयोग अपने शब्दों से है तब तक यह आश्चर्य नहीं है कि वे प्रत्ययों के लिए शब्दों का प्रयोग करें। शब्द को हटाकर मन में अमूर्त प्रत्यय की, जो स्वयं पूर्णतया दुर्बोध हैं, धारणा करना असम्भव कम है[२]।"

दर्शन नग्न प्रत्ययों को देखना है, न कि उनको शब्दों की वेशभूषा में देखना। कोई आदमी बेपद प्रत्ययों को ग्रहण करने में भूल नहीं कर सकता है। इसलिए बर्कले कहता है कि सुन्दर ज्ञान-वृक्ष को देखने के लिए हम केवल शब्दों के पर्दे को उठाते हैं। जब पर्दा उठ जायगा तब अमूर्त प्रत्यय इसके साथ ही विलीन हो जायेंगे।

(ग) सार्वभौम सत्य-सम्बन्धी प्रमाण का खण्डन। बर्कले इस बात को मानता है कि बहुत-से सिद्धान्त सार्वभौम सत्य हैं। उदाहरण के लिए, वह मानता है कि त्रिभुज के तीनों कोणों का योग दो समकोण के बराबर होता है। यह एक सार्वभौम सत्य है और सभी त्रिभुजों के लिए सत्य है। किन्तु वह यह नहीं मानता कि इस सत्य के लिए त्रिभुज के सामान्य अमूर्त प्रत्यय की आवश्यकता है। वह कहता है—"जब हम उपर्युक्त प्रमेय को सिद्ध करते है तब यद्यपि हम अपनी दृष्टि में उदाहरणार्थ एक समद्विबाहु समकोण त्रिभुज लेते है जिसको भुजाओं की लम्बाई सुनिश्चित है,

= क + ख
= ४ + ३
= ७

यहाँ पहले और दूसरे सोपान में क और ख के मूल्यों पर ध्यान नहीं जाता है। सिर्फ तीसरे सोपान पर जब हम पहुँच जाते हैं तब उनके प्रत्ययों पर ध्यान जाता है ? ऐसे ही भाषा पढ़ते या बोलते समय प्रत्येक शब्द हमेशा किसी अर्थ को उपस्थित नहीं करता है।

१. वही, पृष्ठ २२।
२. वही, पृष्ठ २५।

तथापि हम विश्वस्त हो सकते हैं कि हमारा प्रमेय सभी प्रकार और आकार के समस्त त्रिभुजों के बारे में लागू होता है। ऐसा इसलिए कि प्रमेय को सिद्ध करने में न तो समकोण को और न तो दो भुजाओं की समानता को, और न तो भुजाओं की किसी निश्चित लम्बाई को उपयोग में लाया जाता है। यह सत्य है कि जिस आकृति का हम प्रयोग करते हैं उसमें ये सभी विशेष सम्मिलित हैं, किन्तु इस प्रमेय की उपपत्ति में इन सबका लेशमात्र भी वर्णन नहीं है। यह नहीं कहा जाता कि त्रिभुज के तीनों कोणों का योग दो समकोण इसलिए है कि उनमें से एक कोण समकोण के बराबर है, या कि इस कोण को बनाने वाली दोनों भुजाएँ बराबर-बराबर हैं। यह पर्याप्त रूप से प्रकट करता है कि यदि यह कोण अधिककोण होता और भुजाएँ असमान होतीं तो भी उपर्युक्त उपपत्ति सत्य होती। इस कारण हम निष्कर्ष निकालते हैं कि जिसे हमने एक विशेष समकोण समद्विबाहु त्रिभुज के बारे में भी सिद्ध किया है वह किसी विषमकोण या विषमबाहु त्रिभुज के बारे में सिद्ध होता है। और, वह इसलिए नहीं सिद्ध होता कि हम त्रिभुज के अमूर्त प्रत्यय के बारे में उसे सिद्ध करते हैं[1]।" इसी प्रकार जितने भी सार्वभौम सत्य सिद्ध है वे किसी विशेष प्रत्यय को लेकर ही सिद्ध किए जाते हैं। और चूंकि उनकी सिद्धि में उस विशेष प्रत्यय की किसी विशेषता का उपयोग नहीं होता है इसलिए यदि उसके स्थान पर कोई दूसरा विशेष प्रत्यय होता तो भी वे सत्य सिद्ध होते। इस तरह बर्कले ने दिखाया है कि सभी प्रकार की तर्कणा विशेष प्रत्यय से विशेष प्रत्यय तक ही जाती है और उसमें सामान्य अमूर्त प्रत्यय का उपयोग नहीं होता है।

ह्यूम और जान स्टुअर्ट मिल बर्कले के इस सिद्धान्त से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने कहा है कि यदि बर्कले का कोई अन्य सिद्धान्त न होतां तो भी केवल एक इसी सिद्धान्त के बल पर वह बहुत बड़ा दार्शनिक रहता[2]। तर्कणा की गति विशेष से विशेष तक है और उसके किसी सोपान में सामान्य की आवश्यकता नहीं है। यह एक बहुत बड़ा क्रान्तिकारी सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त ने एक नवीन तर्कशास्त्र को जन्म दिया है। स्वयं मिल ने इसके आधार पर अनुमान का सिद्धान्त बनाया है कि सभी अनुमान विशेष से विशेष तक होते हैं। आधुनिक युग के भाववादी दार्शनिक प्रायः इसी तर्कशास्त्र को मानते हैं।

बर्कले के खण्डन की समीक्षा। बर्कले ने अमूर्त प्रत्ययों के खण्डन में

---

१. वही, पृ० १९।

२. मिल बर्कले के तीन सिद्धान्तों को क्रान्तिकारी मानता है। अन्य दो सिद्धान्त हैं—प्रत्यक्ष का सिद्धान्त और सत्ता (वस्तु) प्रत्ययपुंज है, यह सिद्धान्त।

एक रूप से कुछ हद तक उनको मान लिया है। वह अमूर्त प्रत्ययों और सामान्य प्रत्ययों में अन्तर करता है। अमूर्त प्रत्ययों का तो वह खण्डन करता है, किन्तु सामान्य प्रत्ययों का वह समर्थन करता है। उसके बोध सामान्य प्रत्ययों से मिलते-जुलते हैं।

फिर वह स्वयं कहता है कि "कोई मनुष्य किसी आकृति को मात्र त्रिभुजाकार बिना उसके कोणों के विशेष गुणों या भुजाओं के सम्बन्ध को सोचे हुए, सोच सकता है। यहाँ तक वह अमूर्तीकरण कर सकता है[1]।" और, "मैं अपने को एक अर्थ में अमूर्त प्रत्यय करने में सक्षम पाता हूँ, जैसे मैं कुछ भागों या गुणों को अन्य भागों से, जिनसे वे किसी वस्तु में संयुक्त हैं, पृथक करके सोचता हूँ[2]।" किन्तु स्पष्ट है कि अमूर्त प्रत्यय का अर्थ इतने से ही नहीं होता है। यह तो सिर्फ ध्यान के चुनाव का उदाहरण है।

वास्तव में बर्कले अमूर्त प्रत्ययों को अमूर्त प्रतिबिम्ब या सामान्य प्रतिबिम्ब (Generic Image) समझता है। इसका वह खण्डन करता है। वह इस सिद्धान्त का विवेचन नहीं करता है कि अमूर्त प्रत्यय न तो प्रत्यक्ष हैं और न तो प्रतिबिम्ब किन्तु सोचने के एक तीसरे प्रकार हैं। बर्कले स्वयं कहता है कि कोई विशेष प्रत्यय अनेक विशेष प्रत्ययों के संकेत होने के कारण सामान्य हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि यद्यपि वह किसी प्रत्यय को वृत्तितः या मन में सामान्य नहीं मानता है, तथापि वह उसे अर्थतः या सन्दर्भ में सामान्य मान लेता है। इससे सिद्ध है कि वह केवल उस प्रक्रिया का खण्डन करता है जिसे अमूर्त प्रत्ययों का प्रस्ताव रखने वाले मानते हैं। वह यह नहीं मानता कि अमूर्तीकरण की मनोवैज्ञानिक रीति से सामान्य प्रत्यय बनते हैं। वह एक दूसरी रीति बता रहा है जिससे सामान्य प्रत्यय बनते हैं। इस रीति को हम संकेतवाद के नाम से बाद में बतायेंगे।

अमूर्त प्रत्ययों का सिद्धान्त एक सुनिश्चित सिद्धान्त है। बर्कले की आलोचना गलत मनोविज्ञान पर आधारित है। वह स्वयं जिन्हें सामान्य प्रत्यय कहता है वे ही वास्तव में अमूर्त प्रत्यय हैं। प्लेटो ने कहा है कि ज्ञान अनिवार्यतः सामान्य से सम्बन्धित है और सामान्य के माध्यम से ही वह विशेष से सम्बन्धित होता है। बर्कले अपनी अन्तिम दार्शनिक रचना 'एक शृंखला', में प्लेटो के इस सिद्धान्त का समर्थन करता है। ऊपर अमूर्त प्रत्ययों के पक्ष में सार्वभौम सत्य-सम्बन्धी जो प्रमाण दिया गया है वह तर्कतः ठीक है। बर्कले उसकी आलोचना नहीं करता है। वह केवल एक दूसरी व्याख्या देता है। हो सकता है कि बर्कले की इस व्याख्या के आधार पर

---

१. वही, पृ० १९-२०।

२. वही, पृ० १२।

एक नया तर्कशास्त्र हो जिसमें सामान्य का कोई योगदान न हो। किन्तु स्वयं बर्कले ने इस तर्कशास्त्र को नहीं दिया है। उसने सामान्य को आवश्यक बताया है। अब हम उसके मतानुसार सामान्य प्रत्यय का विवेचन करेंगे।

६ सामान्य प्रत्यय

सिद्धान्तावली की भूमिका में ही जहाँ बर्कले अमूर्त प्रत्ययों का खंडन करता है, अधिकरण १५ में वह कहता है—"इस बात पर सचमुच बड़ा बल दिया जाता है कि समस्त ज्ञान और उत्पत्ति सामान्य प्रत्ययों के बारे मे होते हैं। हम इस बात से पूर्णतया सहमत हैं[१]।" इससे स्पष्ट है कि यद्यपि बर्कले अमूर्त प्रत्ययों का खंडन करता है तथापि वह सामान्य प्रत्ययो के आवश्यकता और महत्त्व को स्वीकार करता है। किन्तु यह मानना कि सामान्य प्रत्यय हैं एक बात है, और सामान्य प्रत्यय क्या हैं ? यह बताना दूसरी बात है।

सामान्य प्रत्ययो के स्वरूप के बारे मे बर्कले की रचनाओं में ६ मत मिलते हैं :—

(क) सामान्य प्रत्यय विशेष वस्तुएँ हैं।
(ख) सामान्य प्रत्यय विशेष प्रतिबिम्ब (Image) हैं।
(ग) सामान्य प्रत्यय नाम हैं।
(घ) सामान्य प्रत्यय अर्थ (Meaning) हैं।
(ङ) सामान्य प्रत्यय संकेत हैं।
(च) सामान्य प्रत्यय बोध है।

इनमें से अन्तिम मत को बर्कले के कुछ भाष्यकारों ने प्रस्तावित किया है। किन्तु हम पहले देख चुके हैं कि बोध अमूर्त प्रत्यय नहीं हैं। उन्हें सामान्य प्रत्यय भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि सामान्य प्रत्यय विशेषो के बारे में होते हैं। अतः बोध को सामान्य प्रत्यय से भिन्न समझना चाहिए। स्वयं बर्कले ने कभी बोध को सामान्य प्रत्यय नहीं कहा। वास्तव में बोधमय प्रणाली अनुभवमूलक प्रणाली से बिलकुल भिन्न है। सामान्य प्रत्यय के सिद्धान्त का स्थान अनुभवमूलक प्रणाली में है, न कि बोधमय प्रणाली में। सामान्य प्रत्ययों का व्यापार उन प्रदत्तों से सम्पादित होता है जो मूलतः इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से उपलब्ध होते हैं। बोध उनके आधार हो सकते हैं किन्तु वे स्वयं सामान्य प्रत्यय नहीं हैं।

अतः सामान्य प्रत्यय के बारे में अब पाँच मत बचते हैं। इनमें से प्रत्येक का-

---

१. वही, पृ० १८।

प्रतिपादन स्वयं बर्कले ने किया है। उसने सर्वप्रथम पहले मत और तीसरे मत को एक साथ लिया है। फिर उसने दूसरे और चौथे मत को एक साथ लिया है। अन्त में उसने इन सभी मतों को पाँचवें मत के रूप में प्रकट किया है।

पहला मत और तीसरा मत उसकी आरम्भिक रचनाओं में, विशेषतया **दार्शनिक टिप्पणियाँ** मे मिलते हैं। वहाँ वह कहता है कि विशेष रेखा या त्रिभुज सामान्य का काम करते हैं क्योंकि वे एक प्रतिनिधि या एक वर्ग के उदाहरण बन जाते हैं। यह पहला मत है। इसे हम विशेषवाद या भारतीय दर्शन की भाषा में अपोहवाद कहेंगे। यह बताता है कि कोई मूर्त उदाहरण ही सामान्य बन जाता है क्योंकि वह एक वर्ग का प्रतिनिधि हो जाता है। फिर वहीं वह कहता है कि कभी-कभी सामान्य का काम उन नामो से चलता है जो विशेष वस्तुओं के होते हैं। इस मत को हम नामवाद (Nominalism) कहेंगे। वास्तव में तत्त्वतः यह भी विशेषवाद ही है। इन दोनो मतो मे सामान्य का अस्तित्व नहीं है। विशेषवाद में विशेष वस्तुएं ही सत् है और उन्हीं से सामान्यीकरण (Generalisation) का काम सम्पन्न हो जाता है। नामवाद मे विशेष वस्तुओं से नहीं, किन्तु इनके नामो से सामान्यीकरण हो जाता है। इस मत मे भी सत् केवल विशेष है।

सिद्धांतावली मे बर्कले नामवाद और विशेषवाद को छोड़ देता है और दूसरे तथा चौथे मत को अपनाता है। वह वस्तु और प्रत्यक्ष (प्रतिबिंब) में अन्तर नहीं करता है। इसलिए उसका विशेषवाद अब विशेष प्रत्ययवाद हो जाता है। प्रत्यक्ष प्रत्यय स्वतः विशेष हैं। किन्तु अपने प्रकार के सभी प्रत्ययो का प्रतिनिधि होने के कारण वह सामान्य हो जाता हैं। इस प्रकार विशेष प्रत्ययवाद का प्रतिपादन करते हुए वह नामवाद की कमियो को बताता है। नाम अनिश्चित, अनर्थक तथा भ्रामक हैं, अतः उनसे सामान्यीकरण का व्यापार नहीं सम्पन्न हो सकता है। वास्तव में नाम या शब्द नहीं, किन्तु उनके अर्थ (Meaning) सामान्य है। कोई विशेष प्रत्यय स्वतः सामान्य नहीं है, वह अर्थतः सामान्य है। कोई विशेष प्रत्यय अन्य विशेष प्रत्ययों का प्रतिनिधि इसलिए हो जाता है कि उन सबका अर्थ एक ही होता है। इस तरह विशेष प्रत्ययवाद का विकास सामान्य अर्थ-सिद्धान्त में हो जाता है।

अब अन्त में पाँचवाँ मत आता है जिसका कुछ उल्लेख **'सिद्धांतावली'** और **'दृष्टि का नवीन सिद्धांत'** मे होता है और विशेष विवरण **अल्सिफ्रान** और **'दृश्य-भाषा के सिद्धान्त'** इन दो पुस्तको में हुआ है। इस मत को हम संकेतवाद (theory of signs) कह सकते है। यह अन्य चार मतों का समन्वय है। उनके समन्वय का आधार यह है कि उनमें से प्रत्येक मत में ज्ञान को प्रतिनिधिमूलक (Representative) माना गया है। विशेषवाद में विशेष वस्तु, विशेष प्रत्ययवाद में विशेष

प्रत्यय, नामवाद में नाम और सामान्य अर्थ-सिद्धान्त में अर्थ अन्य वस्तुओं या प्रत्ययों के प्रतिनिधि या प्रतीक हैं। अतः स्पष्ट है कि विशेष वस्तु या प्रत्यय, नाम और अर्थ, प्रतीक हैं। उन सबको हम संकेत शीर्षक के अन्दर रख सकते हैं।

संकेत स्वयं एक विशेष तथ्य या प्रत्यय होता है। किन्तु यह अपने अतिरिक्त अन्य तथ्यों या प्रत्ययों को संकेतित, व्यंजित, ध्वनित या लक्षित करता है। जो प्रत्यय संकेतित होता है उसे संकेतित अर्थ, व्यंग्य अर्थ या लक्ष्य अर्थ कहा जा सकता है। संकेत और संकेतित अर्थ का संबंध बर्कले की ज्ञान-मीमांसा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसका अर्थ है कि एक प्रत्यय दूसरे प्रत्यय को संकेतित करता है या स्मरण कराता है। किन्तु संकेत करना एक महत्त्वपूर्ण व्यापार है जिसे संकेत-व्यापार कहा जाता है। यह व्यापार उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना प्रत्यक्ष-व्यापार या अनुमान-व्यापार। अतः इसका पृथक् विवेचन करना आवश्यक है। यहाँ पर इतना ही कहना उपयुक्त होगा कि बर्कले के मत से सामान्य ज्ञान संकेत-व्यापार पर निर्भर है। वह कहता है, "यदि मैं भूल नहीं करता, तो सिद्ध होगा कि जहाँ तक सभी विज्ञान सार्वभौम तथा मानव बुद्धि से उत्पन्न हैं वहाँ तक उनके साक्षात् विषय संकेत हैं[१]।"

७ संकेतवाद

संकेत-व्यापार संकेत और संकेतित अर्थ का सम्बन्ध है। यह एक मानसिक व्यापार है। बर्कले ने दिखाया है कि हमारे अधिकांश प्रत्यक्ष वास्तव में संकेत-व्यापार से ज्ञात प्रत्याशाएं (Expectations) हैं, न कि प्रत्यक्ष (Perceptions)। उदाहरण के लिए, हम कहते हैं कि हमें दृष्टि-संवेदना से दूरी का प्रत्यक्ष होता है। किन्तु वास्तव में दूरी का प्रत्यक्ष स्पर्श-संवेदना और संचालन-संवेदना से होता है और दृष्टि-संवेदना से केवल उसका संकेत होता है। "दृष्टि-प्रत्यय स्पर्श-प्रत्यय के लक्षण और संकेत हैं[२]।" बचपन से ही दृष्टि-प्रत्यय और स्पर्श-प्रत्यय साथ-साथ घटित होते हैं। यह साहचर्य उनके बार-बार एकसाथ घटने से दृढ़ हो जाता है। इसी साहचर्य के आधार पर दृष्टि-प्रत्यय स्पर्श-प्रत्यय का संकेत हो जाता है। इस प्रसंग में बर्कले कहता है कि यदि किसी जन्मान्ध को दृष्टि-लाभ हो जाय तो दृष्टि-लाभ के बाद उसे दृष्टि-संवेदना से दूरी का ज्ञान न होगा। दृष्टि-लाभ के पूर्व उसे दूरी का ज्ञान केवल स्पर्श-संवेदना और संचालन-संवेदना से होता रहा है और इसका साहचर्य उस दृष्टि-संवेदना से नहीं हो रहा है जो उसे दृष्टि-लाभ के बाद होती

१. अल्सिफ्रोन ७।१३
२. बर्कले-संग्रह पृ० ५८

है। अतः दृष्टि-संवेदना और स्पर्श-संवेदना का साहचर्य उसके मन में नहीं है। इसलिए दृष्टि-लाभ के बाद जो कुछ वह देखेगा उसे वह केवल अपने मन के अन्दर समझेगा। वह जो वर्ण और प्रकाश देखेगा वह उसके मन में होगा, न कि उसके मन से बाहर। जो जन्मांध नहीं हैं वे समझते हैं कि वर्ण और प्रकाश उनके मन के बाहर हैं। उनकी यह समझ वास्तव में नासमझी है। इसका कारण संकेत-व्यापार है जिसके द्वारा दृष्टि-प्रत्यय स्पर्श-प्रत्यय को संकेतित करते हैं।

संकेत-व्यापार केवल विभिन्न इन्द्रियों के विषयों को ही सम्बन्धित नहीं करता है वरन् इन्द्रियगोचर तथा कल्पना के विषयों को भी सम्बन्वित करता है। बर्कले कहता है, "जो प्रत्यय अन्य प्रत्ययों के साथ सम्बन्धित देखे जाते हैं उन्हें संकेत समझा जाता है। उनके द्वारा वे वस्तुएँ कल्पना में संकेतित या ध्वनित होती हैं जो इन्द्रियों से यथार्थतः प्रत्यक्ष नहीं की जातीं। वे वस्तुए कल्पना के विषय है और मात्र कल्पना उनको प्रत्यक्ष करती है। और, जैसे शब्द अन्य वस्तुओं का संकेत करते हैं, वैसे अक्षर अन्य शब्दों को और सामान्यतः सभी संकेत संकेतवान् वस्तुओं को लक्षित करते हैं, क्योंकि कोई ऐसा प्रत्यय नहीं है जो मन में किसी दूसरे प्रत्यय को न उत्पन्न कर सके जिसके साथ वह प्रायः संयुक्त रहा है[1]।"

फिर संकेत-व्यापार केवल प्रत्ययों के साहचर्य पर ही नहीं निर्भर है। वह कार्यकारण-नियम पर तथा सादृश्य-सम्बन्ध पर भी निर्भर है। "कुछ उदाहरणों में कोई संकेत अपने अनुषंगी को एक प्रतिबिम्ब के रूप में, कुछ में एक कार्य के रूप में और कुछ में एक कारण के रूप में लक्षित कर सकता है। किन्तु जहाँ ऐसा सादृश्य-सम्बन्ध या किसी प्रकार का आवश्यक सम्बन्ध नहीं है वहाँ दो वस्तुएँ अपने मात्र सह-अस्तित्व से या दो प्रत्यय अपने मात्र सहोपलंभ से, एक दूसरे को ध्वनित या संकेतित करते हैं। यहाँ उसका सम्बन्ध आद्योपान्त यादृच्छिक है[2]।"

अब प्रश्न है कि एक प्रत्यय जब दूसरे प्रत्यय को संकेतित करता है तो क्या यह संकेत-व्यापार स्वाभाविक है? बर्कले कभी इसको साहचर्य, अभ्यास तथा आदत से जन्य मानता है तो कभी इसका आधार कारणता-सम्बन्ध, साहचर्य-सम्बन्ध, सादृश्य-सम्बन्ध, सह-अस्तित्व, सहोपलब्धि या कोई अन्य आवश्यक सम्बन्ध मानता है। सभी दशाओं में वह संकेत तथा संकेतित अर्थ का सम्बन्ध यादृच्छिक मानता है। किन्तु यह यादृच्छिक सम्बन्ध क्या है?

इस प्रसंग में बर्कले कहता है—' विविध और विपरीत यादृच्छिक सम्बन्धों की

---

१ वही, पृ० २६१।

२. वही, पृ० २६१-२६२।

बहुत बड़ी संख्या किसी भाषा को उत्पन्न करती है। यदि यह यादृच्छिक सम्बन्ध मनुष्यों के द्वारा स्थापित किया जाय तो वह एक कृत्रिम भाषा है। यदि वह प्रकृति के रचयिता द्वारा स्थापित किया जाय तो वह एक प्राकृतिक भाषा है[1]।"

इस तरह यद्यपि संकेत और संकेतित अर्थ में कृत्रिम संबन्ध होता है, तथापि कुछ सम्बन्ध हैं जो मानव-मन के मौलिक ढाँचे से आविर्भूत होते हैं, अर्थात् जो मानव मन के स्वभाव में निहित हैं। रीड ने इनका अच्छा वर्णन किया है।" मन की जिस शक्ति को दार्शनिकगण पूर्णतया भूल गये हैं उसको व्यक्त करने के लिए मैं संकेत से अधिक उपयुक्त शब्द नहीं पाता हूँ। इसी से हमारे साधारण बोध जो न संस्कार हैं और न प्रत्यय, तथा विश्वास के अनेक भौतिक सिद्धान्त उत्पन्न होते हैं। एक प्रकार का संकेत है जो नैसर्गिक या मौलिक नहीं है। यह अनुभव और आदत का फल है :—किन्तु मैं समझता हूँ कि नैसर्गिक संकेत (Natural Suggestion) भी होते हैं जैसे, वह संवेद वर्तमान अस्तित्व के बोध का और इस विश्वास का कि हम जो प्रत्यक्ष या अनुभव करते हैं, संकेत करता है; स्मृति अतीत अस्तित्व के बोध का और इस विश्वास का कि हम जो स्मरण करते हैं वह भूतकाल में था, संकेत करती है, और प्रत्यय एक मन के बोध का, इसके अस्तित्व के विश्वास का और हमारे प्रत्ययों के साथ इसके संबन्ध के विश्वास का संकेत करते हैं[2]।"

ह्यूम संकेत-व्यापार को मात्र प्रत्ययों का साहचर्य कहता है। बर्कले भी संकेतवाद को प्रत्ययों के साहचर्य के आधार पर ही मानता है। किन्तु वह इसे अपर्याप्त समझता है। उसके मत से संकेत-व्यापार में कुछ मानसिक व्यापार निहित हैं जो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से भिन्न हैं। फिर इसका आधार प्रकृति की एकरूपता भी है। दूसरे शब्दों में संकेत और संकेतित अर्थ का संबन्ध नैसर्गिक है या ईश्वर द्वारा स्थापित है। बर्कले संकेत-व्यापार का उतना स्पष्ट वर्णन नहीं करता है जितना रीड ने किया है। फ्रेज़र ने कहा है कि "उसके संकेत का अर्थ आदत है, किन्तु ऐसी आदत जो अनजाने युक्तियुक्त हो सकती है[3]।"

रीड ने इस आदत की युक्तियुक्तता का वर्णन किया है। आगे चलकर कांट ने इसका विशुद्ध वर्णन किया है। कांट की वर्गणाएँ वे आधार हैं जिन पर संकेत-व्यापार निर्भर है।

वास्तव में संकेत-ग्रह एक मौलिक अनुभव है। यह इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तथा अनुमान से भिन्न है। यह बोध से भी भिन्न है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से इसका भेद पहले

---

१. वही पृ० २६२।
२. वही, पृ० १७० में उदधृत।
३. वही, पृ० १७१।

देख लिया गया है । संकेत इन्द्रियगोचर नहीं होते हैं । वे इन्द्रियगोचरों में ध्वनित या व्यंजित होते हैं । फिर संकेत इन्द्रिय में संकेतित या व्यंजित होते हैं और अनुमान बुद्धि से सम्पादित होते हैं । "जहाँ आवश्यक संबन्ध हैं वहाँ हम कार्यों में कारणों का, कारणों से कार्यों का और गुणों का एक दूसरे में अनुमान करते हैं[1] ।" इस प्रकार अनुमान आवश्यक संबन्ध पर निर्भर हैं । संकेत-ग्रह यादृच्छिक संबन्ध पर निर्भर है । इसीलिए बर्कले कहता है कि संकेतित होना एक बात है और अनुमानित होना दूसरी[2] । अन्ततः बोध और संकेत-ग्रह में यह अन्तर है कि बोध का इन्द्रिय से लेशमात्र भी संस्पर्श नहीं है किन्तु संकेत-ग्रह का इन्द्रिय से संस्पर्श है । फ्रेजर ने ठीक ही कहा है कि संवेद्य संकेतों की हमारी शक्ति (संकेत-ग्रह) न तो मूल प्रवृत्ति है और न आवश्यक अनुमान, किन्तु हमारे परंपरागत अनुभव में संकेतित प्रत्याशा है[3] ।

संकेतवाद का सिद्धान्त हमारे अधिकांश प्रत्यक्षों को प्रत्याशा सिद्ध करता है । उदाहरण के लिए, जब कोई व्यक्ति कुछ दूर पर किसी वस्तु को देखता है तब वह वस्तुतः भावी संवेदों का पूर्वदर्शन कर रहा है और जो देख रहा है, वह इन्हीं भावी संवेदों का संकेत है । देखना या दर्शन भविष्य-दर्शन हो जाता है ।

किन्तु प्रश्न है कि क्या संकेतवाद के द्वारा सामान्य प्रत्ययों की व्याख्या होती है ? इसके उत्तर में कहा जाना चाहिए कि यह सिद्धान्त स्वयं कुछ सामान्य प्रत्ययों पर निर्भर है, क्योंकि जिन संबन्धों पर संकेत-व्यापार निर्भर है वे सामान्य प्रत्यय हैं । फिर संकेत-ग्रह सक्रिय मानसिक व्यापार पर भी निर्भर है । इसमें मन निष्क्रिय नहीं है । इससे सिद्ध है कि जब संकेतवाद की व्याख्या के लिए सामान्य प्रत्यय और बोध आवश्यक हैं तब कैसे यह सिद्धान्त सामान्य प्रत्यय और बोध की व्याख्या कर सकता है ?

बर्कले के मत को सहानुभूतिपूर्वक देखने से पता चलता है कि वह संकेतवाद के द्वारा बोध की व्याख्या नहीं करता है और बोध तथा सामान्य प्रत्यय में अन्तर करता है । संकेतवाद या संकेत-ग्रह के आधार सामान्य प्रत्यय नहीं किन्तु बोध हैं । यदि इस मत को मान लिया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि संकेतों के द्वारा सामान्य प्रत्ययों का काम चल जाता है ।

वास्तव में संकेत-ग्रह ज्ञान की एक तीसरी प्रणाली है जिसमें अनुभवमूलक प्रणाली और बोधमय प्रणाली दोनों का सहयोग है । संकेत-ग्रह का आधार बोध

---

१. वही, पृ० २६३ ।

२ वही, पृ० २६३ ।

३ वही पृ० २६३ टिप्पणी ।

है। संकेत-ग्रह के विषय इन्द्रियगोचर वस्तुएँ हैं। बोध तथा इन्द्रिय-प्रत्यक्ष दोनों मिलकर संकेत-ग्रह को उत्पन्न करते हैं।

८ भूततत्त्व का खण्डन

बर्कले किसी भी अर्थ में भूततत्त्व के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता है। वह पूर्णतया अभौतिकवाद को मानता है और भौतिकवाद के खण्डन को अपने जीवन तथा दर्शन का प्रमुख उद्देश्य समझता है।

विभिन्न लोग भौतिक तत्त्व का विभिन्न अर्थ करते हैं। बर्कले इन समस्त अर्थों का विचार करता है और सभी अर्थों में भौतिक तत्त्व का खण्डन करता है। प्रत्येक अर्थ में माना जाता है कि भौतिक तत्त्व आत्मा या मन से स्वतन्त्र है और अचेतन हैं। बर्कले इसका खण्डन करता है।

(क) सर्वप्रथम वह इस धारणा को लेता है कि भौतिक वस्तु एक सामान्य वस्तु या सत् है। सांख्यदर्शन की प्रकृति या भौतिकवादियों का मूल भौतिक द्रव्य इसके उदाहरण के रूप में लिये जा सकते हैं। यहाँ माना जाता है कि जिन वस्तुओं को हम देखते हैं वे इसी द्रव्य से उत्पन्न या विकसित हैं।

इस अर्थ में भौतिक तत्त्व का खण्डन अमूर्त प्रत्ययों के खण्डन के साथ ही साथ हो जाता है। वास्तव में भूततत्त्व का आधार अमूर्त प्रत्यय का सिद्धान्त है। इसलिए अमूर्त प्रत्यय का खण्डन भूततत्त्व का भी खण्डन है। "यदि हम प्रश्न करें कि सर्वाधिक कुशल दार्शनिक भौतिक द्रव्यों से क्या अभिप्राय लेते हैं तो हम उनको स्वीकार करते हुए पायेंगे कि वे इन ध्वनियों को अन्य अर्थ नहीं प्रदान करते, सिवा यह कि यह एक सामान्य सत् का प्रत्यय है और इसके साथ इसके आश्रित आकस्मिक गुणों का सापेक्ष प्रत्यय लगा हुआ है। सत् का सामान्य प्रत्यय मुझे अन्य सभी प्रत्ययों की अपेक्षा सबसे अधिक अमूर्त और अचिन्त्य प्रतीत होता है[1]।" "इस प्रकार 'भौतिक द्रव्य' इन शब्दों के अर्थ में जो दो शब्द हैं उनको जब मैं सोचता हूँ तब मुझे निश्चित ज्ञात होता है कि इन शब्दों के साथ कोई स्पष्ट अर्थ नहीं लगा है।" कोई मनुष्य किसी सामान्य सत् की कल्पना नहीं कर सकता है। प्रत्येक सत् विशेष हैं। जो सामान्य सत् होगा वह समस्त गुणों से पृथक् होगा। किन्तु समस्त गुणो से पृथक् किया गया द्रव्य अन्धकारमय, भ्रान्त और निरर्थक हैं। वह पूर्णतया अचिन्त्य हैं। यही नहीं, उसके सोचने में बाध (Contradiction) हैं, क्योंकि वह मन से असंयुक्त माना जाता है और फिर भी मन से चिन्त्य समझा जाता है। जो मन से चिन्त्य है वह मन से संयुक्त है, और मन से असंयुक्त नहीं है।

१. वही, पृ० ४०।

यदि दुर्जन-तोष-न्याय से इस असम्भव कल्पना को सम्भव भी माना जाय तो प्रश्न उठता है कि इसका ज्ञान कैसे सम्भव है। "इसे हम या तो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा और या तो बुद्धि द्वारा जान सकते हैं। जहाँ तक इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की बात है वहाँ तक हम केवल अपने संवेदों, प्रत्ययों या उन वस्तुओं को जिन्हें हम इन्द्रियों से साक्षात् देखते हैं, फिर हम उन्हें चाहे जिस नाम से पुकारें, जानते हैं। वे हमें सूचना नहीं देते कि मन से बाहर या अदृष्ट वस्तुओं का अस्तित्व है जो दृष्ट वस्तुओं के समान (संवादी) हैं।" फिर हम बुद्धि के द्वारा भी भूततत्त्व को नहीं जान सकते। "हम जो देखते हैं उससे कौन-सी युक्ति हमें यह विश्वास दिला सकती है कि मन से बाहर वस्तुओं का अस्तित्व है क्योंकि भूततत्त्व के मानने वाले स्वयं नहीं बताते कि उनमें और हमारे प्रत्ययों में कोई अनिवार्य सम्बन्ध है[1] ?" वास्तव में दृष्ट वस्तुओं के आधार पर अदृश्य या अदृष्ट वस्तु का अनुमान बुद्धि नहीं कर सकती है। बुद्धि जो अनुमान करती है वह एक दृष्ट वस्तु के आधार पर दूसरी दृष्ट या दृश्य वस्तु का ज्ञान है। भूततत्त्व अदृष्ट या अदृश्य है। यदि वह दृष्ट या दृश्य है तो वह प्रत्यय है। यदि वह अदृष्ट या अदृश्य है तो वह अचिंत्य और असम्भव है। दोनों दशाओं में भूततत्त्व का अस्तित्व नहीं है।

(ख) साधारण लोग समझते हैं कि जिन विशेष वस्तुओं को हम देखते हैं वे ही भौतिक द्रव्य हैं। उदाहरण के लिए, पेड़, सेब आदि भौतिक द्रव्य हैं। इन भौतिक द्रव्यों का ज्ञान हमें प्रत्यक्ष से होता है, ऐसा कहा जाता है।

इस मत के खण्डन में बर्कले कहता है कि जिस विशेष वस्तु को हम देखते हैं वह वास्तव में विशेष वस्तुओं का संघात हैं। सेब किसी वर्ण, रस, गन्ध और आकार का संघात है[2]। बेर-फल विभिन्न इन्द्रियों से संवेद्य प्रत्ययों का संघात है। इसी प्रकार सभी विशेष वस्तुएँ प्रत्ययपुंज हैं।

साक्षात् प्रत्यक्ष से हमें प्रत्येक इन्द्रिय के साक्षात् विषय ज्ञात होते हैं जैसे वर्ण, प्रकाश, रस, गन्ध, शीतलता, उष्णता, आकार आदि। ये सभी प्रत्यय हैं। हम जिन वस्तुओं को जानते हैं वे इन्हीं प्रत्ययों के संघात हैं। इन प्रत्ययों और इनके संघात के अतिरिक्त हम कुछ नहीं जानते हैं। अतः यदि इनके अतिरिक्त कोई भौतिक द्रव्य है तो वह अप्रत्यक्ष और अगोचर है।

(ग) कुछ लोग कहते हैं कि भौतिक द्रव्य हमारे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का कारण या स्रोत है। हम भले ही उसका प्रत्यक्ष न कर सकें, वह हमारे प्रत्ययों को हमारे अन्दर

---

१. वही, पृ० ४१।

२. वही, पृ० २८।

उत्पन्न कराता है। वह उत्तेजना (Stimulus) है और हमारे प्रत्यक्ष उसके प्रति की गई प्रतिक्रिया (Response) हैं।

इन मत के खण्डन में बर्कले का कहना है कि भौतिक द्रव्य को निष्क्रिय कहा जाता है। अतः वह कारण नहीं हो सकता है। फिर वह प्रत्ययों का कारण नहीं हो सकता है क्योंकि वह अचेतन माना जाता है। जो अचेतन है वह आध्यात्मिक या मानसिक प्रत्ययों का कारण कैसे हो सकता है ? प्रत्ययों का कारण कोई आध्यात्मिक सत् होना चाहिए।

यह सोचना भ्रम है कि प्रत्यय भौतिक विषयों के अनुरूप या प्रतिविम्ब हैं। "प्रत्यय मात्र प्रत्यय को छोड़कर और कुछ नहीं है। कोई वर्ण या आकार अन्य वर्ण या आकारों को छोड़कर और किसी वस्तु की भाँति नहीं हो सकता। यदि हम अपने विचारों का ठीक पर्यवेक्षण करें तो ज्ञात होगा कि केवल प्रत्ययों के बीच होने वाली समानता को छोड़कर समानता को सोचना मेरे लिए असंभव है। पुनश्च मैं पूछता हूँ कि जो तथाकथित मूल सत या वाह्य वस्तुएँ हैं जिनके प्रतिविम्ब या चित्र हमारे प्रत्यय हैं, क्या वे स्वयं दृश्य हैं या अदृश्य ? यदि वे दृश्य हैं तो वे प्रत्यय हैं और हमने अपनी वात को सिद्ध कर दिया है। किन्तु यदि तुम कहते हो कि वे अदृश्य हैं तो मैं सभी से पूछता हूँ कि वर्ण कुछ ऐसी वस्तु की भाँति हैं जो अदृश्य है, कोमलता तथा कठोरता कुछ ऐसी वस्तु की भाँति हैं जो अस्पृश्य है, एवमादि कहने का क्या कोई अर्थ है[१] ?" स्पष्ट है कि नहीं है।

(घ) लाक ने भौतिक तत्त्व को प्राथमिक गुणों का आश्रय बताया है। प्राथमिक गुण हैं आकार, गति, विस्तार, संख्या तथा ठोसपन। भौतिक द्रव्य इनका आश्रय है।

यह मत प्राथमिक गुण और द्वैतीयक गुण के भेद पर निर्भर हैं। अतः बर्कले पहले प्राथमिक गुण और द्वैतीयक गुण के भेद का ही खण्डन करता है। उसके मत से सभी गुण प्रत्यय हैं और मात्र मन में हैं। उनके भेद-खण्डन में वह निम्नलिखित युक्तियाँ देता है :—

(१) प्राथमिक गुणों को द्वैतीयक गुणों से पृथक् करके नहीं सोचा जा सकता है। "जो लोग कहते हैं कि आकार, गति तथा शेष प्राथमिक गुण मन के विना अचित् द्रव्यों में अस्तित्व रखते हैं, वे उसी समय स्वीकार करते हैं कि वर्ण, ध्वनि, उष्णता, शीतलता एवमादि द्वैतीयक गुण जिनको वे मात्र मन में स्थित संवेद कहते हैं—मन के विना अस्तित्व नहीं रखते। यदि यह निश्चित हो जाय कि वे प्राथमिक गुण अपृथ-

---

१ वही, पृ० ३४।

कतया अन्य संवेद्य गुणों से सम्बद्ध हैं और विचार मात्र से भी उनसे पृथक् नहीं किए जा सकते, तो यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि वे मात्र मन में अस्तित्व रखते हैं। किन्तु मैं किसी भी मनुष्य से यह पूछना चाहता हूँ कि वह सोचकर तथा प्रयत्न कर देखे कि क्या वह विचार के किसी अमूर्तीकरण के द्वारा अन्य संवेद्य गुणों के बिना किसी पिण्ड के विस्तार और गति को सोच सकता है। जहाँ तक मेरा उत्तर है मैं स्पष्ट देखता हूँ कि किसी विस्तारमय और गतिमान् पिण्ड का प्रत्यय प्राप्त करना मेरी शक्ति के बाहर है यदि मैं इसको कुछ वर्ण या अन्य संवेद्य गुण जो मात्र मन में स्थित माने जाते हैं, नहीं प्रदान करता। संक्षेप में समस्त अन्य गुणों से पृथक् कर देने से विस्तार, आकार तथा गति अचिन्त्य हो जाते हैं। अतः जहाँ अन्य संवेद्य गुण हैं वहीं इनको भी होना चाहिए। एक शब्द में इनको भी मन में ही होना चाहिए[1]।"

यहाँ बर्कले की मनोवैज्ञानिक खोज उल्लेखनीय है। वह कहता है कि कोई वर्ण या रंग ऐसा नहीं है जो विस्तारमय न हो और कोई विस्तार ऐसा नहीं है जो रंगीन या वर्णयुक्त न हो। अतः वर्ण जो द्वैतीयक गुण माना जाता है और विस्तार जो प्राथमिक गुण माना जाता है दोनों अपृथक् तथा सह-अवस्थित हैं। दोनों को भिन्नाश्रय कहना गलत है। दोनों एकाश्रय हैं।

(२) तथाकथित प्राथमिक गुण मन पर वैसे ही निर्भर हैं जैसे तथाकथित द्वैतीयक गुण। "बड़ा और छोटा तथा तेज और मन्द मन के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं अस्तिमान नहीं माने जा सकते, क्योंकि जैसे इन्द्रियों का ढाँचा या अवस्थान बदलता है वैसे ही बिलकुल वे भी सापेक्ष तथा परिवर्तनशील हैं[2]।" "एक ही चक्षु उनको (विस्तार तथा आकार को) विविध स्थानों से विविध देखता है या एक ही स्थान से विविध चक्षु उनको विविध देखते हैं।" अब गति को लीजिए। "यदि प्रत्ययों का क्रमशः आवागमन मन में कुछ तेज हो जाता है तो यह माना जाता है कि बाह्य विषय में बिना किसी परिवर्तन के भी गति कुछ मन्द दिखाई पड़ती है; गति की तीव्रता तथा मन्दता प्रत्ययों के क्रमिक आवागमन पर निर्भर है। फिर क्या कोई गति हो सकती है जो न तीव्र हो न मन्द ? स्पष्ट है कि नहीं हो सकती। इस प्रकार विस्तार, आकार और गति प्रत्ययाधीन हैं और प्रत्ययों से स्वतन्त्र नहीं हैं। जैसे मीठापन यथार्थतः मीठी वस्तु में नहीं है, क्योंकि मीठी वस्तु के अपरिवर्तित रहने पर भी मीठापन कड़वे-पन में बदल जाता है, जैसे बुखार की हालत में या स्वाद के किसी प्रकार बिगड़ जाने

१. वही, पृष्ठ ३६।
२. वही पृष्ठ ३७।

पर; वैसे ही विस्तार, आकार तथा गति भी विस्तृत, आकारवान् और गतिमान् पिण्ड में नहीं है क्योंकि वे दृष्टि-परिवर्तन और स्पर्श-परिवर्तन के अनुसार बदला करते हैं। यही हाल ठोसपन का भी है। फिर संख्या को प्राथमिक गुण कहा जाता है। किन्तु यह पूर्णतया मन की रचना है। "किसी वस्तु को मन जिन विविध परिप्रेक्ष्यों से देखता है उन्हीं के अनुरूप वह वस्तु संख्या के विविध अंशों से सम्बोधित होती है। इस प्रकार एक ही विस्तार एक या तीन या छत्तीस होता है, यदि मन इसको क्रमशः गज, फुट और इंच के सन्दर्भ में देखता है[१]।" फिर यदि इकाई (unity) को वस्तुगत माना जाय तो कहा जायगा कि वास्तव में इकाई एक अत्यन्त अमूर्त प्रत्यय है जो अचिन्त्य है[२]।

इस तरह प्रत्येक तथाकथित प्राथमिक गुण का विचार करके बर्कले ने दिखाया है कि यदि कोई भी व्यक्ति उन तर्कों का विचार करे जो स्पष्टतः सिद्ध करते हैं कि वर्ण और रस मात्र मन में है तो उसे ज्ञात होगा कि वे ही तर्क उसी जोर से वही बात, विस्तार, आकार और गति के बारे में भी सिद्ध कर सकते हैं[३]। अतः प्राथमिक गुणों और द्वैतीयक गुणों का अन्तर मिथ्या है।

प्राथमिक गुणों और द्वैतीयक गुणों का भेद न रहने के कारण इसके आधार पर भूततत्त्व को सिद्ध करने वाली युक्ति स्वयं धराशायी हो जाती है। कोई ऐसा गुण या प्रत्यय नहीं है जिसके आश्रय के लिए भूततत्त्व को माना जाय। प्रत्येक प्रत्यय या गुण का आश्रय मन है।

कुछ आधुनिक भौतिकवादी कहते हैं कि यह ठीक है कि प्राथमिक और द्वैतीयक गुणों में भेद नहीं है, किन्तु इनके अभेद से सिद्ध होता है कि सभी गुणों का आश्रय भौतिक तत्त्व है। इस मत के खण्डन में कहना चाहिए कि जो भी ज्ञान का विषय है उसका सम्बन्ध मन से है और वह मन से असम्बन्धित नहीं हो सकता है। इसलिए संवेद्य गुणों का सम्बन्ध भौतिक तत्त्व से नहीं वरन् मन से है।

फिर आश्रय या अधिष्ठान के प्रत्यय पर भी विचार होना चाहिए। किस अर्थ में कहा जाता है कि भूततत्त्व प्राथमिक गुणों का आश्रय या अधिष्ठान है? क्या संवेद्य गुणों का अधिष्ठान असंवेद्य हो सकता है? स्पष्टतः ऐसा नहीं हो सकता है। भूततत्त्व के प्रत्यय में स्पष्टतः बाध है, क्योंकि वह एक अदृश्य वस्तु है जो दृश्य का आधार या अधिष्ठान है। वह इस प्रकार दृश्य और अदृश्य दोनों है जो प्रकट बाध है। अतः भूततत्त्व मिथ्या है।

---

१. वही, पृ० ३७।
२. वही पृ० ३८।
३. वही पृ० ३९।

पुनश्च "जब कहा जाता है कि भूततत्त्व विस्तार का आश्रय है, तब इसका क्या अर्थ है ? आप कहते हैं—मेरे पास भूततत्त्व का कोई प्रत्यय नहीं है। इसलिए मैं इसको नहीं समझ सकता हूँ। मैं उत्तर देता हूँ कि यद्यपि आपके पास कोई विधेयात्मक प्रत्यय नहीं है तथापि यदि आपका कुछ अर्थ है तो आपको भूततत्त्व का कुछ-न-कुछ सापेक्ष प्रत्यय रखना पड़ेगा। यद्यपि आप नहीं जानते कि यह (भूततत्त्व) क्या है, तथापि आपसे प्रत्याशा की जाती है कि आकस्मिक गुणों के साथ इसका जो सम्बन्ध है और जिस अर्थ में यह उनका आश्रय है उसे आप जानते हैं। यह स्पष्ट है कि यहाँ आश्रय को इसके प्रचलित या शाब्दिक अर्थ में नहीं लिया जा सकता है, जैसे हम इस कथन में लेते हैं कि स्तम्भ भवन के आश्रय हैं। अतः किस अर्थ में आश्रय को समझना चाहिए[1] ?" उत्तर है कि यहाँ आश्रय निरर्थक है।

(ङ) अन्त में भौतिकवाद की वह कल्पना है जिसके अनुसार भूततत्त्व अज्ञात 'किंचित' (कुछ) है जो न द्रव्य है न उपलक्षण, न आत्मा है न न प्रत्यय और जो निष्क्रिय, अचित, अविभाज्य, अचल, अविस्तीर्ण आदेश है[2]। भौतिकवाद के विरोध में दी गई उपर्युक्त युक्तियाँ इस भूततत्त्व का खंडन नहीं करती हैं।

किन्तु बर्कले इस प्रकार के भूततत्त्व को मात्र अवस्तु कहता है। "यदि आपको अच्छा लगता है तो आप भूततत्त्व शब्द का प्रयोग इस अर्थ में कर सकते हैं जिस अर्थ में अन्य लोग अवस्तु (Nothing) का करते हैं[3]।" इस प्रकार का भूततत्त्व वही संस्कार मन में उकसाता है जो अवस्तु उकसाती है।

फिर बर्कले प्रश्न करता है कि भूततत्त्व ज्ञात है या अज्ञात ? यदि वह अज्ञात और अज्ञेय है तो वह अर्थशून्य है, अनावश्यक है। यदि वह ज्ञात और ज्ञेय है तो वह प्रत्यय है, न कि प्रत्यय-भिन्न कोई तत्त्व। दोनों दशाओं में भूततत्त्व का अस्तित्व नहीं है।

अन्तत: वह कहता है कि भौतिकतत्त्व के प्रत्यय में अनवस्था-दोष है। देखिए, भौतिकवादी कहते हैं कि भौतिक तत्त्व विस्तार का आश्रय है। विस्तार का जो आश्रय हो उसे स्वयं विस्तृत होना चाहिए, अन्यथा वह विस्तार का आश्रय न हो सकेगा। फलतः प्रत्येक भौतिक पदार्थ विस्तार का आश्रय होने के कारण स्वतः अन्य विस्तार को अवश्य रखता है जिसके द्वारा यह आश्रय होने के योग्य होता

१. वही, पृ० ४०।
२. वही, पृ० ८१।
३. वही, पृ० ८१-८२।

है, और एवमादि अनवस्था तक[1]।" भौतिकवादी इसका उत्तर दे सकते हैं कि यद्यपि भौतिक पदार्थ विस्तार का आश्रय है किन्तु वह स्वयं विस्तृत नहीं है। इसके प्रति बर्कले का कहना है कि इस प्रकार का भौतिक पदार्थ सर्वथा गुणरहित होगा और गुणरहित होने के कारण शून्य या असत् होगा।

इस प्रकार बर्कले ने भौतिकवाद की कटुतम आलोचना की है। उसकी आलोचना का सारांश यह है कि (क) या तो भौतिक तत्त्व का प्रत्यय प्रकट बाध है और या तो (ख) वह अचित्य तथा असम्भव है।

उसकी आलोचना का बड़ा मखौल उड़ाया गया है। अपने समय में बर्कले की ख्याति उस दार्शनिक के रूप मे हो चली थी जो कहता है कि भौतिक तत्त्व का अस्तित्व नही है। बासवेल ने लिखा है कि 'यद्यपि हमे विश्वास है कि उसका मत ठीक नहीं है तथापि उसका खण्डन असम्भव है। किन्तु फिर भी जब जान्सन को यह मत बताया गया तो उसने अपने पैर से एक बड़े पत्थर को बड़ी ताकत से मारा और स्वयं उससे खिसक कर दूर जा पड़ा। उसने कहा—मैं इस प्रकार इसका खंडन करता हूँ[2]।

जान्सन की आलोचना मूक है। फिर उससे बर्कले का मत खण्डित नहीं होता है, उल्टे वह स्वयं लुढ़क पड़ता है। यदि उसका अभिप्राय यह दिखाना है कि बर्कले भूततत्त्व की आलोचना करने में स्वयं लुढ़क पड़ता है और भूततत्त्व को चाहे जितना मारो वह अपनी जगह पर रहेगा और उसकी आलोचना स्वयं गिर पड़ेगी तो वह कुछ हद तक अपने अभिप्राय को बता रहा है। किन्तु यदि इस तरह दर्शन और विज्ञान की आलोचना होगी तो दर्शन और विज्ञान का पतत ही हो जायगा। चिन्तन का जवाब ईंट-पत्थर से या मार-पीट से नहीं दिया जा सकता है। चिन्तन का जवाब चिन्तन से होना चाहिए। इस प्रकार जो भी बर्कले के इस खण्डन का खण्डन करने चलेगा वह स्वयं गिर पड़ेगा। वारनाक ने दिखाया है कि जान्सन ने जिसे मारा वह सचमुच मन के बाहर है[3]। इस अर्थ मे जान्सन की आलोचना ठीक समझी जाती है। जिसे हम देखते हैं, सुनते है, सूँघते हैं, चखते हैं, उसके बारे में सन्देह उठ सकते हैं कि वह क्या मन के बाहर है। किन्तु जिसको हम मारते हैं, वह सचमुच मन के बाहर लगता है। किन्तु हमारा मारना क्या है? क्या वह संचालन-संवेदना

---

१ वही पृ० १४२।

२. Boswell's Life of Johnson, ed. G. B. Nill and L. F. Powell Vol. V. P. 471.

३. Berkeley, Pelican Philosophicai Series P. 44.

नहीं है ? क्या वह स्पर्श-संवेदना नहीं है ? और यदि उसका अन्तर्भाव इन दो संवेदनाओं में होता है तो फिर क्या वह वस्तु जो मारी जाती है इन संवेदनाओं से सम्बद्ध नहीं है ? स्पष्टः जान्सन ने जिस पत्थर को मारा वह उसमें स्पर्श-संवेद और संचालन-संवेद से संयुक्त है और उनसे स्वतन्त्र नहीं है। इसलिए उसे वह भूततत्त्व नहीं कहा जा सकता जो मन से सर्वथा स्वतन्त्र है। वारनाक ने जान्सन के मत का जो समर्थन किया है उसमें उसने स्पर्श-संवेदना और संचालन-संवेदना का विचार नहीं किया है, अन्यथा उसे अपने समर्थन में दोष मिल जाते।

बर्कले ने भूततत्त्व का जो खण्डन किया है उससे यह नहीं सिद्ध होता है कि प्रकृति में जो कुछ वास्तविक और तात्त्विक है उसका जगत् से बहिष्कार कर दिया गया है। बर्कले शंकराचार्य की तरह जगत् को मिथ्या नहीं कहता है। जगत् वास्तविक है। "जो कुछ भी हम देखते है, सुनते हैं या किसी प्रकार सोचते या समझते है, वह सदा की भाँति सुरक्षित है और सदा की भाँति अवितथ है। सृष्टि वास्तविकी है तथा वास्तविकता और गल्प में भेद पूर्णतया विद्यमान है[1]।" "सत्यता या वास्तविकता का यहाँ जो अर्थ किया गया है उसमें स्पष्टतया सभी वनस्पति, तारे, धातुएं तथा सामान्यतया भौतिक जगत् के सभी अंग हमारे सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य से, उतने ही वास्तविक सत् है जितने वे किसी अन्य परिप्रेक्ष्य से हो सकते हैं[2]।" बर्कले वास्तविकता का एक नया अर्थ करता है। यह नया अर्थ उसका प्रत्ययवाद या विज्ञानवाद है। इस अर्थ में प्रत्येक वस्तु प्रत्यय या विज्ञान है। बर्कले कहता है कि "जिस मेज पर मैं लिखता हूं वह हैं। इसका अर्थ है कि मैं इसे देखता हूँ और अनुभव करता हूं और यदि मैं अपने अध्ययन के कमरे से बाहर हूँ जहाँ मैं कहता हूँ कि मेज है, तो इसका अर्थ है कि यदि मैं अपने अध्ययन के कमरे में रहूँ तो मैं इसे देख सकता हूं या कोई अन्य आत्मा वस्तुतः उसे देख रही है[3]।"

शंकराचार्य ने 'यद् दृश्यं तन्मिथ्या', जो दृश्य है वह मिथ्या है' इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसके विपरीत बर्कले ने कहा कि जो सत् है वह दृश्य है—यत् सत् तद् दृश्यम्। दूसरे शब्दों में वह यद् दृश्यं तत् सत् अर्थात् जो दृश्य है वह सत् है, इसको मानता है। वह नहीं मानता कि दृश्यता-सम्बन्ध के विना अचेतन वस्तुओं का निरपेक्ष अस्तित्व है। उसके मत से सभी दृश्य वस्तुओं का अस्तित्व है। किन्तु वे दृश्यता-सम्बन्ध के सन्दर्भ में ही सत् हैं।

१. वर्कले संग्रह पृ० ५३।
२. वही, पृ० ५५।
३. वही, पृ० ३०।

बर्कले कभी-कभी कहता है कि जो वस्तुएँ दृश्य हैं वे मन के अन्दर हैं। किन्तु इस कथन को स्पष्ट करते हुए वह कहता है कि "जब मैं वस्तुओं को मन के अन्दर स्थित या इन्द्रियों पर संपृक्त कहता हूँ, तो मेरा अर्थ इन शब्दों का स्थूल शाब्दिक अर्थ नहीं है। मेरा वैसा अर्थ नहीं है जैसा, वस्तुएँ किसी स्थान के अन्दर हैं या मोम पर मोहर का संस्कार लगाया जाता है, इन वाक्यों का अर्थ है। मेरा अर्थ केवल यह है कि मन उनको समझता हैं या देखता है[1]।"

'मन के बाहर' का वास्तव में अर्थ है मन के विना, न कि मन से देशतः बाह्य।

हम अपने प्रत्यक्ष-विषयों को अपने मन के बाहर देखते हैं। बर्कले बाहरीपन या बाह्यता को निम्नलिखित अर्थों में स्वीकार करता है :

(क) वह वस्तुओं को प्रत्ययों में परिवर्तित नहीं करता है, किन्तु प्रत्ययों को वस्तुओं में परिवर्तित करता है। वह इस बात पर बल देता है कि वस्तुएँ विषयगत प्रत्ययपुंज हैं। "मैं जिस सूर्य को दिन में देखता हूँ वह वास्तविक सूर्य है और जिसे मैं रात्रि में कल्पना करता हूँ वह प्रथम का मात्र प्रत्यय है[2]।" वास्तविक सूर्य हमारे मन के बाहर है यद्यपि वह मन से सम्बन्धित है। काल्पनिक सूर्य हमारे मन के अन्दर ही है।

(ख) वस्तुएँ पुरुष की इच्छा के अधीन नहीं हैं। हम जिन वस्तुओं को देखते हैं वे हमारी इच्छा के बाहर हैं।

(ग) वस्तुएँ हमारी इन्द्रियों पर संपृक्त (Imprinted प्रत्यय या प्रत्ययपुंज हैं। वे हमारी मनोरचना नहीं हैं। वे प्रदत्त हैं[3]। उनकी उत्पत्ति के परिप्रेक्ष्य से उन्हें बाह्य कहा जा सकता है।

(घ) कभी-कभी बर्कले कहता है कि वस्तुओं के मूल रूप ईश्वर के मन में हैं और वे मानव मन से बाहर हैं।

(ङ) अन्ततः जिन प्रत्ययों को हम देखते हैं वे हमारे मन में न होकर अन्य मानवों के मन में या ईश्वर के मन में हो सकते हैं। इस अर्थ में भी वे हमारे मन के बाहर है।

इन अर्थों को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि बर्कले वस्तुओं को अक्षरशः मन के अन्दर नहीं मानता है।

---

१. देखिए, हाइलस और फिलोनाउस के संलाप।

२. बर्कले-संग्रह, पृ० ५५।

३. वही, पृ० ८८।

दृष्ट विषयों की बाह्यता सुरक्षित हो जाने के बाद उनके स्थायित्व (Permanence) का प्रश्न उठता है। हम उन्हें स्थायी समझते हैं। बर्कले उनके स्थायित्व की व्याख्या तीन प्रकार से करता है—

(क) यदि किसी वस्तु को हम यथार्थतः देख नहीं रहे हैं तो इसका मतलब यह नहीं है कि उसका अस्तित्व नहीं है। जिसे हम यथार्थतः नहीं देख रहे हैं उसका अस्तित्व हो सकता है। उसका अस्तित्व इस अर्थ में हो सकता है कि यदि हम उसे देखने की स्थिति में होते तो वह दृष्ट होती।

(ख) फिर उसका स्थायी अस्तित्व इस अर्थ में हो सकता है कि उसे कोई अन्य मानव आत्मा देख रही है।

(ग) अन्ततः उसका स्थायी अस्तित्व इस अर्थ में है कि ईश्वर उसको निरन्तर देख रहा है।

इन तीनों व्याख्यानों में बर्कले अन्तिम व्याख्यान पर ही विशेष बल देता है। ईश्वर की दृष्टि ही वस्तुओं के सातत्य और स्थायित्व का आधार है। इस प्रकार ईश्वर के लिए दृष्टि सृष्टि है और इस अर्थ में बर्कले दृष्टिसृष्टिवाद को मानता है। ईश्वरीय पोषण का अर्थ नित्य (सतत) सृष्टि है[1]।

इस प्रकार ईश्वर को मानकर बर्कले भौतिकवाद के खण्डन में उत्पन्न असंगतियों को दूर करता है। यदि ईश्वर को वह न मानता तो निःसन्देह वह वस्तुओं के सातत्य तथा स्थायित्व की उपर्युक्त प्रथम दो व्याख्याओं को ही देता। यदि वह अन्य आत्माओं को भी न मानता तो केवल पहली ही व्याख्या इस प्रसंग में होती। वह व्याख्या वस्तुओं के स्थायित्व और सातत्य का खण्डन करती है। किन्तु यह समस्या बर्कले के प्रत्ययवाद में उत्पन्न होती है जो उसके भौतिकवाद के खण्डन का तात्पर्य है।

९ प्रत्ययवाद

बर्कले 'सत्ता दृश्यता है' (Esse is percipi) का प्रतिपादन करता है। हम इस सूत्र को 'यत सत् तद दृश्यम, जो सत है वह दृश्य है, इस रूप में या सत्यम् दृश्यम् इस रूप में रखेंगे। इसके अनुसार जो कुछ सत्य है वह दृश्य है। जो दृश्य नहीं है वह सत्य नहीं है। सत्यं और दृश्यम एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। दोनों में अभेद-संबन्ध है। वस्तुएँ जिन्हें सत्य समझा जाता है, दृश्य हैं। दृश्य होने के ही कारण वे सत्य हैं। उनकी सत्ता बराबर है उनकी दृश्यता। इस प्रकार सभी वस्तुएँ दृश्य प्रत्यय सिद्ध होती हैं। 'यत् सत् तद् दृश्यम्' या 'सत्यम् दृश्यम' यह प्रत्ययवाद या विज्ञानवाद का मुख्य सूत्र है। भौतिकवाद के खण्डन में बर्कले भूततत्त्व को असत् कहता है या

---

१. बर्कले-संग्रह, पृ० ६०।

दृश्य वस्तुओं की भौतिकता का खण्डन करता है। प्रत्ययवाद के द्वारा वह उन वस्तुओं को प्रत्यय कहता है अर्थात् उनके वास्तविक स्वरूप और अर्थ की व्याख्या करता है।

बर्कले इस सूत्र को निम्नलिखित युक्तियों से सिद्ध करता है :

(क) "वहाँ महक है अथात् उसका घ्राण हुआ। वहाँ एक ध्वनि हुई, अर्थात् यह सुनी गई। वहाँ एक वर्ण या आकृति है अथात् दृष्टि या स्पश के द्वारा प्रत्यक्ष हुआ। इन तथा एवमादि प्रयोगों द्वारा मैं इतना ही समझ सकता हूँ[1]।" इनकी सत्ता दृष्टता है। यह मानना कि वर्ण या आकार हैं जो दृष्ट नहीं हैं, रस है जो चखा नहीं गया है, ध्वनि है जो सुनी नहीं गई है, शीतलता-उष्णता है जो स्पश में नहीं आई है, आदि असंगत और बाधित अपलाप है। इस तरह "अन्तरिक्ष की समस्त ध्वनि और अवनी की सकल सामग्री, एक शब्द में वे सभी पिण्ड जो जगत् की वृहद् रचना के घटक हैं, बिना मन के कोई अस्तित्व नहीं रखते[2]।" उनकी सत्ता या सत्यता दृश्यता है।

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से जो साक्षात् अनुभूत होते हैं वे संवेद-प्रत्यय हैं। फिर इन संवेद-प्रत्ययों के संघात वे वस्तुएं हैं जिन्हें हम प्रयोग करते हैं। इन संघातों को संवेद-प्रत्यय से भिन्न करने के लिए वस्तु-प्रत्यय कहा जा सकता है। सेब एक वस्तु-प्रत्यय है। इसका रस, वर्ण, आकार आदि संवेद-प्रत्यय हैं।

संवेद-प्रत्ययों के लिए बर्कले का सिद्धान्त सत्यं दृश्यम् बिलकुल ठीक है। किन्तु वस्तु-प्रत्यय के बारे में एक साथ उन सभी प्रत्ययों का ज्ञान नहीं होता है जो उसके घटक हैं। जैसे सेब खाते समय उसके स्वाद का ज्ञान होता है और उसके वर्ण तथा आकार दिखलाई पड़ते हैं। किन्तु उसके अन्य घटक, वजन, ठोसता आदि अज्ञात रहते हैं। इसलिए सेब के सम्बन्ध में सत्यं दृश्यम् का सिद्धान्त ठीक नहीं है। यहाँ कुछ हद तक सत्यम् दृश्यम् है और कुछ हद तक सत्यं दृश्यंभावी है अर्थात् कुछ हद तक वह यथार्थतः दृश्य नहीं है किन्तु दृश्य हो सकता है। इसलिए यहाँ सत्यम् दृश्यम् (esse is percipi) का सिद्धान्त सत्यं दृश्यंभावी (esse is percipi posse) में बदल जाता है।

जिन वस्तुओं को हम नहीं देखते हैं वे भी सत् हैं यदि उनका "सत्यं" दृश्यम् भावी है किन्तु जो न तो दृश्य है और न तो न दृश्यंभावी वह नितान्त असत् है।

स्पष्ट है कि जो दृश्य है या दृश्यंभावी, है वह मन के बिना नहीं रह सकता। वह मन का प्रत्यय है।

---

१. वही, पृष्ठ ३०।

२. वही, पृष्ठ ३२।

यहाँ पर आपत्ति की जा सकती है कि वास्तविक अग्नि और अग्नि के प्रत्यय में महान् अन्तर है । "यदि आप सन्देह करते हैं कि ... जो देखते हैं वह अग्नि का मात्र प्रत्यय है तो अपना हाथ उस पर रखिए और आप इसके साक्ष्य से सन्तुष्ट हो जायेंगे[1] ।" इस आपत्ति के प्रति बर्कले का उत्तर है—"यदि वास्तविक अग्नि अग्नि-प्रत्यय से बहुत भिन्न है तो वास्तविक वेदना जिसे यह उत्पन्न करती है, उस वेदना के प्रत्यय से भिन्न है । किन्तु कोई यह न कहेगा कि वास्तविक वेदना अचित् वस्तु में या मन के बाहर अपने प्रत्यय के अतिरिक्त कुछ है या सम्भवतः हो सकती है ।"[2] वास्तविक अग्नि अग्नि-प्रत्यय है । इससे संलग्न वास्तविक वेदना है जो वेदना-प्रत्यय है । अग्नि-प्रत्यय और वेदना-प्रत्यय दोनों संवेद-प्रत्यय है । फिर दोनों संवेद-प्रत्ययों के प्रतिबिम्ब या कल्पना भी हो सकते है । उपर्युक्त आपत्ति में अग्नि-प्रत्यय के प्रतिबिम्ब या कल्पना को वेदना-प्रत्यय से संलग्न किया गया है और अग्नि-प्रत्यय को वेदना-प्रत्यय की कल्पना से । स्पष्टतः प्रत्ययों का यह साहचर्य अतार्किक और अमनोवैज्ञानिक है ।

(ख) वस्तुओं को हम यथार्थतः अपने से बाहर कुछ दूर पर देखते हैं । किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता है कि वे मन के विना है । "हम प्रायः स्वप्न में वस्तुओं को बड़ी दूरी पर स्थित देखते हैं । किन्तु तो भी यह माना जाता है कि इन वस्तुओं का अस्तित्व मात्र मन में है[3] ।" इसी तरह हम जिन वस्तुओं को अपने से बाहर देखते हैं उनका अस्तित्व मात्र मन में है ।

फिर "जिन सभी प्रत्ययों को हम इस समय देखते है उनका हम अनुभव कर सकते हैं यद्यपि उनके सदृश बाह्य जगत् में विद्यमान कुछ वस्तुएँ नहीं है । स्वप्न, उन्माद एवमादि अवस्थाओं में जो घटता है वह इस बात को निर्विवाद कर देता है। अतः स्पष्ट है कि बाह्य वस्तुओं को मानना हमारे प्रत्ययों की उत्पत्ति के लिए आवश्यक नहीं है क्योंकि यह स्वीकार किया जाता है कि कभी-कभी वे विना बाह्य वस्तुओं के घटित और उत्पन्न होते हैं और सम्भवतः जिस प्रकार उनको हम वर्तमान समय में देखते हैं उसी प्रकार वे सदैव हो सकते हैं[4] ।" स्वप्न, उन्माद आदि अवस्थाएँ बताती हैं कि विना बाह्य वस्तुओं के भी प्रत्यय मन में उत्पन्न होते हैं । बर्कले के मत से ऐसा ही प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में भी होता है ।

---

१. वही, पृ० ५७ ।
२. वही, पृ० ५७ ।
३. वही, पृ० ५८ ।
४. वही, पृ० ७१ ।

(ग) किन्तु बर्कले मानता है कि कुछ प्रत्ययों के कर्ता हम स्वयं हैं। हम कल्पना, स्वप्न आदि के प्रत्ययों को उत्पन्न करते हैं। यहाँ हमें पता चलता है कि प्रत्ययों की उत्पत्ति कैसे होती है। प्रत्ययों की उत्पत्ति मन से होती है। मन कुछ प्रत्यय उत्पन्न कर सकता है।

लेकिन संवेद-प्रत्ययों को मन उत्पन्न नहीं कर सकता है। वे उसके लिए प्रदत्त हैं, उसकी इन्द्रियों पर सम्मृक्त (Imprinted) हैं। अतः उनकी उत्पत्ति कैसे होती है ?

इस प्रश्न के उत्तर में बर्कले का कहना है कि हमें अपने अनुभव में प्रत्ययों की उत्पत्ति मन से ज्ञात होती है। हमारा मन प्रत्ययों को उत्पन्न करता है। इसे हम जानते हैं। प्रत्ययों की उत्पत्ति किसी ऐसी सत्ता से हो सकती है जो हमारे मन की तरह हो। अन्य आत्माएँ या मन और ईश्वर उनकी उत्पत्ति के कारण हैं।

संवेद-प्रत्ययों को देखना ही उनकी उत्पत्ति का पर्याप्त कारण नहीं है यद्यपि वह उनकी उत्पत्ति का अनिवार्य कारण है। सत्यं दृश्यम् संवेद-प्रत्ययों का अनिवार्य कारण है। उनका पर्याप्त कारण ईश्वर के द्वारा उनका उत्पन्न होना है। मेट्ज ने इसीलिए कहा है कि सत्ता कार्य है (esse ist causari) । हम इसे सत्यं कार्यम् कह सकते हैं।

मैबट और जर्मे का भी कहना है कि यद्यपि मन द्रष्टा और कर्त्ता दोनों है तथापि उसका मूल लक्षण उसका कर्त्तापन है। मन कर्त्ता है, इसीलिए वह है। इसी प्रकार ईश्वर कर्त्ता है, इसलिए ईश्वर है क्योंकि वह भी मन ही है[१]।

इस तरह संवेद-प्रत्ययों का कर्त्ता ईश्वर है और उनका द्रष्टा हमारा मन है। हमारे मन की दृष्टि में उनका 'सत्य'' दृश्यम् है। ईश्वर के लिए उनका 'सत्य'' दृश्यम् नहीं है, किन्तु कार्यम है। इसलिए संवेद प्रत्ययों का वास्तविक स्वरूप हुआ: उनका 'सत्य'' दृश्यम कार्यम है, (essc is percipi causari) सत्यम् दृश्यम् उनका अनिवार्य कारण है और सत्यं कार्यम् उनका पर्याप्त कारण है।

आगे चलकर **दृश्य भाषा की सिद्धि** में बर्कले कहता है कि संवेद-प्रत्यय दृश्य भाषा के संकेत हैं जो एक ओर ईश्वर से और दूसरी ओर हमारे मन से सम्बन्धित हैं। "दृश्य प्रत्यय वह भाषा है जिसके माध्यम से प्रभु-आत्मा—हमें सूचना देती है कि यदि हम अपने ही देहों पर कोई गति उत्तेजित करें तो वह हम पर कौन-कौन स्पर्श

---

१. देखिए The Unconscious Origin of Berkeley's Philosophy, J. O. Wisdom में उद्धृत।

संयुक्त करेगी[1] ।" इस तरह बर्कले यह नहीं मानता है कि जिन वस्तुओं को हम देखते हैं उनको ईश्वर भी देखता है या उनके मूल ईश्वर में है। अगर वह यह कहता है कि संवेद-प्रत्ययों के मूल ईश्वर में है तो संवेद प्रत्यय मात्र आभास होते और हम वास्तविक प्रत्ययों को न जान सकते। फिर अगर वह कहता है कि संवेद-प्रत्ययों को हम तथा ईश्वर दोनों देखते हैं तो प्रश्न उठता है कि किसका देखना प्रत्ययों को उत्पन्न करता है? यदि कभी-कभी हमारा देखना प्रत्ययों को उत्पन्न करता तो फिर ईश्वर का उन प्रत्ययों को देखना व्यर्थ आवृत्ति होगा और यदि ईश्वर उनको न देखता तो उसकी पूर्णता में दोष होगा। अतः इन समस्याओं से बचने के लिए बर्कले ने माना है कि संवेद-प्रत्ययों का द्रष्टा हमारा मन है और उनका कर्त्ता ईश्वर है। सत्यं दृश्यं का सिद्धान्त अधूरा है। उसका पूरा रूप सत्यं दृश्यं कार्यम् का सिद्धान्त है। यहाँ यह न समझना चाहिए कि सत्यं पहले है और वह बाद को देखा जाता है तथा कार्य होता है या सत्यं को पहले ईश्वर कार्य-रूप में उत्पन्न करता है, वह होता है और तब वह देखा जाता है। इसका अर्थ यह है कि मानव का देखना ईश्वर-कृत है। दृश्यं कार्यम् है। ईश्वर सत्यं को नहीं उत्पन्न करता है, वह दृश्यं को उत्पन्न करता है। बर्कले के मत से 'सत्यं' वस्तुतः दृश्यम् है और वह 'दृश्यम्' ईश्वर का 'कार्यम्' है। यदि दृष्ट विषयों को हम भाषा कहें जैसे बर्कले कहता है, तो फिर ईश्वर उस भाषा का वक्ता होगा और दृष्ट विषय उसके 'वाच्यं' होंगे। ईश्वर का वाच्यं हमारे लिए दृश्यं है। सत्यं दृश्यं वाच्यं है। यहा 'दृश्यं' और 'वाच्यं' सत्यं के संयुक्त विशेषण नहीं हैं। दृश्यं और वाच्यं अर्थतः एक हैं। वही अर्थ सत्यम् है।

(घ) अन्त में बर्कले ने अपने प्रत्ययवाद को अचिन्त्यता की अनुपपत्ति पर आधारित किया है। उसका कहना है कि कोई ऐसा भौतिक पदार्थ चिन्त्य नहीं है जो मन के बिना हो। हाइलस और फिलोनाउस के संलाप में भौतिकवादी हाइलस कहता है कि 'सभी सम्भव मनों से स्वतन्त्र या अदृष्ट किसी स्थान स्थित वृक्ष या गृह के प्रत्यय करने से सरल और क्या हो सकता है? इस प्रकार मैं स्वयं इस समय उनका प्रत्यय कर रहा हूँ।"

इस पर फिलोनाउस कहता है—"हाइलस! आप कैसे कहते हैं? क्या आप किसी वस्तु को देख सकते हैं जो उसी समय अदृष्ट हो?"

हाइलस—नहीं! यह बाध होगा।

फिलोनाउस—क्या किसी वस्तु के प्रत्यय की चर्चा करना और उसको अप्रतीत मानना इतना ही बड़ा बाध नहीं है?

---

१. बर्कले-संग्रह, पृ० ५६।

हाइलस—है ।

फिलोनाउस—अतः जिस वृक्ष या गृह को आप सोचते हैं उसका प्रत्यय आपने किया है ?

हाइलस—अन्यथा यह कैसे हो सकता है ?

फिलोनाउस—और जिसका प्रत्यय होता है वह मन में है ?

हाइलस—निःसन्देह जिसका प्रत्यय होता है वह मन में है ।

फिलोनाउस—तब आपने कैसे कहा कि आपने सभी संभव मनों से स्वतन्त्र और बाहर स्थित किसी वस्तु या वृक्ष या गृह का प्रत्यय किया ?

हाइलस—मैं मानता हूँ कि वह एक दृष्टि-भूल हो गयी[1] ।"

यहाँ बर्कले की युक्ति है कि जो कुछ सत् है वह चिन्त्य है या जो चिन्त्य है वही सत्य है । इस मत को सत्यं चिन्त्यं (esse is concipi) कहा जाता है । निश्चय ही बर्कले ने यहाँ सत्यं दृश्यं को छोड़कर सत्यं चिन्त्यं को अपनाया है । किन्तु वह उपर्युक्त वृक्ष या गृह की व्याख्या 'सत्यं दृश्यंभावी के द्वारा भी कर सकता है । इसलिए उसके मत में 'सत्यं चिन्त्यं' कोई विशेष परिवर्तन नहीं लाता है, यद्यपि फ्रेजर जैसे भाष्यकारों ने कहा है कि सत्यं चिन्त्यं उसके मत में परिवर्तन लाता है । हम सत्यं चिन्त्यं को सत्यं दृश्यंभावी का रूप दे सकते हैं ।

इन युक्तियों के आधार पर बर्कले ने अपने प्रत्ययवाद की स्थापना की है । अब हम इनका परीक्षण करेंगे ।

सबसे पहले इन युक्तियों में से क, ख और घ को लेकर बर्कले के प्रत्ययवाद की व्याख्या की जाती है और युक्ति ग को छोड़ दिया जाता है । इस प्रकार बर्कले के प्रत्ययवाद को एकाहंवाद (Solipsism) या एकजीववाद, मानसवाद, (Mentalism) या आत्मगत प्रत्ययवाद (Subjective Idealism) कहा जाता है । इस मत के अनुसार हमारा अहम् और उसके प्रत्यय ही सत् हैं । जो कुछ है वह या तो हमारा अहम् है और या तो उसका प्रत्यय । इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है । यह मत सत्यं दृश्यं का तार्किक निष्कर्ष है । इस मत को तर्कतः सुसंगत समझा जाता है यद्यपि इसमें व्यवहारतः अनेक आपत्तियाँ हैं । हम जिन वस्तुओं को देखते हैं वे हमारे मन के अन्दर प्रत्यय नहीं हो सकते हैं । फिर हम जिन मनुष्यों को देखते हैं वे हमारे प्रत्यय नहीं हैं । कुछ भी हो, किसी ने एकाहंवाद को माना नहीं है और जहाँ तक बर्कले का मत है वह एकाहंवाद से बहुत दूर है । वह एक आत्मा को सत् नहीं मानता है । वह कहता है कि हमारे अतिरिक्त अन्य मनुष्यों की आत्माएँ हैं तथा ईश्वर हैं । इसलिए

---

१. वही, पृ० १४४-१४५ ।

स्पष्ट है कि वह एकाहंवादी नहीं है। उनके मत को आत्मगत प्रत्ययवाद भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि जिन प्रत्ययों को वह अपनी आत्मा के प्रत्यक्ष मानता है उन्हें वह अन्य आत्माओं के भी प्रत्यक्ष कहता है। उसके प्रत्यय व्यक्तिगत नहीं है, वरन् सार्वजनीन है। फिर वे ईश्वर पर निर्भर हैं। इसलिए उनको किसी प्रकार मात्र मानव-केन्द्रित (Anthropocentric) नहीं माना जा सकता है।

यह सच है कि आरम्भ में वर्कले प्रत्ययों को प्रायः मानव-केन्द्रित (Anthropocentric) मानता है और बाद में वह उनको ईश्वर-केन्द्रित (Theocentric) दिखाता है। इस पर कहा जाता है कि आरम्भ में उसका मत आत्मगत प्रत्ययवाद (Subjective Idealism) है और बाद में ईश्वर-निष्ठ प्रत्ययवाद (Theological Idealism) या विषयगत प्रत्ययवाद (Objective Idealism)। वास्तव में बर्कले की रचनाओं में मानव-केन्द्रित तथा ईश्वर-केन्द्रित दोनों प्रकार के प्रत्ययवाद साथ-साथ मिलते हैं। आरम्भिक रचनाओं में मानव-केन्द्रित प्रत्ययवाद पर बल दिया गया है, किन्तु वहाँ ईश्वर-केन्द्रित प्रत्ययवाद को हटाया नहीं गया है। इसलिए कहा जा सकता है कि वर्कले का प्रत्ययवाद वस्तुतः विषयगत या ईश्वरनिष्ठ प्रत्ययवाद है।

फिर कुछ लोग कहते हैं कि बर्कले का ईश्वरनिष्ठ प्रत्ययवाद वास्तव में आत्मगत प्रत्ययवाद ही है क्योंकि ईश्वर के लिए प्रत्यय का अस्तित्व उनका देखा जाना है। सभी प्रत्यय ईश्वर के मन में हैं और ईश्वर को हम एक महान् आत्मा मानते ही हैं। यदि सत्य दृश्यम् है तो फिर चाहे किसी मानव आत्मा का दृश्यम् हो या परमात्मा का, उसके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। उसके आधार पर जो मत स्थापित किया जायगा वह आत्मगत प्रत्ययवाद ही होगा।

यह युक्ति काफी जोरदार है। किन्तु यह युक्ति ग पर बिलकुल विचार नहीं करती है। बर्कले के आधुनिक भाष्यकारों ने निश्चित किया है कि ईश्वर प्रत्ययों का द्रष्टा नहीं है, प्रत्युत उनका कर्त्ता है। इस मत से सत्यं दृश्यं केवल मानव सत्य है। यह ईश्वर के लिए सत्य नहीं है। इसलिए बर्कले का मत आत्मगत प्रत्ययवाद नहीं है।

वास्तव में बर्कले के मत का सही रूप सत्यं दृश्यं कार्यम् है। इस रूप में उसका मत एकाहंवाद या आत्मगत प्रत्ययवाद नहीं है। बीसवीं शती के आरम्भ में जी० ई० मूर ने प्रत्ययवाद का खण्डन (Refutation of Idealism) किया है जो एक अत्यन्त प्रसिद्ध मत हो गया[1]। किन्तु सत्यं दृश्यं कार्य के रूप में जो प्रत्ययवाद

१. देखिए मूर की पुस्तक Philosophical Studies में उसका लेख Refutation of Idealism.

नद्ध होता है वह मूर की आलोचनाओं से परे है। मूर ने सत्यं दृश्यं के जितने अर्थ किए हैं वे बर्कले के मत नहीं हैं। मूर ने केवल दो अर्थों का विमर्श किया है। एक में 'सत्यम् दृश्यं' से अभिन्न है और दूसरे में सत्यम् दृश्यम् तथा कुछ और के बराबर है। किन्तु सत्यं दृश्यम् कार्यम् का जो अर्थ बर्कले के भाष्यकारों ने किया उसके अनुसार सत्यम् दृश्यं से अधिक है; किन्तु 'सत्यम्' दृश्यं और कुछ और के बराबर नहीं है। दृश्यं सत्यं का अनिवार्य कारण या हेतु है और कार्यम् उसका पर्याप्त कारण या हेतु है। सत्यम् = दृश्यम् + कार्यम् नहीं है। अतः स्पष्ट है कि सत्यम्, दृश्यम् कार्यम् की आलोचना मूर न कर सका। यही बर्कले के प्रत्ययवाद का मुख्य हेतु है और यह एक सत्य सिद्धान्त है।

१० आत्मा का अस्तित्व और स्वरूप

बर्कले प्रत्ययों के अतिरिक्त आत्मा को भी सत् मानता है। प्रत्ययों की सत्ता या सत्यं उनका दृश्यम् है किन्तु आत्मा की सत्ता उसका दृश्यं नहीं है। आत्मा अदृश्य है। आत्मा की सत्ता उसका द्रष्टा होना है। बहुत से दार्शनिकों ने माना है कि प्रत्ययवाद के लिए केवल सत्यं दृश्यम् सूत्र की आवश्यकता है। किन्तु बर्कले का प्रत्ययवाद ऐसा नहीं है उसके प्रत्ययवाद में 'सत्यम् दृश्यम्' सत्य द्रष्टा (esse is percipere or intelligere) पर आधारित है। आत्मा के अस्तित्व को बर्कले निम्नलिखित युक्तियों से सिद्ध करता है :

(क) "मैं जानता हूँ कि मैं' और 'स्वयं मैं' इन शब्दों का क्या अर्थ करता हूँ। मैं इसे अपरोक्षतया (Immediately) या प्रातिभ ज्ञान से (Intuitively) जानता हूँ। यद्यपि मैं इसे उस प्रकार नहीं प्रत्यक्ष करता हूँ जैसे मैं किसी त्रिभुज, वर्ण या ध्वनि का प्रत्यक्ष करता हूँ।"[1]

यहाँ डेकार्ट की तरह बर्कले आत्म-प्रत्यक्ष को प्रातिभ ज्ञान बताता है। अन्यत्र वह कहता है कि उसे आत्मा का बोध (Notion) है। स्पष्ट है कि उसका आत्मबोध आत्मा की अपरोक्ष अनुभूति है जो प्रातिभ ज्ञान है।

(ख) आन्तरिक भावना या मनन से भी बर्कले आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करता है। "हम अपने अस्तित्व को आभ्यन्तर भावना या मनन (Reflexion) से जानते है[2]।" और, "अपने अस्तित्व को, अर्थात् अपनी आत्मा, मन या चित्-द्रव्य को मैं स्पष्टतापूर्वक मनन से जानता हूँ।" आगे "मैं अपने अस्तित्व को जानता हूँ या इससे सचेत हूँ और मैं स्वयं अपना प्रत्यय नहीं हूँ, किन्तु अपने प्रत्ययों से भिन्न

---

१. हाइलस और फिलोनाउस के संलाप, ३।

२. बर्कले-संग्रह, पृ० ८७।

एक सत्ता हूँ—चित् और कर्त्ता सत् हूँ जो प्रत्यक्ष करता है, जानता है और प्रत्ययों का व्यवसाय करता है। मैं जानता हूँ कि मैं, एक ही अहम्, रंगों और ध्वनियों दोनों का प्रत्यक्ष-कर्त्ता हूं और रंग ध्वनि का प्रत्यक्ष नहीं कर सकता है और न ध्वनि रंग का। इस कारण मैं रंग और ध्वनि से भिन्न एक विशेष सत् हूँ और इस युक्ति के अनुसार मैं अन्य संवेद्य वस्तुओं और निष्क्रिय प्रत्ययों से भिन्न हूं[१]।"

जिस मनन से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है वह कई प्रकार का हो सकता है। इसका एक प्रकार यह है कि 'दृश्यम्' द्रष्टा से सम्बन्धित है। द्रष्टा के होने पर ही दृश्यम् सम्भव है। अत. दृश्यम् अपने सम्बन्धी द्रष्टा को सिद्ध करता है। फिर दूसरा प्रकार यह है कि जिन प्रत्यक्षों को हम देखते हैं उनके संघात, तुलना, स्मरण, आदि के लिए आत्मा की आवश्यकता है। तीसरे, यह कहा जा सकता है कि आत्मा प्रत्ययों का आश्रय और कारण है और ऐसा सोचने में बाध नहीं हैं।

(ग) कर्त्तृत्व की युक्ति। आत्मा के कर्त्तापन को बर्कले अनुभव तथा युक्ति दोनों से सिद्ध करता है। अनुभव का प्रमाण देते हुए वह कहता है—"मैं अनुभव करता हूँ कि मैं इच्छानुसार अपने मन में प्रत्ययों को उत्तेजित कर सकता हूँ तथा उन्हें जितना उपयुक्त समझूँ उतना परिवर्तित कर सकता हूँ। यह मात्र इच्छा-व्यापार है। यह या वह प्रत्यय सीधे मेरी कल्पना में उदय होता है और उसी शक्ति से वह अस्त हो जाता है तथा दूसरे प्रत्यय के लिए मार्ग तैयार करता है। प्रत्ययों को इस प्रकार बनाना या बिगाड़ना कर्त्ता मन का उपयुक्त लक्षण निर्धारित करता है[२]।"

फिर वह युक्ति के बल पर कहता है—"हम प्रत्ययों के सतत अनुक्रम का प्रत्यक्ष करते हैं। इनमें से कुछ नये ढंग से उत्तेजित हैं, कुछ परिवर्तित हैं या पूर्णतया ओझल हो जाते हैं। अतः इन प्रत्ययों का कुछ कारण है जिस पर वे आश्रित हैं और जो इनको उत्पन्न तथा परिवर्तित करता है।" फिर, "यह कारण कोई गुण या प्रत्यय या प्रत्यय-संघात नहीं हो सकता है। अतः इसे कोई द्रव्य होना है। किन्तु यह सिद्ध किया जा चुका है कि कोई दैहिक या भौतिक द्रव्य नहीं है। अतः परिशेष से सिद्ध है कि प्रत्ययों का कारण कोई अदैहिक सक्रिय द्रव्य या आत्मा है[३]।" इस प्रकार आत्मा "उन कारणों से जानी जा सकती है जिनको वह उत्पन्न करती है[४]।"

अतः आत्मा का अस्तित्व उसका कर्त्तापन है। उसकी सत्ता कर्त्तृत्व है (Esse is agere or volle)।

---

१. वही पृ० १५३-१५४।
२. वही पृ० ४६-५०।
३. वही पृ० ७।
४. वही पृ० ८०।

इन युक्तियों से जो आत्मा सिद्ध होती है वह द्रष्टा तथा कर्त्ता दोनों है। किन्तु बर्कले आत्मा को तत्त्वतः कर्त्ता मानता है। वह स्वयं ऊपर कहता है कि आत्मा का उपयुक्त लक्षण कर्त्ता होना है। हम कर्त्तृत्व को आत्मा का लक्षण और द्रष्टृत्व को उसका उपलक्षण कह सकते हैं।

इन युक्तियों को ह्यूम ने गलत सिद्ध किया है और माना है कि यदि आत्मा का प्रत्यय नहीं हो सकता है जैसा कि बर्कले स्वयं ठीक कहता है तो फिर आत्मा का अस्तित्व वैसे ही नहीं है जैसे भूततत्त्व का। ह्यूम के अनुसार आत्मा आन्तरिक भावनाओं का एक पुंज है, न कि वस्तु-सत्। स्वयं बर्कले ने अपनी दार्शनिक टिप्पणियाँ में लिखा है कि मन (या आत्मा) प्रत्यक्षों का एक संघात है। हिक्स ने दिखाया है कि बर्कले के इस कथन का अभिप्राय यह है कि प्रत्ययों के विना मन नहीं हो सकता है, ठीक जैसे मन के विना प्रत्यय नहीं हो सकते। किन्तु यदि दार्शनिक टिप्पणियाँ के अनुसार यह मान भी लिया जाय कि मन प्रत्ययपुंज है तो भी यह बर्कले का प्रौढ़ मत नहीं है। वह प्रत्ययों के पुंज या संघात से भिन्न आत्मा या मन के अस्तित्व को अपनी प्रौढ़ अवस्था में सिद्ध करता है। उसने ह्यूम की आशंका को हाइलस से कहलाया है और फिलोनाउस से उसका खण्डन कराया है, जो ऊपर युक्ति ख में दिया गया है। ह्यूम के प्रति बर्कले का कहना है कि दो प्रत्यक्षों की तुलना करने के लिए या प्रत्यक्षों को पुंजीभूत करने के लिए किसी ऐसे तत्त्व की आवश्यकता है जो उनसे भिन्न है। अतः आत्मा है। बिलकुल यही युक्ति शंकराचार्य ने बौद्धों के संघातवाद के विरोध में दी है।

आत्मा के स्वभाव के बारे में बर्कले कहता है–"आत्मा एक साधारण, अकल, कर्त्ता सत् है। क्योंकि यह प्रत्ययों का प्रत्यक्ष करता है, इसलिए इसे बुद्धि कहा जाता है। क्योंकि यह उनको उत्पन्न करता है या अन्यथा (अन्य प्रकार से) उनसे व्यापार करता है, इसलिए इसे इच्छा कहा जाता है। अतः आत्मा का कोई प्रत्यय नहीं बनाया जा सकता है, क्योंकि सभी प्रत्यय निष्क्रिय और उदासीन होने के कारण कल्पना या प्रतिबिम्ब के द्वारा हमें वह नहीं अभिव्यक्त कर सकते जो कर्म करता है।"

"आत्मा सदा चैतन्य है और जो कोई भी सत्यतः अपने विचारों में विभाजन करने या आत्मा के अस्तित्व को इसके ज्ञान से पृथक् (व्यवच्छिन्न) करने का प्रयास करेगा, मुझे विश्वास है कि उसे यह सुकर न होगा।" आत्मा का चैतन्य से

१. वही पृ० ४८।
२. वही पृ० ६०।

अपरिहार्य सम्बन्ध है। वह नित्य चेतन है। उसकी नित्य चेतनता उसके इकाई (Identity) और स्थायित्व (Permanence) का आधार है। यह चेतना द्रष्टा और कर्त्ता दोनों है। दार्शनिक टिप्पणियाँ में बर्कले कहता है कि "जब मैं हूँ या कोई प्रत्यय करता हूँ, तब मैं नित्य निरंतर इच्छा कर रहा हूँ।" इच्छा करना आत्मा की एकता (Personal Identity) को देखने से भी अधिक सिद्ध करता है। आत्मा की एकता इच्छा करने (Willing) में निहित है।

आत्मा अमर है। बर्कले इसका अर्थ करता है कि आत्मा प्रकृति की शक्ति से अनश्वर है अर्थात आत्मा प्रकृत्या अमर है[1]। आत्मा देह से पूर्णतया भिन्न है। "चाहे जिस ढाँचे और बनावट के देह हों वे सभी मन में मात्र निष्क्रिय प्रत्यय हैं। और मन देह से जितना दूर और भिन्न है, उतना प्रकाश भी अन्धकार से भिन्न नहीं है। हमने दिखलाया है कि आत्मा अविभाज्य, अशरीरी, अविस्तारमय और फलतः निर्दोष है। इससे अधिक और कुछ स्पष्ट नहीं हो सकता कि गति, परिवर्तन, पतन तथा नाश जिनको हम घंटे-घंटे पर प्राकृतिक पिण्डों में घटित होते देखते हैं सम्भवतः किसी कर्त्ता, शुद्ध, असंघटित द्रव्य का स्पर्श नहीं कर सकते[2]।"

बर्कले देहपात या मृत्यु के बाद भी आत्मा के अस्तित्व को मानता है; क्योंकि देहपात का स्वाभाविक सम्बन्ध पुरुष की चेतना के लोप से नहीं है। "पृथक् अवस्था में स्थित (गति और प्रत्यक्ष) के उन नियमों और सीमाओं से मुक्त जिनमें वह यहाँ बद्ध है, आत्मा का प्रत्यय करना भी बहुत सरल प्रतीत होता है। जिन स्पर्श-योग्य वस्तुओं को हम देह कहते हैं, उनके माध्यम के विना भी नवीन प्रत्ययों के साथ स्वयं अभ्यास करने वाली आत्मा का प्रत्यय सचमुच कठिन नहीं है। यह प्रत्यय करना भी बहुत सम्भव है कि आत्मा चक्षु के विना वर्णो के और श्रवण के विना शब्दों के प्रत्यय कर सकती है[3]।" किन्तु यहाँ जिन तत्त्वदार्शनिक युक्तियों से बर्कले सिद्ध करता है कि देहपात के बाद आत्मा रहती है उनका आधुनिक विज्ञान से विरोध है। फिर भी आत्मा के नैतिक अनुभव के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है कि वह देहपात के बाद भी रहती है।

बर्कले ने आत्मा को तत्त्वतः कर्त्ता माना है। इसके कर्त्तापन के आधार पर फ्रेजर ने कहा है कि "इस संसार में अल्पकाल जीवन-यापन करने वाले नैतिक कर्त्ता का देहपात उसके कर्तृत्व का नाश नहीं है। जिस संगठित एकता को मैं अपना अहम्

१. वही, पृ० ६८।
२. वही, पृ० ६८।
३. वही, पृ० ६६ टि०।

कहता हूँ, उसका नैतिक अनुभव इस अनुमान को उत्पन्न करता है कि मृत्यु नाम का भौतिक परिवर्तन अहम् का अन्त नहीं है[१]।"

किन्तु बर्कले मानता है कि आत्मा ससीम है और सृष्टिकर्त्ता ईश्वर की असीम शक्ति उसे नश्वर कर सकती है। स्पष्टतया यहाँ बर्कले ईसाई मत के प्रभाव में है। उसका दर्शन इसे सिद्ध नहीं करता है। वह सिर्फ इतना कह सकता है कि आत्मा ससीम है, क्योंकि वह बहुत-से प्रत्ययों को उत्पन्न नहीं कर सकती है और वह केवल उनको प्राप्त करती है। अतः उसमें बाहर कुछ है जो उसे सीमाबद्ध करता है। लेकिन आत्मा को कोई आत्म-बाह्य सत्ता नष्ट कर सकती है, यह सिद्ध नहीं होता है।

११ अन्य आत्माएँ

हमारे प्रत्यय इस बात के प्रमाण हैं कि हमारी आत्मा के अतिरिक्त अन्य आत्माएँ हैं। "अपने विचारों पर मेरी चाहे जो शक्ति हो किन्तु मुझे ज्ञात है कि इन्द्रियों से वस्तुतः दृष्ट प्रत्यय लेशमात्र भी मेरी इच्छा पर निर्भर नहीं हैं। जब दिन के प्रकाश में मैं भी अपनी आँख खोलता हूँ तब देखने या न देखने या कुछ निर्धारित विषयों को ही दृष्टिगोचर करने का वरण करना मेरी शक्ति के बाहर है। इसी प्रकार सुनना तथा अन्य इन्द्रिय-प्रत्यक्षों के बारे में भी सत्य है। इन इन्द्रियों पर सम्पृक्त प्रत्यय मेरी इच्छा की कृति नहीं हैं। अतः कोई अन्य इच्छा या आत्मा है जो इनको उत्पन्न करती है[२]।"

अन्य आत्मा असीम या ससीम हो सकती है। यदि वह ससीम है तो हमारी आत्मा के समान है। अब प्रश्न है कि अन्य ससीम आत्माओं को हम कैसे जानते हैं? उनके लिए बर्कले निम्नलिखित प्रमाण देता है :—

(क) अनुमान। हम अनुमान से अन्य ससीम आत्माओं को जानते हैं। "मैं अनेक गतियों, परिवर्तनों और प्रत्यय-समूहों को देखता हूँ जो मुझे सूचना देते हैं कि मेरी भाँति कुछ विशेषकर्त्ता पुरुष हैं। ये गतियाँ, परिवर्तन और प्रत्यय-समूह उन कर्त्ता पुरुषों के सहगामी हैं और इनकी उत्पत्ति में एकत्र हैं। अतः हम अन्य आत्माओं का जो ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह अपने प्रत्ययों के ज्ञान की भाँति अपरोक्ष नहीं है, किन्तु उन प्रत्ययों के माध्यम पर आश्रित हैं जिनको हम अपनी आत्मा से भिन्न अन्य कर्त्ताओं या आत्माओं से जन्य कार्य या सहवर्ती संकेत मानते हैं[३]।"

---

१. वही, पृ० १०१ टि०।

२. वही पृ० ५०। यहाँ द्रष्टुम् अद्रष्टुम् अन्यथा वा द्रष्टुम् की शक्ति हमारी आत्मा में न होने के कारण अन्य आत्माओं के अस्तित्व को सिद्ध किया गया है।

३. वही, पृ० १०२।

अन्य मनुष्य हमारे अन्दर कुछ गति, परिवर्तन आदि के संवेद-प्रत्यय उत्पन्न करते हैं। इन संवेद प्रत्ययों को हम जानते हैं। फिर उन्हीं के आधार पर हम उनके निमित्त कारण का अनुमान करते हैं।

(ख) **उपमान** (Analogy)। 'जब हम किसी मनुष्य के वर्ण, रूप, आकार तथा गति को देखते हैं तब अपने मनों में उत्पन्न कुछ संवेदों या प्रत्ययों को ही देखते हैं और क्योंकि ये हमारी दृष्टि में समस्त विभिन्न समूहों में आते है, अतः ये हमारे सदृश ससीम और सृष्ट आत्माओं के अस्तित्व का संकेत देते हैं। अतः यदि मनुष्य का अर्थ वह है जो वैसे ही रहता है, चलता है, देखता है और सोचता है जैसे हम, तो स्पष्ट है कि हम मनुष्य को नहीं देखते हैं[1]।" हम अपने कर्त्तृत्व और अपने द्वारा उत्पन्न प्रत्ययों को जानते हैं। जैसे हमारे द्वारा उत्पन्न प्रत्यय हैं वैसे प्रत्यय हमें अन्य मनुष्यों के सम्पर्क में आने से मिलते है। अतः इस सादृश्य से हम अनुमान करते हैं कि उन मनुष्यों की आत्माएँ हैं। "अन्य आत्माओं के मन में स्थित प्रत्ययों को हम अपने प्रत्ययों के द्वारा जान सकते हैं और अपने प्रत्ययों के सदृश मानते हैं[2]।

(ग) **अन्य आत्माएँ**। अपनी आत्माओं के ज्ञान में अन्य आत्माओं का ज्ञान निहित है। हम अन्य आत्माओं को अपनी आत्मा के द्वारा जानते हैं और इस अर्थ में हमारी आत्मा अन्य आत्माओं का प्रत्यय या प्रतिबिम्ब है[3]। बर्कले का यह कथन अत्यन्त सारगर्भित है। यद्यपि उसने सभी आत्माओं को पृथक् पृथक् करके स्वीकार किया है और उसने उनके पारस्परिक संबन्ध पर प्रकाश नहीं डाला है तथापि कभी-कभी वह उनके सम्बन्ध पर ध्यान देता है। प्रस्तुत उदाहरण इसका एक उदाहरण है। इसका यह अर्थ भी लगाया जा सकता है कि हमारे आत्म-ज्ञान में अन्य आत्माओं का ज्ञान निहित है। हमारी आत्मा जब अन्य आत्माओं के सम्पर्क में आती है, जब हम मानव समाज में रहते हैं, तभी हमें अपनी आत्मा का ज्ञान या बोध होता है। इस बोध के साथ ही साथ हमें अन्य आत्माओं का भी बोध होता है।

(घ) **संकेत**। 'मैं अल्सिफ्रोन (एक व्यक्ति) को अर्थात् उस विशेष चिद वस्तु को नहीं देखता हूँ, मैं केवल उन दृश्य संकेतों और चिह्नों को देखता हूँ जो उस अदृश्य चित् तत्त्व या आत्मा का संकेत और अनुमान देते हैं[4]। इस प्रकार आत्माएँ एक दूसरे को संकेत द्वारा जानती हैं।

---

१. वही पृ० १०५।

२. वही पृ० ९६-९७।

३. वही पृ० ९०।

४. वही पृ० ३१६।

(ङ) **भाषा**। संकेत द्वारा जानने का स्पष्ट प्रकार भाषा का प्रयोग है। "दूसरे पुरुष की सत्ता में मुझे उसका मुझसे बोलना जितना प्रतिपन्न करता हैं उतना अन्य कुछ नहीं। मैं आपको बातचीत करते हुए जो सुनता हूँ वही सभ्यता और दर्शन-शास्त्र के अनुसार मेरे लिए आपके अस्तित्व का सर्वोत्तम प्रमाण है[1]। भाषा संकेतों का यादृच्छिक प्रयोग है। इन सकेतों के माध्यम से अन्य मनुष्य हमें सूचना देते हैं, हमारा मनोविनोद करते हैं, और हमें कर्म करने का निर्देश करते हैं। समान भाषा का प्रयोग बताता है कि मनुष्य एक दूसरे को समझते हैं।

अन्य आत्माओं के एकता और स्थायित्व को ;हम अपनी आत्मा के एकता और स्थायित्व के सदृश अनुमानित या उपमित कर लेते हैं।

१२ ईश्वर

बर्कले ने ईश्वर को सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित युक्तियाँ दी हैं ;—

(क) **सृष्टिवैज्ञानिक युक्ति** (Cosmological Argument)। जिन प्रत्ययों को हम प्राप्त करते हैं उनका कोई कारण होना चाहिए। इन प्रत्ययों के कारण कोई प्रत्यय, कोई भौतिक द्रव्य या कोई आध्यात्मिक द्रव्य हो सकते है क्योकि इनके अतिरिक्त कोई तीसरे प्रकार का सत् नहीं हो सकता है। अब चूंकि प्रत्यय निष्क्रिय हैं, वे अन्य प्रत्ययों के कारण नहीं हो सकते। कोई भौतिक द्रव्य है ही नहीं, अत: उसको भी प्रत्ययों का कारण नहीं कहा जा सकता है। पुनश्च हमारी आत्मा स्वयं हमारे इन प्राप्त प्रत्ययों को उत्पन्न नहीं करती है। ये प्रत्यय हमारी इन्द्रियों पर सपृक्त है और हम इनको केवल ग्रहण करते हैं। अतः हमारी आत्मा इनका कारण नहीं है। फिर कोई अन्य मानव आत्मा भी इनका कारण नहीं हो सकती है। "यद्यपि कुछ वस्तुएं हैं जिनके बारे में हम निश्चित हैं कि कर्त्ता पुरुषों ने उनको उत्पन्न किया है तथापि यह सबको स्पष्ट है कि जो वस्तुएँ प्रकृति के कार्य कही जाती हैं अर्थात् जो हमारे प्रत्यक्ष किए गये संवेदों या प्रत्ययों का सबसे बड़ा भाग है वह मानवों की इच्छा पर आश्रित या इससे उत्पन्न नहीं हैं। अतः कोई अन्य आत्मा उनको उत्पन्न करती है क्योंकि यह विप्रतिषेधक है कि वे स्वतः सत् हों[2]।" अतः हमारी आत्मा तथा अन्य मनुष्यों की आत्मा से भिन्न एक आत्मा का अस्तित्व सिद्ध है। यह आत्मा परमात्मा ही हो सकती है। यह अग्रिम युक्ति से सिद्ध होता है।

(ख) **कला** (Design) **पर आश्रित युक्ति**। इस युक्ति को औपेयिक

---

१. वही पृ० २१८।

२. बर्कले संग्रह, पृ० १०३।

युक्ति (Teleological Argument) भी कहा जाता है। यह सिद्ध करती है कि प्राकृतिक वस्तुओं की या बर्कले के शब्दों, में प्रत्ययों की, रचना करने वाले में अनन्त बुद्धि या ज्ञान होना चाहिए। यदि हम ध्यानपूर्वक प्राकृतिक वस्तुओं की अव्यभिचरित नियमानुकूलता, व्यवस्था और शृंखला पर विचार करें, यदि हम सृष्टि के विशाल अवयवों की विस्मयकारिणी शोभा, सुन्दरता और पूर्णता और छोटे अवयवों की उत्कृष्ट रचना तथा उसके साथ सम्पूर्ण सृष्टि के सन्तुलन और अविरोध को विचारें और सर्वोपरि, पशुओं की वासनाओं, क्षुधाओं, प्रेरणाओं या मूल प्रवृत्तियों और सुख-दुःख की भावनाओं के अनतिश्लाघ्य नियमों को विचारें, मैं कहता है यदि इन समस्त वस्तुओं को हम विचारें और साथ ही साथ एक, नित्य, अनन्त, ज्ञान, शिव तथा पूर्ण इन गुणों के अर्थ और तात्पर्य पर ध्यान दें, तो हम स्पष्टतया देखेंगे कि ये उपर्युक्त लक्षण उस आत्मा से सम्बन्धित हैं जो सर्वत्र कर्म करती है और जिसमें सभी वस्तुएँ समाविष्ट हैं। संक्षेप में प्रकृति की सुसंगति और रचना एक अनन्त बुद्धि या आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करती है[२]।

बर्कले क और ख युक्तियों को एक साथ रखता है। ये दोनों मिलकर ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करती हैं। ईश्वर प्राकृतिक वस्तुओं का या हमारे संवेद-प्रत्ययों का रचयिता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बर्कले के मत से वस्तु-प्रत्यय अपने द्रष्टा पुरुष के द्वारा किए गए प्राप्त संवेदों के संघात नहीं हैं। जिस एकरूपता, व्यवस्था और नियम से ये संघात बनते हैं उसके मूल में ईश्वर है। अतः बर्कले विशुद्ध गोचर-वाद (Phenomenalism) को नहीं मानता है। वह ईश्वर-केन्द्रित गोचरवाद (Theocentric Phenomenalism) को मानता है। गोचर या इन्द्रिय-गोचर विषय ईश्वर के कार्य हैं।

(ग) प्राकृतिक वस्तुओं के द्रष्टापन के आधार पर युक्ति। हाइलस और फिलोनाउस के द्वितीय और तृतीय संलाप में बर्कले कहता है कि ईश्वर का अस्तित्व इसलिए सिद्ध है कि जिन वस्तुओं को हम या कोई अन्य मानव आत्मा नहीं देखते उनको ईश्वर देखता है। "संवेद-वस्तुएँ यथार्थतः हैं और यदि वे यथार्थतः हैं तो वे अनिवार्यतः किसी अनन्त आत्मा के द्वारा दृष्ट हैं। अतः एक अनन्त आत्मा या ईश्वर है।[३]

यह युक्ति बर्कले की अन्य रचनाओं में नहीं मिलती है। वास्तव में यह युक्ति

---

१. वही पृ० १०३।

२. वही पृ० २०, ५१।

३. हाइलस और फिलोनाउस के संलाप, २।

नहीं किन्तु अर्थापत्ति (Implication) है। सत्यं दृश्यम। (esse is percipi) के सिद्धान्त से किसी 'दृश्यम का सम्बन्ध किसी द्रष्टा के अस्तित्व से है। जब हम या अन्य मनुष्य कोई वस्तु देखते हैं तो वह वस्तु हमारे या अन्य मनुष्य के मन में है। इससे हमारा या अन्य मनुष्य का अस्तित्व सिद्ध होता है। इसी प्रकार अगर कोई मनुष्य किसी वस्तु को नहीं देखता है तो उस वस्तु का नास्तित्व नहीं सिद्ध होता है। वह वस्तु है और इसलिए उसका द्रष्टा भी है क्योंकि वह वस्तु उसके द्वारा दृष्ट होने पर ही सत् हो सकती है।

इस युक्ति में चक्रक दोष है। यहाँ हम ईश्वर का अस्तित्व किसी वस्तु के अस्तित्व से सिद्ध करते हैं और उस वस्तु का अस्तित्व ईश्वर के अस्तित्व से सिद्ध करते हैं। अतः यह युक्ति ठीक नहीं है।

फिर यह युक्ति बर्कले के दर्शन में अनेक असंगतियो को उत्पन्न करती है। क्या हमारा देखना (दृष्टि) सृष्टि है ? क्या जब हम या अन्य मानव किसी वस्तु को देखते हैं तो उसकी सृष्टि करते हैं ? क्या ईश्वर की दृष्टि हमारी-जैसी दृष्टि है ? फिर यदि ईश्वर सभी वस्तुओं को वैसे देखता है जैसे हम देखते हैं तो क्या उन वस्तुओं की हम सृष्टि करते हैं या ईश्वर सृष्टि करता है ? यदि दोनों सृष्टि करते हैं, तो यह कैसे सम्भव है ? क्या जब हम नहीं देखते तब ईश्वर देखता या सृष्टि करता है ? यदि ऐसा है तो फिर ईश्वर सतत द्रष्टा नहीं हो सकता है ? ये और ऐसी ही अन्य असंगतियाँ उपर्युक्त युक्ति से सम्बन्धित हैं।

बर्कले के दर्शन को सुसंगत रूप देने वालों ने इसलिए इसको तर्कसंगत नहीं माना है। वास्तव में ईश्वर संवेदों को प्राप्त नहीं करता है। संवेदों को प्राप्त करना एक प्रकार की निष्क्रियता और अपूर्णता है। ईश्वर सक्रिय तथा पूर्ण है। अतः वह वस्तुओं को इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से नहीं देखता है। "ईश्वर को एक पशु या संवेदनशील चित् समझना बिलकुल अनुपयुक्त और हास्यास्पद है। ईश्वर में कोई इन्द्रिय (Sense) या ऐन्द्रिय (Sensory) नहीं है और न कुछ इन्द्रिय या ऐन्द्रिय की भाँति ही है। इन्द्रिय का तात्पर्य किसी अन्य सत्ता से प्राप्त संस्कार है और यह अपने चित् के ऊपर अपनी पराधीनता का संकेत करता है। इन्द्रिय निष्क्रिय है और निष्क्रियता अपूर्णता है। ईश्वर समस्त वस्तुओं को विशुद्ध बुद्धि या प्रज्ञा से देखता है, किन्तु किसी वस्तु को इन्द्रिय से या किसी ऐन्द्रिय वस्तु से नहीं जानता है[१]।

सृष्टि ईश्वर के लिए नहीं है। वह मानव या ससीम आत्माओं के लिए है। "सृष्टि उन वस्तुओं से सम्बन्धित है जो ससीम आत्माओं से सम्बन्धित हैं। ईश्वर

---

१. बर्कले-संग्रह, पृ० २९१-२९२।

के लिए कुछ नया नहीं है। अतः निष्कर्ष निकलता है कि सृष्टि क्रिया का अर्थ यह ईश्वरेच्छा है कि वे वस्तुएँ अन्य आत्माओं को दृश्य Perceptible, हो जायँ जो पहले केवल उसी को ज्ञात थीं[1]।"

(घ) **ईश्वर वैसे ही ज्ञात है जैसे अन्य मनुष्य।** इस युक्ति को बर्कले ईश्वर का प्रत्यक्ष कहता है। वह कहता है कि जिस अर्थ में हम किसी अन्य मनुष्य को देखते या जानते हैं उससे अधिक स्पष्ट अर्थ में हम ईश्वर को देखते या जानते हैं। "यद्यपि मैं अदृश्य ईश्वर को चर्म-चक्षुओं से नहीं देख सकता, तथापि सत्यतः मैं अपनी सभी इन्द्रियों से ऐसे संकेतों और चिह्नों को, ऐसे कार्यों और व्यापारों को देखता हूँ जो एक अदृश्य ईश्वर को संकेतित, द्योतित और सिद्ध करते हैं, कम से-कम उतने निश्चय से और उतने साक्ष्य से जितने निश्चय और जितने साक्ष्य से अन्य इन्द्रिय-गोचर संकेत हमें आपकी आत्मा, मन या चित-तत्त्व के अस्तित्व को संकेतित करते हैं। आपकी आत्मा के अस्तित्व के बारे में मैं थोड़े से संकेतों या कार्यों से और एक छोटे जैविक शरीर की गतियों से सन्तुष्ट हूँ। किन्तु जो संवेद्य संकेत ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं उनको मैं सदा और सर्वत्र प्रत्यक्ष करता हूँ[2]।"

बर्कले प्रकृति को एक दृश्य भाषा समझता है। "दार्शनिक सत्य के अनुसार मैं उस चट्टान को केवल उसी अर्थ में देखता हूं जिसमें मैं इसको सुनता हुआ कहा जा सकता हूँ जब कि 'चट्टान' शब्द का उच्चारण किया जाता है[3]।" "हम जब से इस जगत् में प्रविष्ट हुए हैं तब से इस भाषा का सरासर अभ्यास कर रहे हैं।...... ....प्रकृति का वह रचयिता सभी मनुष्यों की आँखों से सतत बोल रहा है[4]।

"आप इन्कार नहीं कर सकते हैं कि प्रकृति का वह महान् संचालक और रचयिता मनुष्य की आँखों से अपनी व्याख्या सतत उन यादृच्छिक संकेतो के संवेद्य माध्यम से कर रहा है जो संकेतित वस्तुओं से कोई सादृश्य या आवश्यक सम्बन्ध नहीं रखते हैं। इस प्रकार उनके संघात और विन्यास के द्वारा वह स्वलक्षण, देश और काल में भिन्न-भिन्न विषयों की अनन्त विविधता को संकेतित और प्रदर्शित करता है। फिर उनके द्वारा वह मनुष्यों को सूचना तथा निर्देश देता है कि वे सन्निकट और वर्तमान तथा दूरस्थ और भविष्य के सम्बन्ध में कैसे प्रतिक्रिया करें। मैं कहता हूँ कि अपनी ही भावनाओं और मान्यताओं के फलस्वरूप आप उतने ही प्रमाण से सोच

१. Berkeley, A. C. Frazer पृ० ७३ में उद्धृत।
२. बर्कले-संग्रह, पृ० २१६।
३. वही पृ० २२७।
४. वही पृ० २२८।

सकते हैं कि विभु कर्त्ता या ईश्वर आपकी आँखों से बोलता है जितने प्रमाण से आप सोच सकते हैं कि कोई विशेष पुरुष आपके कानों से बोलता है[1]।

वास्तव में ईश्वर सभी दृश्यों में व्याप्त है। वह अन्तर्यामी है। ईश्वर के विना किसी दृश्य का पर्याप्त ज्ञान नही हो सकता है। "प्रकृति के आभासों या प्रपंचों (Phenomena) मे कुछ सादृश्य, अव्यभिचार और एकरूपता है जो सामान्य नियमों के प्रतिष्ठान हैं। प्रकृति को या दृश्य जगत् में कार्यों की उस शृंखला को जिससे हम यह पूर्वदर्शन करने में समर्थ होते हैं कि वस्तुओं की स्वाभाविक गति-विधि में क्या घटित होगा, समझने के लिए ये व्याकरण है। ...... क्योंकि संकेत और संकेतित वस्तुओं का प्राकृतिक सम्बन्ध नियमित और अव्यभिचरित है, इसलिए यह युक्तियुक्त वार्ता का एक प्रकार है और इस कारण एक बुद्धिमान् कारण का कार्य है[2]।"

यहाँ यह तर्क किया गया है कि दृश्यो का सम्बन्ध व्यजक-व्यंग्य-सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध ईश्वरेच्छा है। अतः इस सम्बन्ध से ईश्वर का अनुमान होता है। हर मनुष्य की दुनिया अपनी है, क्योंकि उसके प्रत्यय वस्तुतः अन्य मनुष्यों के प्रत्ययों से भिन्न हैं। हर मनुष्य की दुनिया एक पृथक् और व्यक्तिगत दुनिया है। वह अन्य मनुष्यों की ऐसी ही दुनिया से प्रतिक्षण सुसम्बन्धित होती रहती है। यह कार्य ईश्वर करता है। वही विभिन्न मनुष्यो के विभिन्न संसारों को समरूप या एकरूप करता रहता है। बर्कले यहाँ वास्तव में मैलब्रान्श के ईश्वरनिमित्तवाद (Occasionalism) को मान रहा है। मैलब्रान्श की ही तरह वह मानता है कि मानव ज्ञान के लिए ईश्वर की आवश्यकता है।

ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध हो जाने पर अब उसके स्वरूप का निरूपण होना चाहिए। ईश्वर सृष्टि का रचयिता है। किन्तु हम जैसे सृष्टि को देखते हैं वैसे ईश्वर नहीं देखता है। इसलिए प्रश्न उठता है—ईश्वर के लिए सृष्टि क्या है ?

बर्कले कभी-कभी कहता है कि हम जिन प्रत्ययो को देखते हैं उनके मूलरूप ईश्वर मे हैं। इससे सिद्ध होता है जिस सृष्टि को हम देखते हैं वह प्रतिबिम्ब है और उसका मूलरूप या बिम्ब हम नहीं देख या जान सकते। प्रतिबिम्बित सृष्टि ईश्वर के मन में स्थित प्रत्ययों के अनुरूप है। किन्तु मैबटन ने सिद्ध किया है कि वास्तव में बर्कले सृष्टि के मूलरूप को ईश्वर के मन में स्थित नहीं मानता है। ईश्वर के लिए तो सृष्टि है ही नहीं। इस पर प्रश्न उठता है कि फिर ईश्वर किस रूप में प्रत्यय करता है ? इसका स्पष्ट उत्तर बर्कले दे नहीं सकता है। वह इतना ही कहता है कि ईश्वरीय प्रत्यय मानव प्रत्ययों से भिन्न हैं।

---

१. वही पृ० २२६-२३०।
२. वही पृ० २७६-२८०।

ईश्वर जगत् से परे है, यद्यपि जगत् उसमें है। इस मत को अतीश्वरवाद (Panentheism) कहा जाता है और यह सर्वेश्वरवाद (Pantheism) से भिन्न है।

ईश्वर सर्वोच्च क्रियाशील आत्मा है। वह असीम आत्मा है। मानव आत्माएँ क्रियाशील हैं, किन्तु उनमें निष्क्रियता (Passivity) भी है। इसलिए उनमें ईश्वर की अपेक्षा कम सत्यता है। वे सीमित या ससीम हैं। ईश्वर संवेद-प्रत्ययों को उत्पन्न करता है। मानव आत्माएँ केवल उन प्रत्ययों के प्रतिबिम्ब उत्पन्न करती हैं। कभी-कभी मानव आत्माएँ गति, परिवर्तन आदि के संवेद-प्रत्ययों को भी उत्पन्न करती हैं।

सीमित आत्माओ और असीम आत्मा का एक आध्यात्मिक लोक है। इसे हम आत्म-लोक कह सकते हैं। वस्तुतः इन्हीं आत्माओं का ही अस्तित्व है। इनके अतिरिक्त जो प्रत्ययों का अस्तित्व कहा जाता है वह इन्हीं आत्माओं के अधीन है या इनके अन्दर है। इस तरह तत्त्वदर्शन की दृष्टि से बर्कले प्रत्ययवादी की अपेक्षा अध्यात्मवादी अधिक है। वास्तव में उसे अध्यात्मवादी ही कहना चाहिए। प्रत्यय-वाद के लिए केवल सत्यं दृश्यम् का सिद्धान्त ही आवश्यक नहीं है वरन् सत्यं और दृश्यम् की अभिन्नता भी आवश्यक है और इस अभिन्न सत्य के अतिरिक्त किसी अन्य सत्य को न मानना भी अपेक्षित है। स्पष्ट है कि बर्कले इस अर्थ में प्रत्ययवादी नहीं है। उसका प्रत्ययवाद हेगल, ग्रीन, ब्रैडले आदि दार्शनिकों के प्रत्ययवाद से भिन्न है, यद्यपि इन दार्शनिकों को उसके सिद्धान्त से प्रेरणा मिली है।

बर्कले का आत्मलोक वास्तव में ईश्वरलोक या ब्रह्मलोक है। 'एक शृंखला' के अधिकरण ३४५ में वह कहता है कि जहाँ तक सीमित आत्मा एक पुरुष या व्यक्ति है वहाँ तक वह ईश्वर का भाग या अंश है। 'मनुष्य की आत्मा में, बुद्धि से पूर्व और महान् एक उच्चतर स्वभाव हैं जिसके कारण हम एक हैं।..................इस एकता के कारण हम ईश्वर से अधिक समीपतः संयुक्त है।" सिद्धान्तावली में वह कहता है कि "ईश्वर में हम रहते हैं, चलते हैं और अपना अस्तित्व-लाभ करते हैं[1]।"

ईश्वर कैसे सीमित आत्माओं को उत्पन्न करता है? क्या सीमित आत्माओं की उत्पत्ति और प्रत्ययों की उत्पत्ति दोनों एक प्रकार हैं? इन प्रश्नों का विवेचन बर्कले नहीं करता है। ईश्वर के विषय में उसने कोई ऐसी बात नहीं कही है जो उसके पहले ईसाई दार्शनिकों ने न कही हो। इस विषय में उसके विचार नवीन नहीं थे।

---

१. बर्कले-संग्रह, पृ० १०५।

१३ कारणता

बर्कले केवल निमित्त कारण को मानता है । वह उपादान कारण (Material Cause) और आकारिक कारण (Formal Cause को नहीं मानता है। उसके निमित्त कारण के अन्तर्गत अरस्तू के निमित्त कारण (Efficient Cause) और प्रयोजन-कारण (Final Cause) दोनों हैं।

निमित्त कारणता भी सभी वस्तुओं में नहीं है। वे प्रत्यय हैं और निष्क्रिय हैं। निमित्त कारण मुख्यतः ईश्वर में है और गौणतः वह सीमित आत्माओं में है। जो भी निमित्त कारण है वह आध्यात्मिक तत्त्व या द्रव्य है। संसार में जो गति है उसका संचालक ईश्वर या सीमित आत्माएँ हैं। बर्कले का यह सिद्धान्त विज्ञान के विपरीत प्रतीत होता है। आधुनिक विज्ञान शक्ति (Energy) के संरक्षण (Conservation) के सिद्धान्त को मानता है जिसके अनुसार जगत् की गतिशीलता-क्रियाशीलता की मात्रा स्थिर रहती है। बर्कले के मत से सभी आत्माएँ सदा गति करती रहती हैं और इस कारण जगत की गतिशीलता स्थिर नहीं रह सकती। किन्तु यदि माना जाय कि ईश्वर सभी आत्माओं की गतियों का सन्तुलन करता रहता है तो बर्कले के मत से शक्ति-संरक्षण के सिद्धान्त की व्याख्या हो सकती है। बर्कले के दर्शन में ईश्वर से ऐसी आशा स्वभावतः की जा सकती है।

अब प्रश्न है कि जब हम कहते हैं कि अग्नि कारण है और वेदना उसका कार्य है, तब हम कारण और कार्य का प्रयोग किस अर्थ में करते हैं। जब हम कहते हैं कि बीज कारण है और वृक्ष कार्य है, तब कारण और कार्य का क्या अर्थ है? सामान्यतः हम वस्तु-प्रत्ययों के बीच कारणता-सम्बन्ध को मानते हैं।

किन्तु बर्कले वस्तु-प्रत्ययों के बीच कारणता-सम्बन्ध को नहीं मानता है। उनके बीच वह नियत अनुवर्तन (Regular Recurrence) के सम्बन्ध को मानता है। यह नियत अनुवर्तन व्यंजक (Sign) और व्यंग्य का सम्बन्ध है। इस प्रकार वह तथाकथित कार्य-कारण सम्बन्ध के स्थान पर व्यंजक-व्यंग्य सम्बन्ध को प्रस्तावित करता है। वह कहता है, "प्रत्ययों के सम्बन्ध का तात्पर्य कारण और कार्य के सम्बन्ध से नहीं है, किन्तु चिह्न या संकेत और संकेतित वस्तु के सम्बन्ध मात्र से है। अग्नि जिसे मैं देखता हूँ दुःख का जिसका मैं अनुभव इसके पास जाकर करता हूँ कारण नहीं है किन्तु संकेत है जो मुझे इसकी चेतावनी देता है। इसी प्रकार आवाज, जो मैं सुनता हूँ, किसी गति या परिवर्त्त पिण्ड के संघात का कार्य नहीं है, किन्तु संकेत है। इसलिए कुछ मूल प्रत्यय कार्यों और कृतियों की एक बड़ी संख्या को संकेतित करें, यह आवश्यक है कि वे विभिन्न रूप से परस्पर संगठित हो

सकें। और अन्ततः उनके प्रयोग को स्थायी तथा सामान्य बतलाने के लिए इन संघटनों (Combinations) को नियमानुकूल तथा कुशल रचना से बनाना चाहिए। इस साधन से हमें पर्याप्त सूचना मिलती है कि अमुक-अमुक कार्यों में हमें क्या प्रत्याशा करनी चाहिए और अमुक-अमुक प्रत्ययों को उत्तेजित करने के लिए किन-किन विधियों का ग्रहण करना उचित है[1] ?"

इस तरह भौतिक कारणवाद को बर्कले संकेतवाद कहता है। इसे वह इन्द्रिय-प्रत्यक्षमूलक प्रतीकवाद (Sense Symbolism) कहता है। यह एक नैसर्गिक भाषा है। बर्कले इस भाषा को दृश्य भाषा या ईश्वरीय भाषा कहता है। 'प्रकृति के रचयिता की इस भाषा को खोजना और समझने का प्रयास करना प्रकृति-दार्शनिक (यानी वैज्ञानिक) का कर्त्तव्य होना चाहिए। उसे भौतिक कारणों से वस्तुओं की व्याख्या करने का अभियान न करना चाहिए[2] ।"

भौतिक वस्तुओं को हम ग्राम्य या अशिक्षित (Vulgar) अर्थ में कारण कहते हैं। बर्कले यह नहीं कहता कि हम उन्हें कारण न कहें। उसका सिद्धान्त है कि "हमें विद्वानों की भाँति सोचना चाहिए और प्राकृत जनों की भाँति बात करनी चाहिए[3] ।" अतः प्रसिद्ध भाषा और जगत्-व्यवहार के अनुरूप हमें प्रचलित पदावली का प्रयोग अवश्य करना है। परन्तु सत्य के प्रसंग में हमें इसके अर्थ को भिन्न करना है। अतः वस्तुतः इन्द्रियगोचर विषयों की कारणता मात्र नियमितता (Regularity) है। बर्कले के इस सिद्धान्त को मिल, ह्यूम तथा आजकल के अधिकांश पाश्चात्य दार्शनिक मानते हैं।

१४ प्राकृतिक व्यवस्था

चूँकि बर्कले प्रकृति, भूततत्त्व या भौतिक अणुओं का खंडन करता है, इसलिए उसके प्रति यह आपत्ति की जा सकती है, "भूततत्त्व और गति के द्वारा अनेक वस्तुओं की व्याख्या की गई है। यदि इनका निराकरण कर दिया जाता है तो संपूर्ण अणुवादी दर्शनशास्त्र का खंडन हो जाता है और उन वैज्ञानिक सिद्धान्तों की हत्या हो जाती है जिनका सफलतापूर्वक प्रयोग गोचर विषयों की व्याख्या के लिए किया गया है। संक्षेप में प्राचीन तथा अर्वाचीन दार्शनिकों ने प्रकृति के अध्ययन में जितनी भी प्रगति की है उसका मुख्य स्रोत यह मान्यता है कि भौतिक तत्त्व या भूततत्त्व वस्तुतः है।" इस मान्यता का खंडन हो जाने पर विज्ञान की जड़ कट जाती है।

---

१. वही पृ० ७४।
२. वही पृ० ७५।
३. वही पृ० ६५।

इस आपत्ति को स्वयं बर्कले ने पेश किया है। इसके उत्तर में वह कहता है: "इस मान्यता के आधार पर किसी भी गोचर विषय की ऐसी व्याख्या नहीं की गई है जो इसके अभाव में न उत्पन्न हो। वह व्याख्या विशेषों के साधारणीकरण (आगमन (Induction) के द्वारा सरलतया सिद्ध हो सकती है। गोचरों की व्याख्या मात्र यह दिखाती है कि अमुक-अमुक अवसरों पर हम अमुक-अमुक प्रत्ययों का अनुभव करते हैं।.........प्राकृतिक दर्शन (विज्ञान) में भूततत्त्व का कोई उपयोग नहीं है।.........जो लोग वस्तुओं की व्याख्या करने का प्रयास करते हैं वे भौतिक द्रव्य के द्वारा नहीं प्रत्युत आकार, गति तथा अन्य गुणों के द्वारा करते हैं जो परमार्थतः मात्र प्रत्यय के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं[१]।"

बर्कले प्राकृतिक वस्तुओं को स्पष्ट, स्थिर, व्यवस्थित और सुसंगत मानता है। वह उनको परस्पर सम्बन्धित भी मानता है। उनके इन गुणों के आधार पर ही वह ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करता है। वह कहता है, "इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के प्रत्यय कल्पना के प्रत्ययों की अपेक्षा अधिक प्रगाढ़, रोचक तथा स्पष्ट हैं। उनमें उसी प्रकार उनकी अपनी स्थिरता, व्यवस्था तथा संगति है। वे उस प्रकार उत्तेजित नहीं होते जिस प्रकार वे प्रत्यय प्रायः होते हैं जो मानव इच्छा के कार्य हैं। वे एक नियमित क्रम या शृंखला में उत्पन्न होते हैं। उन निश्चित नियमों को प्रकृति के नियम कहा जाता है। उनको हम अनुभव से सीखते हैं। यह सिखाता है कि वस्तुओं की सामान्य अवस्था में अमुक-अमुक प्रत्यय अमुक-अमुक अन्य प्रत्ययों के सहचर हैं।"

बर्कले प्राकृतिक नियमों को मात्र व्यंजक और व्यंग्य के सम्बन्ध या प्रत्ययों का साहचर्य नहीं मानता है। वह उसमें ईश्वर की बुद्धि भी देखता है। 'एक शृङ्खला' नामक पुस्तक में उसका अभिप्राय अधिक स्पष्ट हुआ है। यहाँ वह कहता है कि "एक बुद्धि सम्पूर्ण जगत् में व्यवस्था और एकरूपता का सार्वभौम तत्त्व है जो इसके सभी अवयवों को सम्मिलित और संयुक्त करती है तथा पूरे अवयवों को एकता प्रदान करती है[३]....."प्रपंचों (Phenomena) की व्याख्या में उस अभौतिक कर्त्ता की साक्षात् उपस्थिति तथा साक्षात् क्रिया को विना स्वीकार किये हुए हम एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकते हैं[४]।"

इस तरह बर्कले ने प्राकृतिक नियमों को ईश्वर-रचित सम्बन्ध माना है। यह

१. वही पृ० ६४।
२. वही पृ० ५०।
३. वही पृ० २६१।
४. वही पृ० २७६।

सम्बन्ध यादृच्छिक है क्योंकि ईश्वर इसको दूसरी तरह कर सकता था। किन्तु यह यदृच्छा उच्छृंखलता नहीं है। यह ईश्वर की युक्तियुक्त इच्छा है।

अतः प्रकृति की एकरूपता (Uniformity of Nature) भौतिक द्रव्यों के न होने से नष्ट नहीं होती है। दृश्य विषय असंगठित, असम्बन्धित नहीं उपलब्ध होते हैं। वे प्राकृतिक एकरूपता में उपलब्ध होते हैं। इस एकरूपता का आधार ईश्वर हैं। इसका आधार भौतिक पदार्थ नहीं हो सकता है।

किन्तु कुछ प्रत्यय या प्रत्यय-सम्बन्ध केवल प्रत्ययों के साहचर्य पर निर्भर हैं। इस साहचर्य से वे व्यंजक-व्यंग्य सम्बन्ध में पड़ जाते हैं। देश और काल के प्रत्यय ऐसे ही हैं।

देश (Space) प्रत्ययों का सह-अस्तित्व (Co-existence) या युगपद्भाव है। काल (Time) प्रत्ययों का पौर्वापर्य (Succession) है। इनके अतिरिक्त देश और काल का कोई अन्य अर्थ नहीं है।

१५ बर्कले का प्रभाव

योरोपीय दर्शन में बर्कले के प्रभाव की चार धाराएँ स्पष्ट हुई हैं। पहली धारा बर्कले से ह्यूम और मिल तक है। दूसरी धारा बर्कले से रीड और कांट तक है। तीसरी धारा बर्कले से फ्रेजर तक है। चौथी धारा बर्कले से आधुनिक दृश्यता-वादी (Phenomenalist) या गोचरवादी दार्शनिकों तक है। अन्तिम दोनों धाराओं का प्रभाव क्रमशः १८वीं और २०वीं शती में हुआ है। हम प्रत्येक का यहाँ वर्णन करेंगे। इन्हें हम क्रमशः प्रत्यक्षवादी, बुद्धिवादी, ईश्वरवादी और भाषा-वादी धाराएँ कह सकते हैं।

(क) प्रत्यक्षवादी धारा। ह्यूम ने बर्कले की अनुभवमूलक प्रणाली के आधार पर अपना दर्शन स्थापित किया है। उसने बर्कले की बोधमय प्रणाली का खण्डन किया है। मिल भी इसी परम्परा का दार्शनिक है। इस परम्परा का मूल प्रवर्तक लाक है। इस परम्परा के मानने वाले बर्कले को लाक तथा ह्यूम के बीच की मध्य कड़ी मानते हैं। उनका कहना है कि लाक की कमियों को बर्कले ने दूर किया और बर्कले की कमियों को ह्यूम ने। लाक की अनुभवमूलक प्रणाली का कुछ सुसंगत विकास बर्कले ने किया और फिर इस विकसित प्रणाली का कुछ और सुसंगत विकास ह्यूम ने किया। उनके मत से बर्कले अपूर्ण ह्यूम है।

इस परम्परा का मुख्य सिद्धान्त सत्यं दृश्यम् है। इससे वह दृश्यतावाद या गोचरवाद सिद्ध होता है जो न तो ईश्वर-केन्द्रित है और न मानव-केन्द्रित।

स्पष्ट है कि बर्कले को लाक और ह्यूम के बीच की केवल कड़ी नहीं

माना जा सकता है। उसका अपना दर्शन है जो स्वतः पूर्ण हैं। किन्तु फिर भी जैसे बर्कले ने बहुत कुछ लाक से सीखा था और उसका खण्डन भी किया था वैसे ह्यूम ने भी बहुत-कुछ बर्कले से सीखा और उसका खण्डन भी किया। बर्कले के दर्शन की अन्य धाराएँ सिद्ध करती हैं कि ह्यूम और उसके बाद मिल ने बर्कले को सही नहीं समझा था। उन्होंने उसके बोध और संकेतवाद का सही अर्थ नहीं किया। वे उसके द्वारा किए गए भौतिकवाद के खण्डन, अमूर्त प्रत्ययों के खण्डन, वस्तु-प्रत्ययों के व्याख्यान आदि के आधार पर ही अपना-अपना दर्शन बनाते हैं।

(ख) **बुद्धिवादी धारा।** रीड और कांट दोनों ने ह्यूम का खण्डन किया है। रीड का खण्डन लोकमत या साधारण जनों के साक्ष्य पर निर्भर है और कांट का खण्डन ज्ञान के आधारों के विश्लेषण पर। इन दोनों ने इस ओर जो कुछ कहा है उसका कुछ अग्रनिरूपण बर्कले ने किया है। लेकिन दोनों को बर्कले का सही ज्ञान न था। रीड समझता था कि बर्कले डेकार्ट के रूढ़िगत आदर्शवाद (Dogmatic Idealism) का हिमायती है। कांट ने बर्कले के रूढ़िगत आदर्शवाद या प्रत्यय-वाद का खण्डन किया है। इस प्रकार रीड और कांट दोनों बर्कले से साक्षात् प्रभावित नहीं थे जैसा कि ह्यूम और मिल थे।

किन्तु जैसे रीड ने लोकमत या लोकसाक्ष्य के आधार पर गोचरवाद या संवेदवाद की आलोचना की है वैसे बर्कले ने भी कहा कि "तत्त्वदर्शन को निकाल बाहर करो और दर्शन को लोकसाक्ष्य के निकट लाओ[१]।" कांट ने जिस तरह प्राकृतिक एकरूपता और आत्मा को ज्ञान में आवश्यक माना है वह बर्कले का स्मरण कराता है। इसलिए बर्कले के कुछ भाष्यकारों ने उसे अपूर्ण कांट माना है। उनके मत से बर्कले की विचारधारा कांट के दर्शन की ओर बह रही थी।

किन्तु इस धारा में भी बर्कले के दर्शन का केवल एक पक्ष लिया जाता है। यहाँ उसकी बोधमय प्रणाली पर बल दिया जाता है और उसकी अनुभवमूलक प्रणाली को छोड़ दिया जाता है। यहाँ बर्कले के इस कथन पर बल दिया जाता है कि "यथार्थतः इन्द्रिय कुछ नहीं जानती है[२]।" इसके अनुसार ज्ञान के प्रत्येक स्तर पर मानसिक व्यापार अपेक्षित हैं। बिना बुद्धि के संवेद प्राप्त कर सकना तक कठिन है।

कांट के सिद्धान्तों को लेकर जर्मनी में फिश्टे, शेलिंग और हेगल ने प्रत्यय-वाद (Idealism) की स्थापना की। इसका प्रभाव ग्रीन, ब्रैडले आदि अंग्रेज दार्शनिकों पर भी पड़ा। इसकी अभिव्यक्ति सत्यम् ज्ञेयम् या चिन्त्यं (esse is concipi)

---

१. देखिए दार्शनिक टिप्पणियाँ।
२. देखिए एक श्रृंखला।

के द्वारा की जाती है। हम देख चुके हैं कि बर्कले स्वयं कभी-कभी सत्यं दृश्यम् के स्थान पर सत्यम् ज्ञेयम् का प्रतिपादन करता है। अपनी 'एक शृंखला' में तो वह सत्यम् ज्ञेयम् का ही प्रतिपादन करता है। किन्तु परमार्थतः सत्यम् ज्ञेयम् और सत्यं दृश्यम् में कोई विशेष अन्तर नहीं है। इससे बर्कले का प्रत्ययवाद बदल नहीं जाता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि १९वीं शती के अन्त में और बीसवीं शती के आरम्भ में इग्लैण्ड में जो प्रत्ययवाद विकसित हुआ वह वास्तव में बर्कले के प्रत्ययवाद के सन्निकट है। बर्गसाँ ने कहा है कि हाल में जितने दर्शन हुए हैं प्रत्येक को बर्कले के दर्शन से आरम्भ होना पड़ा है[1]। प्रत्ययवाद के लिए भले ही सत्यं दृश्यम् पर्याप्त न हो और हमें सत्यम् तथा दृश्यम् का अभेद भी मानना हो तथापि सत्यम् दृश्यम् प्रत्ययवाद के लिए अनिवार्य है। इसलिए बर्कले आधुनिक युग में प्रत्ययवाद का जनक है। जिस कांट ने बर्कले के प्रत्ययवाद को रूढ़िगत आदर्शवाद कहकर खण्डन किया उसके ही दर्शन को प्रत्ययवाद का बाना पहनाया गया।

किन्तु फिर भी बर्कले को अपूर्ण कांट या अपूर्ण ग्रीन या ब्रैडले मानना ठीक नहीं है। उसके दर्शन की और भी धाराएँ हैं जो इस धारा से मेल खाती हैं, किन्तु इसमें सम्मिलित नहीं हैं।

(ग) ईश्वरवादी धारा। फ्रेजर ने १८७१ में बर्कले की समस्त रचनाओं को प्रकाशित किया। इसी समय से बर्कले का विशेष प्रभाव योरोपीय दर्शन पर पड़ने लगा। इसके पूर्व बर्कले के दर्शन का सही ज्ञान किसी को नहीं था, क्योंकि उसकी समस्त कृतियाँ किसी को उपलब्ध नहीं थीं।

फ्रेजर ने बर्कले के दर्शन को ईश्वरवादी बताया और उस पर उतना ही प्रभाव प्लेटो का दिखलाया जितना लाक का। उसने यह भी माना कि यद्यपि बर्कले आरम्भ में लाक से अधिक प्रभावित था तथापि यह प्रभाव धीरे-धीरे नष्ट हो गया है और बर्कले पूर्णतः ईश्वरवादी प्लेटो हो जाता है। विशुद्ध प्रत्ययवाद से भिन्न आधुनिक युग में एक ईश्वरवादी प्रत्ययवाद विकसित हुआ है जिसके मुख्य प्रवक्ता हेस्टिंग्स रैशडल, प्रिंगिल पैटिसन, आदि हैं। यह ईश्वरवादी प्रत्ययवाद (Personal Idealism) वास्तव में बर्कलेवाद की ही एक पुनःस्थापना है। रैशडल ने स्वयं माना है कि बर्कले की रचनाएँ सभी सच्चे प्रत्ययवादियों के लिए श्रेण्य ग्रंथ (classics) हैं[2]।

---

१. हिक्स कृत बर्कले, पृ० २८५ में उद्धृत।

२. वही पृ० ३०१।

आधुनिक युग में ईसाई मत के विकास के लिए फ्रेजर की यह व्याख्या बहुत उपयोगी सिद्ध हुई। इसने दिखाया कि किस तरह विज्ञान और अनुभवमूलक दर्शन का विकास ईश्वरवाद की ओर किया जा सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि बर्कले एक बिशप था और उसने ईश्वर को सिद्ध करने में तथा नास्तिकवाद या निरीश्वरवाद का खंडन करने में अपने जीवन को लगाया था। किन्तु फिर भी उसके ईश्वरवाद में उतनी जान नहीं थी जितनी उन प्रणालियों में जिनके द्वारा वह अपने दर्शन को विकसित करता है। अतः हम बर्कले को मात्र ईश्वरवादी भी नहीं कह सकते हैं।

बीसवीं शती में बर्कले के भाषावाद का विशेष प्रभाव पड़ रहा है। उसने अमूर्त प्रत्ययों के खंडन और संकेतवाद को जिस तरह सिद्ध किया है उसको उसकी अनुभवमूलक प्रणाली से जोड़ते हुए आज भाषावाद का विकास हो रहा है।

भाषावाद के साथ ही आज प्रदृश्यतावाद (Phenomenalism) भी प्रचलित है जिसे ईश्वर-रहित बर्कलेवाद कहा जा सकता है।

वास्तव में आधुनिक युग मे यदि किसी एक दार्शनिक का सबसे अधिक सूक्ष्म अनुशीलन किया गया है तो वह बर्कले ही है। वस्तुवादी और आलोचनात्मक वस्तुवादी भी उससे उतनी ही प्रेरणा लेते हैं जितनी आदर्शवादी और ईश्वरवादी। नववस्तुवादियों ने उसके इस सिद्धान्त का स्वागत किया है कि वस्तु और प्रत्यय में अभेद है। किन्तु इस अभेद से वे प्रत्यय का खंडन करते हैं और वस्तु के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। प्रो० जी० ई० मूर इस प्रकार के प्रख्यात दार्शनिक हो गये हैं। नववस्तुवादी (New Realist) पेरी ने बर्कले के दर्शन में दो दोष निकाले हैं। पहला दोष आरम्भिक अभिधान को परिभाषा समझ लेना है (Definition by initial predication)। बर्कले जब कहता है कि यह कन्दपुष्प है, इस कथन का मतलब है कि यह देखा जाता है, तो वह आरम्भ से ही मान लेता है कि यह कन्दपुष्प एकान्ततः (Exclusively) दृश्य है। वह यह विचार नहीं करता है कि यह कन्दपुष्प ज्ञान-जगत् और वस्तु-जगत् दोनों में हो सकता है अर्थात् वस्तु-जगत् और वस्तु-प्रत्यय दोनों हो सकता है। उसका कथन एकान्त कथन है। वह अन्य संभावना का विचार नहीं करता है। फिर दूसरा दोष आत्म केन्द्रित अनिष्ट प्रसंग (Egocentric Predicament) है। बर्कले कहता है कि कोई किसी वस्तु को सत् नहीं कह सकता है यदि वह उसको सोचता नहीं है। यह मानव ज्ञान की वस्तु-स्थिति है। किन्तु इसके आधार पर किसी चिन्त्य विषय और उसके चिन्तन को एक या अभिन्न नहीं कहा जा सकता है क्योंकि वह विषय औरों के द्वारा भी चिन्तय है। फिर हम जब स्वयं चिंतन बन्द कर देते हैं तो उसका विषय चाहे जो हो उसको हम से मतलब रहता है। किन्तु इसका

अभिप्राय यह नहीं है कि वह विषय ही नष्ट हो जाता है। इस तरह आत्मकेन्द्रित अनिष्ट प्रसंग में पड़कर बर्कले ने सत्यं दृश्यं का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है[1]। इस प्रकार नव-वस्तुवादी बर्कले की अद्वैत-ज्ञानमीमांसा को स्वीकार करते हैं और उसके प्रत्ययवाद को अस्वीकार।

आलोचनात्मक वस्तुवादी (Critical Realist) बर्कले की अद्वैत-ज्ञान-मीमांसा (Epistemological Monism) की आलोचना करते हैं और वे उससे अधिक लाक को महत्त्व देते हैं। किन्तु वे भी बर्कले के इस सिद्धान्त को कुछ हद तक मानते हैं कि दृष्टि सृष्टि है या ज्ञान में मन अपने विषय को कुछ हद तक रचता है : वे आत्मा या मन की सक्रियता तथा उन मानसिक व्यापारों को जिन्हें बर्कले मानता है, मानते हैं।

इस तरह समकालीन दर्शन में भी बर्कले के दर्शन की समस्याओं का बड़ा विवेचन हो रहा है। उसके मत के सर्वाधिक निकट पहले ईश्वरवादी प्रत्ययवादी हैं और उनके पश्चात विशुद्ध प्रत्यवादी हैं।

वास्तव में बर्कले का दर्शन अत्यन्त विचारोत्तेजक है। वह दार्शनिक चिन्तन का एक आदर्श नमूना है। उसमें दर्शनशास्त्र की अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याओं को स्पष्ट भाषा में रखने की चेष्टा की गयी है। इसलिए उसको दर्शन-शास्त्र के प्रारम्भिक छात्रों के लिए एक आदर्श पाठ्य-क्रम माना जाता है।

---

१. Present Philosophical Tendencies, R. B. Perry पृ० १२६-१३२।

अध्याय ७

ह्यूम का संशयवाद

१ ह्यूम का जीवनवृत्त

१८वीं शताब्दी योरोप के लिए सर्वश्रेष्ठ और अपरिहार्य है। उसकी समस्त विशेषताएँ डेविड ह्यम में मिलती हैं। वह इस शताब्दी का प्रतिनिधित्व करता है। "उसका कार्य किसी नये क्षेत्र को ढूंढ़ना नहीं था किन्तु पुराने क्षेत्र का ध्वंस करना था। ह्यूम के पहले प्रत्यक्षवाद (Empiricism) और संवेदवाद (Sensation-alism) था; उसके बाद कांट की कोपरनिकसीय क्रान्ति है। उसके पहले प्रकृति और बुद्धि साथ-साथ चलते हैं तो उसके बाद प्रकृति और भावना (Feeling)[१]।";

डेविड ह्यूम का जन्म २६ अप्रैल १७११ को एडिनबर्ग, स्काटलैण्ड में हुआ था। उसका परिवार साधारण था। वह धनी नहीं था। ह्यम की शिक्षा पहले घर पर हुई। १२ वर्ष की आयु में वह एडिनबर्ग विश्वविद्यालय में भरती हुआ। उस समय स्काटलैण्ड के विश्वविद्यालय में प्रधानतः भाषाओं की शिक्षा दी जाती थी और वह शिक्षा विद्यार्थी की १४ या १५ वर्ष की आयु तक समाप्त हो जाती थी। ह्यूम को लैटिन, फ्रान्सीसी और अँग्रेजी का ज्ञान था। उसके पिता की इच्छा थी कि वह वकील बने किन्तु उसने लिखा है कि "जब लोग समझते थे कि मैं बोयट और विनियस पढ़ रहा हूँ, तब मैं छिपाकर सिसरो और वर्जिल को याद कर रहा था[२]।"
उसने अपना जीवन-चरित (Own Life) स्वयं लिखा है जिसे उसके मरने के एक वर्ष बाद उसके मित्र एडम स्मिथ ने सम्पादित-प्रकाशित किया है। इसमें उसने लिखा है कि "बचपन से ही मेरी इच्छा साहित्य-उपासना करने की थी। यह भावना मेरे जीवन में सबसे प्रबल रही है और मेरे आनन्दों का बहुत बड़ा स्रोत है।" दर्शन का अनुशीलन उसने अपने स्वाध्याय से किया। उसके जीवनचरित को जे० एच० बर्टन ने भी लिखा है। इसमें उसने ह्यूम के एक लेख का उद्धरण दिया है। उसमें ह्यूम कहता है कि "कालेज छोड़ने के बाद मुझे भी अपने अध्ययन के विषय को

१. देखिए बेसिल विले कृत The Eighteenth Century Background.
२. देखिए विलियम स्ट्राहन के नाम डेविडह्यूम के पत्र, पृ० XVIII.

चुनना पड़ा। मैं तर्क और दर्शनशास्त्र की ओर उतना ही झुका जितना काव्य और कथाकारों की ओर। जो भी दार्शनिकों अथवा आलोचकों से परिचित है, वह जानता है कि इन दोनों विज्ञानों में कोई निश्चित मत नहीं स्थापित है और इनमें बुनियादी बातों पर भी अनन्त विवाद हैं। इनके परीक्षण से मेरे अन्दर कुछ साहस की भावना जगी और मैं इन नियमों पर किसी को प्रमाण मनाने को तैयार न हुआ। इस भावना से मैं एक नयी पद्धति (New Medium) खोजने चला जिसमें सत्य स्थापित किया जा सके। इस पर अत्यन्त अध्ययन और चिन्तन करने के बाद जब मैं लगभग १८ साल का था तब हमें चिन्तन का एक नया दृश्य (A New Scene of Thought) दिखाई पड़ा। इससे मुझे बेहद आनन्द मिला और मैंने सब कुछ छोड़कर सम्पूर्णतः इसमें ही अपने को लगा दिया।""जब समय और आराम पाकर मेरी उद्दीप्त कल्पना ठंडी हो गयी तब मै गंभीरता से सोचने लगा कि मैं अपनी दार्शनिक जिज्ञासा में कैसे आगे बढ़ूं। मैंने देखा हर आदमी सद्गुण और सुख की योजनाओं को बनाने के लिए अपनी कल्पना से परामर्श करता है और मानव स्वभाव की उपेक्षा करता है जिस पर हर नैतिक निष्कर्ष निर्भर है। मैंने संकल्प किया कि मैं इसे ही अपने अध्ययन का मुख्य विषय बनाऊँगा और इसी से नैतिकता तथा आलोचना के प्रत्येक सत्य को निकालूंगा[१]।"

१७३४ में इस लेख को ह्यूम ने लन्दन में लिखा था। इसके कुछ ही महीने बाद वह फ्रांस में बसने गया। फ्रांस जाने के पूर्व उसके पिता ने उसको ब्रिस्टल में कुछ व्यापारियों के पास व्यापार करने को भेजा। किन्तु वह वहाँ असफल रहा। फ्रांस में वह ला फ्लेश में बसा जहाँ एक शताब्दी से अधिक पहले डेकार्ट को शिक्षा मिली थी। वह डेकार्ट के कालेज के पास ही रहता था। वहीं उसने **मानव स्वभाव पर एक प्रबन्ध'** (A Treatise on Human Nature) नामक एक ग्रंथ लिखा जिसके दो भाग जनवरी १७३९ में लन्दन से प्रकाशित हुए और तीसरा भाग १७४० में प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ का अच्छा स्वागत नहीं हुआ। ह्यूम ने स्वयं ही लिखा है कि 'यह प्रेस से मरा निकला'। इस ग्रंथ में ह्यूम ने संशयवाद और आत्मा के खण्डन को प्रस्तावित किया था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जहाँ से आधुनिक दर्शन का आरम्भ होता है वहीं से उसका अन्त होता है। ला फ्लेश में ही पढ़कर डेकार्ट ने अपने आधुनिक दर्शन के सपने बनाये। उसने आत्मा को सिद्ध किया और आरम्भिक संशयवाद को अन्त में निश्चयवाद में परिणत किया। उसी ला फ्लेश में ह्यूम पुनः

---

१. J. H. Barton, Life and Correspondence of David Hume पृ० 30-39.

संशयवाद की व्याख्या करता है। वह डेकार्ट की भांति आरम्भिक संशयवाद को नहीं किन्तु आत्यंतिक संशयवाद को मानता है। वह डेकार्ट के आत्मवाद का खण्डन करता है। डेकार्ट ने जो कुछ सिद्ध किया था ह्यूम उन सब का खंडन कर देता है। डेकार्ट ने कहा है कि 'मैं सोचता हूँ इसलिए मै हूँ'। ह्यूम ने कहा कि मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हो नहीं सकता।' आधुनिक दर्शन का जन्म संशयवाद में हुआ। किन्तु आधुनिक दर्शन के जनक डेकार्ट के दर्शन में वह अपने बचपन में है। ह्यूम के दर्शन में वह बढ़कर प्रौढ़ हो जाता है। इस तरह ला फ्लेश ने आधुनिक दर्शन या योरोपीय दर्शन के आदि और अन्त को मिला दिया है। स्थान की इस एकता को संशयवाद की एकता ने जामा पहना दिया है।

मानव स्वभाव पर एक प्रबन्ध के प्रकाशन के पश्चात् ह्यूम स्काटलैंड में अपने पैतृक घर में रहने लगा और राजनीतिक ग्रंथ लिखने लगा। १७४१ में उसके **नैतिक और राजनीतिक प्रबन्ध** (Essays Moral and Political) प्रकाशित हुए। इनकी तत्काल अच्छी बिक्री हुई और इससे ह्यूम को पैसे और यश दोनों मिले। किंतु वह अपनी स्वतन्त्र आमदनी का प्रबन्ध करना चाहता था। उसने दो बार विश्वविद्यालय की प्राध्यापकी के लिए प्रयत्न किया किन्तु वह अपने संशयवाद और निरीश्वरवाद के कारण नियुक्त न हो सका। एक साल उसने एक पागल अमीर को पढ़ाने का काम किया। १७४६ में वह जनरल सेन्ट् क्लेयर का सचिव होकर उसके साथ फ्रान्स के आक्रमण-अभियान में गया और बाद में दो साल उसी के साथ वियना और टूरिन के दूतावास में रहा। वह मितव्ययी था। इन दो सालों में उसने १ सहस्र पौण्ड इकट्ठा कर लिया। किन्तु इस काल में उसे पढ़ने-लिखने का अवसर नहीं मिला था। इसके बाद लगभग १२ साल उसके साहित्यिक जीवन के उत्तम वर्ष रहे। **मानव बुद्धि से सम्बन्धित दार्शनिक निबन्ध** (Philosophical Essays Concerning Human Understanding) १७४८ में, **सदाचार के सिद्धान्तों से संबिन्धत एक विमर्श** (An Enquiry Concerning the Principles of Morals) १७५१ में और **राजनीतिक विवेचन** (Political Discourses) १७५२ में प्रकाशित हुए। इनमें से प्रथम का दूसरा संस्करण १७५७ में '**मानव बुद्धि से सम्बन्धित एक विमर्श**, नाम से निकला। **राजनीतिक विवेचन** का खूब प्रचार हुआ। १७५३ में और १७५४ में उसके दो अनुवाद फ़ान्सीसी भाषा में निकले। १७४२ में ह्यूम एडिनबर्ग की एडवोकेट-लाइब्रेरी का पुस्तकालयाध्यक्ष नियुक्त हुआ। इससे उसे ४० पौण्ड प्रति वर्ष मिलते थे। वहाँ उसे पढ़ने की पर्याप्त सुविधा मिली और उसने **इंग्लैंड का इतिहास** (History of England) पाँच भागों में १७५४ से १७६२ तक

प्रकाशित कराया। ह्यूम के इतिहास का बड़ा प्रचार हुआ। इतिहासकार के रूप में उसकी अपने देश तथा योरोप में अच्छी ख्याति हुई। अंग्रेजों ने उसके इतिहास की आलोचना की। इससे ह्यूम की स्काटवादी भावना उत्तेजित हुई। वह टोरी दल की नीति को मानने वाला था। उसके चार प्रबन्ध (Four Dissertations) १७५७ में प्रकाशित हुए। ये थे **धर्म का प्राकृतिक इतिहास** (The Natural History of Religion), **संवेग** (Of Passions, **दुःखान्त नाटक** (Of Tragedy) और **रुचि का प्रतिमान** (Of the Standard of Taste)। आत्म-हत्या तथा अमरता पर दो निबन्ध इन ग्रन्थों के साथ प्रकाशित होने वाले थे। किन्तु वे प्रकाशन के ठीक समय निकाल दिये गये। कुछ लोग कहते हैं कि ये निबन्ध वस्तुतः ह्यूम-कृत नहीं हैं। ये १७७७ में ह्यूम की मृत्यु के बाद प्रकाशित किये गये।

१७६३ से १७६५ तक ह्यूम पुनः पेरिस में इंग्लैण्ड के दूतावास में सचिव के पद पर नियुक्त किया गया। वहाँ राजदरबार और साहित्यिक संस्थाओं द्वारा ह्यूम का बड़ा स्वागत किया गया। वह बड़े आनन्द से वहाँ रहा। १७६६ में वह इंग्लैण्ड लौटा और अपने साथ रूसो को ले आया। रूसो उस समय अपने देश स्विट्जरलैण्ड तथा फ्रांस से निर्वासित था। वह ह्यूम का मित्र था। रूसो ने इंग्लैण्ड की शरण ली। ह्यूम ने उसके लिए एक मकान ढूंढ़ दिया जहाँ वह शान्ति से रह सके ओर लिख-पढ़ सके। किन्तु रूसो को वैरभाव देखने का पागलपन (Persecution Mania) हो गया था। वह सर्वत्र अपने खिलाफ षड्यन्त्र ही देखता था। इसलिए शीघ्र ही दोनों में झगड़ा हो गया। एक दिन दोनों आग के पास बैठे थे। ह्यूम सभी वस्तुओं की अनिश्चितता का ध्यान कर रहा था। रूसो अपने प्रति अपने मित्र की सम्मति को सन्देह की दृष्टि से देख रहा था। इसके बाद का बयान रूसो ने इस प्रकार लिखा है, "इसके बाद ही मुझे बड़ा हिंसात्मक पश्चात्ताप हुआ, मैंने स्वयं अपने से घृणा की। अन्त में आनन्द से जिसकी आज भी मुझे सुखद स्मृति है, मैं उसकी (ह्यूम की) गर्दन पर कूद पड़ा। प्रेम से उसको गले लगाया। मैं सिसक रहा था और नेत्रों में आँसू भरे थे। लड़खड़ाते हुए ये शब्द मेरे मुँह से निकले—'नहीं नहीं, डेविड ह्यूम धोखेबाज नहीं हो सकता है। अगर वह सबसे अच्छा आदमी न होता तो वह अवश्य सबसे बुरा होता[१]।' डेविड ह्यूम ने मेरे आलिंगन के प्रत्युत्तर में मधुर आलिंगन किया। मेरी पीठ थपकाया और मधुर स्वर से कई बार कहा—'क्यों, क्या, मेरे प्रिय महानुभाव! नहीं, मेरे प्रिय महानुभाव! ओह! मेरे

---

१. "No, no, David Hume cannot be treacherous, If he be not the best of men, he must be the basest."

प्रिय महानुभाव[१] ?' इससे अधिक उसने कुछ नहीं कहा। मैंने देखा मेरा हृदय अन्दर ही अन्दर गद्गद हो गया[२]।"

इस घटना का वर्णन ह्यूम ने भी यों किया है—'उसने (रूसो ने) अपने पूरे जीवन के दौरान में केवल अनुभव किया है (Felt)। वह उस मनुष्य की तरह है जिसके केवल कपड़े ही नहीं उतार लिये गये थे वरन् जिसकी चमड़ी भी निकाल ली गयी थी और जो उस परिस्थिति में जंगली और चंचल तत्त्वों का सामना करने के लिए निकाला गया था[३]।"

यह घटना इन दोनों दार्शनिकों के स्वभाव तथा दर्शन पर अच्छा प्रकाश डालती हैं। यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि दोनों में झगड़ा हुआ। महत्त्वपूर्ण यह है कि दोनों की भेंट हुई और दोनों ने एक दूसरे को खूब समझा। दोनों अपने युग के प्रतिनिधि-विचारक थे। ऊपर से दोनों के दर्शन में अन्तर दीख पड़ता है। किन्तु दोनों ने प्रकृति और भावना को बुद्धि के ऊपर रखा है। १९वीं शताब्दी में स्वच्छन्दतावादी धारा (Romantic Movement) पर दोनों का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है।

१७७६ में ह्यूम एडिनवर्ग में आबाद हो गया। वह राजकीय सेवा से निवृत्त था। उसकी सालाना आमदनी १००० पौण्ड थी। इससे वह प्रसन्नतापूर्वक रहता था। कुछ साल बाद वह एक असाध्य रोग से पीड़ित हुआ जो कष्टपूर्ण न था। २५ अगस्त, १७७१ को उसका देहान्त हो गया। एक साल बाद उसके जीवन-चरित (Own Life) को एडम स्मिथ ने प्रकाशित किया। उसने उसके स्वभाव के बारे में कहा कि "उसका स्वभाव मधुर और सन्तुलित था। वह मितव्ययी था। सरल स्वभाव, हँसमुख चेहरा, कोमलता तथा नम्रता उसके गुण थे। सब कुछ विचार करने पर, मैं उसके जीवनकाल में तथा मृत्यु के बाद भी समझता रहा हूँ कि वह पूर्ण ज्ञानी और सद्गुणी मनुष्य के आदर्श के उतना ही नजदीक था जितना मानव स्वभाव की अपूर्णता निर्धारित करती है।"

२ ह्यूम के दर्शन की दो धाराएँ

ह्यूम के दर्शन की दो धाराएँ हैं। एक को हम प्रत्यक्षवादी धारा कहेंगे और दूसरी को भावनावादी। पहली धारा लाक और बर्कले की परम्परा में है। दूसरी धारा

१. "Why, what, my dear Sir ! Nay, my dear Sir ! Oh ! my dear Sir."

२. Life and Correspondence of David Hume, Vol. II p. 339.

३. He has only felt during the whole course of his life. He is like a man who was stript not only of his clothes but of his skin and turned out in that situation to combat with the rude and boisterous elements.

हचिसन और रूसो की परम्परा में है। पहली धारा के अनुसार बुद्धि के विषय प्रत्यक्ष (Perceptions) हैं और दूसरी धारा के अनुसार भावना (Feeling) तथा विश्वास (Belief)।

प्रत्यक्षवादी धारा। टामस रीड, बीएटी, स्टिवर्ट, जेम्स मिल, जान स्टुअर्ट मिल, बेन आदि ने ह्यूम को लाक और बर्कले की परम्परा का प्रत्यक्षवादी दार्शनिक माना है। लेजली स्टीफेन ने इसका अच्छा वर्णन यों किया है, "ह्यूम लाक और बर्कले की स्थितियों से आरम्भ करता है। वह मानता है कि आजानिक प्रत्ययों का खण्डन हो गया है। वह बर्कले द्वारा किए गए अमूर्त प्रत्ययों के खण्डन को स्वीकार करता है। वह उसके द्वारा किए गए प्राथमिक और द्वैतीयक गुणों के भेद के खण्डन को मानता है। जिन युक्तियों से बर्कले ने भौतिक द्रव्य का खण्डन किया है ह्यूम उनको अधिक विशद करके और सुसंगत ढंग से रखता है। किन्तु ह्यूम के अनुसार तीनों द्रव्य (भौतिक द्रव्य, आत्मा और परमात्मा) लुप्त हैं। आत्मा विशीर्ण हो जाती है।............... हम कुछ स्पष्ट भावों की निरंतर धारा मात्र को जानते हैं जो कुछ समूहों में सामान्यतः संगठित हैं.......सत्यता परम्परा या प्रथा के द्वारा संगठित भावों की सततवाहिनी धारा में ही मिलती है।.......स्पष्ट है कि हम संशय वाद की पूर्ण अभिव्यक्ति तक पहुँच गये हैं।...... जो सम्बन्ध वस्तुओं को सम्बन्धित किये थे, वे टूट गये हैं। ह्यूम उनको बदलने का कोई उपाय नहीं देखता है। अतः ह्यूम एक सुसंगत संशयवादी (Sceptic) है[1]।"

लाक ने प्रत्यक्षवाद का आविष्कार किया; किन्तु उसने प्रत्यक्षवाद का तार्किक सम्बन्ध प्रचलित वस्तुवाद से कर दिया। बर्कले ने इस सम्बन्ध की आलोचना की; किन्तु उसने प्रत्यक्षवाद का गठबन्धन अध्यात्मवाद से कर दिया। फलतः शुद्ध प्रत्यक्ष-वाद न तो लाक में है और न बर्कले में। ह्यूम ने सिद्ध किया कि इस प्रत्यक्षवाद का सम्बन्ध किसी प्रकार के तत्त्ववाद से नहीं है। प्रत्यक्षवाद शुद्ध ज्ञानमीमांसा है जिससे कोई वस्तु, भौतिक या आध्यात्मिक सिद्ध नहीं हो सकती है। किसी प्रत्यय से कोई प्रत्यय ही सिद्ध हो सकता है। किसी प्रत्यय से कोई वस्तु नहीं सिद्ध की जा सकती है। लाक ने अपने वस्तुवाद को और बर्कले ने अपने अध्यात्मवाद को वास्तव में प्रत्यक्षवाद के आधार पर नहीं माना है। ये दोनों तत्त्ववाद प्रत्यक्षवाद से सिद्ध नहीं होते हैं। प्रत्ययवाद के अनुसार सत्यं दृश्यं का सिद्धान्त ही माना जा सकता है। जो दृश्य नहीं है वह सत्य नहीं कहा जा सकता है, ह्यूम इस सिद्धान्त को अच्छी तरह मानता है। इसलिए ग्रीन ने कहा है कि ह्यूम बर्कले से भी बढ़कर

१. Leslie Stephen, English Thought in the Eighteenth Century, Vol. I pp. 43-2.

आत्मगत प्रत्ययवादी (Subjective Idealist) है। किन्तु चूँकि ह्यूम आत्मा को नहीं मानता है, उसके प्रत्यय आत्मनिष्ठ नहीं हैं और वे किसी अन्य प्रत्यक्ष या वस्तु का निश्चयतः संकेत भी नहीं करते हैं इसलिए उसे आत्मगत प्रत्ययवादी नहीं कहा जा सकता है।

ह्यूम की तुलना हाब्स से की जा सकती है। हाब्स प्रत्यक्षमूलक प्रणाली का प्रवर्तक है। वह मन का वर्णन भौतिक जगत् के वर्णन की तरह करता है। उसके मत से भौतिक जगत् के आघात से मन मे गतियां होती हैं। ह्यूम भौतिक जगत् का प्रयोग मन की व्याख्या में नहीं करता है। वह कहता है कि मन में सब कुछ संस्कार (Impression) या उसके प्रतिबिम्ब (Idea) का खेल है। हाब्स ने सभी वस्तुओं को यान्त्रिक नियम के अन्दर देखा। ह्यूम ने सभी संस्कारों या प्रतिबिम्बों को साहचर्य-नियम के अन्दर देखा। उसके मत से साहचर्य-नियम या प्रत्ययों के साहचर्य के नियम की तुलना गुरुत्वाकर्षण से होती है। प्रत्ययों की व्याख्या साहचर्य-नियम से होती है। ह्यूम ने मनोविज्ञान को दर्शन-शास्त्र के स्थान पर स्थापित कर दिया। ह्यूम उल्टा हाब्स है। हाब्स ने मनोविज्ञान को भौतिक विज्ञान के अन्दर देखा। ह्यूम ने भौतिक विज्ञान को मनोविज्ञान के अन्दर देखा।

लाक के मत से प्रत्ययों के दो साधन हैं—संवेदना (Sensation) और चिन्तन (Reflexion) या अन्तर्दर्शन। किन्तु इस मत में बाह्य वस्तु और आन्तरिक आत्मा के अस्तित्व की मान्यता निहित है। ह्यूम प्रत्यक्षवाद को इस मान्यता से अलग रखना चाहता है। इसलिए वह कहता है कि ज्ञान का एक ही साधन है। इस साधन से जो तत्त्व मिलते हैं उन्हें वह संस्कार (Impression) कहता है। संस्कार प्रबल और स्पष्ट होते हैं। जब वे धूमिल हो जाते हैं तो वे प्रत्यय (Idea) कहे जाते हैं। प्रत्यय संस्कारों के धूमिल प्रतिबिम्ब हैं। स्मृति के प्रत्यय कल्पना के प्रत्यय से अधिक प्रबल और स्पष्ट हैं। प्रत्ययों की स्पष्टता में तारतम्य है। कुछ प्रत्यय कभी-कभी संस्कारों की तरह स्पष्ट और प्रबल हो जाते हैं। इन्हें ह्यूम अन्तर्दर्शन के संस्कार (Impresscions of Reflexion) कहता है। इस तरह अन्तर्दर्शन की उत्पत्ति संवेदना से होती है।

ह्यूम को सुसंगत प्रत्यक्षवादी कहा जाता है, क्योंकि वह संस्कारों या संवेदों के अतिरिक्त और किसी तथ्य को सत् नहीं मानता है। वह लाक और बर्कले के इस मत को नहीं मानता है कि संवेद मन को प्राप्त होते हैं। संवेद हैं, मन इन्हीं संवेदों या उनके प्रतिबिम्बों के अन्तर्गत है, ऐसा ह्यूम मानता है। फिर वह बर्कले की तरह नहीं मानता है कि संवेदों में सृष्टि-कर्त्ता के अनुसार कुछ सामान्य नियम निहित हैं। वह संवेदों में किसी नियम या तत्त्व को निहित नहीं मानता है, क्योंकि उसे

किसी नियम या तत्त्व का संवेद नहीं है और न यही प्रतीत होता है कि हर संवेद के अन्दर कोई नियम या तत्त्व निहित है। इसलिए ह्यूम केवल सुसंगत प्रत्यक्षवादी ही नहीं वरन् सुसंगत संवेदवादी भी है। उसकी प्रणाली शुद्ध प्रत्यक्षमूलक या संवेद-मूलक प्रणाली है।

इस प्रणाली के अनुसार ह्यूम सभी सत्ताओं का खण्डन करता है। वह अधिकांश विज्ञानों को प्रत्यक्षमूलक दिखाता है। ज्यामिति को भी वह एक प्रत्यक्ष-मूलक विज्ञान मानता है। इसी प्रकार यदि उसकी प्रणाली का विकास किया जाय तो प्रत्येक विज्ञान प्रत्यक्षमूलक सिद्ध होगा।

भावनावादी धारा। एन० के० स्मिथ ने अपनी पुस्तक **डेविड ह्यूम का दर्शन** (The Philosophy of David Hume) में दिखाया है कि ह्यूम के दर्शन की उत्पत्ति हचिसन के नैतिक सिद्धान्तों से हुई है। ह्यूम हचिसन से कहता है, "मुझे लोकज्ञान के एक विषय में आप से राय लेनी है। मैंने इन दो वाक्यों से एक तर्क निकाला है—जब आप किसी कर्म या चरित्र को बुरा कहते हैं तब आपका अर्थ केवल यह है कि अपने स्वभाव की विशेष रचना के कारण इसके चिन्तन से आपको निन्दा का भाव मिलता है। बुराई और अच्छाई इसलिए ध्वनि, वर्ण, उष्णता और शीतलता से तुलनीय हैं जो आधुनिक दर्शन के अनुसार विषय में स्थित गुण नहीं किन्तु मन में स्थित प्रत्यय हैं। नीतिशास्त्र की यह खोज भौतिक विज्ञान की उस खोज की तरह वितर्कात्मक विज्ञानों को बहुत प्रगतिशील करने वाली समझी जा सकती है, यद्यपि उसकी तरह इसका भी प्रभाव व्यवहार पर कम या बिलकुल नहीं है। क्या यहाँ आपकी स्थापना अति उग्र नहीं है ? यद्यपि मैं इससे पूरी तरह सहमत होने की प्रतिज्ञा नहीं करता, तथापि इस पर मैं आपकी राय चाहता हूँ। मैं हृदय से चाहता हूँ कि मैं इस निष्कर्ष को हटा सकता कि नैतिकता का सम्बन्ध केवल मानव प्रकृति और मानव जीवन से है, क्योंकि आपके और मेरे मत से यह केवल भावना द्वारा निर्धारित होती है[१]।" स्मिथ का कहना है कि ह्यूम की नयी पद्धति और विचार का नया दृश्य बताते हैं कि उसकी प्रणाली लाक और बर्कले की प्रणाली नहीं हो सकती है। यह हचिसन[२] से सीखी गई पद्धति है जो वितर्कात्मक विज्ञानों को बहुत प्रगतिशील करने वाली मानी जा सकती है। ह्यूम ने हचिसन के नीतिशास्त्र का प्रयोग दर्शन-शास्त्र में किया। उसने पहले नैतिक समस्याओं के सम्बन्ध में अपना दर्शन बनाया और बाद

---

१. N.K. Smith, The Philosophy of David Hume, पृ० 19-20.

२. हचिसन के नीतिशास्त्र के लिए देखिए नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, संगमलाल पांडेय, पृ० १२२-१२४।

मैं उसी का विस्तार ज्ञानमीमांसा में किया। उसके नीतिशास्त्र का मुख्य सूत्र है— "बुद्धि हमारे स्वाभाविक विश्वासों के अधीन है और होनी चाहिए।" वह भावना और स्वाभाविक विश्वास को बुद्धि के ऊपर रखता है। लाक और बर्कले के सिद्धान्तों का विकास वह यह सिद्ध करने के लिए करता है कि प्रत्ययों से विश्वास की व्याख्या नहीं हो सकती है और विश्वास की व्याख्या के लिए दूसरी पद्धति होनी चाहिए। उसका ससंगत प्रत्यक्षवाद उसके दर्शन का निषेधात्मक पहलू है। उसका विधेयात्मक पहलू भावनावाद है। यदि नीतिशास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र के निर्णय बुद्धि पर आधारित न होकर भावना पर आधारित हैं यदि सदाचार के मामले में प्रकृति सावधानी से हमें साक्षात निर्देशन देती है जो समस्त गणना और चिन्तन से स्वतन्त्र हैं, तो क्या वह इसी तरह तथाकथित ज्ञानक्षेत्रों में नहीं हो सकती है? क्या ज्ञान के हमारे तथाकथित निर्णय जो वस्तु-तथ्य और अस्तित्व के विषय में होते हैं वास्तव में ज्ञान के कार्य न होकर विश्वास के कार्य नहीं हैं? विश्वास एक भावना है। वह दृष्टि नहीं है। वह अन्य भावनाओं की तरह मानव स्वभाव की रचना से वस्तुतः निश्चित और पर्वनिर्धारित है। ह्यूम के प्रबन्ध के पहले खंड की यही विधेयात्मक शिक्षा है। उसकी निषेधात्मक शिक्षा भी हचिसन के सिद्धान्त से निकलती है। नीतिशास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र के निर्णय का स्वरूप बौद्धिक नहीं है। वे उद्देश्य और विधेय के अनिवार्य सम्बन्ध का ज्ञान नहीं व्यक्त करते हैं बल्कि पसन्द और नापसन्द की हमारी वास्तविक भावना को प्रकट करते हैं। इसी प्रकार ज्ञान के तथाकथित निर्णय भी प्रत्ययों के सम्बन्धों के बारे में नहीं हैं बल्कि वस्तु-तथ्य और अस्तित्व के बारे में हैं। वे वस्तुतः ज्ञान नहीं किन्तु विश्वास हैं। इस प्रकार ह्यूम ने दिखाया है कि बुद्धि भावनाओं की केवल दासी है और होनी चाहिए[१]।"

कांट ने कहा है कि विश्वास को सिद्ध करने के लिए मैंने बुद्धि का खण्डन किया है[२]। अगर कांट की यही मुख्य शिक्षा है तो वह ह्यूम का अनुयायी है, न कि खण्डन करने वाला क्योंकि बिलकुल यही काम ह्यूम का है।

ज्ञान और विश्वास एक दूसरे के विपरीत हैं। प्रत्येक का अपना क्षेत्र है। कोई दूसरे के क्षेत्र में घुस नहीं सकता है। ज्ञान के विषय प्रत्ययों के सम्बन्ध हैं। विश्वास के विषय सभी वस्तु-तथ्य और अस्तित्व हैं। ज्ञान का प्रामाण्य उच्चतर है। किन्तु विश्वास का सम्बन्ध मनुष्य से अधिक है। ज्ञान-क्षेत्र में हमारी बुद्धि एक

---

१. ह्यूम का **प्रबन्ध**, भाग २, खण्ड ३, ३ (४५५)।

२. I have criticised reason in order to make room for faith.

प्रकार का कारण है और सत्य उसका स्वाभाविक कार्य है। किन्तु वस्तु-तथ्य और अस्तित्व के क्षेत्र में यदि बुद्धि शब्द का प्रयोग किया जाता है तो उसका अर्थ कुछ बुनियादी विश्वास होता है जिसमें हम अनिवार्यतः अपनी मूल प्रवृत्ति से प्रतिपन्न हैं। इस क्षेत्र में जो वितर्कात्मक ज्ञान सम्भव है वह विश्वासों के अधीन है। इस ज्ञान को ह्यूम प्रायिक तर्कना (Probable Reasoning) कहता है। यह "संवेदना का एक प्रकार है। हम केवल कविता और संगीत में ही अपनी रुचि और भावना का अनुसरण करते हैं, ऐसी बात नहीं है। दर्शनशास्त्र में भी हम ऐसा ही करते हैं। जब हम अन्य युक्तियों की अपेक्षा कुछ युक्तियों को पसन्द करते हैं, तब हम केवल अपनी भावना द्वारा उनके प्रभाव की श्रेष्ठता निश्चित करते हैं। विषयों में कोई आपसी खोजने योग्य सम्बन्ध नहीं है। जो प्रथा (Custom) हमारी कल्पना को प्रभावित करती है, उसके द्वारा हम एक विषय के अभाव से दूसरे विषय के अस्तित्व का अनुमान करते हैं और ऐसा हम किसी अन्य सिद्धान्त से नहीं कर सकते हैं[1]।"

जो लोग ह्यूम को सुसंगत प्रत्यक्षवादी कहते हैं वे उसको संशयवादी सिद्ध करते हैं। किन्तु भावनावादी सिद्धान्त के अनुसार ह्यूम संशयवादी नहीं है। वह बाह्य जगत् की सत्ता में स्वभावतः विश्वास करता है और मानता है कि इस विश्वास का औचित्य या अनौचित्य बुद्धि नहीं बता सकती है। जो बुद्धि इसका औचित्य या अनौचित्य बताने चलेगी वह स्वयं केवल सामान्य विश्वास होगी।

ह्यूम इतिहासकार, राजनीतिक और कूटनीतिक कार्य में कुशल राजपुरुष, उपयोगितावादी नीतिज्ञ और समाजशास्त्री था। उसे वस्तु-तथ्य के प्रति अनुराग था। वह उसको असत् नहीं मानता है। वह केवल यह कहता है कि विशुद्ध बुद्धि से वस्तु-तथ्य का अस्तित्व नहीं सिद्ध किया जा सकता है। बुद्धि से संशयवादी होते हुए भी वह व्यवहार में यथार्थवादी है। उसके इस यथार्थवाद की व्याख्या भावना के द्वारा होती है।

ह्यूम के दर्शन की इन दोनों धाराओं में से पहली धारा का ही विशेष प्रचार है। उसकी ख्याति का आज मुख्य आधार उसकी ज्ञानमीमांसा है जो उसके प्रत्यक्षवाद से सिद्ध होती है। २०वीं शताब्दी में ह्यूम के अनुयायियों ने उसके दर्शन की दोनों धाराओं को सम्बन्धित करने का प्रयास किया है और उसके भावनावाद को उसके प्रत्यक्षवाद के अन्दर कर दिया है। किन्तु ह्यूम के अनुसार दोनों धाराओं का समन्वय नहीं हो सकता है और न एक का दूसरे में अन्तर्भाव हो सकता है। दूसरी धारा पर बल देना और पहली धारा को ह्यूम के दर्शन से निकाल देना उसके ऐति-

---

१. ह्यूम का प्रबन्ध भाग १ खंड ३, ८ (१०३)।

हासिक और दार्शनिक महत्त्व को भुलाना है। ह्यूम कभी संशयवादी सन्देह में रहता है तो कभी रूढ़िवादी विश्चय में। उसने इन दोनों दृष्टिकोणों को समभाव से देखा था। उसका नारा था 'दार्शनिक बनो, किन्तु अपने समस्त दर्शन के मध्य फिर भी एक मानव बनो[१]।"

वह दो प्रकार के सत्यों को मानता है। पहले प्रकार के सत्य प्रत्ययों के सम्बन्ध (Relations of Ideas) से और दूसरे प्रकार के सत्य वस्तु-तथ्य (Matters of fact) से सम्बन्धित हैं। पहले प्रकार के सत्य पूर्णतया निश्चित हैं और उनका विरोधी बाधित है। जैसे ७ + ५ = १२, यह एक पूर्णतः निश्चित सत्य है और इसका विरोधी अर्थात् ७ और ५ मिलकर १२ नहीं होते हैं, बाधित है। किंतु दूसरे प्रकार के सत्यों में पूर्ण निश्चय नहीं है। वे केवल प्रायः सत्य हैं या प्रायिक (Probable) सत्य हैं। उनका विरोधी सोचा जा सकता है। जैसे कल सूरज निकलेगा, यह एक प्रायिक सत्य है। इसका विरोधी अर्थात कल सूरज नहीं निकलेगा, सोचा जा सकता है। सूरज और कल न निकलने में बाध नहीं है, जैसा बाध वन्ध्या-पुत्र में है या ७ और ५ के १२ न होने में है। इस तरह कल सूरज निकलेगा पूर्णतया सत्य नहीं है, यद्यपि इसके सत्य होने की प्रबल सम्भावना है, क्योंकि यह आज तक प्रतिदिन निकलते देखा गया है। ह्यूम कहता है कि वस्तु-तथ्य के सम्बन्ध में हमारा जो ज्ञान है वह प्रायिक सत्य है और वह पूर्ण सत्य नहीं हो सकता है। फिर वह कहता है कि यदि हम पूर्ण सत्य को ज्ञान कहें तो हम प्रायिक ज्ञान को सत्य नहीं कह सकते। प्रायिक सत्य में हमारा विश्वास है क्योंकि वह हमारे अनुभव के बार-बार घटने से उत्पन्न हुआ है। ह्यूम प्रत्येक विज्ञान को इन दो सत्यों में विभाजित करता है। उसका कहना है कि यदि कोई ग्रन्थ ऐसा है जिसमें इनमें से किसी का वर्णन नहीं है तो वह अत्यन्त तुच्छ है और जला देने योग्य है। "इन दो सिद्धान्तों को मानते हुए जब हम किसी पुस्तकालय में जाते हैं तो हमें कौन-सी क्रान्ति करनी है? उदाहरण के लिए, यदि हम धर्मशास्त्र या ईसाई निकायों के तत्त्ववाद की किसी किताब को उठाते हैं तो हमें पूछना चाहिए, क्या इसमें गुण या संख्या के बारे में कोई अमूर्त चिन्तन है? नहीं। क्या इसमें वस्तु-तथ्य और अस्तित्व के बारे में कोई प्रयोग मूलक (प्रत्यक्षमूलक) चिन्तन है? नहीं। तब इसको जला दो क्योंकि इसमें सिवाय वितण्डा और भ्रम के और कुछ नहीं है[२]।"

---

१. An Enquiry Concerning Human Understanding, ed. by Selby-Bigge 1, 91.

२. मानव बुद्धि से सम्बन्धित एक विमर्श, अध्याय १२।

३ मानव ज्ञान के घटक

मानव ज्ञान को अच्छी तरह समझने के लिए उसके घटकों (Constituents) को जानना चाहिए। जब किसी वस्तु के ज्ञान को हम उस ज्ञान के घटकों में रखते है, उन घटकों का मूल्यांकन करते हैं और उन्हें संगठित करते है; तब हम उस वस्तु को भलीभाँति जानते हैं। मानव ज्ञान के घटकों को ह्यूम सामान्यतः प्रत्यक्ष (Preception) कहता है। लाक और बर्कले ने उनको प्रत्यय (Idea) कहा था।

प्रत्यक्षों के दो वर्ग हैं। एक को ह्यूम संस्कार (Impression) कहता है और दूसरे को प्रत्यय (Idea)। "जो प्रत्यय बहुत अधिक चटकीले और चमकीले होते हैं, उन्हें हम संस्कार का नाम दे सकते हैं। इस नाम से मैं अपने सभी संवेदनाओं, भावनाओं और संवेगों को समझता हूँ, जब वे आत्मा में पहले पहल उठते हैं। प्रत्ययों के द्वारा मैं इनके धूमिल प्रतिबिम्बों (Images) को समझता हूँ जो चिन्तन और तर्कना में उत्पन्न होते हैं[1]।"

सामान्यतः संस्कारों और प्रत्ययों में प्रगाढ़ता (सान्द्रता) का अन्तर है। किन्तु ह्यूम मानता है कि कभी-कभी प्रत्यय चटकीले और चमकीले होते हैं और संस्कार धूमिल होते हैं। "सोने में, बुखार में, पागलपन में, या आत्मा के किन्हीं अन्य बहुत गर्म संवेगों में, हमारे प्रत्यय हमारे संस्कारों की भाँति हो सकते हैं और कभी-कभी ऐसा होता है कि हमारे संस्कार इतने धूमिल और मन्द होते हैं कि हम उन्हें अपने प्रत्ययों से भिन्न नहीं कर सकते हैं। परन्तु इन कुछ उदाहरणों में दोनों की समानता के बावजूद दोनों सामान्यतः एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं और दोनों को दो वर्गों में बाँटने में किसी को आपत्ति न होगी[2]।"

अतः संस्कार चमकीले और चटकीले हैं, और प्रत्यय धूमिल हैं। संस्कार मूल प्रत्यक्ष हैं और प्रत्यय उनसे प्रादुर्भूत हैं। कालतः संस्कार प्रत्ययो के पूर्ववर्ती हैं। स्वभावतः या अर्थतः संस्कार मूल हैं और प्रत्यय गौण या निर्मित। संस्कार प्रदत्त हैं और प्रत्यय रचित हैं। इस तरह संस्कारों और प्रत्ययों में चमक (सजीवता), चटक (प्रबलता), पौर्वापर्य (आगे-पीछे होना) और मूलता-गौणता के अन्तर हैं।

संस्कार और प्रत्यय दोनों शुद्ध (Simple) और मिश्रित (Complex) हो सकते हैं। "शुद्ध प्रत्यक्ष या संस्कार और प्रत्यय वे हैं जिनमें भेद (Distinction)

---

१. मानव स्वभाव पर एक प्रबन्ध भाग १, अधिकरण १।

२. वहीं।

और अलगाव (Separation) नहीं हैं।" वे अभिन्न और अखण्ड (अपृथक्) होते हैं। 'मिश्रित प्रत्यय या संस्कार और प्रत्यय इनके विपरीत हैं और उनको उनके खण्डों में भिन्न-भिन्न किया जा सकता है[1]।"

प्रत्येक शुद्ध प्रत्यय का एक शुद्ध संस्कार होता है जिसके वह सदृश है और प्रत्येक शुद्ध संस्कार का एक संवादी (Correspondent) प्रत्यय होता है[2]।" किन्तु यह नियम सभी प्रत्ययों और संस्कारों के बीच नहीं हो सकता है। हम नहीं कह सकते कि प्रत्येक मिश्रित संस्कार का एक संवादी मिश्रित प्रत्यय है और प्रत्येक मिश्रित प्रत्यय के मिश्रित संस्कार हैं। उदाहरण के लिए, हम एक सुनहला नया इलाहाबाद जैसे नगर का प्रत्यय (या कल्पना) कर सकते हैं, किन्तु उस मिश्रित प्रत्यय के मूल में कोई मिश्रित संस्कार नहीं है। फिर हमने वर्तमान इलाहाबाद देखा है। यह हमारा मिश्रित संस्कार है, किन्तु इस मिश्रित संस्कार के अनुरूप हम इलाहाबाद का प्रत्यय नहीं कर सकते हैं। हम जो प्रत्यय करेंगे उसमें वे सभी बातें विस्तार से न होंगी जिनको हम संस्कार के रूप में जानते हैं।

संस्कारों को हम दो प्रकारों में बाँट सकते हैं—संवेदना (Sensation) के संस्कार और अन्तर्दर्शन (Reflexion) के संस्कार। प्रथम प्रकार के संस्कार आत्मा में मूलतः अज्ञात कारणों से उत्पन्न होते हैं। दूसरे प्रकार के संस्कार अधिकतर हमारे प्रत्ययों में निम्नलिखित प्रकार से उत्पन्न होते हैं। कोई संस्कार पहले इन्द्रियों पर चोट करता है और हमसे उष्णता या शीतलता, प्यास या भूख, सुख या दुख या किसी और का प्रत्यक्ष कराता है। इस संस्कार की एक प्रतिलिपि या नकल मन ले लेता है जो इस संस्कार के नष्ट होने के बाद रह जाती है। इसे हम प्रत्यय (Idea) कहते हैं। सुख या दुख का यह प्रत्यय जब आत्मा में वापिस आता है तब यह इच्छा और द्वेष, आशा और भय के नये संस्कार पैदा करता है, जिन्हें अन्तर्दर्शन के संस्कार अच्छी तरह कहा जा सकता है क्योंकि वे अन्तर्दर्शन से उत्पन्न हैं। स्मृति और कल्पना के द्वारा इनकी प्रतिलिपि पुनः ले ली जाती है जो प्रत्यय हो जाती है। अतः अन्तर्दर्शन के संस्कार अपने अनुरूप प्रत्ययों के केवल पूर्ववर्ती ही नहीं हैं वरन् संवेदना के संस्कारों के परवर्ती हैं और उनसे उत्पन्न हैं[3]।"

पुनः प्रत्यय दो प्रकार के होते हैं, स्मृति के प्रत्यय और कल्पना के प्रत्यय। हम अनुभव से जानते हैं कि जब मन में कोई संस्कार उपस्थित रहता है तब यह पुनः

१. वहीं।
२. वहीं।
३. वहीं अधिकरण, २।

प्रत्यय के रूप प्रकट होता है। ऐसा यह दो भिन्न रीतियों से कर सकता है। पहले, यह अपने नये रूप में पहले की सजीवता (चमक) की पर्याप्त मात्रा रखता है और एक संस्कार तथा एक प्रत्यय का मध्यवर्ती-जैसा है। दूसरे, यह उस चमक की पूर्णता खो बैठता है और एक पूर्ण प्रत्यय बन जाता है। प्रथम रीति से हम अपने संस्कारों की आवृत्ति जिस शक्ति से करते हैं उसे स्मृति कहा जाता है और दूसरी रीति से जिस शक्ति से करते हैं उसे कल्पना। प्रथम दृष्टि से ही स्पष्ट पता चल जाता है कि स्मृति के प्रत्यय कल्पना के प्रत्यय से अधिक सजीव (चमकीले) और प्रबल (चटक) हैं और स्मृति कल्पना की अपेक्षा अपने विषयों को अधिक भिन्न रंगों में चित्रित करती है[१]।"

स्मृति उस मूल रूप का संरक्षण करती है जिसमें उसके विषय उपस्थित हुए थे। स्मृति का कार्य शुद्ध प्रत्ययों का संरक्षण ही नहीं है; उसका कार्य उनके क्रम और स्थान यानी उनके विन्यास का संरक्षण भी है। इस प्रसंग में स्मृति बँधी है; वह बँधन में है। किन्तु कल्पना उन्मुक्त है। कल्पना मूल संस्कारों के रूप और क्रम का अनुसरण करने में विवश नहीं है। वह अपने प्रत्ययों को बदलने और स्थानान्तरित करने में स्वतंत्र है।

मानव ज्ञान के इन घटकों को निम्नलिखित सारणी में दिखलाया जा सकता है :—
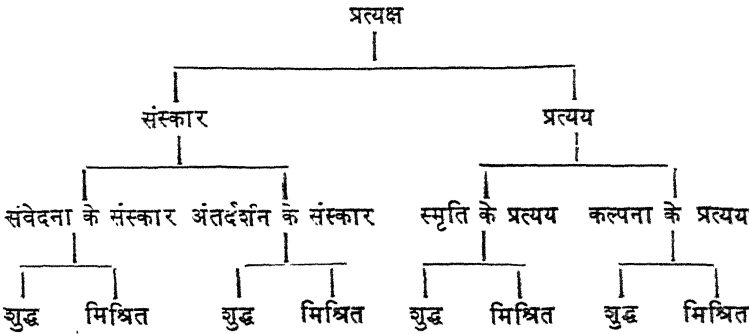
चूंकि कल्पना अपने विषयों को स्वतंत्रतापूर्वक परिवर्तित कर सकती है और उसकी स्वतंत्रता पर कोई बन्धन नहीं है इसलिए मनुष्य का ज्ञान असीम है। वह केवल उसी ज्ञान तक नहीं पहुँच सकता है जो स्वयं बाधित है। किन्तु यद्यपि मानव ज्ञान असीम है तथापि उसकी सीमाएँ अत्यन्त संकीर्ण हैं। वह संस्कारों तक ही सीमित है। जितने भी ज्ञान या विज्ञान हो सकते हैं वे मूलतः इन्हीं संस्कारों से प्रादुर्भूत होते हैं। प्रत्येक ज्ञान का मूल संस्कारों में है।

१. वही, अधिकरण, ३।

ह्यूम प्रत्येक ज्ञान का विश्लेषण संस्कारों में करता है। यदि कोई ऐसा ज्ञान या प्रत्यय है जिसका विश्लेषण संस्कारों में नहीं हो सकता तो वह ज्ञान या प्रत्यय मिथ्या है। "जब हमें संदेह हो कि अमुक दार्शनिक शब्द या प्रत्यय निरर्थक है तब हमें केवल यह पूछना है—वह तथाकथित प्रत्यय किस संस्कार से निकला है? अगर किसी संस्कार को बता सकना असम्भव हो, तो हमारा सन्देह पुष्ट हो जाता है। प्रत्ययों पर इतना स्पष्ट प्रकाश डालकर हम यह युक्तियुक्त आशा कर सकते हैं कि प्रत्ययों के स्वभाव और यथार्थता के सम्बन्ध में जितने विवाद उठते हैं उन्हें हम हटा देंगे[1]।"

ह्यूम मूलतः संस्कारों को ही तत्त्व मानता है, क्योंकि अन्य प्रत्यय या प्रत्यय संस्कारों के मिश्रण हैं। ये संस्कार बौद्ध विज्ञानवाद के स्वलक्षण हैं। ह्यूम ने आजानिक प्रत्ययों (Innate Ideas) का वैसे ही खण्डन किया है जैसे लाक ने। किन्तु यदि आजानिक प्रत्यय का अर्थ ऐसे प्रत्यक्षों से है जो शुद्ध, मूल और मन को स्वभावतः या सहज ही प्राप्त हैं, तो ह्यूम के संस्कारों को आसानी से आजानिक या सहज (Innate) कहा जा सकता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सभी संस्कार जन्म से ही सभी को प्राप्त हैं। इसका अर्थ केवल यह है कि संस्कार मूल हैं और अनुत्पन्नधर्मा हैं।

समस्त ज्ञान को संस्कारमूलक मानना ह्यूम के सुसंगत प्रत्यक्षवाद का पहला सिद्धान्त है। उसका दूसरा सिद्धान्त है, संस्कारों और तज्जनित प्रत्ययों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उसका तीसरा सिद्धान्त संस्कारों और प्रत्ययों के बीच होने वाले समस्त सम्बन्धों को भी संस्कारजन्य मानना है। तीसरे सिद्धान्त को प्रत्ययों का साहचर्य (Association of Ideas) कहा जाता है।

४ प्रत्ययों का साहचर्य

ह्यूम सभी प्रत्ययों को असम्बन्धित और पृथग्भूत मानता है। वह कहता है— "जो भिन्न है, उसका भेद दिखाया जा सकता है। जिसका भेद दिखाया जा सकता है वह चिन्तन या कल्पना के द्वारा पृथक् किया जा सकता है। सभी प्रत्यक्ष भिन्न हैं। अतः उनको भिन्न तथा पृथक् किया जा सकता है। उनको पृथक्तया सत् समझा जा सकता है। वे विना किसी बाध या असगति के सत् हो सकते हैं[2]।"

किन्तु प्रत्यक्षों के संगठन अनियत नहीं हैं। ह्यूम के अनुसार उनके संगठन कल्पना के कार्य हैं। सभी संस्कार स्वतः और पृथक्तया सत् हैं और कल्पना भी अपने व्यापार में पूर्ण स्वतन्त्र है। ऐसी स्थिति में कल्पना कुछ संस्कारों का संगठन

१. मानव बुद्धि से सम्बन्धित एक विमर्श, अधिकरण २।

२. मानव स्वभाव पर एक प्रबन्ध, परिशिष्ट।

अद्भुत ढंग से कर सकती है। उदाहरण के लिए, हम उड़ते हुए घोड़े, स्वर्णगिरि, स्वर्ण नगर आदि की कल्पना कर सकते हैं और इन कल्पनाओं को यथार्थ समझ सकते हैं। किन्तु इन्हें हम यथार्थ नहीं समझते। इन कल्पनाओं में और मेज गृह या वृक्ष की कल्पना में हम अन्तर करते हैं। मान लीजिए जिस मेज पर मैं लिख रहा हूँ उसी के प्रत्यय पर हम विचार करते हैं। हमारी कल्पना जब-जब इस मेज का प्रत्यय करती है तब-तब वह कुछ निश्चित प्रत्यक्षों को एक निश्चित ढंग से सोचती है। कुछ निश्चित प्रत्यक्ष एक निश्चित ढंग से संगठित होने के कारण कल्पना में सदा एक मेज के प्रत्यय को उत्पन्न करते हैं। अब प्रश्न है कि क्या कल्पना यहाँ मेज का प्रत्यय करने में पूर्ण स्वतन्त्र है? यहाँ ह्यूम का कहना है—"यदि प्रत्यय पूर्णतया पृथक और असम्बन्धित होते तो संयोग (Chance) ही उनको संयुक्त करता और बिना उनके पारस्परिक सम्बन्ध के या किसी साहचर्य-गुण के जिससे एक प्रत्यय दूसरे प्रत्यय को स्वभावतः उकसाता है, यह असम्भव होता कि वही शुद्ध प्रत्यय नियमतः किन्हीं मिश्रित प्रत्ययों के अन्दर होते, जैसा कि प्रायः होता है। प्रत्ययों के इस साहचर्य-सिद्धान्त को एक अपरिहार्य संबन्ध न समझना चाहिए क्योंकि वह कल्पना से पहले ही बहिष्कृत है। हम यह भी नहीं कह सकते कि इसके बिना मन दो प्रत्ययों को संयुक्त नहीं कर सकता है, क्योंकि कल्पना से स्वतन्त्र कुछ नहीं है। किन्तु हमें इसे केवल एक मन्द शक्ति समझना है जो प्रायः फैली है। अन्य वस्तुओं के अतिरिक्त भाषाओं में जो आपसी संवादिता है उसका कारण यही शक्ति है। एक ढंग से प्रकृति ही सभी को उन शुद्ध प्रत्ययों की ओर संकेत देती है जो किसी मिश्रित प्रत्यय में संगठित होने को उपयुक्त हैं। यह साहचर्य जिन गुणों से उत्पन्न होता है और जिन गुणों से मन इसके अनुसार एक प्रत्यय से दूसरे प्रत्यय को सोचता है, वे तीन हैं अर्थात् सादृश्य (Resemblance), काल या देश का सामीप्य (Contiguity) और कारण तथा कार्य (Causality)[१]।"

प्रत्ययों का साहचर्य किसी अनिवार्य तथा विषयगत सम्बन्ध पर आधारित नहीं है। यह कोई ठोस शक्ति नहीं है। यह एक मन्द शक्ति है जो आत्मगत है या इस अर्थ में स्वाभाविक है कि यह मनुष्य के व्यक्तिगत मनोविज्ञान में स्वतः कार्य कर रही है। यह एक प्रकार से शरीर-विज्ञान के कार्यों की तरह स्वाभाविक है। साहचर्य की कोमल शक्ति से प्रत्ययों का सम्बन्ध एकरूप और स्थिर होता है।

इस साहचर्य के तीन नियम हैं, जिन्हें ह्यूम ने गुण कहा है। पहला सादृश्य का नियम है। इससे एक चित्र स्वभावतः हमें अपने मूल का स्मरण कराता है। दूसरा देश या काल के सामीप्य का नियम है। इससे किसी भवन का एक खण्ड

१. मानव स्वभाव पर एक प्रबन्ध, भाग १, अधिकरण ४।

स्वभावतः हमें उसके अन्य खंडों का ज्ञान देता है। और अन्त में कारण और कार्य का नियम है। इससे कोई घाव अपनी वेदना का ज्ञान कराता है।

कल्पना में जब दो विषय सम्बन्धित होते हैं तब उनमें सादृश्य, सामीप्य और कारणता के साक्षात् (अपरोक्ष) या व्यवहित (परोक्ष) सम्बन्ध हो सकते है जैसे कोई विषय 'क' किसी विषय 'ख' के साक्षात् सदृश, कालतः या देशतः समीप या उसका कारण हो सकता है। अथवा उन दोनों विषयों के बीच एक विषय 'ग' हो सकता है जो उन दोनों से इनमें से कोई सम्बन्ध रखता हो। इसी प्रकार उनके बीच अनेक विषय हो सकते हैं जो एक दूसरे से इनमें से कोई सम्बन्ध रखते हैं। खून का नाता कारणता पर निर्भर है। पिता-पुत्र का सम्बन्ध साक्षात् कारण-कार्य का सम्बन्ध है। भाई का सम्बन्ध, भतीजा का सम्बन्ध, व्यवहित सम्बन्ध हैं जो कारणता के द्वितीय, तृतीय आदि स्तर पर निर्भर हैं।

ह्यूम का विश्वास है कि "प्रकृति ने विशेष प्रत्ययों में सम्बन्ध स्थापित किये हैं और जैसे ही कोई प्रत्यय हमारे मन में उठता है तुरन्त ही वह अपने साथी को भी बुलाता है और एक मन्द तथा असंवेद्य गति (Gentle and insensible movement) से हमारा ध्यान उधर ले जाता है[1]।" ये सम्बन्ध सादृश्य, सामीप्य और कारणता हैं। इनको ह्यूम ने प्राकृतिक सम्बन्ध (Natural Relations) कहा है। इन सम्बन्धों के अतिरिक्त वह सात अन्य सम्बन्धों को दार्शनिक सम्बन्ध (Philosophical relations) कहता है। प्राकृतिक सम्बन्ध और दार्शनिक सम्बन्ध में यह अंतर है कि पहले के द्वारा मन एक प्रत्यय से स्वभावतः या प्रथा द्वारा दूसरे प्रत्यय को करने में विवश है और दूसरे के द्वारा वह ऐसी विवशता मे नहीं है। दार्शनिक सम्बन्ध उन विषयों की तुलना है जिनमें कोई साहचर्य नहीं है। यदि हम वस्तुओं और प्रत्ययों में भेद करें तो वस्तुओं के सम्बन्ध को दार्शनिक सम्बन्ध कहेंगे। ह्यूम वस्तु और प्रत्यय में भेद नहीं करता है। उसके लिए प्रत्येक वस्तु कल्पना के द्वारा किया गया कुछ संस्कारों और प्रत्ययों का संघात है। उसे हम संस्कारपुंज कह सकते हैं। इन संस्कार-पुंजों के आपसी सम्बन्ध को प्राकृतिक सम्बन्ध समझना चाहिए। इनके अतिरिक्त जो संस्कार और प्रत्यय हैं उनके आपसी सम्बन्ध को दार्शनिक सम्बन्ध समझना चाहिए।

प्रत्ययों के साहचर्य के आधार पर ह्यूम अमूर्त या सामान्य प्रत्ययों का खंडन करता है। यहाँ वह हाब्स के नामवाद (Nominalism) को मानता है। कोई प्रत्यय सामान्य इसलिए हो जाता है कि उसका गठबन्धन या साहचर्य एक सामान्य नाम या शब्द से हो जाता है। शब्द-प्रयोग या प्रथा द्वारा ऐसा होता है। प्रयोग से

[1] मानव बुद्धि से सम्बन्धित एक विमर्श, भाग ५, खण्ड २।

कोई शब्द मन में किन्हीं प्रत्यय-समूहों को उकसाता है। इस समूह के किसी एक प्रत्यय को वह पहले उकसाता है। शीघ्र ही वह प्रत्यय साहचर्य से अपने सदृश अन्य प्रत्ययों को उकसाता है। इस तरह सामान्य प्रत्यय कोई नहीं है। प्रत्ययों के साहचर्य से सामान्य की व्याख्या हो जाती है।

५ दार्शनिक सम्बन्ध

लाक ने मिश्रित प्रत्ययों का वर्गीकरण द्रव्य के प्रत्यय, विकार के प्रत्यय और सम्बन्ध के प्रत्यय में किया है। ह्यूम ने इन प्रथम दो वर्गों को प्राकृतिक सम्बन्ध (Natural Relations) के अन्दर रखा और तीसरे वर्ग को दार्शनिक सम्बन्ध (Philosophical Relations) कहा। संस्कार ही सत् है। उनसे प्रत्ययों का कैसे निर्माण होता है, यह सम्बन्ध बताते हैं। जो सम्बन्ध प्रत्ययों के साहचर्य निर्धारित करते हैं वे प्राकृतिक संबंध हैं और जिनका उनके साहचर्य से कोई वास्ता नहीं है, वे दार्शनिक संबंध हैं। दार्शनिक संबंध सात हैं जो ये हैं :—

(१) सादृश्य (Resemblance)—

(२) गुण के तारतम्य (Degrees of quality)

(३) वैपरीत्य (Contrariety)

(४) मात्रा या संख्या (Quantity or Number)

(५) अभेद (Identity)

(६) देश और काल (Space and Time)

(७) कारण और कार्य (Cause and Effect)

स्पष्ट है कि सादृश्य, देश और काल का सामीप्य तथा कारण और कार्य की गणना प्राकृतिक सम्बन्ध और दार्शनिक सम्बन्ध दोनों में है। किंतु प्राकृतिक सम्बन्ध के जो भेद ऊपर दिखाये गये हैं उनके कारण प्रत्ययों के साहचर्य से सम्बन्धित सादृश्य, देश-काल का सामीप्य और कारण-कार्य इन नाम वाले दार्शनिक सम्बन्धों से भिन्न हैं। कुछ सादृश्य प्रत्ययों का साहचर्य निर्धारित करते हैं। किंतु कुछ सादृश्य उनका साहचर्य नहीं निर्धारित करते। जैसे सभी वस्तुएँ भौतिक है, किंतु एक भौतिक वस्तु अन्य भौतिक वस्तु को नहीं सूचित करती है। सभी पत्तियाँ हरी हैं किन्तु आम की हरी पत्ती ताड़ के हरे पत्तों को नहीं सूचित करती हैं। इन उदाहरणों में सादृश्य प्रत्ययों के साहचर्य से सम्बन्धित नहीं हैं; वे मात्र दार्शनिक सम्बन्ध है। ऐसे ही देश-काल और कारण-कार्य के दार्शनिक सम्बन्धों को भी जानना चाहिए। संक्षेप में प्रत्ययों के साहचर्य के नियम

का संदर्भ विषयगत (Objective) है और दार्शनिक सम्बन्धों का सन्दर्भ आत्मगत (Subjective) है।

सादृश्य सभी दार्शनिक सम्बन्धों का आधार है। जब तक प्रत्ययों या संस्कारों में सादृश्य न हो तब तक उनकी तुलना नहीं की जा सकती है। किंतु सादृश्य प्रत्ययों के अतिरिक्त और उनमें निहित कोई सामान्य तत्त्व नही है। सादृश्य प्रत्ययों की उपलब्धि से जन्य मन में प्रत्यक्षों का एक सम्बन्ध है। अन्य सम्बन्ध इसी पर निर्भर हैं।

दार्शनिक संबन्ध में प्रथम चार को अपरिवर्तनीय संबन्ध (Invariable Relation) और अन्तिम तीन को परिवर्तनीय संबन्ध (Variable Relation) कहा जाता है। अपरिवर्तनीय संबन्ध पूर्णतः अपने प्रत्ययों पर निर्भर हैं। जब तक ये प्रत्यय एकरूप रहते हैं तव तक इनके सबन्ध स्थिर रहते हैं। यदि आम और जामुन के प्रत्ययों पर विचार किया जाय तो उन पर निर्भर उनके सादृश्य का ज्ञान होगा। दोनों फलदायक वृक्ष हैं। किन्तु यदि आम और बबूल के प्रत्ययों पर विचार किया जाय तो फलदायक वृक्ष का सादृश्य उनमें न मिलेगा।

परिवर्तनीय संवन्ध वे है जिनको बदल देने से उनसे सबन्धित विषयों या प्रत्ययों में कोई परिवर्तन नहीं होता है। उदाहरण के लिए, दो पिण्डों के बीच की दूरी को लीजिए। मान लीजिए उनके बीच १० मीटर की दूरी है। यदि हम उनके बीच १०० मीटर की दूरी कर दें तो उनमें कोई परिवर्तन न होगा। इस तरह पिण्डों में विना परिवर्तन लाये उनके बीच की दूरी बदली जा सकती है। किन्तु ऐसा अपरिवर्तनीय संवन्धों के बारे में नहीं हो सकता। उनको बदल देने से उनके विषय या प्रत्यय भी बदल जाते हैं। अपरिवर्तनीय सम्बन्ध अपने प्रत्ययों की रचना के अंग हैं। वे पूर्णतया प्रत्ययात्मक या प्रत्ययमूलक हैं। परिवर्तनीय सम्बन्ध प्रत्ययमूलक नहीं हैं। अनुभव और प्रत्यय के द्वारा मन उनको स्वयं ढूँढ़ता है।

सादृश्य, गुणों के तारतम्य, वैपरीत्य (विपरीतता या विरोध) अपने प्रत्यक्षों के साथ ही साथ अनुभूत होते हैं। वे अनुभव (Intuition) से सम्बन्धित है। अनुभव का अर्थ यहाँ इन्द्रिय-प्रत्यक्ष है। मात्रा या सख्या का सम्बन्ध बुद्धि से है। अभेद और देश-काल का सम्बन्ध किसी विद्यमान अस्तित्व के अपरोक्ष प्रत्यक्ष से है। कारण-कार्य का सम्बन्ध नैतिक विचारणा से है।

युक्ति-ज्ञान का आधार मात्रा या संख्या है। गणित अर्थात् अंकगणित और बीजगणित विशुद्ध युक्ति-ज्ञान हैं। ये मनोनिर्मित प्रत्ययो और उनके सम्बन्ध पर आधारित हैं। इस कारण ये पूर्ण निश्चय प्रदान करते हैं। ह्यूम इस प्रकार अंकगणित और बीजगणित की व्याख्या बुद्धिवाद के अनुसार करता है। वह उनके आधार को संस्कार नहीं कहता है। किन्तु ज्यामिति की उसने संस्कारमूलक प्रत्यक्षवादी

व्याख्या की है। ज्यामिति के प्रमेय दैशिक सम्बन्धों के बारे में होते हैं। देश दृश्य और स्पृश्य विषयों की विन्यास-प्रणाली है। जिस ढंग से दृश्य और स्पृश्य विषय उपलब्ध होते हैं वह देश है। उसके बारे में जो हम निर्णय करते हैं उसको अपने अनुभव से प्रमाणित करते हैं अर्थात् अपने प्रत्यक्षों से उसका मिलान करते हैं। उसके बारे में हम शुद्ध युक्ति से नहीं जान सकते हैं। १९वीं शताब्दी में जान स्टुअर्ट मिल ने ह्यूम की इस व्याख्या का विस्तार किया और सिद्ध किया कि गणित भी यानी अंकगणित और बीजगणित भी प्रत्यक्षमूलक है। किन्तु बीसवीं शताब्दी के नवभाववादी ह्यूम के ही सिद्धान्त को मानते हैं, न कि मिल के। गणित के वाक्य अनुभव-निरपेक्ष या प्रागनुभवीय (A Priori) हैं क्योंकि वे विश्लेषणात्मक (Analytic) हैं और यथार्थतः पुनरुक्तियाँ (Tautology) हैं जो किसी वस्तु-तथ्य (Matter of fact) की सूचना नहीं देती हैं। वे केवल प्रत्ययों के सम्बन्धों को बताती हैं।

परिवर्तनीय सम्बन्धों में भी अभेद और देश-काल के सम्बन्ध कारण-कार्य के सम्बन्ध से कुछ भिन्न हैं। अभेद और देश-काल साक्षात् या अपरोक्ष प्रत्यक्ष हैं। अभेद का प्रत्यक्ष अभिन्न प्रत्यक्षों के साथ होता है। इसी प्रकार देश-काल का प्रत्यक्ष देश-काल में स्थित प्रत्यक्षों के ही साथ होता है। देश-काल के प्रत्यय पृथग्भूत प्रत्यय नहीं हैं। वे केवल ऐसी प्रणालियाँ (रीतियाँ) हैं जिनमें प्रत्यक्ष घटित होते हैं। देश दृश्य और स्पृश्य संस्कारों के विन्यास की प्रणाली है। काल हमारे सभी प्रत्ययों के क्रमिक विन्यास की प्रणाली है।

यह उल्लेखनीय है कि प्राकृतिक सम्बन्ध और दार्शनिक सम्बन्ध के भेद को ह्यूम अपनी आरम्भक रचना, **'मानव स्वभाव पर एक प्रबन्ध'** में करता है। अपनी परवर्ती रचना **'मानवबुद्धि से सम्बन्धित एक विमर्श'** में वह इन दो प्रकार के सम्बन्धों के स्थान पर प्रत्ययों के सम्बन्ध (Relations of Ideas) और वस्तु-तथ्य (Matters of fact) इन दो प्रकार के सत्यों को मानता है। प्रत्ययों के सम्बन्ध के बारे में निश्चित और अनिवार्य ज्ञान हो सकता है। किन्तु वस्तु-तथ्य के बारे में जो ज्ञान होगा वह प्रायिक (Probable) ही होगा। निश्चित और अनिवार्य ज्ञान का आधार अपरिवर्तनीय सम्बन्ध है। प्रायिक ज्ञान का आधार कारण-कार्य का सम्बन्ध है। ह्यूम के दर्शन में कारण-कार्य के सम्बन्ध का विशेष महत्त्व है।

६ कारणता का विश्लेषण

ह्यूम ने कारणता का विचार प्राकृतिक सम्बन्ध और दार्शनिक सम्बन्ध दोनों के रूप में किया है। दार्शनिक सम्बन्ध के रूप में कारणता प्रत्ययों के बीच एक परिवर्तनीय सम्बन्ध है जो अपने सम्बन्धियों से निरपेक्ष है। इस रूप में कारणता समीपता

(Contiguity), **पौर्वापर्य** या क्रम (Succession) तथा नियत युगपद्भाव (Constant togetherness) से भिन्न नहीं है। इसके आधार पर वस्तु-तथ्य के विषय में तर्कना नहीं हो सकती है। दार्शनिक सम्बन्ध के रूप में कारणता एक मनोगत सम्बन्ध है और उसका विषयगत अर्थ नहीं है। अतः यदि हम कारणता का अर्थ यह लेते हैं कि यह मनोगत नहीं किन्तु विषयगत सम्बन्ध है जो दो विषयों में वस्तुतः होता है तो हमें इसे प्राकृतिक संबंध मानना चाहिए। इसलिए ह्यूम ने वस्तु-तथ्य से सम्बन्धित कारणता को प्राकृतिक संबंध कहा है। यहाँ इसी रूप में कारणता का विश्लेषण अपेक्षित है।

अब प्रश्न है कि कारणता का प्रत्यय किस संस्कार से निकला है ? क्या जिन वस्तुओं को हम कारण कहते हैं, उनके किसी गुण का नाम कारणता है ? स्पष्ट है कि इन कारणों का प्रत्यक्ष होने से किसी कारणता नामक गुण का प्रत्यक्ष नहीं होता है। कारणता का कोई संस्कार नहीं है। "जिन दो विषयों को हम कारण और कार्य कहते हैं, उन पर हम दृष्टिपात करें और उनको चारों ओर घुमाकर वह संस्कार देखें जिससे कारणता का प्रत्यय उत्पन्न होता है। पहली ही दृष्टि में मैं देखता हूँ कि मुझे उस विषय के विशेष गुणों में इसको न खोजना चाहिए, क्योंकि उनमें से जिस किसी गुण को मैं देखता हूँ मुझे कोई ऐसा विषय मिल जाता है जिसमें वह गुण नहीं है। किन्तु फिर भी वह कारण और कार्य के नाम से कहा जाता है[1]।" अतः कारणता का प्रत्यय किसी विषयगत सम्बन्ध से निकला है। हमें उस सम्बन्ध का पता लगाना चाहिए।

इस प्रसंग में सबसे पहले समीपता (Contiguity) का सम्बन्ध आता है। ह्यूम कहता है, "जो विषय कारण या कार्य माने जाते हैं, उनको मैं सबसे पहले समीपस्थ देखता हूं।" कारण और कार्य एक दूसरे के सन्निकट हैं। कभी-कभी उनकी समीपता विना किसी व्यवधान के होती है और कभी-कभी उनमें व्यवधान होता है। किन्तु इस व्यवधान में भी अनेक कारणों और कार्यों की शृंखला रहती है जो एक दूसरे के सन्निकट हैं।

समीपता दैशिक (Spatial) सम्बन्ध है। जिन बाह्य विषयों को कारण और कार्य माना जाता है उनमें यह सम्बन्ध रहता है। किन्तु **'मानव स्वभाव पर एक प्रबन्ध'** के तीसरे खंड में ह्यूम कहता है कि समीपता कारणता का अनिवार्य अंग नहीं है। भावनाओं में कारण और कार्य का संबंध होता है, किन्तु उनमें कोई दैशिक समीपता नहीं होती है। "किसी नैतिक विचार को किसी भावना के बाएँ या दाएँ नहीं

१. मानव स्वभाव पर एक प्रबन्ध भाग १, खण्ड ३, अधिकरण २।

रखा जा सकता। गन्ध या ध्वनि न तो वृत्ताकार हो सकती है और न तो वर्गाकार। इन विषयों और प्रत्यक्षों को विशेष देश या स्थान की आवश्यकता नहीं है। देश मे उनका बेमेल है। कल्पना भी उनको देशस्थ नहीं कर सकती[1]।"

फिर कारण और कार्य का विचार करने पर पता चलता है कि कारण अपने कार्य का पूर्ववर्ती होता है। काल के विचार मे कारण कार्य के पहले है। यही नहीं, कारण नियमतः अपने कार्य का पूर्ववर्ती है। कारण और कार्य का यह सम्बन्ध नियत क्रम या पौर्वापर्य का सम्बन्ध है।

किन्तु क्या नियत पौर्वापर्य (Succession) मे कारणता की पर्याप्त व्याख्या हो जाती है? बहुत-सी घटनाएँ काल-क्रम में आगे-पीछे रहती हैं। किन्तु वहाँ कारण का सम्बन्ध अनुपस्थित है। उदाहरण के लिए किसी स्टेशन पर एक गाड़ी पहले आती है और दूसरी गाडी बाद में आती है। किन्तु हम जानते हैं कि पहली गाड़ी का आना दूसरी गाडी के आने का कारण नहीं है। यहाँ यह कहा जायगा कि दोनों गाड़ियों में आगे-पीछे का सम्बन्ध आकस्मिक है, न कि नियत। किन्तु नियत पौर्वापर्य भी कारणता नहीं है। उदाहरण के लिए सूर्योदय के बाद लोग नियमतः उठते हैं। किन्तु सूर्योदय उनके उठने का कारण नहीं है।

कारणता का विचार करते हुए ह्यूम स्वयं कहता है—"क्या हम समीपता और पौर्वापर्य के इन दो सम्बन्धों को कारण के प्रत्यय की पूर्ण व्याख्या मान लें? नहीं। कोई विषय दूसरे विषय के समीप और पूर्ववर्ती हो सकता है, किन्तु वह उसका कारण नहीं भी हो सकता। यहाँ एक अनिवार्य सम्बन्ध (Necessary Connexion) है जिसका विचार करना है। यह संबंध समीपता और पौर्वापर्य से अधिक महत्त्वपूर्ण है[2]।" इस तरह कारणता पौर्वापर्य और अनिवार्य सम्बन्ध या अनिवार्यता है। कभी-कभी वह समीपता, पौर्वापर्य और अनिवार्यता है। अनिवार्यता का अर्थ वह तात्पर्य है जिससे कोई कारण अनिवार्यतः अपने कार्य को उत्पन्न करता है। प्रत्येक वस्तु किसी कारण का परिणाम है और प्रत्येक कारण अपने कार्य को उत्पन्न करता है—ये दो बातें कारणता के मूल में हैं। अनिवार्यता का अर्थ ये ही बातें हैं। कारण में एक अनिवार्यता है जो उसके कार्य को उत्पन्न करती है।

अब देखना है कि क्या अनिवार्यता वास्तव में है? ह्यूम इस अनिवार्यता की बौद्धिक व्याख्या को असंभव बताता है। उसका कहना है कि इसे न तो हम इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से जान सकते हैं और न युक्ति से। हमें अनिवार्यता का कोई संस्कार नहीं

---

१. वही।

२. वही।

उपलब्ध होता है। जिन विषयों को हम देखते हैं उनमें हम अनिवार्यता नाम का कोई गुण नहीं पाते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष से अनिवार्यता का ज्ञान न होने से कहा जायगा कि इसका ज्ञान युक्ति से होता है। किन्तु युक्ति से भी हम अनिवार्यता का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते हैं।

अनिवार्यता के बौद्धिक (या यौक्तिक) ज्ञान के खंडन में ह्यूम निम्नलिखित तर्क देता है :—

(क) प्रत्येक विषय सकारण है, यह वाक्य न तो अनुभव से और न युक्ति से प्रमाणित है। "सभी भिन्न प्रत्यय एक दूसरे से पृथक् हैं। चूँकि कारण का प्रत्यय कार्य के प्रत्यय से स्पष्टतः भिन्न है, इसलिए हम आसानी से सोच सकते हैं कि कोई विषय इस क्षण असत् और आगामी क्षण सत् है। और वह किसी कारण या उत्पादक शक्ति के प्रत्यय से संयुक्त नहीं है। अतः कारण के प्रत्यय को कार्य (सत्ता का आरम्भण) के प्रत्यय से पृथक् करना कल्पना के लिए सम्भव है। फलतः इन विषयों का यथार्थ पार्थक्य यहाँ तक सम्भव है कि इसमें कोई बाध या असंगति नहीं है। यह तर्क मात्र प्रत्ययों पर आधारित किसी युक्ति से खंडित नहीं किया जा सकता है[1]।"

(ख) जो लोग कहते हैं कि कारण में अपने कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति होती है उन्हें दिखाना चाहिए कि कारण के प्रत्यय में कार्य का प्रत्यय निहित है। किन्तु वे ऐसा नहीं कर सकते। जब तक किसी को किसी कारण और उसके कार्य दोनों का ज्ञान न हो तब तक वह उस कारण से उस कार्य का ज्ञान नहीं कर सकता है। किसी विषय में या प्रत्यय में कोई ऐसी बात नहीं है जिसके आधार पर उससे हम किसी ऐसे विषय या प्रत्यय का निष्कर्ष निकाल सकें, जो उसके बाहर है। "किसी बड़े बुद्धिमान् और योग्य आदमी को कोई विषय दीजिए जो उसके लिए बिलकुल नया हो। वह उसके संवेद्य गुणों के सूक्ष्म परीक्षणों के द्वारा उसके कारणों या कार्यों की खोज नहीं कर सकता है। अगर हम मान लें कि आदमी की बौद्धिक शक्तियाँ बिलकुल पूर्ण थीं तो भी वह जल की तरलता और पारदर्शिता से अनुमान नहीं कर सकता था कि यह उसका गला घोंट देगा या आग के प्रकाश और गर्मी से वह अनुमान नहीं कर सकता था कि यह उसको खा जायेगी[2]।"

इस तरह कारण और कार्य की खोज बुद्धि से नहीं किन्तु अनुभव से होती है। जिन दो वस्तुओं को हम एक साथ बार-बार आगे-पीछे घटते देखते हैं उनको ही

---

१. वही भाग १, खण्ड ३, अधिकरण ३।

२. मानव बुद्धि से सम्बन्धित एक विमर्श, अध्याय ४।

हम कारण-कार्य से सम्बन्धित-करते हैं। "जहाँ तक बुद्धि की बात है हर चीज किसी चीज को उत्पन्न कर सकती है। जहाँ तक मैं जानता हूँ एक कंकड़ का फेंकना सूर्य को बुझा सकता है या किसी मनुष्य की कामना नक्षत्रों को उनकी कक्षा में नियंत्रित कर सकती है। यह मात्र अनुभव है जो हमें कारण और कार्य के यथार्थ स्वभाव और सीमाओं को सिखाता है और एक विषय के अस्तित्व से दूसरे विषय के अस्तित्व का अनुमान करने के लिए हमें योग्य बनाता है[1]।"

(ग) डॉ० क्लार्क और अन्य लोग कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु अनिवार्यतः सकारण है क्योंकि यदि किसी चीज को कारण की अपेक्षा हुई, तो वह स्वयं अपने को उत्पन्न करेगी अर्थात् वह स्वयं अस्तित्व में आने से पहले स्वयं अस्तित्व में होगी जो असम्भव है। इस युक्ति के खण्डन में ह्य ूम का कहना है कि यह हमारे कथन की गलत धारणा पर निर्भर है। "यह मानती है कि कारण के खण्डन से हम स्पष्टतः उस चीज को मानते हैं जिसका हम खण्डन करते हैं, अर्थात् यह मानती है कि कोई कारण अवश्य होना चाहिए, और वह कारण स्वयं वह वस्तु है। किन्तु जब मैं कहता हूँ कि कोई चीज बिना किसी कारण के होती है, तब मैं यह नहीं कहता कि वह अपना कारण स्वयं है बल्कि और जोरों से कहता हूँ कि वह स्वयं अपने को उत्पन्न नहीं करती है[2]।"

(घ) लाक ने कारणता के पक्ष में प्रमाण देते हुए कहा कि जो कुछ बिना किसी कारण के उत्पन्न होता है वह असत् से उत्पन्न होता है। किन्तु असत् से कोई सत् उत्पन्न नहीं हो सकता। इसलिए हर चीज का कोई कारण है। इस युक्ति के खंडन में भी ह्य ूम वही बात कहता है जो ऊपर युक्ति (ग) में उसने कही है। जब वह सभी कारणों का खंडन करता है तो वह असत् को भी उनमें शामिल करता है। वह स्वयं कहता है कि असत् किसी वस्तु का कारण नहीं हो सकता।

(ङ) कुछ लोग कहते हैं कि प्रत्येक कार्य का कोई कारण होना चाहिए, क्योंकि कार्य के प्रत्यय में कारण निहित है। इसके खंडन में ह्य ूम कहता है कि यद्यपि प्रत्येक कार्य अनिवार्यतः किसी कारण की प्रागपेक्षा करता है तथापि इससे यह नहीं सिद्ध होता कि प्रत्येक विषय सकारण है। कारण और कार्य सम्बन्ध-पद हैं। अगर मैं कहूँ कि प्रत्येक पति के एक पत्नी होती है तो यह सही है। किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता कि हर आदमी विवाहित है। इस तरह प्रत्येक कार्य सकारण है, इस वाक्य से यह नहीं सिद्ध होता कि प्रत्येक विषय सकारण है[3]।"

---

१. वही अध्याय १२, भाग ३।

२. मानव स्वभाव पर एक प्रबन्ध भाग १, खण्ड ३. अधिकरण १।

३. वही।

इस प्रकार ह्यूम ने अनिवार्यता का खण्डन किया है। इस खण्डन के साथ कारण-कार्य के नियम का भी खंडन हो जाता है, क्योंकि अनिवार्यता ही इस नियम का सारतत्व है।

बर्कले ने विषयों या प्रत्ययों में निहित कारण-शक्ति का खण्डन किया था। किन्तु उसने आत्मा को उसके इच्छा-व्यापार में सक्रिय माना था। उसके मत से इच्छा शक्ति वास्तविक कारण-शक्ति है। किन्तु ह्यूम उसके अर्थ में भी कारणता का खंडन करता है। वह कहता है कि जैसे कोई भौतिक वस्तु अपने किसी उपयुक्त कार्य से अनिवार्यतः सम्बन्धित नहीं ज्ञात होती है, उसी तरह इच्छा और उसके कार्यों में भी कोई दृष्टिगोचर अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। संक्षेप में इस प्रसंग में मन के व्यापार वैसे ही हैं जैसे वस्तु-तथ्य के। हम केवल उनके नियत संयोग को देखते हैं[1]।" फिर आत्मा की कारण-शक्ति के विरोध में वह निम्नलिखित तर्क देता है :—

(क) "यह मानना पड़ेगा कि ऐसी शक्ति का न तो अनुभव है और न बौद्धिक ज्ञान और न मन से इसका प्रत्यय हो सकता है। हम केवल किसी घटना का अनुभव करते हैं, अर्थात इच्छा के आदेश के फलस्वरूप किसी प्रत्यय के अस्तित्व का अनुभव करते हैं। किन्तु जिस ढंग से यह व्यापार होता है, जिस शक्ति से यह उत्पन्न होता है, वह पूर्णतः हमारी समझ के बाहर है।" जब हम इस शक्ति को जानते हैं तो इसके साथ इसके द्वारा उत्पन्न प्रत्यय (कार्य) को भी जानते हैं। अतः हम कारण और कार्य तथा उनके सम्बन्ध को एक साथ जानते हैं[2]।" ऐसा नहीं है कि हम आत्मा या इच्छा की कारण-शक्ति को उसके कार्यों से पृथक् जानते हैं।

(ख) "हम अपने प्रत्ययों पर जो अधिकार रखते हैं उससे कहीं कम अधिकार भावों और भावनाओं पर है।" मन का अपने ऊपर तथा देह के ऊपर अधिकार बहुत सीमित है। इन सीमाओं को हम युक्ति से या कारण-कार्य के परिचय से नहीं जानते हैं। इनका ज्ञान हमें केवल अनुभव तथा निरीक्षण से होता है[3]।"

(ग) "यह आत्म-अधिकार भी भिन्न-भिन्न समयों में विभिन्न है। स्वस्थ मनुष्य रुग्ण मनुष्य से अधिक यह अधिकार रखता है। हम सायंकाल की अपेक्षा प्रातःकाल, पूरा भोजन करने के बाद की अपेक्षा उपवास करते समय, अपने विचारों पर अधिक आधिपत्य रखते हैं। क्या हम अनुभव के अतिरिक्त इन विभिन्नताओं के

---

१. वही भाग १, खंड ३, अधिकरण १४।

२. मानव बुद्धि से सम्बन्धित एक विमर्श, अध्याय ७, खंड १।

३. वही।

लिए कोई हेतु दे सकते हैं ? अतः वह शक्ति कहाँ है जिसके ज्ञान का हम दावा करते हैं[१] ?

मैलब्रान्श ने एकमात्र ईश्वर को सभी वस्तुओं का कारण या निमित्त माना था। उसके कारणवाद का खंडन करते हुए ह्यूम कहता है कि पहले यह सिद्धांत हम साधारण जीवन और अनुभव से बहुत दूर परियों के देश में ले जाता है जहाँ हम अपनी साधारण युक्ति में विश्वास करने का कोई आधार नहीं मिलता। इस काल्पनिक अनुभव का कोई अधिकार या उपयोग उन विषयों में नहीं है जो हमारे अनुभव के अन्दर आते हैं। दूसरे, जैसे हम किसी विषय या आत्मा से किसी कारण-शक्ति का ज्ञान नहीं प्राप्त करते हैं, वैसे ही हमें अपने में किसी ईश्वरीय शक्ति का ज्ञान या भाव नहीं मिलता है। मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आपको इसका प्रत्यय कहाँ से मिलता है ? हमारे अन्दर इसका कोई ज्ञान या भाव नहीं है। हम अपनी शक्तियों पर विचार करने से जो सीखते हैं उसके अतिरिक्त हमें परमात्मा का कोई ज्ञान नहीं है। अतः यदि हमारा अज्ञान किसी वस्तु के निराकरण का हेतु है, तो हम जैसे एक स्थूल भौतिक पदार्थ की कारण-शक्ति का खंडन करते हैं वैसे ही हमें परमात्मा की भी कारण-शक्ति का खंडन करना चाहिए[२]।"

ह्यूम ने कारण का अर्थ केवल निमित्त कारण (Efficient Cause) किया। फिर उसने कहा कि किसी भौतिक पदार्थ, आत्मा या परमात्मा में कोई निमित्त कारण होने की शक्ति है, ऐसा ज्ञान हम इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तथा युक्ति से नहीं होता है। जब कभी वह किसी निमित्त कारण और उसके कार्य पर विचार करता है, तब वह दोनों को अपने अनुभव और निरीक्षण से नियत संयोग में पाता है। वह यह नहीं कहता है कि कोई वस्तु अकारण होती है। जान स्टुअर्ट के नाम अपने पत्र में उसने लिखा है—"मैंने ऐसा हास्यास्पद वाक्य कभी नहीं कहा कि कोई चीज बिना किसी कारण के उत्पन्न हो सकती है।" वह सिर्फ इस बात का खंडन करता है कि कोई वस्तु अपने कार्य की उत्पत्ति से पूर्व उससे अनिवार्यतः सम्बन्धित है या उसका कारण है अथवा कारण और कार्य में जो अनिवार्यता का सम्बन्ध अपेक्षित है उसका बौद्धिक ज्ञान हो सकता है। किन्तु वह मानता है कि अनुभव और निरीक्षण से हम जिन वस्तुओं को सतत या बार-बार घटते देखते हैं उनमें कारण-कार्य का सम्बन्ध है, जिसका सारतत्त्व अनिवार्यता है। अब प्रश्न है कि यह अनिवार्यता कैसी है ? और इसका ज्ञान हमें कैसे होता है ? अभी तक के विवेचन से यह सिद्ध हुआ है कि यह अनिवार्यता

---

१. वही।

२. वही।

बौद्धिक या प्रत्यक्षमूलक नहीं है। कारणता के विश्लेषण में अभी तक हमें समीपता, पौर्वापर्य और अनिवार्यता, ये तीन सम्बन्ध मिले हैं। इनमें से समीपता और पौर्वापर्य प्रत्यक्षमूलक है। किन्तु समीपता और पौर्वापर्य के अतिरिक्त अनिवार्यता क्या है? यह तार्किक अनिवार्यता कही जाती है। किन्तु ह्यूम ने तार्किक अनिवार्यता का प्रबल खंडन किया है और कारण-कार्य की अनिवार्यता को परम्परा से उत्पन्न भावना माना है।

अनिवार्यता की व्याख्या करते हुए ह्यूम कहता है कि हमें अनिवार्यता का प्रत्यय संवेदना से नहीं किन्तु केवल अन्तर्दर्शन के आन्तरिक संस्कार से मिला है। यह आत्मा के अन्तःकरण में अनुभूत होती है। यह एक भावना (Feeling) है। यह बाह्य विषयों में दृष्टिगत नहीं है। प्रथा या परंपरा (Custom) के द्वारा यह पुष्ट होती है। अन्ततः यह एक विश्वास (Belief) में बदल जाती है। "घटनाओं के बीच में अनिवार्य-संबन्ध का प्रत्यय इन घटनाओं के सदृश घटनाओं के बार-बार घटने से उत्पन्न होता है। इस प्रत्यय का संकेत इन घटनाओं के पर्यवेक्षण में नहीं मिल सकता है ......किंतु एक समान घटना के बार-बार घटने से मन में एक आदत पैदा होती है जो एक घटना के अनुभव से उसकी सहवर्ती घटना की प्रत्याशा मन में पैदा करती है। अतः यह अनिवार्य सम्बन्ध, जिसका हम मन में अनुभव करते हैं, एक विषय से उसके सामान्य सहवर्ती दूसरे विषय की कल्पना की परम्परा-जन्य एक गति, एक भावना या संस्कार है जिससे हम अनिवार्य सम्बन्ध या शक्ति के प्रत्यय की रचना करते हैं[1]।"

किसी कार्य और उसके कारण में अनिवार्यता का सम्बन्ध नहीं है। किन्तु जब वे दोनों एकसाथ बार-बार घटते दीख पड़ते हैं तब हम कारण-कार्य के अनिवार्य संबन्ध का ज्ञान करते हैं। तब हम एक भावना (Sentiment) या संस्कार का अनुभव करते हैं। यह भावना प्रथा या परम्परा के कारण मन में पैदा होती हैं। यही अनिवार्यता के प्रत्यय का मूल है।

अनिवार्यता में मन का नैसर्गिक विश्वास रहता है। यह विश्वास कारण और कार्य के एक साथ बार-बार घटने से पुष्ट होता है। परम्परा या प्रथा इसको प्रमाणित करती है। मन की भावना में इसका मूल है। यह सब संयोग इकट्ठा हो जाने से यह सिद्धान्त बनता है कि कोई कारण अनिवार्यतः अपने कार्य को उत्पन्न करता है। वस्तु-तथ्य से संबन्धित सभी युक्तियाँ कारण-कार्य पर निर्भर हैं। कारण-कार्य के संबन्ध के आधार भावना और विश्वास के तत्त्व हैं। इससे ह्यूम ने सिद्ध

---

१ मानव बुद्धि से संबन्धित एक विमर्श, अध्याय ७, खण्ड २।

किया है कि वस्तु-तथ्य से सम्बन्धित सभी युक्तियाँ भावना और विश्वास पर आधारित हैं। 'आग छूने से वेदना होती है, यह ज्ञान भावना और विश्वास पर आधारित है, न कि किसी तार्किक सिद्धान्त पर। इस तरह वस्तु-तथ्य से सम्बन्धित सभी विज्ञानों की सत्यता को ह्यूम ने केवल एक भावनामूलक या विश्वासमूलक सत्यता बतलाया है। कांट ने ह्यूम के कारणता के विश्लेषण का खण्डन करते हुए सिद्ध किया है कि कारणता एक भावना या संस्कार नहीं है बल्कि एक वर्गणा (Category) है। उसके मत से जब हम किसी विषय का प्रत्यक्ष करते हैं तब भी उस प्रत्यक्ष की पृष्ठभूमि में कारणता का संबंध रहता है। इस तरह कांट ने वस्तु-तथ्य से सम्बन्धित विज्ञानों की सत्यता को विषयगत सिद्ध किया क्योंकि उनका आधार कारणता का वह सम्बन्ध है जो अनुभव से निरपेक्ष है और अनुभवों में आने वाले समस्त विषयों को निर्धारित करता है। क्या कांट ने ह्यूम की आलोचनाओं का उपयुक्त उत्तर दिया है ? इस प्रश्न के उत्तर में हाँ और नहीं दोनों कहने वाले लोग हैं। जो लोग मानते हैं कि कांट ने ह्यूम का उत्तर नहीं दिया है उनका कहना है कि कांट ने कारणता को अनुभव-निरपेक्ष सिद्ध किया है जो वास्तव में बुद्धि-संगत नहीं है। ह्यूम ने सिद्ध किया है कि कारणता का संबंध अनुभव से निरपेक्ष नहीं हो सकता है। इस प्रसंग में उसकी जो युक्तियाँ है कांट उनका खंडन नहीं करता है। फिर ह्यूम भी कारणता में विश्वास करता है और इस विश्वास को अनुमान का एक आधारभूत तत्त्व मानता है। इसलिए कांट और ह्यूम के बीच विवाद का यह विषय नहीं है कि क्या कारणता सभी बौद्धिक ज्ञान का आधार है। उनमें इस बात पर विवाद है कि कारणता अनुभव-निरपेक्ष हैं या अनुभव-जन्य और वस्तु-तथ्य से सम्बन्धित निर्णय अनुभव-निरपेक्ष है या अनुभव-जन्य। इस विवाद में कांट और ह्यूम दोनों की जो स्थितियाँ हैं उनकी अपनी-अपनी कुछ मान्यताएँ हैं। उन मान्यताओं के सन्दर्भ में ही दोनों सही हैं। एक की मान्यता से दूसरे की मान्यता गलत है। इस तरह ह्यूम और कांट दोनों ने दो दृष्टिकोणों से कारणता का विचार किया है। प्रत्येक का विचार सुसंगत है। ह्यूम का विचार प्रत्यक्षवादी है और कांट का विचार बुद्धिवादी। यदि सुसंगति को सत्यता की कसौटी मानें तो हम दोनों के विचारों को सत्य कह सकते हैं।

अन्त में प्रत्ययवादी दार्शनिकों का कहना है कि कारणता तर्कतः अखंडनीय हैं क्योंकि कारणता के खंडन और कारणता में अगर अनिवार्य संबंध नहीं है तो उसका खंडन अतार्किक है और यदि उसमें अनिवार्य संबंध है तो अनिवार्य सम्बन्ध का खंडन नहीं हो रहा है। तर्क से यदि कारणता का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है तो इसका खंडन भी तर्क से नहीं किया जा सकता है। ह्यूम की यह आलोचना मान्य हो

सकती है। वह स्वयं यह मानता है कि समस्त अनुमान के मूल में कारणता है। उसका निश्चित मत यह है कि कारण-कार्य की अनिवार्यता को न हम तर्क से सिद्ध कर सकते हैं और न तर्क से खंडित कर सकते हैं क्योकि वह हमारे नैसर्गिक विश्वास का विषय है।

७ आत्मा का खंडन

ह्यूम किसी ऐसी वस्तु को नहीं मानता है जिसका कोई प्रत्यक्ष नही हो सकता। वह कहता है, "कुछ दार्शनिक हैं जो कल्पना करते है कि हम प्रतिक्षण उस वस्तु को जानते हैं जिसे हम आत्मा कहते है। वे इसके पूर्ण एकता और सातत्य क बारे में निश्चित हैं और इसके लिए किसी प्रमाण या साक्ष्य की आवश्यकता नहीं समझते।....किन्तु दुर्भाग्य से ये सब विधेयात्मक कथन उस अनुभव के विपरीत है जो उनके लिए दिया जाता है। इस ढंग से हमारे पास आत्मा का कोई प्रत्यय नहीं है। प्रश्न है, किस संस्कार से यह प्रत्यय निकल सकता है? विना किसी स्पष्ट बाध और असंगति के इस प्रश्न का उत्तर हाँ मे देना असंभव है। किंतु इस प्रश्न का उत्तर हां में देना आवश्यक है यदि आत्मा का प्रत्यय स्पष्ट और बुद्धिगम्य है। कोई संस्कार होना चाहिए जो प्रत्येक यथार्थ प्रत्यय को उत्पन्न करता है। किन्तु आत्मा या पुरुष का कोई एक संस्कार नहीं है। हमारे अनेक संस्कार और प्रत्यय उसकी ओर संकेत करते हुए समझे जाते हैं। अगर कोई एक संस्कार आत्मा के प्रत्यय को उत्पन्न करता है तो उस प्रत्यय को लगातार हमारे जीवन पर्यन्त उसी रूप मे अपरिवर्तनीय होना चाहिए क्योंकि वह इसी प्रकार का सत् समझा जाता है। किन्तु कोई स्थिर और अपरिवर्तनीय संस्कार नहीं है[1]।

ह्यूम के अनुसार आत्मा विविध प्रत्यक्षों का समूह या बन्डल है जो अचिन्त्य शीघ्रता से एक दूसरे का अनुवर्तन कर रहे है। वह कहता है कि "जब मैं अपने उस अन्तस्तल में प्रवेश करता हूं जिसे मैं अपनी आत्मा कहता हूं तब मै सदा किसी-न-किसी विशेष प्रत्यक्ष को, उष्ण या शीत, प्रकाश या छाया, राग या द्वेष, दुख या सुख को प्राप्त करता हूँ। विना किसी प्रत्यक्ष के मैं कभी भी अपनी आत्मा को पकड़ नहीं सकता हूँ और प्रत्यक्ष को छोड़कर किसी अन्य वस्तुओ को कभी देख नहीं सकता हूं। जब मेरे प्रत्यक्ष कुछ समय के लिए हट जाते हैं जैसे सोते समय, तब मैं अपने को असंवेद्य (बेहोश) पाता हूँ और तब सत्यतः कहा जा सकता है कि मैं नही हूं। और यदि मृत्यु से हमारे समस्त प्रत्यक्ष हटा दिये जाते हैं और मैं न सोच सकता हूं, न छू सकता हूँ, न प्रेम कर सकता हूँ, न घृणा कर सकता हूँ, न देख सकता

---

१. मानव स्वभाव पर एक प्रबन्ध, भाग १, खंड ४; अधिकरण ६।

हूँ, तो अपने देहान्त के बाद मैं पूर्णतः नष्ट हो जाता हूँ। मैं नहीं जानता कि मुझे असत् सिद्ध करने के लिए और किस चीज की आवश्यकता है[१]।"

ह्यूम इस बात को नहीं मानता कि हमारे प्रत्यक्षों को एक आश्रय की आवश्यकता है। हमारे कुछ प्रत्यक्ष विस्तारमय नहीं हैं। उनको हम किसी जगह स्थित नहीं कह सकते। उनका देश से कोई सरोकार नहीं है। फिर जो प्रत्यक्ष विस्तारमय हैं उनके लिए किसी आध्यात्मिक द्रव्य को आश्रय बताना निरर्थक है। उनका आश्रय ढूंढ़ना तथा आश्रय का आश्रय ढूंढ़ना, फिर उस आश्रय का भी आश्रय ढूढ़ना और इसी तरह आश्रय ढूंढ़ते रहना एक व्यर्थ क्रिया है जो कभी समाप्त होने वाली नहीं है और जिससे कोई समाधान नहीं होता है। हर प्रत्यक्ष निराश्रित है या वह अपना आश्रय स्वयं है। सभी प्रत्यक्ष सत् हैं।

आत्मा की एकता और सरलता का खंडन करते हुए ह्यूम कहता है कि "आत्मा एक प्रकार का रंगमंच है जहाँ अनेक प्रत्यक्ष आते हैं, जाते हैं, पुनः पुनः आते हैं और जाते हैं और अनन्त स्थितियों और मुद्राओं में मिलते हैं। किसी खास समय इसकी कोई यथार्थ सरलता या शुद्धता नहीं है और न इसकी कोई इकाई है। रंगमंच की उपमा से हमको भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। प्रत्यक्ष क्रमशः होते हैं। वे ही आत्मा हैं। हमें उस जगह का ज्ञान नहीं है जहाँ ये दृश्य होते हैं और न हम उन तत्वों को जानते हैं जिनसे आत्मा बनी है[२]।"

प्रत्यक्ष विशेष सत् है। उनकी निरन्तर धारा बह रही है। उस धारा को हम एक काल्पनिक इकाई का नाम देते हैं और उसे व्यक्तिगत एकता (Personal identity) का नाम देते हैं। इस एकता का स्रोत स्मृति है। स्मृति का आधार प्रत्ययों का साहचर्य है, विशेषतः सादृश्य और कारणता है। स्मृति ही हम प्रत्यक्षों के अनुक्रम के विस्तार और सातत्य को बताती है।

ह्यूम मानता है कि व्यक्तिगत एकता से सम्बन्धित प्रश्न दार्शनिक नहीं हैं वरन् व्याकरणिक हैं। एकता प्रत्ययों के सम्बन्धों पर निर्भर है। वे संबन्ध कारणता और सादृश्य के द्वारा एकता को उत्पन्न करते हैं। किन्तु वे सम्बन्ध इस प्रकार घट सकते हैं कि उनका अनुभव नहीं हो सकता। इसलिए हम कह नहीं सकते कि वे कब एकता को उत्पन्न करते हैं और कब नहीं। स्मृति इस एकता को उत्पन्न नहीं कर सकती। वह हमारे विविध प्रत्यक्षों में कारण-कार्य का सम्बन्ध बताकर इसकी खोज करती है। कारणता के माध्यम से ही इसलिए व्यक्तिगत एकता को समझना चाहिए। ह्यूम कहता

१. वही।

२. वही।

है कि "मानव मन के सच्चे प्रत्यय को विविध प्रत्यक्षों या सत्ताओं का एक मण्डल समझना चाहिए जो कारण और कार्य के सम्बन्ध से परस्पर बँधे हैं और एक दूसरे को उत्पन्न, नष्ट, प्रभावित और विशेषित करते हैं।........इस प्रसंग में मैं आत्मा की तुलना एक गणतन्त्र या राष्ट्र-संघ से बढ़कर और किसी से नहीं कर सकता जिसमें सभी सदस्य शासक और शासित के आपसी बन्धनों मे संयुक्त हैं और ऐसे अन्य मनुष्यों को पैदा करते हैं जो उसी गणतंत्र का विस्तार लगातार उसके भागों में परिवर्तन लाते हुए करते हैं। जैसे कोई गणतंत्र अपने सदस्यों को ही नहीं किंतु अपने कानूनों और संविधानों को भी बदल सकता है, उसी तरह एक ही आदमी अपने चरित्र और रुचि तथा संस्कारों और प्रत्ययों को, विना अपनी एकता को नष्ट किये हुए, बदल सकता है। वह जिन परिवर्तनों को उत्पन्न करता है उसके सभी भाग हमेशा कारणता के सम्बन्ध के द्वारा उनसे सम्बन्धित रहते हैं। इस प्रकार हमारी भावनात्मक एकता हमारे दूरवर्ती प्रत्यक्षों को एक दूसरे से प्रभावित कराकर और हमारे भूतकालीन या भविष्यत्कालीन दुखों या सुखों के प्रति हमारे अन्दर वर्तमान कालीन चिन्ता पैदा कराकर हमारी कल्पनात्मक एकता को सिद्ध करती है[1]।"

स्पष्ट है कि ह्यूम ने आत्मा की दृश्यतावादी व्याख्या की है। वह आत्मा की अमरता में विश्वास नहीं करता है जो उसकी दृश्यतावादी व्याख्या के अनुरूप ही है। देहान्त होने के बाद आत्मा का अस्तित्व रहता है कि नहीं? यह प्रश्न ह्यूम के अनुसार यों होगा—देहान्त के बाद प्रत्यक्षों की धारा हमेशा बहती है कि नहीं? जेम्स बासवेल ने इस प्रसंग में लिखा है कि "मैंने अपनी अन्तिम मुलाकात में ह्यूम से सवाल किया, 'क्या आप यह सम्भव नहीं सोचते कि आत्मा भविष्य में रह सकती है? ह्यूम ने इस पर उत्तर दिया था, 'यह सम्भव है कि आग पर रखने से कोयले का एक टुकड़ा न जले।" उसका तात्पर्य है कि यदि कारण-कार्य का सम्बन्ध वैसे ही रहता जैसे वह आज तक है तो मृत्यु के बाद आत्मा का अस्तित्व नहीं हो सकता, किन्तु यदि इस सम्बन्ध में परिवर्तन होता है और भविष्य में आग पर रखने पर भी कोयला नहीं जलता है तो देहान्त के बाद आत्मा का अस्तित्व हो सकता है।

ह्यूम के मत से आत्मा अनेक क्रमिक प्रत्यक्षों की धारा है। किन्तु यहाँ प्रश्न हो सकता है कि इन प्रत्यक्षों को हमारी चेतना में कैसे संगठित किया जाता है। प्रत्यक्षों के क्रमिक संघात या समुच्चय की रचना कौन करता है? स्वयम ह्यूम ने इस प्रश्न को उठाया है और इसके उत्तर में उसने कहा है कि इस विषय में मैं किसी ऐसे सिद्धान्त को नहीं जानता हूँ जो मुझे संतोष देता है। "संक्षेप में दो सिद्धांत हैं जिन्हें मैं समन्वित

१. वही भाग १ खंड ४ अधिकरण ५।

नहीं कर सकता और जिनमें से किसी को भी मैं छोड़ नहीं सकता। एक है—हमारे सभी प्रत्यक्ष विभिन्न (या विशेष) सत् हैं। और दूसरा है—मन इन वास्तविक सतों में कभी कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं देखता है। अगर हमारे प्रत्यक्ष किसी सरल और व्यक्तिगत द्रव्य में समवेत होते या अगर मन उनमें कोई वास्तविक संबंध देखता, तो इस प्रसंग में कोई कठिनाई न होती। जहाँ तक मेरी बात है, मैं एक संशयवादी (अज्ञेयवादी) होने का दावा करता हूँ और मानता हूँ कि यह कठिनाई मेरी समझ में बहुत बड़ी है। किन्तु मैं यह दावा नहीं करता कि यह कठिनाई पूर्णतः दुर्निवार है। अन्य लोग या शायद मैं ही कुछ और अधिक दृढ़ चिन्तन करने पर कोई सिद्धान्त खोज सकते हैं जो इन विरोधी कथनों को समन्वित करेगा[1]।' इससे स्पष्ट है कि आत्मा की व्यक्तिगत एकता के बारे में ह्यूम अज्ञेयवादी हैं। आधुनिक दृश्यतावादियों ने इस विषय में उसके अज्ञेयवाद को दूर करते हुए माना है कि आत्मा या मन की एकता आन्तरिक घटनाओं से बनी हुई है। किन्तु इस मत में भी ह्यूम की शंकाएँ लागू होती हैं। निर्विवाद रूप से इस विषय में कोई समाधान प्राप्त नहीं हो सकता है।

८ बाह्य जगत् के अस्तित्व का विश्लेषण

ह्यूम बर्कले की तरह बाह्य जगत् की वस्तुओं को मात्र प्रत्यय या प्रत्यक्ष नहीं कहता है। वह वस्तुवादी है और बर्कले को संशयवादी (Sceptic) या नास्तिक समझता है क्योंकि वह बाह्य जगत् की वस्तुओं का खंडन करता है। किन्तु प्रश्न है कि ह्यूम स्वयं कैसे बाह्य जगत् की वस्तुओं को सत् मानता है। वह स्वयं कहता है—"प्रत्यक्षों के अतिरिक्त मन के सामने कभी कुछ उपस्थित नहीं होता है। सभी प्रत्यय मन के सामने उपस्थित अपने पूर्ववर्ती संस्कारों से उत्पन्न होते हैं। अतः सिद्ध कि संस्कारों और प्रत्ययों से तत्त्वतः भिन्न किसी वस्तु का कोई प्रत्यय करना हमारे लिए असम्भव है। चलिए, हम यथाशक्ति अपने से बाहर अपना ध्यान ले चलें, आकाश तक या ब्रह्माण्ड की चरम सीमाओं तक अपनी कल्पना का पीछा करें। किन्तु हम कभी अपने से बाहर वास्तव में एक कदम भी नहीं बढ़ते हैं। हम उन प्रत्यक्षों के अतिरिक्त जो इस संकुचित सीमा के अन्दर घटित होते हैं, अन्य किसी प्रकार की सत्ता का प्रत्यय नहीं कर सकते हैं। यह हमारी कल्पना का ब्रह्माण्ड है। जो यहाँ उत्पन्न होता है, उसके अतिरिक्त हमें किसी चीज का कोई प्रत्यय नहीं है[2]।"

---

१. मानव स्वभाव पर एक प्रबन्ध, परिशिष्ट।

२, वही भाग १, खण्ड २, अधिकरण ६।

वास्तव में ह्यूम मानता है कि हम प्रत्यक्ष से या युक्ति से अपने संस्कारों और प्रत्ययों के अतिरिक्त किसी बाह्य वस्तु को सिद्ध नहा कर सकत हैं। यहाँ तक वह बकले के साथ सहमत है। वह बर्कले की भाँति मानता है कि द्रव्य का प्रत्यय कुछ संस्कारों और प्रत्यक्षों क सघात के अतिरिक्त कुछ नहीं है। जब हम किसी बाह्य वस्तु को सोचते हैं तब उसको हम केवल प्रत्ययपुंज पाते हैं। किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता कि बाह्य वस्तुएं नहीं हैं। इससे इतना ही सिद्ध होता है कि उनके वास्तविक रूप का प्रत्यय नही किया जा सकता है। फिर ह्यूम इसस निष्कष निकालता है कि बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व में नैसगिक विश्वास करना चाहिए। 'सशयवादी को·········बाह्य वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार करना आवश्यक है, यद्यपि वह इसकी प्रामाणिकता को दर्शनशास्त्र के किन्ही तर्कों से सिद्ध नही कर सकता है। प्रकृति ने इसको उसकी स्वेच्छा या पसन्द पर नही छोड़ रखा है। उसने निःसन्देह इसको अनिश्चित तर्कों और चिन्तनों के भरोसे पर छोड़ने के योग्य विषय नहीं समझा है। हम प्रश्न कर सकते हैं—"बाह्य वस्तु के अस्तित्व मे हमारा विश्वास कौन-कौन कारण उत्पन्न करते है? किन्तु यह पूछना व्यर्थ है कि बाह्य वस्तु है कि नहीं? यह एक ऐसा विषय है जिसे हमें अपनी समस्त तर्कनाओं मे अवश्य स्वीकार करना है[1]।"

इस प्रकार ह्यूम मानता है कि हमारे प्रत्ययों से स्वतन्त्र बाह्य जगत् में वस्तुएँ हैं। उसके लिए यह प्रश्न करना कि क्या बाह्य वस्तुएँ हैं, व्यर्थ है। उसके लिए मुख्य प्रश्न है कि हम बाह्य वस्तुओं में क्यों विश्वास करते है। बाह्य वस्तुओं को हम पृथक् और निरन्तर विद्यमान मानते हैं। ऐसा हम क्यों मानते हैं?

इस मान्यता का कारण यह नहीं है कि हमारे बहुत-से सस्कार बहुत प्रबल हैं और हमारी इच्छा से स्वतन्त्र होकर उत्पन्न होते हैं, जैसा कि प्रायः समझा जाता है। कारण, यह स्पष्ट है कि जिन दुखों और सुखों या भावों और संवेगों को हम अपने प्रत्यक्ष से बाहर कोई सत्ता नहीं प्रदान करते हैं वे बहुत अधिक प्रबलता से और हमारी इच्छा न रहते हुए भी उत्पन्न होते हैं। हम विस्तार और आकार, वर्ण और ध्वनि, के सस्कारों का अपने प्रत्यक्षों से बाहर स्थायी अस्तित्व प्रदान करते हैं, किन्तु वे इतने प्रबल और अनिच्छापूर्वक नहीं हैं जितने हमारे भाव और संवेग हैं। अग्नि की उष्णता को हम अग्नि नामक वस्तु में विद्यमान मानते हैं। किन्तु पास जाने पर यह जो वेदना उत्पन्न करती है उसे हम सिर्फ अपने प्रत्यक्ष में विद्यमान मानते हैं[2]। किन्तु यह सब विरोधाभास है। यदि भावनाएँ मानसिक हैं तो समस्त

---

१. वही भाग १, खण्ड ४, अधिकरण २।

२. वही।

प्रत्यक्ष भी उतने ही मानसिक हैं। हम प्रत्यक्ष के आधार पर किसी बाह्य वस्तु के स्थायी अस्तित्व को सिद्ध नहीं कर सकते हैं। युक्ति या अनुमान के द्वारा भी उसका अस्तित्व नहीं सिद्ध किया जा सकता है, क्योंकि यदि युक्ति प्रत्यक्ष और वस्तु में कोई अन्तर नहीं करती है तो वह वस्तु का अस्तित्व प्रत्यक्ष से स्वतन्त्र नहीं सिद्ध करती और यदि वह दोनों में अन्तर करती है तो वह प्रत्यक्ष-जगत् से बाहर वस्तु-जगत् में किसी तरह जा ही नहीं सकती है।

ह्यूम के अनुसार कल्पना (Imagination) वस्तुओं की स्वतन्त्रता और स्थिरता का स्रोत है। वह पहले वस्तुओं की स्थिरता का विचार करता है और बाद में उनकी स्वतन्त्रता का। वस्तुओं की स्वतन्त्रता उनकी स्थिरता से सम्बन्धित है।

जिन विषयों को हम स्थिर मानते हैं उनमें हम अपरिवर्तनीयता (Constancy) और समन्वय (Coherence) गुण मानते हैं। "ये पहाड़ और मकान और पेड़ जो इस समय हमारी दृष्टि के अन्दर हैं हमें इसी क्रम में हमेशा प्रतीत हुए हैं। जब मैं आँखें बन्द कर लेता हूँ या सिर दूसरी ओर घुमा लेता हूँ और उनको आँखों से ओझल पाता हूँ तब उसके तुरन्त बाद ही वे फिर बिना किसी परिवर्तन के सामने वापस आते हैं। मेरी चारपाई और मेज मेरी किताब और कापियाँ एक ही रूप में अपने को प्रकट करती हैं। यद्यपि उनको देखने में मेरे मन में व्यवधान होता है, तथापि इस कारण उनमें कोई परिवर्तन या व्यवधान नहीं होता है।" इस प्रकार हम अपने संस्कारों में स्थिरता या अपरिवर्तनीयता पाते हैं। किन्तु यह अपरिवर्तनीयता पूर्ण नहीं है। वस्तुएँ अपनी स्थितियों को बदलती रहती हैं। किन्तु इन परिवर्तनों में एक समन्वय दीख पड़ता है। एक के परिवर्तन से दूसरी में भी तदनुरूप परिवर्तन हो जाता है। उनमें एक नियत पारस्परिक निर्भरता है जो कारणमूलक युक्ति पर आश्रित है और उनके निरन्तर अस्तित्व के सिद्धान्त को उत्पन्न करती है। "जब एक घंटे बाद मैं अपने कमरे में वापस आता हूँ तो हालांकि मैं अपनी आग को उस स्थिति में नहीं पाता हूँ जिसमें मैंने उसे छोड़ा था तो भी मैं तदनुरूप परिवर्तन उतने ही काल में अन्य वस्तुओं में भी देखने को आदी हूँ, फिर मैं चाहे उपस्थित रहूँ या अनुपस्थित, नजदीक रहूँ या दूर। अतः उनके परिवर्तनों का यह समन्वय (अनुरूपता) बाह्य वस्तुओं की एक विशेषता है और उनकी अपरिवर्तनीयता है[1]।"

संस्कारों के अपरिवर्तनीयता और समन्वय हमारे अन्दर यह विश्वास पैदा करते हैं कि वस्तुओं का अस्तित्व निरन्तर है। "जब हम कुछ संस्कारों में अपरिवर्तनीयता देखने के आदी हो जाते हैं और पाते हैं कि सूर्य या समुद्र के प्रत्यक्ष, उदाहरण

---

१ वही।

के लिए, अपनी अनुरूप वस्तुओं के साथ उस क्रम में कुछ अनुपस्थिति या नाश के बाद पुनः हमारे पास आते हैं जिस क्रम में वह पहले प्रकट हुआ था, तब हम इन व्यवधान-सहित प्रत्यक्षों को विभिन्न नहीं मानते हैं जो यथार्थतः वे हैं, किन्तु उन्हें हम तत्त्वतः उनके सादृश्य के आधार पर एकरूप मानते हैं।" "यह सादृश्य हजारों बार देखा जाता है और स्वभावतः हमारे व्यवधान-सहित प्रत्यक्षों को संयुक्त करता है और मन को एक प्रत्यक्ष से दूसरे प्रत्यक्ष तक आसानी से ले जाता है। इन विविध और व्यवधान-सहित प्रत्यक्षों के साथ कल्पना की सहज गति प्रायः मन की वही गति हो जाती है जिसके द्वारा वह किसी स्थिर और व्यवधान-रहित प्रत्यक्ष का विचार करता है। मन इन प्रत्यक्षों के क्रम को आसानी से पार कर जाता है और इन्हें एक विषय समझता है। इसलिए वह क्रम को एकता समझ लेता है।" इस प्रवृत्ति से विषयों की निरन्तर सत्ता की कल्पना उत्पन्न होती है। यह प्रत्यक्षों के व्यवधान को छिपाती है और उन्हें एकरूप सिद्ध करती है। इस प्रकार समन्वय के आधार पर सिद्ध होता है कि वस्तुओं का अस्तित्व निरन्तर है।

कल्पना के आधार पर वस्तुओ की निरन्तर सत्ता को सिद्ध करने के बाद ह्यूम उनके अस्तित्व को मन से स्वतन्त्र बताता है। वह कहता है कि प्रत्यक्ष और वस्तु की द्विविध सत्ता का सिद्धान्त दार्शनिक है। यह हमारी बुद्धि को सन्तुष्ट करता है, क्योंकि यह सिद्ध करता है कि हमारे प्रत्यक्ष विविध और व्यवधान-सहित हैं। फिर यह कल्पना को भी मान्य है कि वस्तुओं का अस्तित्व निरन्तर है। "यह दार्शनिक मत इन दो सिद्धान्तों की राक्षसी सन्तान हैं जो एक दूसरे के विपरीत है। मन दोनों को मानता है। ये दोनों एक दूसरे को नष्ट करने में असमर्थ हैं। हम इन दोनों शत्रुओं में संधि करा सकने मे असमर्थ हैं। इसलिए हम आराम से क्रमशः प्रत्येक की सब बातों को मानने का प्रयत्न करते हैं और द्विविध सत्ता की कल्पना करते हैं[1]।" इसी प्रकार बाह्य वस्तुओं को मन से स्वतंत्र मानना एक कल्पना है जो बुद्धि-संगत नहीं है। किन्तु ह्यूम बाह्य विषयो की स्थिर और स्वतंत्र सत्ता की कल्पना ही नहीं बल्कि नैसर्गिक विश्वास भी मानता है। वह दो विश्वासों को नैसर्गिक मानता है। एक, वस्तुओं की स्वतंत्र और निरन्तर सत्ता है। दो, उन वस्तुओं में कारण-कार्य का सम्बन्ध है[2]। इन विश्वासों पर वस्तु-तथ्य से सम्बंधित सभी युक्तियाँ आधारित हैं। यहाँ उपनिषद्—दार्शनिक अरुणि के सिद्धान्त के साथ ह्यूम के

१. वहीं।

२. देखिए N. K. Smith, The Philosophy of David Hume, पृ० 124.

सिद्धान्त की तुलना की जा सकती है। आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को एक बरगद का बीज लाने को कहा। जब वह बीज ले आया तब पिता ने उसे लगातार फोड़ने को कहा। वह उसको लगातार फोड़ता गया। अन्त में कुछ शेष न बचा। इस पर पिता ने कहा—"पुत्र! अब तुम कुछ नहीं देख रहे हो। किन्तु विश्वास करो, कुछ जरूर है जिससे इतना बड़ा बरगद का पेड़ उत्पन्न होता है। जो वह है वही तू है[1]।" यहाँ आरुणि ने श्वेतकेतु को तीन बातें बतायी हैं। पहली, बाह्य विषय की सत्ता है। दूसरी कारण-कार्य का सिद्धान्त सत्य है। तीसरी, जो बाह्य विषय है वही आत्मा है। इन तीनों मतों पर श्वेतकेतु को विश्वास या श्रद्धा करने को कहा गया था। ह्यूम अन्तिम मत में विश्वास नहीं करता है। किन्तु दो मतों में वह वैसा ही विश्वास करता है जैसा आरुणि ने किया था। दोनों के विचार से बाह्य वस्तु की स्वतंत्रता और स्थिर सत्ता तथा कारण-कार्य के सिद्धान्त नैसर्गिक विश्वास के विषय हैं। इस विश्वास को युक्ति से नहीं सिद्ध किया जा सकता है। किन्तु फिर भी जो युक्ति इसका खण्डन करती है वह अन्ततः इस पर ही आधारित रहती है, क्योंकि प्रत्येक युक्ति कारण-कार्य पर निर्भर रहती है और कारण-कार्य अन्ततः विश्वास के विषय हैं। इस कारण सिद्ध होता है कि यह विश्वास युक्ति से खण्डित भी नहीं होता है। यह हमारी प्राकृतिक श्रद्धा है जिसके बिना हमारा काम नहीं चल सकता है।

८ ईश्वर के प्रत्यय का खण्डन

सामान्यतः दर्शनशास्त्र के अन्दर सृष्टि-विज्ञान, अध्यात्म-विद्या और ईश्वर-विद्या (ब्रह्मविद्या) का विचार होता है। ह्यूम के अनुसार हम जगत् की स्वतन्त्र सत्ता को युक्ति से सिद्ध नहीं कर सकते यद्यपि हम उसमें विश्वास करते हैं। अतः सृष्टि-विज्ञान असम्भव है। पुनः आत्मा नामक किसी द्रव्य को हम तर्क से सिद्ध नहीं कर सकते हैं और न उसकी अमरता का ही प्रतिपादन कर सकते है। अतः अध्यात्म-विद्या भी असंभव है। अन्ततः ईश्वर के बारे में भी हम किसी चीज को युक्ति से सिद्ध नहीं कर सकते हैं। इसलिए ब्रह्मविद्या भी असंभव है। हमें ईश्वर का कोई प्रत्यय नहीं हो सकता है। "मुझे लगता है कि जो मनुष्य मानव बुद्धि की निर्बलता से तथा इसके व्यापार को संकुचित करने वाली सीमाओं से पर्याप्त परिचित है, उसे परमात्मा की सार्वभौम शक्ति और क्रिया का यह सिद्धान्त निःशंक नहीं कर सकता है ·· ······ हमारी प्रक्रिया-शैली ऐसी अतुल गहराइयों का अवगाहन करने के लिए अत्यन्त अल्प है। हम अपनी चाहे जितनी चाटुकारी करें कि हमें अपने प्रत्येक कदम पर एक प्रकार के अनुभव तथा सत्याभास का निर्देश मिलता है, हमें विश्वास

१. छान्दोग्य उपनिषद, प्रपाठक ६।

दिलाया जा सकता है कि यह काल्पनिक अनुभव प्रामाणिक नहीं हैं जब कि हम उसका प्रयोग उन विषयों पर करते हैं जो अनुभव की पहुँच से पूर्णतः परे हैं।......यह सत्य है कि हम नहीं जानते कि पिंड कैसे एक दूसरे पर प्रतिक्रिया करते हैं। उनका बल या शक्ति पूर्णतया अचिन्त्य है। किन्तु परमात्मा जैसे अपने ऊपर या पिंड पर क्रिया करता है क्या उस विधि या बल के बारे में हम उतने ही बड़े अज्ञानी नहीं हैं ? मेरा विनम्र प्रश्न है कि आप इसके प्रत्यय को कहाँ से प्राप्त करने हैं ? अपने अन्दर हमें इस शक्ति की कोई भावना या चेतना नहीं मिलती हैं। अपनी इन्द्रियों के ऊपर मनन करने से हम जो सीखते हैं उसके अतिरिक्त हमें परमतत्त्व का कोई प्रत्यय नहीं मिलता है। अतः यदि किसी वस्तु के निराकरण के लिए हमारा अज्ञान प्रमाण है तो जैसे हम स्थूलतम भूततत्त्व से समस्त शक्ति का निराकरण करते हैं वैसे ही हमें परमतत्त्व की समस्त शक्ति का निराकरण करना चाहिए। निश्चय ही जैसे पहले की क्रियाओं के बारे में वैसे ही दूसरे की भी क्रियाओं के बारे में हमें ज्ञान नहीं हैं। क्या यह अवधारणा कि गति प्रेरणा (Impulse) से उत्पन्न हो सकती है, इस अवधारणा से अधिक है कि गति इच्छा से उत्पन्न हो सकती है। दोनों उदाहरणों में हम जो जानने हैं वह हमारा पूर्ण अज्ञान है[1]।"

ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए जितनी युक्तियाँ दी जाती हैं वे सब गलत हैं। वे सभी युक्तियाँ कारणता पर निर्भर हैं और कारणता प्रत्यक्षों या प्रत्ययों का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध के आधार पर उस वस्तु की सत्ता नही सिद्ध की जा सकती है जो परिभाषा या प्रत्यक्ष के बाहर है। हम दृष्ट अनुभव के आधार पर एक दृष्ट विषय से दूसरे दृष्ट विषय का अनुमान करते हैं। दृष्ट विषय से अदृष्ट ईश्वर का अनुमान नहीं हो सकता है।

किन्तु ह्यूम ईश्वर के अस्तित्व का खंडन नहीं करता है। उसने कभी ईश्वरीय वचन का खंडन नहीं किया। वह सिर्फ यह कहता है कि प्रत्यक्ष और युक्ति से ईश्वर के स्वभाव को जाना नहीं जा सकता है। वह अज्ञेयवादी है। ईश्वर को मनुष्य के सदृश नहीं समझा जा सकता है। मनुष्य का मन सदा परिवर्तनशील है। किन्तु ईश्वर को परिवर्तनशील नहीं माना जा सकता है। ईश्वर को हम सभी उत्कृष्ट गुणों का आकर नहीं कह सकते क्योंकि हमें उनके समन्वय का ज्ञान नहीं हो सकता है।

ह्यूम के मत से धर्म की जड़ भावना है। वह ईश्वरनिमित्तवाद (डीज्म) का खण्डन करता है जिसके अनुसार धर्म की जड़ ज्ञान या जिज्ञासा है। उसके अनुसार भविष्य के बारे में चिन्ता और आशा ईश्वर के विश्वास को उत्पन्न करती हैं। फिर

१. मानव बुद्धि से सम्बन्धित एक विमर्श, अध्याय १७।

जिन युक्तियों पर ईश्वरवादी ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करते हैं उनका भी वह खण्डन करता है। इसलिए उसको ईश्वरनिमित्तवाद को नष्ट करने वाला दार्शनिक कहा गया है[१]।

ह्यूम ने धर्म-भावना के विकास पर ग्रन्थ लिखे हैं। उसके मत से सबसे पहले बहुदेववाद के रूप में धर्म प्रकट होता है। यही मौलिक धर्म है। एकेश्वरवाद मौलिक धर्म नहीं है। वह बहुदेववाद से विकसित हुआ है। किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता है कि एकेश्वरवाद सर्वथा बहुदेववाद से उत्तम है। वह बहुदेववाद से अधिक असहिष्णु है। वह अपने अनुयायियों को कमीना और अन्धविश्वासी बना देता है। एकेश्वरवाद और बहुदेववाद दोनों में चमत्कार-महत्त्व, कट्टरता, मूर्खतापूर्ण प्रथाओं की मान्यता तथा अन्धविश्वास के दोष रहते हैं।

विश्वास की व्याख्या

ह्यूम के दर्शन में संशयवाद और विश्वास दोनों की धाराएँ साफ-साफ बहती हैं। वह बुद्धि से संशयवादी होता हुआ भी कल्पना से वस्तुवादी है, क्योंकि वह दो प्राकृतिक विश्वासों को वैसे ही मानता है जैसे अपने संस्कारों को। ये दो प्राकृतिक विश्वास बाह्य वस्तु की सत्ता और कारणता के बारे में हैं। विश्वास के बारे में वह कहता है—"यदि विश्वास चिंतन का कोई साधारण कर्म होता, यदि उसका ज्ञान एक विचित्र ढंग से न होता, यदि उसमें प्रबलता और सजीवता का अतिशय न होता, तो वह स्वयं अपने को अचूक ढंग से नष्ट कर देता और हर मामले में सम्पूर्ण सन्देह में अन्त हो जाता। किन्तु जो भी मनुष्य सोचने का प्रयास करेगा उसको अनुभव पूरी तरह से बतायेगा कि वह उपर्युक्त युक्तियों में (संशयवाद सिद्ध करने वाली युक्तियों में) कोई गलती नहीं पाता है, तथापि वह सदा की भाँति विश्वास करता है, चिंतन करता है और युक्ति करता है। वह आराम से यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि उसका तर्क और विश्वास संवेदना या ज्ञान का कोई विचित्र प्रकार है, जिसको ध्वंस करना केवल प्रत्ययों और विचारों के लिए असम्भव है[२]।"

प्रकृति ने मनुष्य को विश्वास का वरदान दिया है। इसका खंडन बुद्धि नहीं कर सकती है। यह विश्वास क्या है? ह्यूम कहता है कि विश्वास की परिभाषा देना उतना ही व्यर्थ है जितना क्रोध या शीतलता की भावना की परिभाषा देना। किन्तु इसका वर्णन (Description) किया जा सकता है।

"केवल कल्पना जितना कभी नहीं प्राप्त कर सकती उतने से अधिक स्पष्ट, सजीव प्रबल, दृढ़, स्थिर, अधिक विषय-ज्ञान प्राप्त करने के अतिरिक्त विश्वास और

---

१. History of Modern Philosophy; Falckenberg, पृ० 228.

२. मानव स्वभाव पर एक प्रबन्ध भाग १, खण्ड ४, अधिकरण।

कुछ नहीं है। ...... विश्वास प्रत्ययों का विचित्र स्वभाव या विन्यास नहीं है, किन्तु उनके ज्ञान की प्रणाली है और मन की भावना है। मैं मानता हूँ कि इस भावना या ज्ञान-प्रणाली की पूरी व्याख्या करना असम्भव है।....... विश्वास मन के द्वारा अनुभव की गई कोई चीज है जो कल्पना के गल्पों से परामर्श (निर्णय) के प्रत्ययों को भिन्न करती है। यह उनको अधिक गौरव और प्रभाव देता है, उनको अधिक महत्त्व पूर्ण बनाता है, मन में उनको दृढ़ करता है और उन्हें हमारे कार्यों का कार्य-सूत्र बनाता है[1]।" इस प्रकार केवल कल्पना या गल्प और विश्वास में अन्तर है। विश्वास कल्पना से अधिक प्रबल, दृढ़ और सजीव है। यह एक भावना है जो स्वयं अपने को प्रमाणित करती है और दूसरे प्रत्ययों के सम्बन्ध को भी सत्यापित करती है। उदाहरण के लिए हम किसी मनुष्य के धड़ पर एक शेर का चेहरा कल्पित कर सकते हैं। किन्तु इस कल्पना को विश्वास सत्यापित नहीं करता है। इसलिए यह कल्पना अवास्तविक है। मनुष्य के धड़ पर मनुष्य के चेहरे का संयोग एक वास्तविक मनुष्य का ज्ञान कराता है। इस ज्ञान को विश्वास की सहमति है। इसलिए यह सही ज्ञान है। इस प्रकार विश्वास कोरी कल्पना और यथार्थ निर्णय को भिन्न करता है।

विश्वास एक भावना के अतिरिक्त ज्ञान का एक प्रकार भी है। यह ज्ञान-प्रणाली हमें कारणता और बाह्य वस्तु का ज्ञान देती है। इसके आधार पर हम भविष्य के बारे में अनुमान करते हैं। वस्तु-तथ्य से सम्बन्धित समस्त ज्ञान का यही आधार है। इस विश्वास को बनाने में परम्परा या प्रथा का योगदान है। हम जिस प्रकार स्वभावतः किसी कारण से उसके कार्य की ओर झुकते हैं वह प्रकार हमारी आदत से बना है। हमारी आदत ही वह प्रथा है जो हमें कारणता में विश्वास दिलाती है। इसलिए ह्यूम प्रथा को मानव जीवन का बहुत बड़ा गुरु मानता है।

किन्तु अभी तक जो कुछ कहा गया है वह सिर्फ प्राकृतिक विश्वास के बारे में सही है। उसके अतिरिक्त जितने अन्य विश्वास हैं उन्हें ह्यूम शिक्षा से उत्पन्न मानता है। शिक्षा विश्वासों का एक कृत्रिम कारण है, न कि स्वाभाविक कारण। हमारे सीखे हुए बहुत-से विश्वास युक्तिहीन हैं। उनको अनुभव से दूर करना चाहिए। किन्तु प्राकृतिक विश्वास हमारे सीखे हुए विश्वासों से भिन्न है। प्राकृतिक विश्वास का कारण स्वयं प्रकृति है या हमारी मानव प्रकृति है। इस तरह प्राकृतिक विश्वास सभी सीखे हुए विश्वासों से भिन्न हैं। सीखे हुए विश्वास ही अन्धविश्वास होते हैं। इसलिए प्राकृतिक विश्वास अन्धविश्वास नहीं है। वह युक्तिहीन नहीं है, बल्कि युक्तियों का आधार है।

---

१. मानव बुद्धि से सम्बन्धित एक विमर्श, अध्याय ५।

यद्यपि विश्वास में भावात्मक और ज्ञानात्मक दोनों अंश हैं, तथापि वह हमारे ज्ञान अंश की अपेक्षा हमारे भावात्मक अंश की क्रिया अधिक है।

विश्वास कल्पना के माध्यम से अपना काम करता है। वह बुद्धि (Reason) के माध्यम से काम नहीं करता है। यह कल्पना शिक्षित और अशिक्षित दोनों मनुष्यों के लिए एकसमान है। इसलिए सभी मनुष्य प्राकृतिक विश्वास में प्रतिपन्न हैं। मनुष्य का मन स्वभावतः बाह्य वस्तुओं के अस्तित्वों में और कारणता मे विश्वास करता है। यह स्वाभाविक विश्वास है, न कि बौद्धिक विश्वास। यह अन्तर्दृष्टि या प्रमाण पर नहीं आधारित है। यह कल्पना पर आधारित है या प्राकृतिक नियोग हैं। प्रकृति स्वयं इसको उचित ठहराती है।

११ ह्यूम का संशयवाद

ह्यूम के दर्शन की सभी प्रवृत्तियों पर विचार करने पर पता चलता है कि उसका दर्शन भाववाद (Positivism), प्रकृतिवाद (Naturalism) और मानववाद (Humanism) है। वह भाववाद है क्योंकि वह अनुभव पर आधारित है जो किसी भाव का ही ज्ञान देता है। वह प्रकृतिवादी है क्योंकि वह प्राकृतिक विश्वास को मानता है और अन्ततः वह मानववादी है क्योंकि वह एकमात्र मानव अनुभव को मानता है और उसके भावना-पक्ष पर बल देता है। किंतु इतना होने पर भी उसके दर्शन का सम्बन्ध संशयवाद से जुड़ा हुआ है। अधिकांश लोग उसको विशुद्ध संशयवादी मानते हैं। किन्तु यदि उसके प्राकृतिक विश्वास के सिद्धान्त को ध्यान में रखा जाय तो उसे विशुद्ध संशयवादी नहीं कहा जा सकता है। किन्तु फिर भी कुछ-न-कुछ संशयवाद उसके दर्शन की मुख्य शिक्षा है। अब देखना है कि उसका संशयवाद क्या है ?

ह्यूम अपने दर्शन का आरम्भ इस इरादे से करता है कि हमें अपनी इन्द्रियों पर विश्वास करना चाहिए। इन्द्रियों से साक्षात् जो उपलब्ध होता है उसको वह संस्कार कहता है। वह जितना विचार करता है उतना ही वह प्रत्येक वस्तु के ज्ञान को इन संस्कारों से निर्मित पाता है। किंतु ये संस्कार पृथक्-पृथक् है और उनमे कोई शृंखला या सम्बन्ध नहीं है। जब ह्यूम इन निष्कर्षों पर पहुँचता है तो वह देखता है कि इन्द्रियों और बुद्धि दोनों के द्वारा किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता है। इस तरह जहाँ तक वस्तुओं की स्वतंत्र सत्ता का प्रश्न है वहाँ तक इन्द्रियाँ और बुद्धि हमें सन्देह में छोड़ती हैं। ह्यूम इसको स्वीकार करता है और इसे एक रोग समझता है। इस रोग का निदान उसके मत से लापरवाही और ध्यान की कमी है। "बुद्धि और इन्द्रियों के ऊपर यह संशयवादी सन्देह एक रोग है जो जड़ से कभी नष्ट नहीं हो सकता है।

हम चाहे जितना इसको भगाये या कभी-कभी चाहे हम अपने को इससे पूर्ण मुक्त समझ लें, किन्तु यह प्रतिक्षण हमारे पास आता रहता है। किसी भी दर्शन के आधार पर बुद्धि या इन्द्रियों का पक्ष लेना असंभव है। जब हम उनके पक्ष में प्रमाण देने चलते हैं तब हम उन्हें और अधिक कमजोर पाते हैं। चूँकि विषयों पर गम्भीर और प्रगाढ चिन्तन करने से यह संशयवादी सन्देह उत्पन्न होता है इसलिए हम चाहे इसके पक्ष में तर्क करें या विपक्ष में, किन्तु जैसे-जैसे हम चिन्तन करते जाते हैं वैसे वैसे यह बढता है। लापरवाही और ध्यान की कमी ही हमें इसकी दवा दे सकती हैं। इस कारण मैं बिलकल उन पर निर्भर करता हूँ[१]।"

इस प्रकार ह्यूम अपनी आरम्भिक रचना, **'मानव स्वभाव पर एक प्रबन्ध'** में स्पष्टतः संशयवादी है। किन्तु **'मानव बुद्धि से सम्बन्धित एक विमर्श'** में उसने संशयवाद को छोड दिया। वहाँ वह मानता है कि बुद्धि हमें संख्या या मात्रा के बारे में पूर्ण निश्चय दे सकती है। फिर वह मानता है कि पूर्ण संशयवाद जिसे वह पिरोवाद कहता है, क्षणिक, व्यर्थ और हानिकारक है। वह प्राकृतिक विश्वास को मानता है। इस तरह **'मानव बुद्धि से सम्बन्धित एक विमर्श'** में ह्यूम अनुग्र या विनम्र या नरम संशयवाद (Mitigated Scepticism) को मानता है। इसको वह शास्त्रीय संशयवाद (Academic scepticism) भी कहता है। इस नरम संशयवाद में दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं :—

(क) रूढिवाद से बचने के लिए नरम संशयवाद की आवश्यकता है। यह दर्शनशास्त्र के अनुशीलन की पहली सीढी है। इससे हम सीखते हैं कि हमें पूर्वाग्रहों से उन्मुक्त होना चाहिए, अपने निर्णयों में निष्पक्ष होना चाहिए और अपना मत स्थापित करने में जल्दबाजी और असावधानी नहीं करनी चाहिए। और, अगर कोई विद्वान स्वभाववश अहंकारी और जिद्दी हो जाय तो पिरोवाद का थोडा इंजेक्शन उसके अहंकार को दूर कर देगा। यह उसको बतायेगा कि मानव स्वभाव के साथ अज्ञान का स्वाभाविक गठबंधन है और वह अपने साथियों से अधिक ज्ञानी होने का जो दावा करता है वह वास्तव में नगण्य है। संक्षेप में "नम्रता,

---

१. मानव स्वभाव पर एक प्रबन्ध, भाग १, खण्ड ४, अधिकरण २।

२. पिरो (Pyrroh) एक यूनानी दार्शनिक है जिसका समय लगभग ३६५ ई० पू० है। वह पूर्ण संशयवादी था। उसका कहना था कि वस्तुओं का सच्चा ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है। ज्ञानी मनुष्य सभी विषयों पर अनिश्चय की दशा में रहते हैं और वे सभी भावनाओं और जिज्ञासाओं से बचकर अबाध सुख (Ataraxy) प्राप्त करते हैं।

३. वही।

४. वही अध्याय १।

सावधानी और सन्देह की कुछ मात्रा तार्किक के पास सभी प्रकार के निश्चय और निर्णय में सदा एकसाथ रहनी चाहिए[1] ।"

(ख) विनम्र संशयवाद की आवश्यकता मानव बुद्धि के विषयों को उपयुक्त ढंग से सीमित करने में है । मानव बुद्धि के विषय सीमित हैं । वह साधारण जीवन में जो अनुभव प्राप्त करती है केवल उसको सुव्यवस्थित तथा संशोधित कर सकती है । फिर, मानव बुद्धि जिन अल्प विषयों को जानती है उन सब का प्रामाण्य एक-सा नहीं है । गणित के वाक्यों का ज्ञान पूर्ण निश्चित है । किन्तु वस्तु-तथ्य का ज्ञान पूर्ण निश्चित नहीं है । हम गणित के नियमों का विस्तार वस्तु-तथ्य के निरूपण में नहीं कर सकते हैं । अन्ततः बुद्धि की कई शक्तियाँ हैं जिनके अपने-अपने विषय हैं । प्रत्येक शक्ति केवल अपने विषयों तक ही सीमित है । प्रत्यक्ष से केवल संस्कार और प्रत्ययों के ज्ञान हो सकते हैं । बुद्धि से यथार्थतः मात्रा या संख्या के बारे में निश्चित तर्कनाएँ हो सकती हैं । किन्तु बुद्धि से वस्तु-तथ्य के बारे में कोई निर्णय नहीं हो सकता है । वस्तु-तथ्य के बारे में जो निर्णय होता है वह कल्पना पर आधारित है । कल्पना प्राकृतिक विश्वास के द्वारा उनके बारे में निर्णय करती है ।

इस प्रकार ह्यूम विनम्र संशयवाद को मानता है । वह कहता है—"अच्छा हो यदि संशयवादी अपने उपयुक्त क्षेत्र में रहे और उन दार्शनिक आपत्तियों को दिखलाये जो उसकी गहरी खोज से निकलती हैं । यहाँ उसके जीत की बहुत सामग्री है । वह ठीक-ठीक कह सकता है कि वस्तु-तथ्य के लिए हमारा समस्त प्रमाण जो प्रत्यक्ष या स्मृति के साक्ष्य से बाहर है, कारण-कार्य के सम्बन्ध से पूर्णतः निकलता है और इस सम्बन्ध का केवल यही प्रत्यय हमारे पास है कि ये दोनों विषय (अर्थात् कारण और कार्य) बार-बार संयुक्त हैं । वह कह सकता है कि जो विषय हमारे अनुभव में बार-बार संयुक्त हुए हैं, वे इसी तरह अन्य उदाहरणों में भी संयुक्त होंगे । हमें ऐसा सन्तोष कोई युक्ति नहीं दे सकती । यह अनुमान हम केवल प्रथा (Custom) या अपनी मूल प्रवृत्ति के द्वारा करते हैं । इसका विरोध करना कठिन है । किन्तु अन्य मूल प्रवृत्तियों की तरह यह भी गलत और धोखेबाज हो सकती है । जब संशयवादी इन विषयों पर बल देता है तो वह अपने बल का और हमारी कमजोरी का परिचय देता है । वह समस्त निश्चय और प्रमाण को नष्ट करता प्रतीत होता है[2] ।"

किन्तु ह्यूम विनम्र संशयवाद को प्राकृतिक विश्वास से अनुपूरित करता है । वह मानता है कि पिरोवाद का जबर्दस्त खंडन साधारण जीवन के कारोबार, व्यवसाय तथा कर्म करते हैं । संशयवादी के आचरण और लोक-व्यवहार उसके पूर्ण

१. मानव बुद्धि से सम्बन्धित एक विमर्श, अध्याय १२ ।
२. वही ।

संशयवाद का खंडन करते हैं। वह अपने अध्ययन के कमरे में पूर्ण संशयवादी हो सकता है। किन्तु जब वहाँ से वह बाहर आता है और जीवन में काम करता है तो वह अपनी किताबों के साथ अपने पूर्ण संशयवाद को भी कमरे में ही बन्द कर रखता है। फिर, "प्रकृति हमेशा अपने अधिकारों को सुरक्षित रखेगी और सभी प्रकार के अमूर्त चिन्तनों को अन्ततोगत्वा परास्त कर देगी[1]।" इस प्रकार प्रकृति पूर्ण संशयवाद का उच्छेद करती है। किन्तु ह्यूम इससे मानता है कि प्रकृति में विश्वास अपनी जगह है, वस्तु-तथ्य के बारे में हमारा ज्ञान अपनी जगह है और गणित का पूर्ण निश्चित ज्ञान अपनी जगह है। वह कहता है कि यदि कोई वस्तु-तथ्य के बारे में पूर्ण निश्चय-ज्ञान प्राप्त करना चाहता है तो उसे परिश्रम न करना चाहिए क्योंकि उसे संशयवाद ही हाथ लगेगा। अतः वस्तु-तथ्य के ज्ञान के सम्बन्ध में ह्यूम ने संशयवाद को प्रस्तावित किया है।

किन्तु ह्यूम से लेकर आज तक विज्ञान की जो प्रगति हुई है और वस्तु-तथ्य के निश्चित ज्ञान में जो वृद्धि हुई है उससे ह्यूम का विनम्र संशयवाद भी गलत सिद्ध हो जाता है। विज्ञान ने संशयवाद का उच्छेद कर दिया है। जिन प्रत्यक्ष-वादियों ने सुसंगत ढंग से संशयवाद को प्रस्तावित किया था उनको विज्ञान से पराजय सहनी पड़ी। यह उनकी इतनी बड़ी पराजय थी कि आज तक वे इसके चंगुल से छूटे नहीं हैं। किन्तु अब वे खीझकर कहने लगे हैं कि दर्शनशास्त्र को विज्ञान की सेवा करनी चाहिए क्योंकि इसके अतिरिक्त वह कुछ नहीं कर सकता है। हम जिससे पहले हार खाते हैं बाद में विवश होकर उसकी सेवा करने लगते हैं। यदि प्रत्यक्षवाद आज ऐसा कर रहा है यानी विज्ञान की सेवा-नौकरी कर रहा है तो कुछ अस्वाभाविक नहीं है, क्योंकि वह विज्ञान से पराजित हो गया है।

१७ ह्यूम का प्रभाव

ह्यूम को अँग्रेज दार्शनिकों में सबसे बड़ा दार्शनिक माना जाता है। जितने दार्शनिकों ने अँग्रेजी में लिखा है उन सब में जितना प्रभाव ह्यूम की पुस्तकों का है उतना किसी दूसरे की पुस्तकों का नहीं है। उसके विचार, उसकी भाषा और उसकी शैली तीनों जितने स्पष्ट और विश्लेषणात्मक हैं उतना अन्यत्र पाना कठिन है।

इंग्लैण्ड में ह्यूम का प्रभाव दो प्रकार का है। सर्वप्रथम ह्यूम के समय में कुछ लोग उसके संशयवाद से प्रभावित हुए और उसका उत्तर देने के लिए लोकमत के आधार पर एक दर्शन बनाया जिसे स्काट-दर्शन कहा जाता है। टामस रीड इसका संस्थापक है। उसने लिखा है—"जब तक १७३९ में **'मानव स्वभाव पर एक प्रबन्ध'** नहीं प्रकाशित हुआ था तब तक मैं उन सिद्धान्तों पर लेशमात्र भी सन्देह नहीं करता था जिनको सामान्यतः लोकमत में मान्यता मिली है।" उसने ह्यूम के संशय-

---

[1] वही, अध्याय १।

वाद का खण्डन किया और लोकमत की इस मान्यता को सिद्ध किया कि बाह्य वस्तुएँ हैं और हमें उनका प्रामाणिक ज्ञान होता है । जेम्स बीएटी, जेम्स आसवाल्ड, डुगाल्ड स्टिवर्ट और टामस ब्राउन अन्य स्काट दार्शनिक हैं जिन्होंने रीड की परम्परा का निर्वाह किया है ।

दूसरे, इंग्लैण्ड में ह्यूम के पक्ष में भी बहुत-से दार्शनिक होते रहे हैं । स्वयं स्टाक दार्शनिक टामस ब्राउन ह्यूम के प्रत्यक्षवाद को मानता था । जेम्स मिल, जेरमी बेन्थम और जान स्टुअर्ट मिल उसके प्रत्यक्षवाद और उपयोगितावाद के उन्नायक हैं । बेन्थम ने लिखा है—"ज्योंही मैंने **मानव स्वभाव पर एक प्रबन्ध** का तीसरा भाग पढ़ा त्योंही ऐसा लगा मानो मेरी आँखों का संतुलन भंग हो गया । तब पहले पहल मैंने सीखा कि लोगों के प्रेरक-हेतु को सद्‌गुण का हेतु कहना चाहिए ।" जान स्टुअर्ट मिल ने लिखा है कि ह्यूम ने लाक के दर्शन को इतनी पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया कि वह सदैव एक प्रतिक्रिया उकसाता रहेगा । इस प्रकार स्काट-दर्शन के बावजूद भी ह्यूम का प्रभाव इंग्लैण्ड में बढ़ता गया । बीसवीं शताब्दी में तो इंग्लैंड के प्रमुख दार्शनिक गण ह्यूम के मत का प्रतिपादन कर रहे हैं । बर्टेण्ड रसल को आधुनिक ह्यूम कहा जाता है । ए०जे० एयर को भी आधुनिक ह्यूम की संज्ञा आसानी से प्रदान की जा सकती है । इन दार्शनिकों ने ह्यूम के भाववाद और प्रत्यक्षवाद को उसकी पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है । ये ह्यूम के प्राकृतिक विश्वास और भावना-वाद को महत्त्व नहीं देते हैं । जिन विषयों की प्रत्यक्षवादी व्याख्या ह्यूम ने नहीं की थी, उनकी वैसी व्याख्या इन लोगों ने कर दी है ।

फ्रांस और जर्मनी में भी ह्यूम का बहुत प्रभाव पड़ा है । जिस समय इंग्लैंड में उसकी आलोचना हो रही थी उस समय वहाँ उसके दर्शन का सहानुभूतिपूर्वक अध्ययन हो रहा था । कांट ने लिखा है, "रीड, आस्वाल्ड बीएटी और यहाँ तक कि प्रीस्टले भी ह्यूम की समस्या को समझ नहीं सके । उसके मत से ह्यूम का अभिप्राय वस्तुओं की स्थिति को और उत्तम ढंग से स्थापित करना है । जहाँ तक लोकमत या लोक-विश्वास की बात है, वहाँ तक तो स्वयं ह्यूम ही उनको मानता है और उसके बल पर वस्तुओं के अस्तित्व को मानता है[१] । स्वयं कांट ह्यूम के ग्रन्थ '**मानव स्वभाव-पर एक प्रबन्ध**' से अधिक प्रभावित था । उसने लिखा है—"मैं ईमानदारी से मानता हूँ कि डेविड ह्यूम की शिक्षा का कुछ वर्ष पूर्व मैंने जो अनुशीलन किया उसने मेरी रूढ़िवादी निद्रा को भंग कर दिया और मेरी दार्शनिक गवेषणाओं को एक बिलकुल नयी दिशा दी ।" जब कांट की निद्रा भंग हुई और उसने अपने

---

१. कांट का प्रोलेगोमेना ।

२. वही ।

चिन्तन को एक नयी दिशा दी तब उसने वस्तुओं की स्थिति को और उत्तम ढंग से स्थापित करने का प्रयास किया। उसने दिखलाया कि दृश्य वस्तुओं की रचना मे हमारे ज्ञान का बड़ा योगदान है। ह्यूम ने जिन प्रत्यक्षों को असम्बन्धित छोड़ रखा था उनको उसने बौद्धिक सम्बन्ध में या वर्गणाओं से सम्बन्धित दिखलाया। किन्तु उसका मत भी दृश्यतावाद (Phenomenalism) ही है, यद्यपि उसका आधार बुद्धिवाद है। इस तरह ह्यूम ने जो दृश्यतावाद चलाया वह प्रत्यक्षवादियों और बुद्धिवादियों दोनों से सम्मानित हुआ और दोनों ने अगोचरवाद (Transcendentalism) को दशन के क्षेत्र से बहिष्कृत कर दिया।

कांट के बाद जर्मनी में स्पिनोजा का प्रभाव बढ़ा और उसके प्रभाव के कारण प्रत्ययवाद और आदर्शवाद पनपा जिसकी पराकाष्ठा हेगल के दर्शन मे हुई। हेगल का प्रभाव १९वीं शताब्दी में सबसे अधिक था। वह उस शताब्दी का सबसे बड़ा दार्शनिक माना जाता है। उसका प्रभाव इंग्लैड, फ्रास, इटली, अमरिका और भारत पर भी पड़ा और इन-इन देशों म प्रत्ययवाद का खूब प्रचार हुआ। इस प्रत्ययवाद की तुलना हम भारतीय ब्रह्मवाद या वदान्त स कर सकते हे। डकाट का आत्मवाद, स्पिनोजा का द्रव्यवाद, बर्कल का सत्य दृश्य सिद्धान्त और लाइबनीज का चेतनाणुओं के तारतम्य का सिद्धान्त हगल और उसके अनुयायियो क दर्शन म बहुत महत्त्वपूर्ण और रचनात्मक सिद्धान्त हे। किन्तु इस प्रत्ययवाद के लबे प्रचार के बाद ही इसका पतन आस्ट्रिया और जमर्नी और इग्लैड म शुरू हुआ। जसे प्रत्ययवाद का बुद्धिवादी दार्शनिकों पर बहुत रचनात्मक प्रभाव पड़ा था, वस प्रत्ययवाद के विरोध में बीसवीं शताब्दी मे जो दशन पनपा उस पर लाक, बकले और ह्यूम का रचनात्मक प्रभाव पड़ा है। उसको नवीन भाववाद, नवीन प्रत्यक्षवाद या दृश्यतावाद कहा जाता है। बहुत कुछ यह ह्यूम के दर्शन का ही विकास है। इसलिए प्रत्ययवादी कहते हैं कि ह्यूम और कांट क सम्बन्ध को न समझने के कारण ही यह दृश्यतावाद फैला है। उनके मत से बीसवीं शताब्दी का दर्शन पुनः कांट-पूर्व युग मे चला गया है। ह्यूम के दर्शन के विरोध में जितने दर्शन पनपते हैं वे सब यथासमय क्षीण हो जाते हैं। किन्तु ह्यूम का दर्शन अपनी जगह बना है और अपने अनुयायियो तथा विरोधियों दोनो को सदा प्रभावित करता रहा है। यदि यह एक महान् दार्शनिक की कसौटी है, तो निःसन्देह ह्यूम एक महान् दार्शनिक है और इस अर्थ में उससे बड़ा दार्शनिक पाना यदि असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य है।

अध्याय ८

कांट का आलोचनावाद

१ कांट का जीवनवृत्त

कांट आधुनिक युग का सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक है। उसका पूरा नाम इमैनुअल कांट है। उसका जन्म २२ अप्रैल सन् १७२४ ई० को कोनिग्सबर्ग, प्रशिया में हुआ था। उसका पिता स्काट जाति का था और पेशे से मोची का काम करता था। उसकी माँ एक धार्मिक और भक्त महिला थी। जब वह १३ वर्ष का था तब उसकी माँ की मृत्यु हो गयी और जब वह २२ वर्ष का था तब उसके पिता भी इस लोक से चल बसे। उसका पिता इतना निर्धन था कि सरकारी खर्चे से उसका अन्तिम संस्कार किया गया था।

कांट की शिक्षा धर्मशास्त्र के प्रोफेसर प्रो० शुल्ज की देखभाल में हुई। पहले उसकी शिक्षा प्रारम्भिक पाठशाला में हुई जहाँ उसे लातीनी भाषा और साहित्य का ज्ञान हुआ। १७४० में वह कोनिग्सबर्ग के विश्वविद्यालय में भर्ती हुआ और वहाँ १७४९ तक गणित, भौतिक विज्ञान, तर्कशास्त्र आदि विषय पढ़ता रहा। वहीं उसने प्रो० नुटजेन से न्यूटन के भौतिक विज्ञान और वुल्फ़ के दर्शन का गहरा अध्ययन किया। गरीब विद्यार्थी होने के कारण उसे अपनी जीविका के लिए ट्यूशन करना पड़ता था। १७४७ से १७५४ तक वह प्राइवेट ट्यूटर था। इसी बीच उसने अनुसंधान-कार्य किया और १७५५ में डॉक्टर की उपाधि ली। उसके शोध-प्रबन्ध का विषय 'अग्नि' था और वह लातीनी में लिखा गया था।

१७५५ में कांट कोनिग्सबर्ग विश्वविद्यालय में लेक्चरर नियुक्त हुआ। इस पद पर वह १५ वर्ष रहा और तर्कशास्त्र तथा तत्त्वदर्शन के अतिरिक्त गणित, विज्ञान भौतिक भूगोल, नृतत्त्वविज्ञान और दुर्गविज्ञान पढाता रहा। १७७० में उसे तर्कशास्त्र और तत्त्वदर्शन का प्रोफेसर बनाया गया। १७८६ में वह कुलपति हुआ। १७९७ में उसने विश्वविद्यालय की सेवा से अवकाश लिया। १२ फरवरी १८०४ को उसका देहपात हुआ और २८ फरवरी को उसका शव प्रोफेसरों के कब्रिस्तान में दफनाया गया। जन्म से लेकर मृत्यु तक कांट कोनिग्सबर्ग में ही रहा, उसे छोड़कर वह कभी

कहीं नहीं गया। इस कारण उसे प्रायः कोनिंग्सबर्ग का ऋषि कहा जाता है। वह एकान्त-सेवी था।

कांट आजीवन अविवाहित था। जब वह ७४ वर्ष का था तब उसने एक मित्र से मजाक में कहा था, "जब मैं पत्नी रखना चाहता था तब मैं उसका खर्च बर्दाश्त करने की स्थिति में नहीं था और जब मैं उस स्थिति में हुआ तब मेरे लिए पत्नी का कोई उपयोग ही नहीं रहा।" इस कारण वह विवाह न कर सका। वैसे वह विवाह-संस्था की अवहेलना नहीं करता था और नवयुवकों को विवाह करने का परामर्श देता था।

कांट का अधिकांश जीवन गरीबी में बीता। किन्तु अपने जीवन के अन्तिम २० वर्षों में वह काफी खुशहाल था। उस समय उसका अपना निजी मकान था और वह नित्य कुछ मेहमानों के साथ भोजन करता था। १७६२ से उसने मार्टिन लैम्पे नामक एक व्यक्ति को नौकर रखा जो ईमानदार, शराबी, जिद्दी और झगड़ालू था। अपने मरने के दो साल पहले उसने लैम्पे को बरखास्त कर दिया था, लेकिन मरते समय उसने लैम्पे के नाम कुछ रुपयों की वसीयत की थी।

कांट का जीवन बहुत नियमित था। प्रतिदिन उसकी एक-सी ही दिनचर्या रहती थी—प्रातःकाल ५ बजे के पहले उठना और ठीक ५ बजे तैयार होकर अध्ययन-कक्ष में बैठ जाना। फिर कलेवा लेना, ध्यान करना और लेक्चर तैयार करना तथा ठीक ७ बजे लेक्चर देने विद्यालय पहुंच जाना। फिर ९ बजे घर लौटना और वहाँ पौने एक बजे तक अध्ययन करना। १ बजे भोजन करना और तत्पश्चात् ४-५ बजे तक अतिथियों के साथ सामयिक विषयों पर विचार-विनिमय करना। शाम को पर्यटन करना और मनन करना और लगभग १० बजे सो जाना। इस दिनचर्या को कांट इतनी तत्परता से करता था कि लोग कहने लगे थे कि घड़ियाँ गलत हो सकती थीं, लेकिन कांट का कोई कार्यक्रम एक सेकण्ड भी आगे-पीछे नहीं हो सकता था। उसका जीवन इतना नियमित था कि हाइन को ठीक ही कहना पड़ा कि कांट का न तो कोई जीवन है और न कोई इतिवृत्त। कारण, उसका जीवन यन्त्रवत् नियमित था। जैसे सूर्य की गति यन्त्रवत् है वैसे उसके जीवन की गति भी।

कांट एक सफल अध्यापक था। जर्मन कवि और दार्शनिक हर्डर उसका विद्यार्थी था। उसने कांट के बारे में लिखा है कि उसकी खुली भौंहें अमिट शान्ति और प्रसन्नता की परिचायिका थीं, उसके मुखारविंद से अनन्त ज्ञान-रश्मियाँ निकलती थीं और उसके प्रवचन अत्यन्त मनोहर और विनोदपूर्ण हुआ करते थे।

कांट के ऊपर ह्यूम और रूसो का प्रभाव बहुत अधिक पड़ा था। ह्यूम का प्रबन्ध पढ़ने से कांट की रूढ़िवादी निद्रा भंग हुई थी और रूसो की कृतियों के पढ़ने से वह इतना प्रभावित हुआ था कि उसने भावना को बुद्धि के ऊपर स्थान दिया। कांट के भाष्यकार रील ने लिखा है कि अगर ह्यूम न होता तो कांट न होता और कांट वास्तव में प्रशिया का ह्यूम है। किन्तु कांट पर जितना प्रभाव ह्यूम का था उतना ही लाइबनीज का भी था। यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं है कि कांट ने ह्यूम को लाइबनीज के दृष्टिकोण से और लाइबनीज को ह्यूम के दृष्टिकोण से देखा, उसने बुद्धिवाद को अनुभववाद के दृष्टिकोण से और अनुभववाद को बुद्धिवाद के दृष्टिकोण से देखा। यही कारण है कि उसने एक नये दर्शन का सूत्रपात किया जिसमें बुद्धिवाद और अनुभववाद का पूर्ण समन्वय है और जिसको आलोचनावाद (Criticism) के नाम से पुकारा जाता है। कांट का आलोचनावाद इतना शक्तिशाली दर्शन है कि कोई भी दार्शनिक उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता है। वह उसके पक्ष में या विपक्ष में तर्क भले ही दे, किंतु वह कांट के दर्शन को शुतुरमुर्ग की तरह नजर-अन्दाज नहीं कर सकता है। ऐसी स्थिति आज कांट के अतिरिक्त किसी अन्य दार्शनिक की नहीं है। विल ड्यूरेंट ने ठीक ही लिखा है कि आज दार्शनिक होने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को सबसे पहले कांटवादी होना चाहिए।

२ कांट की कृतियाँ

कांट की रचनाएँ लातीनी और जर्मन में हैं। उसकी समस्त रचनाओं का संग्रह २२ जिल्दों में प्रशिया अकादमी द्वारा १९०२ में प्रकाशित हुआ है। बाद में इस संग्रह के कई और संस्करण निकले हैं। उसके दर्शन का विकास ३ अवस्थाओं में हुआ जिन्हें प्राक्-आलोचना-काल; आलोचनाकाल और आलोचनोत्तर काल कहा जाता है।

(क) प्राक्—आलोचना-काल। इस काल में कांट की मुख्य रचनाएँ न्यूटन के विज्ञान और लाइबनीज तथा वुल्फ़ के तत्त्व-दर्शन से प्रभावित थीं। इस काल को कांट की रूढ़िवादी अवस्था भी कहा जाता है। इस काल की मुख्य रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) सामान्य प्राकृतिक इतिहास और खगोल-सिद्धान्त (१७५५)

(२) न्याय-वाक्य की चार आकृतियों की असत्य सूक्ष्मता (१७६२)

(३) दर्शन-शास्त्र में निषेध मात्रा के बोध की प्रस्तावना (१७६३

(४) **ईश्वर के अस्तित्व का एकमात्र संभव प्रमाण** (१७६३)

(५) **प्राकृतिक धर्म और और सदाचार-सिद्धान्तों को स्पष्टता का परीक्षण** (१७६३)

(६) **सौन्दर्य-बोध और उदात्तता-बोध विषयक विवेचन** (१७६४)

(७) **एक विचारक के स्वप्न** (१७६६)

(८) **देश में स्थित विषयों के भेद का मूल आधार** (१७६७)

(९) **संवेद्य जगत् और बुद्धिगम्य जगत् के आकार और तत्त्व** (१७६७)

इन रचनाओं के अतिरिक्त सन् १७६३ में कांट ने **प्रामाण्य के ऊपर एक निबन्ध** लिखा जिसमें उसने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध किया था। यह निबन्ध बर्लिन अकादमी पुरस्कार के लिए लिखा गया था। किन्तु कांट को वह पुरस्कार नहीं मिल सका था। वह पुरस्कार मोजेज मेंडेलजान को मिला था। उसका निबन्ध कांट के निबन्ध से उत्कृष्ट आंका गया था। स्पष्ट है कि प्राक्-आलोचना-काल में कांट एक साधारण रूढ़िवादी दार्शनिक था, किन्तु यह उल्लेखनीय है कि प्राक्-आलोचना-काल की अन्तिम रचना अर्थात् **संवेद्य जगत्** और **बुद्धिगम्य जगत् के** आकार और **तत्त्व** में कांट के आलोचनावाद के संकेत मिलते हैं। इस कारण यह ग्रन्थ उसके प्राक्-आलोचना-काल और आलोचना-काल का मिलन-बिन्दु है। अर्न्स्ट कैसीरर ने इस ग्रन्थ को कांट के समग्र दर्शन के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बताया है। दर्शनशास्त्र का प्रोफेसर होने पर सर्वप्रथम कांट ने इसी को अपने प्रवचन का विषय बनाया था। यह उद्घाटन-प्रवचन के नाम से विख्यात है।

(ख) आलोचना-काल। कांट का आलोचना-काल विधिवत् १७८१ से आरम्भ होता है। इस वर्ष उसने **शुद्ध बुद्धि की आलोचना** नामक एक महान् ग्रन्थ प्रकाशित किया। यह ग्रन्थ उसके बारह वर्षीय चिन्तन का फल था। इसको लिखने मे ४-६ मास लगे थे। इस ग्रन्थ की भाषा और शैली अत्यन्त दुरूह हैं। सम्भवतः इस कारण इसका प्रथम प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा। इसके प्रकाशन के ६ माह बाद गाटिनजेन की एक पत्रिका में इसकी समीक्षा निकली जिसमें कांट के दर्शन की तुलना बर्कले के प्रत्ययवाद से की गयी। कांट ने इस समीक्षा का उत्तर **शुद्ध बुद्धि की आलोचना** के द्वितीय संस्करण में दिया जिसका प्रकाशन १७८७ में हुआ। इसमें उसने "प्रत्ययवाद का खण्डन" नामक एक प्रकरण जोड़ा और अपने दर्शन को बर्कले के प्रत्ययवाद से भिन्न किया। कांट के दर्शन में सबसे अधिक महत्त्वपर्ण ग्रन्थ यही है। इसको समझाने

के लिए कांट ने **'प्रत्येक भावी तत्त्वदर्शन की पूर्वपीठिका'** नामक ग्रन्थ १७८३ में प्रकाशित किया। फिर उसने **नीति-दर्शन के आधार** (१७८६), **प्राकृतिक विज्ञान के दार्शनिक आधार** (१७८७), **व्यावहारिक बुद्धि की आलोचना** (१७८८), **निर्णय की आलोचना** (१७९०) और **शुद्ध बुद्धि की सीमाओं से मर्यादित धर्म** (१७९३) नामक ग्रन्थ लिखकर अपने आलोचनावाद का प्रसार नीतिशास्त्र, भौतिक विज्ञान, सौन्दर्यशास्त्र और धर्मशास्त्र के क्षेत्रों में किया। यथार्थतः १७७० से १७९३ तक कांट का आलोचना-काल है जिसकी सबसे महत्त्वपूर्ण घटना **शुद्ध बुद्धि** की आलोचना का प्रकाशन है। इस ग्रन्थ के अनुवाद विश्व की सभी समुन्नत भाषाओं में हो गये हैं। हिन्दी में इसका अनुवाद पं० भोलानाथ शर्मा ने **'शुद्ध बुद्धि की मीमांसा'** नाम से १९६५ में किया है जिसमें डा० दीवान चन्द ने प्राक्कथन लिखा है और उसमें कांट दर्शन का संक्षिप्त परिचय दिया है। उर्दू में डा० आबिदहुसेन ने **शुद्ध बुद्धि की आलोचना** के द्वितीय संस्करण के दो तिहाई भाग का अनुवाद किया है और उसके साथ ही ७८ पृष्ठों की एक भूमिका जोड़ी है जिसमें कांट के दर्शन का विवेचन है। हिन्दी में **निर्णय की आलोचना** का अनुवाद रामकेवल सिंह ने किया है जिसे **सौन्दर्य-मीमांसा** शीर्षक से १९६४ में किताब महल इलाहाबाद ने प्रकाशित किया है। कांट की कृतियों के ये दोनों अनुवाद प्रथम प्रयास होने के कारण अधिक उपयोगी नहीं सिद्ध हुए हैं, किन्तु यही कम महत्त्व की बात नहीं है कि कांट के दो ग्रन्थों के प्रथम अनुवाद सर्वप्रथम भारत में केवल हिन्दी में हुए हैं।

इसी काल में कांट की दो और महत्त्वपूर्ण कृतियाँ प्रकाशित हुई—**विश्व इतिहास का प्रत्यय** (१७८४) और **जागरण क्या है** (१७८४)। प्रथम निबन्ध इतिहास-दर्शन से सम्बन्धित है और दूसरा अध्यापक की स्वतन्त्रता से।

(ग) आलोचनोत्तरकाल। यह काल १७९३ में आरम्भ होता है। **'शुद्ध बुद्धि की सीमाओं से मर्यादित धर्म'** नामक ग्रन्थ के कारण कांट को अपनी सरकार से कुछ ताड़ना मिली क्योंकि उससे सरकार ने उसको आदेश दिया कि वह अपनी बुद्धि का प्रयोग सम्राट के धर्म के विरोध में न करे। इस ताड़ना से कांट की क्रांतिकारिता खत्म हो गयी और उसने सरकार को लिखित जवाब दिया कि वह कभी अपने प्रवचन तथा लेख द्वारा **बाइबिल** और मसीही मत के विरोध में कुछ नहीं कहेगा। तब से उसके निबन्ध केवल व्यावहारिक विषयों पर प्रकाशित हुए। इन निबन्धों में **सभी वस्तुओं का अन्त** (१७९४), **स्थायी शान्ति** (१७९५) और **सदाचार का तत्त्वदर्शन** (१७९७) मुख्य हैं। जब प्रशिया में एक नया सम्राट गद्दी पर बैठा

तब कांट के ऊपर लगाया गया यह प्रतिबन्ध हट गया और फिर उसने १७९८ में **बौद्धिक शक्तियों का संघर्ष** तथा **व्यावहारिक दृष्टिकोण से लिखा गया नृतत्त्वविज्ञान** नामक ग्रन्थ प्रकाशित किये। विद्यालय में जिन विषयों पर वह व्याख्यान देता था उन पर उसके व्याख्यानों के भी प्रकाशन बाद में किये गये। १८०० में **तर्कशास्त्र**, १८०२ में **भौतिक भूगोल** और १८०३ में **शिक्षा-विधि** नामक व्याख्यान प्रकाशित किये गये। उसकी मृत्यु के बाद १८१७ में **धर्म और तत्त्वज्ञान का दार्शनिक सिद्धान्त** और १८३१ में **नृतत्त्वविज्ञान** नामक ग्रन्थ प्रकाशित किये गये जिनमें कांट के द्वारा दिये गये इन विषयों पर प्रवचन हैं। एरिच अडिक्स ने १९२० में **'ओपस पास्टुमम'** शीर्षक से उसकी कुछ अप्रकाशित व्यक्तिगत टिप्पणियों को प्रकाशित किया जिनमें कांट के ईश्वर-सम्बन्धी विचारों पर एक नया प्रकाश पड़ता है।

३ तीन आलोचनाओं का सम्बन्ध

कांट की इन समस्त कृतियों में तीन **आलोचनाओं** का विशेष स्थान है। यद्यपि इन तीनों ग्रन्थों का नाम **आलोचना** है तथापि इनके वर्ण्य विषय भिन्न-भिन्न हैं और इनके निष्कर्ष भी भिन्न-भिन्न हैं। प्रथम **आलोचना** ज्ञानमीमांसा का ग्रन्थ है, द्वितीय **आलोचना** नीतिशास्त्र का ग्रन्थ है और तृतीय **आलोचना** सौन्दर्य-शास्त्र का ग्रन्थ है। प्रथम में सत्यम् का, द्वितीय मे शिवम् का और तृतीय में सुन्दरम् का विवेचन है। कांट-दर्शन के मुख्य प्रश्न तीन हैं : हम क्या जान सकते हैं? हम क्या कर सकते हैं? और हम क्या हो सकते है? इनके उत्तर में कांट ने क्रमशः प्रथम, द्वितीय और तृतीय **आलोचना** लिखी है। उसका संक्षिप्त उत्तर है कि हम प्रपंच को जान सकते हैं, हम अपने कर्तव्यों को कर सकते हैं और हम ईश्वर-सदृश या ईश्वर-रूप हो सकते हैं।

कांट ने जो चिन्तन किया है वह उस युग के मनः शक्ति-मनोविज्ञान (Faculty psychology) पर आधारित है। मनः शक्ति-मनोविज्ञान के अनुसार चैतन्य की तीन शक्तियाँ हैं, ज्ञान-शक्ति, इच्छा-शक्ति और भावना-शक्ति। **शुद्ध बुद्धि की आलोचना** ज्ञान-शक्ति का निरूपण करती है, **व्यावहारिक बुद्धि की आलोचना** इच्छा-शक्ति का और **निर्णय की आलोचना** भावना-शक्ति का। चैतन्य की इन तीन शक्तियों का सामंजस्यपूर्ण विवेचन कांट के किसी ग्रन्थ में नहीं है। किन्तु ऐसा विवेचन करना कांट से आगे जाना है। उसने प्रत्येक शक्ति के सामर्थ्य, कार्य, अन्तर्तत्व और विषय का इतना विशद और तलस्पर्शी विवेचन किया है कि उस विवेचन से अधिक प्रामाणिक कोई अन्य विवेचन आज तक नहीं है। तीनों शक्तियों के इन विवेचनों

में जो एकरूपता है वह मात्र आकारिक (Formal) है। इन शक्तियों के आकार और कार्य का वर्णन तीनों आलोचनाओं को संबन्धित करता है। यह आकार-वर्णन कांट के आलोचनावाद का मूलाधार है।

इससे प्रश्न खड़ा होता है कि कांट का दर्शन मुख्य रूप से किस आलोचना में है। अधिकांश लोगों का कहना है कि कांट का मुख्य दर्शन शुद्ध बुद्धि की आलोचना में है। हाइन तो यहाँ तक कहता है कि व्यावहारिक बुद्धि की आलोचना कांट का गौण चिन्तन है, या शुद्ध बुद्धि की आलोचना की पूँछ है। किन्तु कांट के समय से ही व्यावहारिक बुद्धि की आलोचना का प्रभाव उसके शिष्यों पर अधिक पड़ा है। उसका शिष्य एरहार्ड इस ग्रंथ की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है[१]। फिश्टे और शोपेनहावर भी व्यावहारिक बुद्धि की आलोचना को कांट की सर्वश्रेष्ठ कृति मानते थे। यह ग्रन्थ इच्छा का विवेचन करता है और उसके द्वारा ईश्वर को सिद्ध करता है तथा नैतिक जीवन बिताने के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करता है। शुद्ध बुद्धि की आलोचना के अनुसार ईश्वर को सिद्ध नहीं किया जा सकता और नैतिक जीवन से संबंधित प्रत्ययों का स्पष्ट और प्रामाणिक ज्ञान नहीं हो सकता। यहाँ कांट-दर्शन का द्वैतवाद स्पष्ट हो जाता है। फिर निर्णय की आलोचना का कम महत्त्व और प्रभाव नहीं है। गेटे कहता है कि इसके प्रत्येक पृष्ठ को पढ़ने से ऐसा लगता है मानो हम किसी प्रकाशवान् सुन्दर कमरे में बैठे हैं। इसका दर्शन व्यावहारिक बुद्धि की आलोचना के दर्शन से कुछ बातों में मिलता-जुलता हुआ भी उससे भिन्न है। कांट ने व्यावहारिक बुद्धि की आलोचना के निष्कर्ष में कहा है—"दो चीजों ने मुझे अत्यन्त प्रभावित किया है, तारों से भरा आकाश और अन्तःकरण का नियम।" तारों से भरा आकाश जिस नियम का संकेत करता है उसका विवेचन तृतीय आलोचना में है और अन्तःकरण के नियम का विवेचन द्वितीय आलोचना में है।

एडवर्ड केयर्ड[२] ने कांट की प्रथम, द्वितीय और तृतीय आलोचना की तुलना एक न्यायवाक्य के क्रमशः मुख्य आधारवाक्य, अमुख्य आधारवाक्य और निष्कर्ष से की है। उसके मत से प्रथम आलोचना वाद है तो द्वितीय आलोचना प्रतिवाद और तृतीय आलोचना संवाद। इस दृष्टिकोण से तृतीय आलोचना में कांट के दर्शन की पराकाष्ठा है। आर० ए० सी० मैकमिलन ने भी तृतीय आलोचना को

---

१. कांट का दर्शन, संगमलाल पाण्डेय, पृ० २६, २७।

२. देखिए क्रिटकल फिलासफी आफ कांट, दो जिल्द, एडवर्ड केयर्ड।

कांट के दर्शन का मुकुट बताया है[१]। सचमुच **निर्णय की आलोचना** कांट के सभी ग्रन्थों में सबसे अधिक सुपाठ्य है और उसके समकालीनों पर इसी का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। लेकिन यह कहना कि तृतीय **आलोचना** का दर्शन कांट का असली दर्शन है, बहुतों को मान्य नहीं है। आधुनिक युग में ज्ञान-मीमांसा का दर्शन के क्षेत्र में जितना प्रभाव पड़ा है उतना नीतिशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र का नहीं। इस कारण अधिकांश दार्शनिक **शुद्ध बुद्धि की आलोचना** को ही कांट का मुख्य ग्रन्थ मानते हैं। वास्तव में कांट जिस आलोचनावाद के लिए प्रसिद्ध है उसका सशक्त वर्णन इसी ग्रन्थ में हुआ है। उसकी आलोचना की योजना में सर्वप्रथम व्याख्या और विश्लेषण आते हैं और तत्पश्चात तत्त्वमीमांसा-सम्बन्धी विवेचन। उसकी प्रत्येक **आलोचना** की तुलना एक नाटक से की जा सकती हैं। सर्वप्रथम जब परदा उठता है तो एक परिचित दृश्य दिखलाई पड़ता है। तब एक-एक करके अभिनेता आते हैं और उनके आपसी सम्बन्ध तथा परिवेश से उनके सम्बन्ध बताये जाते हैं। फिर कथा में गंभीरता आती है और विरोधाभास, समस्याएँ तथा उभयतः पाश प्रकट होते हैं। फिर क्रमशः इनके समाधान प्रस्तुत किये जाते हैं और उन समाधानों में दोष भी दिखाये जाते हैं। अन्त में नाटक का अन्त दुखांत नहीं होने पाता और आलोचनावाद का एक समाधान दिया जाता है। इससे दर्शकों को विश्वास हो जाता है कि किसी तरह संसार में मनुष्य सफलतापूर्वक अपना बौद्धिक विवेचन और अपनी आध्यात्मिक साधना कर सकता है। प्रत्येक **आलोचना** में कांट सत्ता के स्वरूप पर एक नया प्रकाश डालता है और उस सम्बन्ध का विवेचन करता है जो मनुष्य और सत्ता के बीच है। वह मानव अनुभव के गंभीर अर्थ और मानव जीवन के मूल्यों का अन्वेषण करता है।

तीनों **आलोचनाओं** में कांट क्रमशः शुद्ध बुद्धि के स्तर से इच्छा-शक्ति के स्तर तक और इच्छा-शक्ति से भावना के स्तर तक विकास करता है, ऐसा आदर्शवादी भाष्यकारों का कहना है। लेकिन अन्य भाष्यकार कांट की इस प्रगति में विरोधाभास देखते हैं और वे उसकी किसी एक **आलोचना** को ही उसकी मुख्य कृति मानते हैं। इतना होते हुए भी तीनों **आलोचनाओं** में रचनात्मक एकता है। प्रत्येक **आलोचना** में कांट के सामने दो तत्त्व रहते हैं—एक प्रागिन्द्रिय तत्त्व और दूसरा इन्द्रिय-प्रदत्त। फिर प्रत्येक में वह दिखलाता है कि इन्द्रिय-प्रदत्त प्राग्-इन्द्रिय तत्त्व के विना सम्भव नहीं है। **शुद्ध बुद्धि की आलोचना** में उसने दिखलाया है कि प्रत्येक ज्ञान में बुद्धि

---

१. देखिए, दि फ़ार्उनिंग फेज आफ क्रिटिकल फिलासफी, आर० ए० सी० मैकमिलन।

और इन्द्रिय का योगदान रहता है; इन्द्रियाँ संवेद प्राप्त करती हैं और बुद्धि अपने प्रत्यय के माध्यम से उन संवेदों को नियोजित और व्याख्यायित करती है। **व्यावहारिक बुद्धि की आलोचना** में उसने दिखलाया कि इच्छा के प्राग्-अनुभविक तत्त्व हैं जो प्रत्येक ऐच्छिक कर्म में निहित हैं। इसी प्रकार **निर्णय की आलोचना** में उसने दिखाया कि भावना के कुछ प्राग्-अनुभविक तत्त्व हैं जो प्रत्येक सुख या दुःख में निहित हैं। इस प्रकार कांट अपनी तीनों **आलोचनाओं** में एक-सा आलोचनावाद प्रस्तुत करता है जो सामान्यवाद और विशेषवाद का समन्वय करता है और रूढ़िवाद तथा संशयवाद का निराकरण करता है। शुद्ध अर्थ में उसका आलोचनावाद मध्यम मार्ग है जो सामान्यवाद और विशेषवाद, तथा रूढ़िवाद और संशयवाद की अतियों को दूर करता है। आलोचनावाद ही कांट की तीनों **आलोचनाओं** को सम्बन्धित करता है। अतः यदि प्रश्न किया जाय कि तीनों **आलोचनाओं** में क्या सम्बन्ध है तो कांट का उत्तर होगा—आलोचनावाद।

४ कोपरनिकसी क्रान्ति

आलोचनावाद ने दर्शन-जगत् में एक नयी क्रान्ति उत्पन्न की है जिसे कोपरनिकसी क्रान्ति कहा जाता है। कोपरनिकस ने खगोल-विज्ञान में एक महान् क्रान्ति की थी। उसके पूर्व माना जाता था कि पृथ्वी स्थिर है और सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूम रहा है। किन्तु उसने इस मान्यता को बिलकुल उलट दिया और कहा कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूम रही है।

कांट से पूर्व दर्शन-शास्त्र में माना जाता था कि ज्ञान ज्ञेय वस्तुओं के अधीन है। किन्तु कांट ने इस मान्यता को उलट दिया और सिद्ध किया कि ज्ञेय वस्तुएँ ज्ञान के अधीन हैं। दूसरे शब्दों में बुद्धि विषयों के अनुकूल नहीं है प्रत्युत विषय ही बुद्धि के अनुकूल हैं। बुद्धि अपने नियमानुसार विषयों की संरचना करती है। कांट कहता है, "यदि संवेदना विषयों की रचना के अनुकूल है तो मैं नहीं समझता कि हम कैसे विषयों के बारे में सामान्यतः जान सकते हैं। किन्तु यदि विषय हमारी संवेदना-शक्ति की रचना के अनुकूल हैं तो उनके ज्ञान की सम्भावना में मुझे कोई कठिनाई नहीं प्रतीत होती है[१]।"

यहाँ पर कुछ लोगों की आपत्ति है कि कांट और कोपरनिकस की क्रान्तियों में विरोध है। कांट की क्रान्ति विषयिवादी है और कोपरनिकस की क्रान्ति विषयवादी

१. देखिए, शुद्ध बुद्धि की आलोचना, द्वितीय संस्करण, आमुख।

है। कोपरनिकस के अनुसार पृथ्वी पर स्थित मानव सूर्य के चारों ओर घूम रहा है; किन्तु कांट के अनुसार समस्त ब्रह्मांड जिसमें सूर्य भी शामिल है मानव बुद्धि के चारों ओर घूम रहा है। स्पष्ट है कि कांट की दृष्टि कोपरनिकस की दृष्टि के विरुद्ध है। अतः किस अर्थ में कांट की क्रान्ति को कोपरनिकसी क्रान्ति कहा जाता है? इस आपत्ति के अनुसार कांट की क्रान्ति कोपरनिकसी क्रान्ति नहीं है।

इस आपत्ति के उत्तर में कहा जा सकता है कि कांट की क्रान्ति लाक्षणिक अर्थ में कोपरनिकसी क्रान्ति है। जैसे कोपरनिकस ने खगोल-विज्ञान में प्राचीन सिद्धान्त को बदल कर एक सर्वथा नवीन सिद्धान्त स्थापित किया, वैसे कांट ने भी ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में प्राचीन सिद्धान्त को गलत काट कर एक सर्वथा नवीन सिद्धान्त की स्थापना की। इसी नवीनता के अर्थ में कांट की क्रान्ति कोपरनिकसी क्रान्ति है।

किन्तु यहाँ उल्लेखनीय है कि कांट ने स्वयं अपनी क्रान्ति की तुलना कोपरनिकस की क्रान्ति से की है[1]। नार्मन केम्प स्मिथ ने कोपरनिकस के वचन का उद्धरण देते हुए दिखलाया है कि कोपरनिकस के मत में तारों की दृश्यमान गति का कारण पृथ्वी पर स्थित एक द्रष्टा की गति है। फिर इसी प्रकार कांट ने दिखाया है कि वास्तविकता के दृश्यमान लक्षणों का कारण ज्ञाता की बुद्धि है। अतः कांट की क्रान्ति और कोपरनिकस की क्रान्ति यथार्थतः समानान्तर हैं। दोनों की समानता लाक्षणिक अर्थ में नहीं किन्तु वाच्य अर्थ में है। दोनों के अनुसार दृश्यमान विषयों के लक्षण उनके ज्ञाता की बुद्धि से नियंत्रित हैं। अतः कांट और कोपरनिकस की क्रान्तियों में विरोध नहीं है। कांट ज्ञानमीमांसा का कोपरनिकस है। जो लोग कोपरनिकस की यथार्थ क्रान्ति से अपरिचित हैं वे ही कांट और कोपरनिकस की क्रान्तियों में विरोध देखते हैं। कोपरनिकस ने वस्तुतः भौतिक जगत् को बुद्धिगम्य माना है। कांट उसकी इस मान्यता को अपनी ज्ञानमीमांसा के आधार पर सत्यापित करता है। अतः उसकी क्रान्ति को कोपरनिकसी क्रान्ति कहना सर्वथा उचित है।

५ आलोचनावाद क्या है?

कांट के आलोचनावाद के बारे में एक मिथ्या अवधारणा यह है कि वह ह्यूम का संशयवाद है और कांट ह्यूम से भी बड़ा संशयवादी तथा मूर्तिभंजक है। यह सत्य है कि कांट ह्यूम के संशयवाद से प्रभावित था और उसके संशयवाद के कारण ही उसने अपना रूढ़िवाद छोड़ा था। किन्तु वह ह्यूम की तरह संशयवादी नहीं है। उसके ऊपर

१. देखिए, शुद्ध बुद्धि की आलोचना, द्वितीय संस्करण का आमुख।

ह्यूम के प्रबन्ध का जितना प्रभाव पड़ा है उतना ही प्रभाव लाइबनीज के नवीन निबन्ध का भी पड़ा है। इससे वह ह्यूम और लाइबनीज के समन्वय की ओर बढ़ा और आलोचनावादी हो गया। जब संशयवाद स्वयं अपना आलोचक बन जाता है, अपने मूल का विवेचन करता है और अपनी प्रागपेक्षाओं की छानबीन करता है, तब वह आलोचनावाद हो जाता है। संशयवाद अपना खण्डन स्वयं करता है। वह एक प्रकार का रूढ़िवाद है क्योंकि शुद्ध निषेधवाद असम्भव है और प्रत्यक निषेध का आधार कोई विधायक सत्य है। संशयवाद अर्ध सत्य है और अर्ध सत्य अपना नाश स्वय करता है। इस प्रकार कांट ने सशयवाद का खण्डन किया है।

किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह रूढ़िवादी है। वास्तव में उसका आरम्भ-विन्दु रूढ़िवाद था। और रूढ़िवाद से वह संशयवाद की ओर बढ़ा और अन्त में संशयवाद से आलोचनावाद की ओर चला। आलोचनावाद में रूढ़िवाद एव संशय-वाद का समन्वय है। इस समन्वय के कारण वह दोनों से भिन्न है। वह प्रत्येक रूढ़ि-वादी सिद्धान्त की आंशिक सत्यता को स्वीकार करता है और इस अथ में वह रूढ़ि-वादी है। पुनश्च चूंकि वह प्रत्येक रूढ़िवादी सिद्धान्त को सीमित करता है इसलिए वह सशयवादी भी है। अन्त में चूंकि वह रूढ़िवाद और सशयवाद के इन व्यापारों का परस्पर समन्वययोग्य पाता है, इस कारण वह इन दोनों स्थानों पर आलोचनावाद को प्रस्तावित करता है। डा० हन्स वैहिगर कहते हैं कि आलोचनावाद में रूढ़िवाद का बुद्धिवाद तो है किन्तु उसका परात्परवाद या अगोचरवाद नहीं है और उसमें अनुभववाद का विषयिवाद तथा अन्वयवाद तो है किन्तु उसमें उसके प्रत्यक्षवाद का स्थान नहीं है। आलोचनावाद बुद्धिवाद, विषयिवाद और अन्वयवाद है। एडवर्ड केयर्ड ने लिखा है कि आलोचनावाद क्रमशः रूढ़िवाद, सशयवाद और रूढ़िवाद है। इसका तात्पर्य है कि आलोचनावाद यदि रूढ़िवाद है तो वह संशयवाद से ऊर्ध्वगामी रूढ़िवाद है। कुछ भी हो, आलोचनावाद ने रूढ़िवाद और संशयवाद दोनों को गलत सिद्ध किया है। कांट नहीं मानता है कि बुद्धि अनुभव के परे जा सकती है और बुद्धि शुद्ध निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्राप्त कर सकती है।

आलोचनावाद एक मूलगामी और प्रगतिशील विचार-पद्धति है। वास्तव में प्रगतिशील होने के लिए यह मूलगामी है। यह पद्धति किसी सिद्धान्त के मूल का पता लगाती है और फिर उस मूल का ज्ञान में उपयोग दिखाती है। **शुद्ध बुद्धि की आलोचना** में कांट कहता है—"इससे मेरा तात्पर्य पुस्तकों एवं दार्शनिक मतों की आलोचना नहीं है किन्तु सामान्य ज्ञान-शक्ति या बुद्धि की आलोचना है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की सहायता के बिना बुद्धि जिन ज्ञान-प्रकारों का अनुसंधान कर सकती है उनकी यहां

विवेचना है। तत्त्वज्ञान संभव है या असंभव ? इसके स्रोत क्या हैं ? इसकी सीमा क्या है ? इसका विस्तार कहाँ तक है ? इन समस्त प्रश्नों का यहाँ निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर समाधान है।" इस प्रकार **शुद्ध बुद्धि की आलोचना** सामान्य ज्ञान-शक्ति की गवेषणा है।

कांट के पूर्व लाक ने ज्ञान-शक्ति या बुद्धि की गवेषणा की थी। कांट के कुछ भाष्यकार लाक के **निबन्ध** को अंग्रेजी की **शुद्ध बुद्धि की आलोचना** समझते हैं। किन्तु कांट का विवेचन लाक के विवेचन से भिन्न है। लाक का विवेचन मनोवैज्ञानिक है। वह आलोचनात्मक नहीं है। वह पूर्वग्रहों से ग्रस्त है और रूढ़िवादी है। इसके विपरीत कांट की आलोचना समस्त पूर्वग्रहों से मुक्त है। उसकी विवेचना तत्त्वदार्शनिक है। वह बुद्धि के किसी विषय का विवेचन करने के पूर्व स्वयं बुद्धि की आलोचना करता है। वह प्रश्न करता है ज्ञान कैसे संभव है ? वह नहीं मानता कि बुद्धि में ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति है। वह इस शक्ति के बारे में भी संशय करता है और तब निष्कर्ष निकालता है कि बुद्धि में ऐसी शक्ति है। ऐसा करने के कारण उसका आलोचनावाद रूढिवाद का खंडन है क्योंकि रूढ़िवाद बुद्धि की शक्तियों में सहज विश्वास करता है और उनके बारे में कोई शंका नहीं करता है। इस प्रकार अपने आलोचनावाद के द्वारा कांट ने ज्ञानमीमांसा का आविर्भाव किया। उसकी ज्ञानमीमांसा समस्त मनोविज्ञान का आधार है। वह सभी संभव तत्त्वदर्शनों का मुखपृष्ठ है।

स्पष्ट है कि कांट के आलोचनावाद में आलोचना का अर्थ खण्डन, गुण-दोष का विवेचन या मूल्यांकन नहीं है। उसकी आलोचना आलोचन या निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी नहीं है। वह एक वाद और एक वाद-विधि दोनों है। वाद के रूप में वह बुद्धि-वाद और अनुभववाद का समन्वय है। वाद-विधि के रूप में वह प्रतिगोचर प्रणाली है जिसके अनुसार उसका विवेच्य विषय न तो गोचर है और न अगोचर। बुद्धिवाद के विषय अगोचर हैं और अनुभववाद के विषय गोचर हैं। उनसे भिन्न आलोचनावाद के विषय प्रतिगोचर हैं। आलोचनावाद अगोचर और गोचर विषयों को अमूर्त विषय मानता है, उसके अनुसार गोचर विषयों की संरचना में कुछ तत्त्व निहित हैं जो प्रति-गोचर हैं। इन्हीं प्रतिगोचर तत्त्वों की छान-बीन करना कांट के आलोचनावाद का मुख्य विषय है।

बुद्धिवाद और अनुभववाद का खण्डन करते हुए कांट ने कहा कि प्रत्यक्ष के अभाव में बुद्धि के संप्रत्यय रिक्त हैं और बुद्धि के संप्रत्ययों के बिना प्रत्यक्ष अंध हैं अर्थात् निराकार, निरुपाख्य और अबुद्धिगम्य हैं। अनुभववाद और बुद्धिवाद दोनों एक

अति हैं और अति सर्वत्र दोष मानी गयी है। आलोचनावाद में इन दोनों अतियों को दूर किया गया है।

अनुभववाद बुद्धि के स्वरूप और महत्त्व का निराकरण करता है। वह बुद्धि के सम्प्रत्ययों को इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से उत्पन्न मानता है। किन्तु प्रश्न है कि यदि बुद्धि के सम्प्रत्यय इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के पूर्व नहीं हैं तो बुद्धि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को कैसे ग्रहण करती है? कैसे उनकी व्याख्या करती है? कैसे उनका संयोजन या वियोजन करती है? और कैसे वह उनको अपने से सम्बन्धित करती है? यदि बुद्धि यह सब कर्म न करे तो प्रत्यक्ष संभव नहीं हो सकता। इस कारण बुद्धि के अभाव में प्रत्यक्ष अंध कहे गये हैं। फिर प्रत्यक्ष के अभाव में बुद्धि को रिक्त कहा गया है। इसका तात्पर्य है कि यदि प्रत्यक्ष नहीं होता तो बुद्धि कोई ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकती। प्रत्यक्ष ही ज्ञान की सामग्री है। बुद्धि तो केवल उस सामग्री का आकार या ढाचा है। अतः कांट मानता है कि यद्यपि बुद्धि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की सहवर्तिनी है तथापि उसका व्यापार उसी समय आरम्भ होता है जब इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष-कर्म में बुद्धि और इन्द्रिय दोनों का सहयोग है। दोनों में से यदि कोई तत्त्व न रहे तो प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है। अनुभववादियों की भूल यह है कि वे बुद्धि को इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की सन्तान मानते हैं। इसके विपरीत बुद्धिवादियों की भूल यह है कि वे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को बुद्धि का विकार मानते हैं। किन्तु सत्य यह है कि बुद्धि और इन्द्रिय दोनों के अपने-अपने स्वरूप, कार्य एवं महत्त्व हैं। ज्ञान मे दोनों के अपने-अपने स्थान है। इनमें से किसी एक का अन्तर्भाव दूसरे मे नहीं किया जा सकता।

कांट लाक के इस कथन को मानता है कि ज्ञान का आरम्भ अनुभव से होता है। किन्तु वह लाक के कथन में एक दोष देखता है। लाक के कथन मे 'अनुभव से' शब्द के दो अर्थ हैं। एक अर्थ है अनुभव से उत्पन्न और दूसरा अर्थ है अनुभव के साथ उत्पन्न। लाक पहले अर्थ को मानता है और कांट दूसरे अर्थ को। लाक के प्रति कांट का कहना है कि यद्यपि ज्ञान का आरम्भ अनुभव के साथ होता है तथापि ज्ञान की उत्पत्ति मात्र अनुभव से ही नहीं होती क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ति में अनुभव के साथ ही साथ बुद्धि के तत्त्व भी निहित हैं। इस प्रकार कांट का आलोचनावाद ज्ञान के प्रागनुभविक तत्त्वों की छानबीन करता है। लाक ऐसी छानबीन न कर सका। वह प्रागनुभविक तत्त्वों को देखने में असमर्थ रहा।

स्पष्ट है कि कांट के अनुसार ज्ञान में दो तत्त्व हैं—एक इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और दूसरा बुद्धि के सम्प्रत्यय। बुद्धि के सम्प्रत्यय ज्ञान के आकार हैं और इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान की सामग्री हैं। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष बुद्धि को बाहर से उपलब्ध होते हैं और बुद्धि के सम्प्रत्यय उसके अन्दर निगूढ़ है। जब इन दोनों तत्त्वो का मेल होता है तब ज्ञान सभव

होता है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष प्राप्त करने की शक्ति को कांट संवेदना (Intuition) कहता है। संवेदना और बुद्धि (Understanding) के व्यापार प्रत्येक ज्ञान में अनिवार्यतः रहते हैं।

अनुभववाद अनुभव से विषयों की व्याख्या नहीं कर सकता है क्योंकि वह केवल इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को मानता है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष केवल विशेष तथ्यों का परिचय देते हैं। वे सामान्य और अनिवार्य सत्यों का ज्ञान नहीं करा सकते हैं। किन्तु हमारे अनुभव के विषयों में हमें अनेक सामान्य और अनिवार्य सत्यों का ज्ञान मिलता है, उदाहरण के लिए, हम जानते हैं कि आग अनिवार्यतः ईंधन को जलाती है, बिजली का संपर्क प्राणघातक है, आदि। अनुभववाद ऐसे सामान्य और अनिवार्य सत्यों का ज्ञान न करा सकने के कारण अन्त में संशयवाद में बदल जाता है। इस प्रकार वह अपना नाश स्वयं कर लेता है। उसका दोष यह है कि वह एकांगी है, एक अति है और वह बुद्धि की अवहेलना करता है। बुद्धि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की अनुगामिनी या चेरी नहीं है।

पुनश्च बुद्विवाद बुद्धि को ही एकमात्र ज्ञान का साधन मानता है और संवेदना को भ्रान्त बुद्धि कहता है। वह स्पष्टता और विविक्तता को सत्यता की कसौटी मानता है। किन्तु इस कसौटी के आधार पर वह किसी निश्चय पर नहीं पहुँच पाता। डेकार्ट, स्पिनोजा और लाइबनीज इस कसौटी को मानते हुए भी तीन परस्पर विरुद्ध निष्कर्षों पर पहुँचे। इस कारण बुद्धिवाद का अन्त भी संशयवाद में होता है। वह बुद्धि के सामर्थ्य का ठीक ज्ञान नहीं देता है। उसके अनुसार बुद्धि असीम शक्ति वाली है और अगोचर वस्तुओं को भी जान सकती है। किन्तु इससे वह अटकलबाजी करने लगता है और कल्पनावाद हो जाता है।

कांट ने बुद्विवाद और अनुभववाद दोनों को समानरूप से दूषित पाया और इस कारण उसने दोनों का परित्याग किया। उसने संवेदना और बुद्धि दोनों को महत्त्व दिया। बुद्धि कारक है और संवेदना ग्राहक हैं। बुद्धि सक्रिय है और संवेदना उदासीन है। बुद्धि साकार है और संवेदना निराकार है। ज्ञान में दोनों का एक साथ मेल होता है। इस कारण ज्ञान न तो संस्कार या ग्रहण है और न सृष्टि। न वह निराकार है और न साकार, न तो वह निष्क्रिय है और न सक्रिय। ज्ञान आलोचनात्मक है या वह आलोचना है जिसमें संवेदना का ग्रहण-व्यापार और बुद्धि का कारक-व्यापार दोनों का मेल है। इस कारण ज्ञान गवेषणा या खोज है। वह जिज्ञासा की निवृत्ति है।

अनुभववाद और बुद्धिवाद दोनों ने संवेदना और बुद्धि को एक ही प्रकार की शक्ति माना है उनके अनुसार इन दोनों का अन्तर केवल मात्रा या तारतम्य का अन्तर है। यही दोनों का सबसे बड़ा दोष है। कांट ने इस दोष को दूर करते हुए

कहा कि संवेदना और बुद्धि प्रकारतया एक-दूसरे से भिन्न हैं; इनमें से कोई एक दूसरे का कार्य नहीं कर सकती है। ये दोनों दो परस्पर-भिन्न शक्तियाँ हैं।

किन्तु यद्यपि आलोचनावाद बुद्धिवाद और अनुभववाद से अधिक प्रामाणिक है तथापि वह सर्वथा सत्य नहीं हैं। उसमें भी कई कमियाँ हैं। सर्वप्रथम, नैतिक ज्ञान, सौन्दर्य-ज्ञान और धर्म-ज्ञान को कांट भौतिक विषयों के ज्ञान से प्रकारतया भिन्न मानता है, और यद्यपि उसका आलोचनावाद भौतिक विषयों के ज्ञान की व्याख्या करने में सफल है तथापि इस आलोचनावाद का उपयोग नैतिक ज्ञान, सौन्दर्य-ज्ञान और धर्म-ज्ञान में नहीं है। इन ज्ञान-प्रकारों में न तो बुद्धि के कारक तत्त्व हैं और न तो संवेदना के द्वारा ग्राह्य सामग्री है। कांट इन ज्ञान-प्रकारों का विवेचन पूर्णतया बुद्धिवाद के अनुसार करता है। दूसरे, कांट का आलोचनावाद निरुपाख्य और अनुभवातीत ज्ञान को स्वीकार नहीं करता। किन्तु बहुत-से दार्शनिकों ने सुझाया है कि कुछ ज्ञान हैं जो निरुपाख्य हैं और वर्णनातीत हैं। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष, निर्वाण का अनुभव, ईश्वर-लाभ आदि ऐसे ज्ञान-प्रकार हैं जिनकी व्याख्या कांट के आलोचनावाद के द्वारा नहीं की जा सकती। कांट निर्विकल्पक प्रत्यक्षवाद और रहस्यवाद का अन्तक है। किन्तु यह प्रवृत्ति उसके दर्शन के विकास से मेल नहीं खाती है। वह एक रहस्य-शक्ति से प्रभावित है जो अन्तरात्मा के नियम और प्रकृति की एकरूपता में अपने को अभिव्यक्त कर रही है। कांट इस शक्ति को बुद्धिवाद के दृष्टिकोण से देखने की चेष्टा करता है, किन्तु वह इसको समझ नहीं पाता है। उसकी परम्परा में लोगों ने **श्रुति-ज्ञान की आलोचना** और **पवित्र ज्ञान की आलोचना** नामक ग्रन्थ लिखे जो कांट के आलोचनावाद के पूरक हुए[1]। किन्तु इन ग्रन्थों से **शुद्धि बुद्धि की आलोचना** का महत्व कांट के दर्शन में गौण हो जाता है और **व्यावहारिक बुद्धि की आलोचना** का महत्त्व प्रधान हो जाता है। वास्तव में कांट बुद्धि के चंगुल में इतना फँसा था कि वह श्रद्धा का विवेचन शुद्ध रूप से न कर सका। तीसरे, कांट के बाद अनुभववाद का जो विकास हुआ उसने सिद्ध किया कि बुद्धि के प्रागनुभविक तत्त्व वास्तव में इन्द्रिय-प्रत्यक्षों से प्राप्त सामान्य सिद्धान्त हैं जिनकी व्याख्या अनुभववाद के द्वारा की जा सकती है। उसने यह दिखलाने का सफलतापूर्वक प्रयास किया है कि जो भी प्रागनुभविक तत्त्व हैं वे अनुभव की प्रागपेक्षा नहीं हैं प्रत्युत अनुभव की व्याख्या की प्रागपेक्षा हैं। इससे कांट का आलोचनावाद भाषा का एक विकार मात्र सिद्ध होता है। चौथे, कांट का आलोचनावाद किसी नयी वस्तु की खोज नहीं कर सकता। वह केवल खोजी गई वस्तु की व्याख्या कर

१. देखिए, The Critique of All Revelation, J. G. Fichte, 1792 और Idea of the Holy, Rudolf Otto।

सकता है। अतः आलोचनावाद वह पद्धति नहीं है जिसके द्वारा बुद्धि प्रतिक्षण नये-नये विषयों की खोज करती है। आलोचनावाद खोज का सिद्धान्त और मार्ग न होकर केवल व्याख्या का सिद्धान्त और मार्ग हैं। यही उसका दूषण और भूषण है।

६ प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक परामर्श की संभावना

कांट ने जब ह्यूम के प्रबन्ध को पढ़ा तब उसने प्रश्न किया : प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक परामर्श कैसे संभव हैं ? यह प्रश्न उसके दर्शन की मुख्य समस्या है। ह्यूम ने इस प्रश्न का उत्तर निषेध में दिया है। उसके अनुसार जो परामर्श सश्लेषणात्मक हैं वे प्रागनुभविक नहीं हो सकते। उसने दो प्रकार के परामर्श माने थे—विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक। गणित के परामर्श विश्लेषणात्मक परामर्श हैं और अनुभव से प्राप्त परामर्श संश्लेषणात्मक हैं। फिर उसने कहा कि विश्लेषणात्मक परामर्श अनिवार्यतः सत्य हैं और संश्लेषणात्मक अनिवार्यतः सत्य नहीं हैं। आग से जलने पर पीड़ा होती है, यह एक संश्लेषणात्मक परामर्श है। ह्यूम इसको अनिवार्य सत्य नहीं मानता। कांट यहाँ सोचता है कि यदि यह अनिवार्य सत्य नहीं है तो मानव ज्ञान असंभव है, क्योंकि साधारण मनुष्य इस परामर्श को अनिवार्यतः सत्य मानकर लोकव्यवहार करता है।

इस समस्या का विचार करते हुए कांट ने ह्यूम के प्रश्न को व्यापक बनाया। उसने परामर्शों का वर्गीकरण दो प्रकार से किया। एक विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक परामर्शों का वर्गीकरण है और दूसरा प्रागनुभविक और अनुभवजन्य परामर्शों का वर्गीकरण है। विश्लेषणात्मक परामर्श वे हैं जिनके विधेय पद उद्देश्य पद का केवल भाष्य करते हैं जैसे, त्रिभुज तीन सरल रेखाओं से घिरी हुई आकृति है। विश्लेषणात्मक परामर्श अनिवार्यतः सत्य हैं क्योंकि उनके विधेय उद्देश्य के स्पष्टीकरण मात्र हैं। इन परामर्शों की अनिवार्य सत्यता के बारे में किसी को कोई आपत्ति नहीं है। फिर सश्लेषणात्मक परामर्श वे हैं जिनके विधेय उद्देश्य के अर्थ में कुछ नया अर्थ जोड़ते हैं। संश्लेषणात्मक परामर्श सत्य या असत्य हो सकते हैं, ऐसा सभी स्वीकार करते हैं। उनकी सत्यता अनिवार्य नहीं है, यह भी सभी मानते हैं। अन्त में प्रागनुभविक परामर्श वे हैं जो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के पूर्व हैं और अनुभवजन्य वे हैं जो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से उत्पन्न होते हैं। दोनों वर्गीकरणों को मिलाने से चार प्रकार के परामर्श हो जाते हैं :—

(क) प्रागनुभविक विश्लेषणात्मक परामर्श।
(ख) अनुभव-जन्य विश्लेषणात्मक परामर्श।
(ग) प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक परामर्श।

(घ) अनुभवजन्य संश्लेपणात्मक परामर्श।

इनमें से दूसरे प्रकार के परामर्श असम्भव हैं क्योंकि विश्लेषणात्मक परामर्श नया ज्ञान नहीं देता है और अनुभवजन्य परामर्श नया ज्ञान देता है। इस कारण दोनों में विरोध है। अतः अब केवल तीन ही परामर्श शेष रहते हैं। प्रागनुभविक विश्लेपणात्मक परामर्श अनिवार्यतः सत्य है। वे अनुभव से निरपेक्ष हैं और उनका ज्ञान शुद्ध वुद्धि द्वारा होता है। अनुभवजन्य संश्लेषणात्मक परामर्श अनिवार्य सत्य नहीं हैं, इस पर भी सभी का मतैक्य है। अन्त में बचता है प्रागनुभविक संश्लेष-णात्मक परामर्श। वे परामर्श जिनके विधेय उद्देश्य के अन्तर्गत नहीं हैं और जो अन्य परामर्शों से निरपेक्ष हैं प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक हैं। कांट कहता है कि गणित, विज्ञान और नीतिशास्त्र के परामर्श अधिकांशतः प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक हैं।

गणित के परामर्श का उदाहरण ७ + ५ = १२ है। हम चाहे जितना विचार करें ७ + ५ के अन्तर्गत बारह को हम नहीं पा सकते हैं। इसलिए ७ + ५ = १२ एक संश्लेषणात्मक परामर्श है। फिर यह प्रागनुभविक भी है क्योंकि यह अन्य परामर्श से निरपेक्ष है। इसी प्रकार प्रत्येक परिवर्तन का एक कारण होता है, यह एक प्रागनु-भविक संश्लेषणात्मक परामर्श है। यह प्रागनुभविक है क्योंकि यह किसी अनुभव-जन्य परामर्श को उत्पन्न नहीं करता है। फिर यह संश्लेषणात्मक है क्योंकि इसका निषेध बाधित नहीं है। इसी प्रकार 'हमारा कर्त्तव्य नैतिक नियम से निर्धारित होता है,' यह एक प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक परामर्श है।

ह्यूम ने प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक परामर्शों की सत्यता पर संशय किया था और सिद्ध किया था कि वे अनिवार्य सत्य नहीं हैं। उसके अनुसार प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक परामर्श सम्भव ही नहीं हैं क्योकि जो प्रागनुभविक है वह संश्लेषणा-त्मक नहीं हो सकता और जो संश्लेषणात्मक परामर्श है वह प्रागनुभविक नहीं हो सकता। किन्तु गणित, भौतिक विज्ञान और लोक-व्यवहार के अधिकांश परामर्श प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक हैं क्योंकि वे अन्य परामर्शों से निरपेक्ष हैं और उनके निषेध बाधित नहीं हैं। ऐसे परामर्श मानव ज्ञान और मानव जीवन के लिए आव-श्यक हैं। इसलिए कांट मानव-ज्ञान को सम्भव बताने के लिए प्रश्न करता है कि प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक परामर्श कैसे सम्भव है। यदि इस प्रश्न का उत्तर निषेध में होता है तो मानव ज्ञान सम्भव नहीं है। यदि इसका उत्तर हाँ में होता है तभी मानव ज्ञान सम्भव हो सकता है।

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए कांट इसको तीन भागों में विभक्त करता है :—

(१) गणित के प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक परामर्श कैसे सम्भव हैं ?
(२) भौतिक विज्ञान के प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक परामर्श कैसे सम्भव हैं ?
(३) तत्त्वदर्शन के प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक परामर्श कैसे सम्भव हैं ?

गणित और भौतिक विज्ञान की सफलता और प्रगति सिद्ध करती हैं कि उनके प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक परामर्श सम्भव हैं। वे अनिवार्य सत्य हैं और उनकी सत्यता पर सन्देह नहीं किया जा सकता है। किन्तु तत्त्वदर्शन में सफलता, प्रगति और मतैक्य नाम की कोई चीज नहीं है, इसलिए तत्त्वदर्शन के प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक परामर्श सम्भव नहीं हैं। परन्तु इतना होते हुए भी तत्त्वदर्शन मनुष्य के स्वभाव में निहित है और वह यथार्थतः तत्त्वदर्शन के बारे में जिज्ञासा करता रहता है। इसलिए यद्यपि शुद्ध तत्त्वदर्शन विज्ञान के रूप में सम्भव नहीं है तथापि मानव प्रकृति के रूप में शुद्ध तत्त्वदर्शन सम्भव है और उसके प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक परामर्श सम्भव है।

इस प्रकार प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक परामर्शों की सम्भावना दिखा कर कांट उत्तर देता है कि वे क्यों सम्भव हैं। गणित के प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक परामर्शों की सम्भावना का कारण देता हुआ वह कहता है कि ऐसे परामर्शों में देश-काल के आकार और संवेदना से प्राप्त आभास एक दूसरे से मिले हैं इसलिए ये परामर्श प्रत्येक देश एवं प्रत्येक काल के लिए सत्य हैं। अर्थात् वे सार्वभौमिक और सार्वकालिक सत्य हैं। उदाहरण के लिए, जब हम ७ + ५ = १२ कहते हैं तो हमारे समक्ष बिम्ब रूप से या आभास-रूप से ७ और ५ रेखाएँ या वस्तुतः पदार्थ रहते हैं जिनको मिलाने से हम १२ प्राप्त करते हैं। फिर ७ और ५ तथा १२ किसी देश और किसी काल में रहते हैं। बुद्धि में देश और काल के आकार निहित हैं जिनको वह आभासों या बिम्बों पर आरोपित करती है। इस कारण ७ + ५ = १२ का ज्ञान उत्पन्न होता है और सत्यापित किया जाता है। यदि देश और काल बुद्धि के अपने आकार न होते तो ७ + ५ = १२ का ज्ञान सम्भव न होता।

इसी प्रकार भौतिक विज्ञान के प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक परामर्शों की सम्भावना का कारण देते हुए कांट कहता है कि उनकी उत्पत्ति में एक ओर देश और काल में संयोजित कुछ सामग्री रहती है जो संवेदना तथा बुद्धि के संयुक्त व्यापार से उपलब्ध होती है तो दूसरी ओर उसमें बुद्धि के स्वभाव के द्वारा १२ वर्गणाएँ या पदार्थ आरोपित किये जाते हैं। इन वर्गणाओं में एकता, अनेकता, विधि, निषेध, द्रव्य, गुण, कार्य-कारण आदि पदार्थ हैं। यदि ये पदार्थ प्रागनुभविक न होते तो भौतिक विज्ञान के परामर्श सम्भव न होते। उनकी सम्भावना इन पदार्थों के प्रागनुभविक

स्वरूप को सिद्ध करती है। अन्त में तत्त्वदर्शन विज्ञान-रूप में एक मिथ्या शास्त्र है क्योंकि उसके विषय मूर्त रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं जब कि वे परिभाषया अमूर्त हैं। इसलिए शुद्ध विज्ञान के रूप में तत्त्वदर्शन सम्भव नहीं है। कोई ऐसी सामग्री नहीं है जो तत्त्वदर्शन के प्रत्ययों के अनुरूप हो, जैसे गणित में देशकाल के अनुरूप सामग्री है और भौतिक विज्ञान में वर्गणाओं के अनुरूप सामग्री है। लेकिन मानव की स्वभाविक प्रवृत्ति के रूप में तत्त्वदर्शन सम्भव है और इस सम्भावना का कारण तत्त्वदर्शन के प्रत्ययों की नियामकता है। ऐसे प्रत्यय तीन हैं : ईश्वर का प्रत्यय, आत्मा की अमरता और इच्छा-स्वातन्त्र्य।

कांट के उत्तर की आलोचना करते हुए आधुनिक अनुभववादियों ने कहा है कि वास्तव में कोई परामर्श प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक नहीं है। गणित के परामर्श शुद्ध विश्लेषणात्मक हैं। भौतिक विज्ञान के परामर्श संश्लेषणात्मक और अनुभव-जन्य हैं। उनकी सत्यता अनिवार्य नहीं किन्तु प्रसंभाव्य है। फिर तत्त्वदर्शन के परामर्श न तो प्रागनुभविक हैं और न संश्लेषणात्मक। वास्तव में वे परामर्श ही नहीं हैं परन्तु परामर्शाभास हैं। इस प्रकार कांट के मूल प्रश्न को ही इस समय गलत सिद्ध कर दिया गया है।

किन्तु कांट का सिद्धान्त निराधार नहीं है। उसके पक्ष में कहा जा सकता है कि उसका सिद्धान्त परामर्श के बारे में है जब कि आधुनिक अनुभववादियों का सिद्धान्त तर्कवाक्य के बारे में है। परामर्श तर्कवाक्य से भिन्न है क्योंकि वह परामर्श करने वाले पुरुष से अनिवार्यतः सम्बन्धित रहता है जब कि तर्कवाक्य इस सम्बन्ध से निरपेक्ष है[1]। यह उल्लेखनीय है कि विलियम जेम्स जैसे उग्र अनुभववादियों ने भी माना कि "मैं विश्वास करता हूँ" (I Believe) प्रत्येक परामर्श की एक अनिवार्य शर्त है। इसी को कांट "मैं सोचता हूँ" (I Think) कहता है। यह शर्त सिद्ध करती है कि प्रत्येक परामर्श वास्तव में प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक है।

पुनश्च जो लोग प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक परामर्श का खंडन करते हैं वे भी मानते हैं कि ऐसे परामर्श अनुभव की व्याख्या के मूल में अनिवार्यतः हैं, न कि अनुभव के मूल में। यहाँ कांट के पक्ष में कहा जा सकता है कि प्रत्येक अनुभव जो सार्थक है भाषाबद्ध होता है और यदि वह भाषाबद्ध है तो उसकी कुछ अनिवार्य

---

१. देखिए, कांट का दर्शन, संगमलाल पाण्डेय, पृ० ११३।

प्रागपेक्षाएँ हैं। इन प्रागपेक्षाओं का सहयोग रहने से ही अनुभव सार्थक होता है अतः सार्थक अनुभव के परामर्श प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक हैं[1]।

अन्त में कांट के पक्ष में कहा जा सकता है कि प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक परामर्श हैं या नहीं, यह प्रश्न अनुमान के बारे में है, न कि तर्कवाक्य के बारे में। यदि प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक परामर्श नहीं हैं तो फिर तर्कवाक्यों के वर्गीकरण के अतिरिक्त कोई दर्शनशास्त्र नहीं हो सकता है. गणित केवल प्रतीकों का एक खेल होगा और बाह्य जगत् में कोई अनिवार्य सम्बन्ध न होगा, यहाँ तक कि प्रकृति की एकरूपता भी न रहेगी[2]। स्पष्ट है कि इन परिणामों का समर्थन नहीं किया ज सकता है। अतः अर्थापत्ति द्वारा सिद्ध है कि प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक परामर्श सम्भव हैं।

वास्तव में प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक परामर्श को सम्भव दिखाकर कांट प्रागनुभविक ज्ञान पर बल देता है। वह प्रागनुभविक ज्ञान का प्रयोग पाँच अर्थों में करता है—

(१) कांट कभी-कभी प्रागनुभविक ज्ञान का प्रयोग इस प्रकार करता है मानों वह कालतः अनुभव का पूर्ववर्ती है। किन्तु नार्मन केम्प स्मिथ ने दिखाया है कि यह प्रयोग कांट के प्राग्-आलोचना काल की देन है। वास्तव में आलोचनावाद के अनुसार कांट स्पष्ट कहता है कि प्रागनुभविक ज्ञान कालतः अनुभव का पूर्ववर्ती नहीं है वरन् वह कालतः अनुभव का सहवर्ती है। प्रागनुभविक ज्ञान आजानिक प्रत्यय नहीं है। वह अनुभव-काल में ही ठीक उसी समय सम्भव होता है जिस समय इन्द्रिय-प्रदत्त उपलब्ध होते हैं।

(२) प्रागनुभविक ज्ञान बुद्धि का योगदान है। प्रत्येक अनुभव में इन्द्रिय और बुद्धि दोनों के योगदान रहते हैं। इन्द्रिय का योगदान संवेद है और बुद्धि का योगदान प्रागनुभविक तत्त्व।

(३) प्रागनुभविक ज्ञान वह है जो प्रत्येक अनुभव की प्रागपेक्षा है। अनुभव

---

१. तुलनीय दिग्नाग का सिद्धान्त जिसके अनुसार शब्द की योनि विकल्प है और विकल्प की योनि शब्द है। इस प्रकार शब्द और विकल्प एक अनिवार्य अन्योन्याश्रय में हैं।

२. देखिए, A Short Commentary on Kant's Critique of Pure Reason; A. C. Ewing, पृ० 20-21.

मात्र विशेष विषयों या वस्तुओं का ढेर नहीं है। उसके मूल में कुछ सामान्य तत्त्व भी हैं जिनका ज्ञान प्रागनुभविक है।

(४) प्रागनुभविक ज्ञान वह है जिसकी उत्पत्ति या निष्पत्ति संवेदों से नहीं होती है। यह प्रागनुभविक ज्ञान की निषेधमूलक परिभाषा है। वह अनुभवजन्य ज्ञान नहीं है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि प्रागनुभविक ज्ञान उपलब्ध नहीं किया जाता। वह वैसे ही उपलब्ध होता है जैसे विशेष विषयों का ज्ञान। किन्तु उसकी उपलब्धि उस तत्त्व का स्पष्टीकरण है जो पहले से ही है। प्रागनुभविक ज्ञान का सिद्धान्त ज्ञानमीमांसायी सत्कार्यवाद है।

(५) प्रागनुभविक ज्ञान का विधिमूलक अर्थ अनिवार्य और सार्वभौम सत्य है। जो ज्ञान अनिवार्य और सार्वभौम सत्य है वह प्रागनुभविक ज्ञान है।

प्रागनुभविक शब्द का प्रयोग कांट उपर्युक्त अन्तिम चार अर्थों में करता है। कहीं-कहीं उसका प्रयोग केवल एक अर्थ में ही है; किन्तु सामान्यतः वह चारों अर्थों को ध्यान में रखता है। अतः प्रागनुभविक ज्ञान से इन चारों अर्थों का तात्पर्य लगाना चाहिए।

७ देश-काल

देश और काल सद्वस्तु नहीं हैं। वे हमारी संवेदना-शक्ति के आकार हैं या हमारे प्रत्यक्षों के आकार हैं। हम जिन प्रत्यक्षों को प्राप्त करते हैं वे सभी देश और काल में घटित होते हैं। देश और काल इन प्रत्यक्षों की भूमिका हैं। फिर यही नहीं, हमारी संवेदना-शक्ति अर्थात् प्रत्यक्षों को प्राप्त करने की शक्ति का आकार ही देश और काल है। दूसरे शब्दों में हमारी संवेदना-शक्ति स्वभावतः ऐसी है कि देश-काल उसमें व्याप्त रहते हैं।

देश बाह्य इन्द्रिय का आकार है और काल आन्तरिक इन्द्रिय या अन्तःकरण का आकार है। बाह्य इन्द्रिय से जिन विषयों का ज्ञान होता है वे सभी देश में स्थित पाये जाते हैं। इसी प्रकार अन्तःकरण से हम जो कुछ जानते हैं अर्थात् हम अपने मन के अन्दर जिन-जिन भावों को जानते हैं वे सभी काल में स्थित पाये जाते हैं।

कांट देश और काल की व्याख्या दो प्रकार से करता है। एक, तात्त्विक व्याख्या है जिसमें वह सिद्ध करता है कि देश और काल प्रागनुभविक तत्त्व हैं। दूसरे, प्रतिगोचर व्याख्या है जिसमें वह सिद्ध करता है कि देश-काल का अनिवार्य सम्बन्ध हमारे ज्ञान से है।

देश-काल की तात्त्विक व्याख्या करते हुए कांट चार प्रमाण देता है कि क्यों देश-काल इन्द्रिय या संवेदना-शक्ति के आकार हैं :—

(१) देश और काल अनुभवजन्य प्रत्यय नहीं हैं। कारण, जब हमें देश या काल का अनुभव होता है तो हमें क्रमशः सह-अस्तित्व या अनुक्रम का अनुभव होता है। किन्तु सह-अस्तित्व और अनुक्रम से हम क्रमशः देश और काल का प्रत्यय नहीं प्राप्त कर सकते, क्योंकि सह-अस्तित्व स्वयं देश की अपेक्षा करता है और अनुक्रम स्वयं काल की अपेक्षा करता है। हम जिस किसी विषय से देश या काल के प्रत्यय को उत्पन्न दिखाने का प्रयास करेंगे वह स्वयं देश या काल के माध्यम से घटित होता है अथवा देश या काल की अपेक्षा करता है। अतः देश और काल की उत्पत्ति असंभव है और वे अनुभव की प्रागपेक्षाएँ हैं।

(२) देश और काल प्रागनुभविक हैं। हम देश की कल्पना करते समय देश में स्थित सभी विषयों को देश से हटा सकते हैं, किन्तु किसी विषय की कल्पना करते समय हम उस विषय को देश से अलग नहीं हटा सकते। अतः देश हमारे संवेद्य विषयों का आधार है। इसी प्रकार काल भी हमारे संवेद्य विषयों का आधार है।

(३) देश और काल सामान्य प्रत्यय नहीं हैं। जो सामान्य प्रत्यय होता है उसके अनेक विशेष उदाहरण होते हैं। जैसे मनुष्य एक सामान्य प्रत्यय है जिसके उदाहरण राम, श्याम, मोहन, आदि विशेष मनुष्य हैं। इसी प्रकार यदि देश और काल सामान्य प्रत्यय होते तो उनके उदाहरण रूप में विशेष देश और विशेष काल होते। किन्तु विशेष देश और विशेष काल जो अनुभव में आते हैं वे क्रमशः सामान्य देश और सामान्य काल के अंश हैं। महाकाश और घटाकाश में या महाकाल और एक क्षण में वह सम्बन्ध नहीं है जो सम्बन्ध मानव और मोहन में है। देश और काल स्वयं विशेष इकाई हैं और उनके अंश उनके अन्दर हैं, न कि उनके पहले।

(४) देश और काल अनन्त हैं। वे अविभाज्य और अखण्ड हैं। उनका विभाजन या खंड करना स्वयं उनकी अपेक्षा करता है।

फिर देश-काल की प्रतिगोचर व्याख्या करते हुए कांट कहता है कि ज्यामिति का संबन्ध देश से है और गतिविज्ञान का संबन्ध काल से है। चूंकि ज्यामिति के परामर्श प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक हैं, इसलिए देश भी प्रागनुभविक प्रत्यक्ष है। यदि देश प्रागनुभविक प्रत्यक्ष न होता तो ज्यामिति के परामर्श प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक न होते। इसी प्रकार चूंकि गति-विज्ञान के परामर्श प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक हैं, इसलिए उनका आधारभूत काल भी प्रागनुभविक प्रत्यक्ष है।

कांट के अनुसार देश और काल विषयिगत हैं, विषयगत नहीं। उसका मत न्यूटन के मत के विरुद्ध है जिसके अनुसार देश और काल विषयगत, रिक्त और अनन्त वस्तुएँ हैं। फिर उसका मत लाइबनीज के मत से भी भिन्न है जिसके अनुसार देश और काल भ्रान्त प्रतिबिम्ब या संवेद हैं। कांट के अनुसार देश और काल अभ्रान्त प्रतिबिम्बों या संवेदों के आकार हैं। वास्तव में कांट के मत में न्यूटन और लाइबनीज के मतों का समन्वय है। लाइबनीज की भाँति कांट मानता है कि देश और काल विषयिगत हैं और उनका सम्बन्ध संवेद या संवेदना से है। फिर वह न्यूटन से इस विषय पर मतैक्य रखता है कि देश और काल अनन्त, असीम और अखंड हैं। किन्तु जहाँ न्यूटन देश-काल को स्वयं वस्तु मानता है वहाँ कांट उनको वस्तुओं का आधार मानता है, न कि स्वयं वस्तुएँ। उसके अनुसार देश और काल स्वतः सद् वस्तुएँ नहीं हैं। उनका अनिवार्य सन्दर्भ प्रत्यक्ष से रहता है। वे प्रत्यक्ष के आकार हैं। इस दृष्टि से देखा जाय तो कांट के अनुसार देश और काल विषयगत भी हो जाते हैं। वास्तव में उसके दर्शन में विषयिगत और "विषयगत" का वह अर्थ नहीं है जो अन्य दर्शनों में है। इस कारण उचित रूप में उनको न तो विषयिगत कहा जा सकता है और न विषयगत। वे इन दोनों की प्रागपेक्षाएँ हैं।

अन्त में देश और काल के बारे में अपने मत को स्पष्ट करते हुए कांट ने कहा कि देश और काल संवृत्तितः वास्तविक (Empirically Real) हैं और परमार्थतः वैचारिक (Transcendentally Ideal)। देश के बारे में वह कहता है :—

"हमें विषय-रूप में बाहर से जिस देश में सभी कुछ उपलब्ध होता है वह वास्तविक या वस्तुतः यथार्थ है। किन्तु उसी समय वह देश वैचारिक भी है, क्योंकि हम उसके अन्दर उपलब्ध होने वाली वस्तुओं को स्वतः स्थित समझते हैं और मानते हैं कि वे हमारी संवेदना के बिना सत् हैं। इसलिए जहाँ तक सभी संभव बाह्य प्रत्यक्ष हैं वहाँ तक हम देश को संवृत्तितः वास्तविक कहते हैं। और उसी समय हम इसे परमार्थतः वैचारिक भी कहते हैं क्योंकि जब हम इसे सभी संभव प्रत्यक्षों से हटा लेते हैं और समझते हैं कि यह एक स्वतः सद् वस्तु है तो यह बिलकुल असत् हो जाता है और एक विचार मात्र रह जाता है[1]।"

फिर काल के बारे में वह कहता है—

---

१. देखिए शुद्ध बुद्धि की आलोचना, प्रथम संस्करण पृ० २८।

"काल संवृत्तितः वास्तविक है अर्थात् हमारे सभी इन्द्रियगोचर विषयों का जहाँ तक सम्बन्ध है वहाँ तक काल वस्तुतः यथार्थ है।......... किन्तु हम काल को स्वतः सद् वस्तु नहीं मानते हैं। हम नहीं मानते कि काल हमारी संवेदना के बिना या उससे स्वतन्त्र होकर स्वतः सद् वस्तुओं का गुण या लक्षण है। स्वतः सद् वस्तुओं के गुण हमें कभी इन्द्रियगोचर नहीं हो सकते हैं। यही काल को परमार्थतः वैचारिक कहने का अर्थ है[१]।"

संवृत्तितः सत् और परमार्थतः विचार दोनों देश और काल के स्वरूप हैं। देश और काल संवृत्तितः सत् और परमार्थतः सत् हैं, ऐसा ट्रेन्डेलेनबर्ग मानता है। वे संवृत्तितः विचार और परमार्थतः विचार हैं, ऐसा बर्कले और लाइबनीज मानते है। अन्त में वे संवृत्तितः विचार और परमार्थतः सत् हैं, ऐसा न्यूटन, क्लार्क और लाक मानते हैं। इन सभी का खंडन करते हुए कांट ने बलपूर्वक कहा कि देश और काल संवृत्तितः सत् और परमार्थतः विचार हैं।

यह मत उसके दर्शन का एक प्रमुख सिद्धान्त है। इसके आधार पर उसे व्यावहारिक (सांवृत्तिक) वस्तुवादी और पारमार्थिक प्रत्ययवादी कहा जाता है। वह बर्कले की भाँति व्यावहारिक प्रत्ययवादी नहीं है और न लाइबनीज की भाँति पारमार्थिक वस्तुवादी है। उसका दर्शन व्यावहारिक वस्तुवाद और पारमार्थिक प्रत्ययवाद है। वह व्यावहारिक वस्तुवाद है क्योंकि वह पारमार्थिक प्रत्ययवाद है और वह पारमार्थिक प्रत्ययवाद है क्योंकि वह व्यावहारिक वस्तुवाद है। कारण, उसके दर्शन में बस्तुओं का आधार देश-काल है और देश-काल संवृत्तितः वास्तविक हैं, क्योंकि वे परमार्थतः विचार हैं। और वे परमार्थतः विचार हैं, क्योंकि वे संवृत्तितः वास्तविक हैं। उनकी वास्तविकता और वैचारिकता में इस प्रकार हेतुफल का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।

कांट का यह मत शंकराचार्य के अद्वैतवेदान्त से मिलता-जुलता है जिसके अनुसार देश और काल ही नहीं किन्तु समस्त प्रपंच या जगत् संवृत्तितः सत् है और परमार्थतः असत् है। कांट के अनुसार भी देश और काल केवल प्रपंच के विषयों के लक्षण हैं और वे परमार्थतः सद् वस्तु के लक्षण नहीं हैं। जो देश और काल में स्थित है उसे गोचर, इन्द्रियगोचर, संवेद्य विषय या प्रपंच कहा जाता है। इस आधार पर कांट के दर्शन को प्रपंचवाद (Phenomenalism) कहा जाता है क्योंकि वह प्रपंच की विशद और प्रामाणिक व्याख्या करता है। इस व्याख्या में देश-काल के अतिरिक्त वर्गणाओं का भी उपयोग है। अत. अब हम इन वर्गणाओं का विवेचन करेंगे।

---

१. वही पृ० ३६।

८ वर्गणाएँ

वर्गणाओं (या पदार्थ) का सम्बन्ध बुद्धि से है जैसे देश-काल का सम्बन्ध संवेदना से है । कांट वर्गणा का प्रयोग पाँच अर्थों में करता है :—

(क) बुद्धि के आकार, (ख) सामान्यतः किसी विषय के संप्रत्यय, (ग) अनिवार्य संश्लेषणात्मक इकाई के संप्रत्यय, (घ) परामर्श-रूपों के संप्रत्यय और (ङ) शुद्ध संश्लेषण के संप्रत्यय । इन पाँचों अर्थों के अनुसार वर्गणाएँ प्रागनुभविक हैं । वर्गणाएँ हमारे प्रत्यक्ष-विषयों के केवल लक्षण ही नहीं हैं, वे परामर्श के आकार और बुद्धि के व्यापार भी हैं । वे बौद्धिक ज्ञान प्राप्त करने की रीतियाँ हैं और इसके साथ ही साथ वे शेष विषयों के लक्षण भी हैं । इस प्रकार वर्गणाओं के दो पहलू हैं— विषयिगत और विषयगत । विषयिगत पहलू में वे ज्ञान की रीतियाँ हैं और विषयगत पहलू में वे प्रपंच-विषयों के लक्षण हैं ।

वर्गणाओं का तात्त्विक निगमन (Metaphyysical Deduction) करते हुए कांट कहता है—

(i) बुद्धि प्रत्ययों के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करने की एक शक्ति है;

(ii) प्रत्ययों के माध्यम से जानना परामर्श करना है;

(iii) परामर्श करना अनिवार्यतः प्रत्ययों को एकत्र करना है;

(iv) जिन विविध रीतियों से परामर्श हमारे प्रत्ययों को एकत्र करते हैं वे तर्कशास्त्र में वर्णित परामर्श के प्रकार हैं;

(v) इसलिए परामर्श के प्रकार जिनका वर्णन तर्कशास्त्र में होता है वर्गणाओं के भी प्रकार है ।

पुनश्च तर्कशास्त्र में कुल १२ प्रकार के परामर्श हैं । इसलिए कुल १२ वर्गणाएँ भी हैं । इन वर्गणाओं को ४ भागों में बाँटा गया है जो मात्रा, गुण, सम्बन्ध और निश्चय-मात्रा के भाग हैं । प्रत्येक भाग में तीन वर्गणाएँ हैं । इस प्रकार वर्गणाओं की सूची यों है :—

(१) मात्रा	(२) गुण
एकता	भाव
अनेकता	अभाव
समग्रता	परिसीमा

(३) सम्बन्ध	(४) निश्चय-मात्रा
द्रव्य-गुण	सम्भावना-असम्भावना
कारण-कार्य	सत्ता-असत्ता
परस्परता	अनिवार्यता-यादृच्छिकता

कांट का कहना है कि प्रत्येक विषय के ज्ञान में ये बारह वर्गणाएँ निहित रहती हैं। ये अनुभव की प्रागपेक्षाएं हैं। इसलिए ये प्रागनुभविक मानी जाती हैं। इनकी प्रागनुभविकता को सिद्ध करने के लिए कांट ने एक प्रतिगोचर निगमन दिया है जो यो हैं—

हमें कुछ विपयों का ज्ञान है। इस ज्ञान के लिए संवेदना के प्रदत्तों का संश्लेषण अपेक्षित हैं क्योंकि उसके बिना यह ज्ञान असंभव है। यह संश्लेषण बुद्धि का व्यापार है जिसे बुद्धि परामर्श की प्रक्रिया से सम्पन्न करती है। इसलिए विषयों का जो ज्ञान संश्लेषण से बनता है वह परामर्श के आकारों से अर्थात् वर्गणाओं से निर्धारित होता है। इसलिए परामर्श के आकार जो वर्गणाएँ हैं, प्रत्येक ज्ञान में अपेक्षित हैं अर्थात् वर्गणाएँ प्रागनुभविक हैं। वर्गणाओं को कांट दो रूपों में मानता है—शुद्ध वर्गणाएं और आकारयुक्त वर्गणाएँ। आकारयुक्त वर्गणाएँ (Schematised categories) कालयुक्त शुद्ध वर्गणाएं ही हैं। जब शुद्ध वर्गणाओं को काल के अन्दर चित्रित किया जाता है तब वे आकारयुक्त वर्गणाएं हो जाती हैं।

वास्तव में कांट बुद्धि के त्रिविध व्यापार मानता है, अवग्रहण, कल्पना और व्यवसाय। अवग्रहण-रूप मे बुद्धि के आकार शुद्ध वर्गणाएँ ह। कल्पना-रूप में उसके आकार आकारयुक्त या कालयुक्त वर्गणाएँ हैं और व्यवसाय-रूप में उसके आकार बुद्धि के सिद्धान्त हैं जो आकारयुक्त वर्गणाओ को अनुशासित करते हैं। ये बुद्धि-सिद्धान्त चार हैं—संवेदना की स्वयंसिद्धयाँ, प्रत्यक्ष के पूर्वावधारण, अनुभव के साम्यानुमान और अनुभवजन्य ज्ञान की मान्यताएँ। इन बुद्धि-सिद्धान्तों के निर्देशन में क्रमशः मात्रा, गुण, सम्बन्ध और निश्चय-मात्रा की वर्गणाओं के व्यापार सम्पन्न होते हैं।

जब कोई विषय ज्ञात होता है तब उसमें जैसे संवेद और संवेदना के आकार, देश तथा काल निहित रहते हैं, वैसे उसमें बुद्धि-सिद्धान्त और आकारयुक्त वर्गणाएँ भी निहित रहती हैं। आकारयुक्त वर्गणाओं के माध्यम से बुद्धि संश्लेषण करती है। बौद्धिक संश्लेषण के विना कोई विषय ज्ञात नहीं हो सकता है। यह संश्लेषण त्रिविध है।

९ त्रिविध संश्लेषण

बौद्धिक संश्लेषण यथार्थतः एक ही व्यापार है किन्तु उसका विश्लेषण करने के लिए उसको त्रिविध कहा जाता है। यह त्रिविध संश्लेषण निम्नलिखित है—

(क) प्रत्यक्ष में मानसिक वृत्तियों के रूप में प्रत्ययों का अवग्रहण।

(ख) कल्पना में प्रत्ययों की पुनः रचना।

(ग) संप्रत्यय में इन प्रत्ययों की प्रत्यभिज्ञा।

इस संश्लेषण को मन अपनी तीन शक्तियों से एक साथ संपादित करता है। ये शक्तियाँ हैं प्रत्यक्ष, कल्पना और अवधारणा। इनका प्रयोग गोचर और प्रतिगोचर दो प्रकार का होता है। अपने गोचर-प्रयोग में ये प्रत्ययों की प्रदत्त सामग्री से संबन्धित हैं और प्रतिगोचर-प्रयोग में इनका संबन्ध ज्ञानाकारों से है। प्रत्यक्ष का गोचर प्रयोग इन्द्रिय-प्रदत्तों का ग्रहण है और उसका प्रतिगोचर-प्रयोग देश और काल का स्रोत होना है। इस प्रकार अवग्रहण में एक ओर क्षण का ज्ञान होता है तो दूसरी ओर देश और काल का। कल्पना का गोचर-प्रयोग आकारयुक्त वर्गणाओं से अनुशासित अवग्रहण का ज्ञान है और उसका प्रतिगोचर-प्रयोग आकारयुक्त पदार्थों का ज्ञान है। अन्त में अवधारणा का गोचर-प्रयोग शुद्ध वर्गणाओं से अनुशासित अवग्रहण और कल्पना के संश्लेषण का ज्ञान और उसका प्रतिगोचर-प्रयोग शुद्ध वर्गणाओं का ज्ञान है। इस प्रकार संक्षेप में प्रत्येक ज्ञान में प्रत्यक्ष, कल्पना और अवधारणा का उपयोग है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि त्रिविध संश्लेषण की प्रक्रिया मानसिक इतिहास का उद्घाटन नहीं करती है प्रत्युत वह अनुभव की एक तार्किक अपेक्षा का निरूपण करती है। उससे ज्ञात होता है कि अनुभव में कितने तत्त्व तर्कतः निहित रहते हैं। प्रत्येक विषय-ज्ञान में नाना तत्त्वों का एकीकरण होता है—यह विषय की तार्किक अपेक्षा है। इसी को कांट संश्लेषण कहता है। संश्लेषण भी प्रागनुभविक है क्योंकि इसके विना कोई ज्ञान सम्भव नहीं है।

१० कार्य-कारण-भाव

कांट की सभी वर्गणाओं में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य-कारण की वर्गणा है। ह्यूम ने इस वर्गणा का खंडन किया था। कांट ह्यूम को गलत काटते हुए इस वर्गणा का सत्यापन करता है।

कांट के अनुसार कार्य-कारण का अर्थ है---सभी परिवर्तन कारण और कार्य के सम्बन्ध के अनुसार घटित होते हैं। इसको सिद्ध करने के लिए उसने छः युक्तियाँ दी हैं :—

(१) मैं प्रत्यक्ष देखता हूँ कि एक दृश्य विषय दूसरे दृश्य विषय का अनुवर्तन करता है। इसका तात्पर्य है कि मैं विविध दृश्यों को सम्बन्धित करता हूँ। किन्तु सम्बन्ध स्थापित करना इन्द्रियानुभव का व्यापार नहीं है। यह व्यापार कल्पना का है। इसलिए कल्पना विविध दृश्यों को सम्बन्धित करती है। परन्तु कल्पना बुद्धि के अधीन रहकर ही ऐसा करती है और वह मनमानी नहीं कर सकती है। पुनश्च विविध दृश्यों में जो अनुवर्तन दिखलाई पड़ता है वह कल्पना का मनमानी व्यापार नहीं हैं क्योंकि वह विषयगत है। अतः कल्पना विविध दृश्यों में जो सम्बन्ध स्थापित करती है वह बुद्धि के द्वारा नियंत्रित है। बुद्धि का यह नियन्त्रण बताता है कि एक दृश्य नियत रूप से पूर्ववर्ती है और दूसरा दृश्य नियत रूप से परवर्ती। यही कार्य-कारण का सिद्धान्त है। अतः विविध दृश्यों का अनुवर्तन कार्यकारण को सिद्ध करता है।

(२) क्रम विषयगत और मनोगत दो प्रकार का है। मनोगत क्रम केवल देखने में है और विषयगत क्रम वस्तुगत है। जब हम नौका को खेते हुए दो स्थानों में देखते हैं तो उसकी स्थितियों का क्रम विषयगत है, मनोगत नहीं। विषयगत क्रम नियत होता है और नियत क्रम कारण-कार्य के नियमानुसार होता है। अतः विषय-गत क्रम के प्रत्यक्ष में कार्य-कारण का नियम निहित है।

(३) यदि मान लिया जाय कि कोई घटना कार्य-कारण के नियम के अनुसार नहीं घटती तो फिर उसका ज्ञान असम्भव होगा क्योंकि इस परिस्थिति में उस घटना के विभिन्न अंगों में कोई सम्बन्ध न रहेगा और उनके बीच सम्बन्ध न रहने के कारण उनका ज्ञान असंभव होगा। किन्तु यह अनुभव के विपरीत है। कारण, हमें प्रत्येक घटना का ज्ञान होता है। अतः यह ज्ञान सिद्ध करता है कि कार्य-कारण का नियम प्रत्येक घटना के ज्ञान में निहित है।

(४) हमारे प्रत्यक्षों में एक अनिवार्य क्रम है जिसके अनुसार पूर्ववर्ती प्रत्यक्ष अनुवर्ती प्रत्यक्ष को प्रस्तुत करता है। स्पष्ट है कि यह प्रस्तुति कार्य-कारण के नियम के बिना नहीं हो सकती। अतः कार्य-कारण का नियम सत्य है।

(५) विभिन्न क्षणों के सातत्य का जो प्रत्यक्ष हमें होता है उसमें कार्य-कारण का नियम निहित है। हम भविष्य को पहले, भूत को बाद में और वर्तमान को अन्त में नहीं देख सकते हैं। हमें काल को क्रमशः भूत, वर्तमान और भविष्य के रूप में

देखना पड़ता है। काल-क्रम अपरिवर्तनीय और नियत क्रम है। उसका यह रूप कार्य-कारण के नियम को सिद्ध करता है।

(३) हमारे प्रत्यक्षों का एक अनिवार्य विषयगत क्रम है जो सिद्ध करता है कि कार्य-कारण का नियम उनमें व्याप्त है।

इस प्रकार कांट ने सिद्ध किया कि प्रकृति में जो परिवर्तन होता है वह आकस्मिक या मनगढ़न्त नहीं है वरन् कार्य-कारण के नियमानुसार है। कार्य-कारण का विषय प्रागनुभविक है। वह अनुभवजन्य नहीं है। इसके विपरीत ह्यूम ने दिखलाने का प्रयास किया था कि कार्य-कारण का प्रत्यय अनुभवजन्य है। किन्तु ह्यूम का मत तर्क-सम्मत नहीं है, क्योंकि कार्य-कारण के विषय की उत्पत्ति दिखलाने का प्रत्येक प्रयास कार्य-कारण की अपेक्षा करता है। अतः कांट का यह मत तर्कपुष्ट है कि कार्य-कारण की वर्गणा प्रागनुभविक है।

११ आत्मज्ञान की एकता

प्रतिगोचर निगमन द्वारा कांट ने वर्गणाओं के अतिरिक्त एक और तत्त्व को प्रागनुभविक सिद्ध किया है जिसे उसने आत्मज्ञान की एकता कहा है। यह आत्मज्ञान की एकता एक संप्रत्यय है और यह वस्तु-सत् नहीं है। कांट इसको 'मैं सोचता हूँ' (I Think) कहता है। यह अद्वैत वेदान्त का चित्-तत्त्व है। इसे हम शुद्ध आत्मा कह सकते हैं।

आत्मज्ञान की एकता प्रत्येक ज्ञान में एक प्रतिगोचर तत्त्व है। इसके बिना बुद्धि का संश्लेपण असम्भव है। बुद्धि जब विभिन्न संवेदों को त्रिविध संश्लेपण द्वारा एकत्र करती है तब उसके व्यापार की यह अपेक्षा है कि उसके समस्त व्यापार और विषय किसी एक द्रष्टा या ज्ञाता के साक्ष्य में हो रहे हों। यदि ऐसा साक्षी पुरुष न हो तो फिर इन संवेदों का किसी प्रत्यय में संश्लेपण नहीं हो सकता है। प्रत्यक्ष, कल्पना और अवधारणा द्वारा जब संश्लेषण होता है तब इसका तात्पर्य है कि एक ही साक्षी ऐसा प्रत्यक्ष, कल्पना और अवधारणा करता है। यदि वह साक्षी अपने विषयों की भाँति परिवर्तनशील या चल हो तो फिर संश्लेपण असम्भव हो जाय। किन्तु संश्लेषण संभव है। अतः सिद्ध है कि प्रत्येक ज्ञान का एक अपरिवर्तनशील साक्षी है जो समस्त परिवर्तनों को देखता है, किन्तु जिसमें स्वयं कोई परिवर्तन नहीं होता है। ऐसे ज्ञाता साक्षी को शुद्ध आत्मा कहा जाता है। अतः एक शुद्ध आत्मा है जो अनुभव का एक प्रागनुभविक तत्त्व है।

कांट के कुछ भाष्यकारों ने शुद्ध आत्मा को सत् वस्तु भी मान लिया है। चित् से सत् को कैसे सिद्ध किया जा सकता है? प्रत्यय से वस्तु का अस्तित्व कैसे सम्भव है? कांट ने केवल ज्ञानमीमांसा के दृष्टिकोण से चिद्रूप आत्मा को सिद्ध किया है। जो लोग इसको सद्रूप आत्मा भी समझ लेते हैं उनके अज्ञान को कांट ने तर्काभास कहा है। बौद्धिक मनोविज्ञान मानता है कि आत्मा एक द्रव्य है, गुण की दृष्टि से आत्मा सरल है, आत्मा एक है और आत्मा अमर है। किन्तु कांट ने दिखलाया है कि ऐसा बौद्धिक मनोविज्ञान तर्काभास पर आधारित एक मिथ्या शास्त्र है। वह शुद्ध आत्मा को गलत ढंग से एक द्रव्य मान लेता है और फिर उसके गुणों का वर्णन करता है। आत्मा द्रव्य नहीं है। वह कालगत नहीं है। वह देश, काल और वर्गणाओं से परे हैं। वह शुद्ध एकता (आत्मन् = एकता) है। वह सभी ज्ञान का ज्ञाता है। उसका ज्ञाता कोई नहीं हो सकता है। इसलिए यह अज्ञेयवाद आत्मा का युक्तियुक्त वर्णन करता है।

किन्तु प्रो० अनुकूल चन्द्र मुकर्जी यहाँ कहते हैं कि कांट में अज्ञेयवाद नहीं है क्योंकि उसके अनुसार शुद्ध आत्मा का ज्ञान प्रतिगोचर निगमन द्वारा प्रत्येक विषय के ज्ञान में ही हो जाता है। शुद्ध आत्मा कोई गोचर विषय नहीं है। वह अगोचर भी नहीं है। वह प्रतिगोचर है और इस कारण वह प्रतिबोध-विदित है। इस प्रकार प्रो० मुकर्जी ने दिखलाया है कि कांट का आत्मवाद शंकराचार्य के आत्मवाद के सन्निकट है। यह सत्य है कि कांट शुद्ध आत्मा को सत् नहीं मानता है। किन्तु यदि वह इसको ज्ञान-स्वरूप मानता है और ज्ञान-रूप में यावत् अनुभव का साक्षी तत्त्व मानता है तो इससे उसका सिद्धान्त शंकराचार्य का आत्मवाद ही सिद्ध होता है। आत्मा को चाहे सत् मानें या न मानें, इससे कोई आपत्ति नहीं है। वह चिद्रूप तो है ही। वास्तव में ज्ञान-स्वरूप शुद्ध आत्मा सभी विषयों का साक्षी है। उसका अस्तित्व चिन्मय ही है। उसके अस्तित्व को चित्-तत्त्व से पृथक् करके सत्-तत्त्व कहना अस्तित्व-मीमांसा को प्रधान और ज्ञान-मीमांसा को गौण बना देता है। कांट अस्तित्व-मीमांसा और ज्ञान-मीमांसा के इस सम्बन्ध के प्रति विद्रोह करता है। उसके अनुसार ज्ञान-मीमांसा ही प्रधान है और अस्तित्व-मीमांसा एक मिथ्या शास्त्र है। कांट की यह मीमांसा शंकराचार्य के दर्शन के सन्निकट है। इस ज्ञान-मीमांसा ने जर्मनी में प्रत्ययवाद को जन्म दिया जिसके विकास-कर्त्ता फिश्टे, शेलिंग और हेगल हैं। १९वीं और २०वीं शताब्दी में इस प्रत्ययवादी ज्ञान-मीमांसा का प्रभाव सम्पूर्ण विश्व पर पड़ा। इसके अनुसार ज्ञान-स्वरूप शुद्ध आत्मा ही एक और अद्वितीय तत्त्व है जिसके विषय-रूप में जगत् के सभी विषय सम्भव होते हैं।

किन्तु एडवर्ड केयर्ड की कांट के प्रति यहाँ एक शिकायत है। उनका कहना है कि कांट ने शुद्ध आत्मा को अनुभव की केवल पृष्ठभूमिका माना है और वह इसको अनुभव की एक प्रगतिशील तथा वर्द्धमान एकता के रूप में निरूपित न कर सका। यदि शुद्ध आत्मा प्रत्येक विषय की प्रागपेक्षा है और प्रत्येक विषय शुद्ध आत्मा में शुद्ध आत्मा के द्वारा संभव होते हैं तो फिर शुद्ध आत्मा की एकता अनुभव की प्रगतिशील और बर्द्धमान एकता है[1]। हेगल ने इस दृष्टिकोण से कांट के दर्शन का विकास किया है। उसके अनुसार आत्मा शुद्ध अनुभव की पृष्ठगामी या मूलगामी एकता और अग्रगामी एकता दोनों है।

१२ चिन्तन के संप्रत्यय

अभी तक हमने बुद्धि के विषयाभिमुख ज्ञान का ही वर्णन किया है और उससे सिद्ध किया है कि इस ज्ञान में अनेक प्रागनुभविक तत्त्व निहित हैं। विषयाभिमुख ज्ञान के अतिरिक्त बुद्धि में एक और शक्ति है जिसे आत्माभिमुख चिन्तन कहा जाता है। बृद्धि आत्म-चिन्तन भी करती है। बुद्धि की इस शक्ति को हम चिन्तन (Reason) कहेंगे।

आत्मचिन्तन का लक्ष्य बुद्धि के व्यापारों का एकीकरण है। आत्मचिन्तन के प्रत्यय तीन हैं—आत्मा, जगत् और ईश्वर के प्रत्यय। आत्मा के प्रत्यय के अन्दर बुद्धि उन सभी व्यापारों का एकीकरण करती है जिन्हें वह अपने बारे में संपादित करती है। जगत् के प्रत्यय के अन्दर वह उन समस्त विषयों का एकीकरण करती है जिन्हें वह वस्तुगत जानती है। अन्त में वह ईश्वर के प्रत्यय के अन्दर इन सभी व्यापारों और विषयों का एकीकरण करती है। इस प्रकार आत्मा आत्मगत बौद्धिक व्यापारों का महासंस्थान है, जगत वस्तुगत बौद्धिक विषयों का महासंस्थान है और ईश्वर इन दोनों महासंस्थानों का महासंस्थान है क्योंकि वह इन दोनों का समावेश अपने अन्दर करता है।

स्पष्ट है कि आत्मा, जगत् और ईश्वर के प्रत्यय आदर्श एकता हैं। ये प्रत्यय असंस्कृत हैं। इनका निर्धारण कोई नहीं करता है। ये अनुभवातीत या अगोचर हैं। अनुभव में कोई ऐसा विषय नहीं है जो इन प्रत्ययों के अनुरूप हो। इनके अनुरूप इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में कोई विषय नहीं है। किन्तु इन प्रत्ययों की उदभावना यादृच्छिक या आकस्मिक नहीं है। ये बुद्धि के स्वभाव के अनुसार स्वतः प्रादुर्भूत होते हैं। ये विचार मात्र है, किन्तु बुद्धि के लिए अनिवार्य हैं। वास्तव में बुद्धि अपने विषयों को एकता के एक आदर्श में रखना चाहती है जिसके फलस्वरूप उसको इन प्रत्ययों की उदभावना

---

१. देखिए, क्रिटिकल फिलासफ़ी आफ़ कांट, एडवर्ड केयर्ड, प्रथम भाग, अध्याय चार।

अनिवार्यतः करना पड़ता है। कांट इसीलिए इनको प्रत्यय न कहकर कभी-कभी आदर्श (Ideals) कहता है। ये प्रत्यय बुद्धि के आदर्श हैं।

इन प्रत्ययों में देश, काल, वर्गणाओं और आत्मज्ञान की एकता से यह विशिष्टता है कि ये नियामक हैं और संरचनात्मक नहीं हैं। देश, काल, वर्गणाएँ और आत्मज्ञान की एकता संरचनात्मक हैं क्योंकि वे अनुभव के कारक-तत्त्व हैं। आत्मा, जगत् और ईश्वर अनुभव के कारक-तत्त्व नहीं हैं। वे अनुभव के आदर्श हैं। वे प्रतिगोचर या प्रागनुभविक तत्त्व नहीं हैं, उनका विवेचन कांट ने शुद्ध बुद्धि की आलोचना के जिस भाग में किया है उसे प्रतिगोचर वितर्क (Transcendental Dialectic) कहा जाता है और देश-काल तथा वर्गणाओं का विवेचन जिन भागों में किया है उन्हें क्रमशः प्रतिगोचर संवेदनी (Transcendental Aesthetic) और प्रतिगोचर विश्लेषणी (Transcendental Analytic) कहा जाता है। आजकल प्रायः माना जाता है कि कांट का मुख्य दर्शन प्रतिगोचर विश्लेषणी में है। प्रतिगोचर वितर्क में वह केवल आत्मविद्या, सृष्टिविद्या और ईश्वर-विद्या के दोष दिखाता है। ये विद्याएँ सत् शास्त्र न होकर मिथ्या शास्त्र हैं।

कांट के समय में इन विद्याओं को बौद्धिक मनोविज्ञान, बौद्धिक सृष्टिविज्ञान और बौद्धिक ईश्वरविद्या कहा जाता था और ये ही दर्शनशास्त्र के अंग-रूप में मानी जाती थीं। कांट ने इनका खंडन करके सिद्ध किया है कि वास्तव में ये दर्शनशास्त्र नहीं हैं। वास्तविक दर्शनशास्त्र ज्ञानमीमांसा है जिसका विवेचन कांट के प्रतिगोचर संवेदनी और प्रतिगोचर विश्लेषणी में हुआ है।

बौद्धिक मनोविज्ञान के दोष को हम देख चुके हैं। आगे हम क्रमशः सृष्टिविद्या और ईश्वर-विद्या के दोषों का विवेचन करेंगे।

१३ बुद्धि के विरोधाभास

सृष्टिविद्या जगत् के प्रत्यय का निरूपण करती है। जगत् देश और काल में स्थित दृश्यों (प्रपंचों) की समग्रता है। जगत् देश और काल से सीमित है या नहीं? जगत् के कुछ द्रव्य अविभाज्य हैं या नहीं? जगत् का कर्त्ता स्वतन्त्र है या जगत् कार्य-कारण नियम में बंधा है? जगत् के अन्दर और बाहर कोई पूर्णतः अनिवार्य सत्ता है या नहीं? इन चार प्रश्नों के विवेचन सृष्टिविद्या में किये जाते है।

कांट ने दिखलाया है कि इन चारों प्रश्नो में प्रत्येक प्रश्न का उत्तर बुद्धि दो

चार विरोधाभास हैं। प्रत्येक विरोधाभास में एक पक्ष है और एक प्रतिपक्ष। पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों को तर्कतः सिद्ध किया जा सकता है और इनमें से किसी एक को सत्यापित करने की कोई विधि बुद्धि के पास नहीं है। इस प्रकार बौद्धिक सृष्टि-विज्ञान हमें बुद्धि के विरोधाभास में छोड़ देता है।

उपर्युक्त चारों प्रश्नों के पक्ष ये हैं—(१) जगत् देश और काल में सीमित है। (२) जगत् में कुछ तत्त्व अविभाज्य (असंहत) है और शेष तत्त्व उन तत्त्वों के संघात है। (३) जगत् का एक स्वतंत्र कर्त्ता है। (४) इस जगत् के अन्दर और बाहर एक पूर्णतः अनिवार्य सत्ता है जिसे ईश्वर कहा जाता है। इन सब मतों की मान्यता कांट-पूर्व बुद्धिवाद में थी जिसका प्रतिनिधि दार्शनिक वुल्फ था।

फिर चारो प्रतिपक्ष ये हैं—(१) जगत् अनादि और अनन्त है। (२) जगत् की प्रत्येक वस्तु विभाज्य और क्षणिक है। (३) जगत् का कोई स्वतन्त्र कर्त्ता नहीं है और जगत् पूर्णतया कार्य-कारण द्वारा नियंत्रित है। (४) इस जगत् के अन्दर या बाहर कोई पूणतः अनिवार्य सत्ता नहीं है। इन मतों को मिलाकर कांटपूर्व अनुभव-वाद बना था जिसका प्रतिनिधि दार्शनिक ह्यूम था।

बुद्धि के इन विरोधाभासों के द्वारा कांट ने दिखलाया है कि बुद्धिवाद और अनुभववाद परस्पर एक-दूसरे का खंडन करते हैं। अतः दोनों गलत हैं।

अब प्रश्न है कि इन विरोधाभासों का समाधान कांट कैसे करता है? प्रथम दो विरोधाभासो को वह गणित-सम्बन्धी विरोधाभास कहता है। उनके प्रति उसका कथन है कि उनके पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों गलत हैं क्योंकि वे एक तीसरे विकल्प का संस्पर्श नहीं करते हैं जो सत्य है। तीसरा विकल्प है कि जगत् न तो देश में है और न काल में। जगत् मात्र आभास या प्रपंच है।

अन्तिम दो विरोधाभास गति-विज्ञान-सम्बन्धी हैं। उनके पक्ष स्वतः सद् वस्तुओं के बारे में हैं और प्रतिपक्ष दृश्यमान प्रपंच के बारे में। अतः कांट के अनुसार ये विरोधाभास दूर किये जा सकते हैं। पक्ष के सिद्धान्त स्वतः सद् वस्तुओं के बारे में सत्य हैं और प्रतिपक्ष के सिद्धान्त प्रपंच के विषय में।

१४ ईश्वर का प्रत्यय

बुद्धि के चतुर्थ विरोधाभास में ईश्वर को एक अनिवार्य और पूर्ण सत् माना गया है। वह आदि कारण या स्वयंभू (Causa sui) है। वह संपूर्ण संभव पूर्णताओं का वाहक है, एक व्यष्टि है और जगत् का कर्त्ता है।

ईश्वर और पूर्णता परिभाषया एकार्थक हैं। पूर्णता एक विधायक गुण है जिसमें निषेध का प्रवेश असम्भव है। यह सभी अन्य विधायक गुणों से अविरुद्ध है। ईश्वरविद्या ईश्वर को सिद्ध करने के लिए तीन युक्तियाँ देती है जो क्रमशः तत्त्व-दार्शनिक युक्ति, सृष्टिवैज्ञानिक युक्ति और रचनात्मक युक्ति हैं।

तत्त्वदार्शनिक युक्ति इस प्रकार है—ईश्वर परिभाषया सभी विधायक गुणों का योग है। अस्तित्व एक विधायक गुण है। इसलिए ईश्वर का अस्तित्व है।

सृष्टिवैज्ञानिक युक्तियों यों है—यदि कोई वस्तु है तो एक पूर्णतः अनिवार्य सत है अर्थात् ईश्वर भी है। कम-से-कम मैं हूँ। इसलिए ईश्वर है।

अन्त में रचनात्मक युक्ति इस प्रकार है—जगत् में सर्वत्र हमें एक आश्चर्य-जनक व्यवस्था देखने को मिलती है। यह व्यवस्था किसी योजना से ही उद्भूत हो सकती है। फिर यह योजना किसी बड़े बुद्धिमान् प्राणी की बुद्धि से ही उत्पन्न हो सकती है। इसलिए एक बड़ा बुद्धिमान् प्राणी है जो जगत् की व्यवस्था का रचयिता है।

कांट इन युक्तियों में दोष दिखलाता है। तत्त्वदार्शनिक युक्ति के बारे में वह कहता है कि इसका अमुख्य आधारवाक्य गलत है, क्योंकि अस्तित्व कोई विधायक गुण नहीं है। यह विधेय नहीं है और उद्देश्य के बारे में कोई कथन नहीं करता। पुनश्च तत्त्वदार्शनिक युक्ति प्रत्यय और ईश्वर के अस्तित्व में अनिवार्य सम्बन्ध बताती है। किन्तु इस पर कांट कहता है कि ईश्वर के प्रत्यय और ईश्वर के अस्तित्व दोनों को अस्वीकार करने में कोई विरोध नहीं है। अतः यह युक्ति अबाध-नियम से सत्यापित नहीं है। अन्त में किसी वस्तु के अस्तित्व का तात्पर्य है इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के माध्यम से उसका उपलब्ध होना। मात्र चिन्तन से किसी वस्तु का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। उदहारण के लिए १०० रु० की स्पष्ट अवधारणा करने से १०० रु० का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, अन्यथा कोई निर्धन न रहता। इसी प्रकार ईश्वर की स्पष्ट अवधारणा से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता।

सृष्टिवैज्ञानिक युक्ति के प्रति कांट का कहना है कि यह युक्ति कार्य-कारण-भाव का आरोप एक अगोचर वस्तु पर करती है, किन्तु यह आरोप अनुभव से सत्यापित नहीं है, क्योंकि अनुभव के आधार पर कार्य-कारण भाव का आरोप केवल गोचर वस्तुओं पर हो सकता है। पुनश्च यह युक्ति एक अनिवार्य सत्ता को सिद्ध करती है और यह सोचने में कोई विरोध नहीं है कि वह अनिवार्य सत्ता ईश्वर नहीं है।

इसी प्रकार रचनात्मक युक्ति भी अधिक से अधिक एक बड़े बुद्धिमान् विश्व-रचयिता को सिद्ध करती है, किन्तु संभव है कि वह बड़ा बुद्धिमान् प्राणी ईश्वर न हो।

ईश्वर पूर्ण बुद्धि वाला प्राणी है। बड़ी बुद्धि वाला प्राणी और पूर्ण बुद्धि वाला प्राणी दोनों एक ही प्राणी नहीं हैं। दोनों में महान् अन्तर है। फिर रचनात्मक युक्ति ईश्वर को विश्व के समस्त विषयों का साध्य मानती है। यदि साध्य-साधन की कोटि का विचार किया जाय तो उससे यह सिद्ध नहीं होता कि सभी वस्तुओं का साध्य कोई एक सद्वस्तु है।

इस प्रकार कांट ने **शुद्ध बुद्धि की आलोचना** में ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने वाली तीनों युक्तियों का खण्डन किया है। उसने सिद्ध किया है कि तर्क के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता है। किन्तु वह ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करता था। यद्यपि वह तर्कतः अज्ञेयवादी है और कहता है कि ईश्वर को तर्क से जाना नहीं जा सकता तथापि वह व्यवहार में ईश्वरवादी है। कहा जाता है कि एक दिन उसने अपने नौकर लैम्पे की आँखों में आँसू देखा। उसको उस पर दया आई और तब उसने कहा, "बूढ़े लैम्पे के लिए ईश्वर आवश्यक है अन्यथा वह सुखी नहीं रह सकता, ऐसा व्यावहारिक बुद्धि कहती है। मेरी ओर से इसलिए व्यावहारिक बुद्धि ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध कर सकती है।" इस घटना का कांट के दार्शनिक चिन्तन पर प्रभाव पड़ा था या नहीं यह नहीं कहा जा सकता। किन्तु यह सत्य है कि यद्यपि कांट ने **शुद्ध बुद्धि की आलोचना** में ईश्वर-सम्बन्धी युक्तियों का खण्डन किया है तथापि **व्यावहारिक बुद्धि की आलोचना** और **निर्णय की आलोचना** में उसने ईश्वर के अस्तित्व के लिए क्रमशः नैतिक युक्ति और रचनात्मक युक्ति दी हैं। उसकी नैतिक युक्ति के कई प्रकार हैं जिनमें मुख्य यह है :—

यदि निश्रेयस का अनुसंधान करना हमारा कर्तव्य है तो हमारे लिए निःश्रेयस की सिद्धि संभव होनी चाहिए। हमारी इच्छा निश्रेयस को सिद्ध करना चाहती है। अतः उसके सामने एक ऐसा पुरुष होना चाहिए जिसने निःश्रेयस को सिद्ध कर लिया हो। ऐसा पुरुष ईश्वर है। अतः ईश्वर हमारी इच्छा से साम्य है अर्थात् ईश्वर का अस्तित्व हमारी इच्छा के लिए अनिवार्य है।

फिर ईश्वर का प्रत्यय केवल नीतिशास्त्र के लिए ही अनिवार्य नहीं हैं अपितु वह विज्ञान के लिए भी आवश्यक है। प्रकृति को एक ऐसा सुव्यवस्थित निकाय मानना जो ईश्वर-रचित हो वैज्ञानिकों को प्रकृति की बुद्धिसंगत व्याख्या देने का प्रयत्न करता है। इसके अतिरिक्त जीवविज्ञान के लिए साध्य-साधन की कोटि आवश्यक तथा उपयोगी है। जीवों के प्रयोजन हैं और वे ईश्वर के द्वारा सृष्ट हैं, ऐसा मानकर चलने से जीवविज्ञान का तर्कसंगत विकास होता है। वास्तव में प्रकृति की एकरूपता और

सोद्देश्यता से कांट इतना प्रभावित था कि उनकी व्याख्या के लिए वह ईश्वर के अस्तित्व को अनिवार्य समझता था। इसलिए जिस रचनात्मक युक्ति का खण्डन उसने **शुद्ध बुद्धि की आलोचना** में किया था उसी का जोरदार समर्थन वह **निर्णय की आलोचना** में करता है।

कांट के इन विचारों में अस्पष्टतः एक विरोधाभास है जो शुद्ध बुद्धि और व्यावहारिक बुद्धि के द्वैत के कारण है। इस विरोधाभास को कांट ने यह कहकर दूर किया—"मैंने बुद्धि की आलोचना इसलिए की है कि श्रद्धा के क्षेत्र का खण्डन न किया जा सके।" ईश्वर बुद्धि का विषय नहीं है। वह श्रद्धा का विषय है। श्रद्धा के बल पर कांट ईश्वर को मानता है। वह अपनी तर्क-बुद्धि से यह सिद्ध करता है कि यदि बुद्धि ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध नहीं कर सकती है तो फिर बुद्धि ईश्वर के अस्तित्व की मानवीय माँग का खण्डन भी नहीं कर सकती है। इस प्रकार तर्क-बुद्धि ईश्वर के अस्तित्व के बारे में अन्तिम निर्णय लेने में असमर्थ है।

कांट के अनुसार ईश्वर सृष्टि का कर्ता है। वह सृष्टि के सभी जीवों और विषयों से प्रेम करता है। वह सर्वज्ञ है। वह देश और काल से परे है। उसमें सत्य-निष्ठा, न्यायनिष्ठा, पूर्णता और निःश्रेयस जैसे नैतिक गुण हैं। किन्तु कांट ईश्वर को अहैतुकी कृपा करने वाला या कारुणिक नहीं मानता है उसका ईश्वर रहस्यवादी संतों और भक्तों का ईश्वर नहीं है।

ईश्वर को प्राप्त करना अथवा ईश्वर के सदृश होना कांट के जीवन और दर्शन का लक्ष्य था। अपनी अन्तिम कृतियों में वह ईश्वर-लाभ को संभव बताता है। **ओपस पास्टुमम** में वह कहता है कि ईश्वर अन्तर्यामी है। अन्तरात्मा की आवाज ईश्वर की आवाज है। ईश्वर अनन्त ज्ञान और अनन्त शक्ति है और वह शक्ति या सत्ता मैं स्वयं हूँ। ईश्वर मेरे बाहर कोई द्रव्य नहीं है, किन्तु मेरे अन्दर रहने वाला नैतिक सिद्धान्त है। अनन्त ज्ञान और अनन्त शक्ति के आदर्श के रूप में वह मुझसे बाहर प्रतीत होता है, किन्तु इस रूप में वह मेरे विभु स्वरूप का निर्धारक है। इस प्रकार अन्तरात्मा की आवाज सुनने वालों को और उसके अनुसार जीवन बिताने वालों को ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है। ईश्वर का अस्तित्व है, इस वाक्य का अर्थ है कि ईश्वर हमारी आत्मा में है। आत्मा ही परमात्मा का आश्रय है। स्पष्ट है कि कांट का यह मत शंकराचार्य के मत से मिलता-जुलता है जिसके अनुसार आत्मा ही परमात्मा है।

१५ स्वतः सद् वस्तुएँ

याकोबी ने कहा है कि यदि कोई मनुष्य स्वतः सद्वस्तुओं को नहीं मानता तो

वह कांट की **शुद्ध बुद्धि की आलोचना** को समझ नहीं सकता और यदि वह **शुद्ध बुद्धि की आलोचना** को समझता है तो वह स्वतः सद् वस्तुओं को मान नहीं सकता। याकोबी का यह कथन कांट के दर्शन के बारे में बहुत ही ठीक है। यह स्वतः सद् वस्तुओं के सिद्धान्त में जिस विरोधाभास को प्रदर्शित करता है वह कांट के दर्शन से सिद्ध होता है।

कांट मानता है कि प्रत्येक ज्ञान में इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और बुद्धि के योगदान रहते हैं। यद्यपि **शुद्ध बुद्धि की आलोचना** में वह इन्द्रिय-प्रत्यक्षों के साथ रहने वाले बुद्धि के योगदानों का ही विश्लेषण मुख्य रूप से करता है, तथापि उसने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की सामग्री मूलतः बुद्धि की सृष्टि नहीं है। इस पर प्रश्न उठता है कि यह सामग्री बुद्धि को कहाँ से मिलती है। कांट इस सामग्री के मूल स्रोत को स्वतः सद् वस्तु कहता है। स्वतः सद् वस्तुएँ इन्द्रिय-प्रत्यक्षों को उत्तेजित करती हैं। ईरिक एडिकेस ने स्वतः सद् वस्तु से सम्बन्धित सभी अनुच्छेदों को कांट की समस्त रचनाओं से छाँट करके एकत्र किया है और निष्कर्ष निकाला है कि स्वतः सद् वस्तुएँ प्रपंच के कारण हैं, वे प्रपंच के मूल में हैं और वे हमारी संवेदना पर अपने संस्कार छोड़ती हैं। जब याकोबी कहता है कि स्वतः सद् वस्तुओं को माने विना कोई मनुष्य **शुद्ध बुद्धि की आलोचना** का आरम्भ नहीं कर सकता है तो उसका आशय वही है जो ईरिक एडिकेस कहता है।

किन्तु कांट ने देश, काल, एकता, अनेकता, द्रव्य-गुण, कार्य-कारण, विधि और निषेध आदि जिन कोटियों का वर्णन किया है उनका उपयोग केवल इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में ही हो सकता है। यही नहीं, उसने बलपूर्वक सिद्ध किया है कि देश-काल और किसी वर्गणा का उपयोग इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के बाहर नहीं किया जा सकता। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से ज्ञान जगत् प्रपंच है और प्रपंच से जो परे है वह निष्प्रपंच है। स्वतः सद् वस्तुएँ निष्प्रपंच हैं। उनके ऊपर हम देश-काल, कारण, द्रव्य आदि का आरोप नहीं कर सकते। स्पष्ट शब्दों में **शुद्ध बुद्धि की आलोचना** की शिक्षा है कि हम नहीं कह सकते कि स्वतः सद् वस्तुएँ हैं, स्वतः सद्वस्तुएँ प्रपंच के कारण हैं, स्वतः सद्वस्तुएँ हमारे इन्द्रिय-प्रत्यक्षों के स्रोत हैं। ऐसा कहना स्वतः सद् वस्तुओं को देश-काल में स्थित कार्य-कारण से अनुशासित द्रव्य मानना है जो देश, काल, कार्य-कारण और द्रव्य का सर्वथा अनुपयुक्त और दूषित प्रयोग है। इस दृष्टि को ध्यान में रखते हुए याकोबी ने कहा है कि जो मनुष्य **शुद्ध बुद्धि की आलोचना** को समझता है वह स्वतः सद् वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता है। किन्तु याकोबी का यह कथन ठीक नहीं है। स्वतः सद् वस्तुओं का सिद्धान्त **शुद्ध बुद्धि की आलोचना** से केवल समन्वय-योग्य ही

नहीं वरन् उसके लिए अनिवार्य भी है। इस कारण कांट के भाष्यकारों ने इस सिद्धान्त पर काफी बल दिया है। वास्तव में कांट ज्ञान (Knowledge) और विचार (Thought) में अन्तर करता है। उसके अनुसार यद्यपि हमें स्वतः सद् वस्तुओं का ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञान केवल इन्द्रियगोचर विषयों का होता है, तथापि हम उनका विचार कर सकते हैं। स्वतः सद् वस्तुएँ विचार के विषय हैं।

विंडिलबैंड ने दिखलाया है कि कांट स्वतः सद् वस्तुओं के सिद्धान्त को क्रमशः चार रूपों में मानता है—

(१) जो जगत् इन्द्रियगोचर है वह स्वतः सद् वस्तुओं का ही जगत् है। कांट का यह प्राक्-आलोचना-कालीन मत था।

(२) स्वतः सद् वस्तुएँ हैं किन्तु वे अज्ञेय हैं, बुद्धि उनका ज्ञान, विशेषतः प्रागनुभविक ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकती है। १७७२ से १७७५ तक कांट का यही मत था।

(३) स्वतः सद् वस्तुओं का न तो अस्तित्व संभव है और न ज्ञान। १७७५ से १७७८ तक कांट का यही मत था। यही उसके आलोचनावाद की पराकाष्ठा है।

(४) स्वतः सद् वस्तु का विरोध इन्द्रियगोचर जगत् से है। स्वतः सद् वस्तुएँ अतीन्द्रिय हैं। इन्द्रियगोचर के रूप में मनुष्य एक आभास मात्र है और बुद्धिमान् प्राणी के रूप में वह स्वयं एक स्वतः सद् वस्तु है शुद्ध बुद्धि की आलोचना के अन्तिम भाग में और अन्य परवर्ती रचनाओं में कांट का यही मत है।

वास्तव में स्वतः सद् वस्तुओं का विचार, बौद्धिक संवेदना (Intellectual Intuition) द्वारा होता है और वे ऐन्द्रिक संवेदना के विषय नहीं हैं। कांट ने बौद्धिक संवेदना का विवेचन करने का प्रयास नहीं किया है। इस कारण स्वतः सद् वस्तुओं के सम्बन्ध में उसके विचार अस्पष्ट हैं। किन्तु अस्पष्ट होते हुए भी वे कांट के लिए प्रेरक हैं और कांट अपनी परवर्ती कृतियों में उनके स्वरूप का विशद विवेचन करता है। वह उनको विषयगत सत् मानता है। गाटफ्रीड मार्टिन ने कांट के अनुसार स्वतः सद् वस्तु की विषयगत सत्ता के चार अर्थ निश्चित किये हैं—

(१) स्वत. सद् वस्तुएँ हमारी संवेदना से स्वतंत्र है ? उनकी स्वतंत्रता ज्ञेय-विरपेक्ष है। ज्ञेय-निरपेक्षता उनका तात्विक स्वरूप है।

(२) स्वतः सद् वस्तुएँ हमारी इन्द्रियों को प्रभावित करती हैं। उनकी कारण-शक्ति भौतिक कार्य-कारण भाव से भिन्न है। वह स्वतः स्फूर्ति है।

(३) स्वतः सद् वस्तुएँ व्यवस्थानुकूल हैं। किन्तु उनकी व्यवस्था इन्द्रियगोचर पदार्थों की व्यवस्था से भिन्न है।

(४) जिस प्रकार इन्द्रियगोचर विषय हमारी संरचना है उसी प्रकार स्वतः सद् वस्तुएँ ईश्वर की संरचनाएँ हैं। किन्तु यहां स्वतः सद् वस्तुओं का प्रयोग एक संकुचित अर्थ में किया गया है। कारण, व्यापक अर्थ में ईश्वर स्वयं एक स्वतः सद् वस्तु है।

इन विवेचनों से स्पष्ट है कि कांट स्वतः सद् वस्तुओं का निराकरण नहीं कर सकता। वे उसके आलोचनावाद के लिए आवश्यक हैं। यदि वे न हों, तो कांट का दर्शन दृष्टिसृष्टिवाद और एकजीववाद हो जाय। कांट के प्रपंचवाद के लिए निष्प्रपंच-वाद आवश्यक है क्योंकि वही प्रपंचवाद को सीमित करता है। इस प्रकार कांट की ज्ञान-मीमांसा की शर्तों के अनुसार स्वतः सद् वस्तु का सिद्धान्त अनिवार्य है। यही कारण है कि कांट व्यावहारिक बुद्धि की आलोचना और निर्णय की आलोचना में आत्माओं और ईश्वर का विवेचन स्वतः सद् वस्तु के रूप में करता है।

जो लोग स्वतः सद् वस्तुओं का निराकरण करके कांट के दर्शन को सुसंगत बनाने का प्रयास करते हैं वे सभी प्रत्ययवादी हैं। फिश्टे, शेलिंग, हेगल और याकोबी इनमें मुख्य हैं। किन्तु इस प्रकार कांट के आलोचनावाद की हत्या हो जाती है और वह एक विषयिगत प्रत्ययवाद बन जाता है। इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि कांट ने अपने दशन को बर्कले के विषयिगत प्रत्ययवाद से भिन्न किया था और प्रत्ययवाद का खण्डन नामक एक अधिकरण शुद्ध बुद्धि की आलोचना के द्वितीय सस्करण में जोड़ा था। अतः कांटोत्तर प्रत्ययवादियों ने कांट के साथ न्याय नहीं किया है।

अन्त मे प्रश्न किया जाता है कि स्वतः सद् वस्तु एक है या अनेक। इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि एक और अनेक का प्रयोग केवल इन्द्रियगोचर विषयों के लिए किया जा सकता है। स्वतः सद् वस्तुओं को यथार्थतः एक या अनेक नहीं कहा जा सकता है। आत्मा और परमात्मा कांट के अनुसार परस्पर भिन्न होते हुए भी अपृथक् हैं और उसका नीतिशास्त्र तथा सौन्दर्य-शास्त्र इस अपृथक् सम्बन्ध का अच्छा विवेचन करता है। इस कारण स्वतः सद् वस्तुओं के बारे में अद्वैतवादी दृष्टिकोण ही काण्ट का सही दृष्टिकोण लगता है। उनके मात्रा, गुण आदि से संबंधित प्रश्नों के उत्तर में 'नेति नेति' कहना ही ठीक है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे नहीं हैं। उनका स्वतंत्र और चिन्मय अस्तित्व है।

१६ नैतिक अनुभव की संभावना

कांट ने शुद्ध बुद्धि की आलोचना में दिखलाया है कि मनुष्य की बुद्धि, प्रकृति को अपना नियम प्रदान करती है। आगे वह अपने नीतिशास्त्रीय ग्रन्थों में कहता है कि मनुष्य की इच्छा मानव जीवन को नियम प्रदान करती है। इच्छा को वह व्यावहारिक बुद्धि कहता है। इस प्रकार शुद्ध बुद्धि की कर्त्तृत्व-शक्ति का पूर्ण विकास व्यावहारिक बुद्धि की कर्त्तृत्व-शक्ति में दीख पड़ता है। किन्तु व्यावहारिक बुद्धि की कर्त्तृत्व-शक्ति शुद्ध बुद्धि की कर्त्तृत्व-शक्ति से प्रकारतया भिन्न है। शुद्ध बुद्धि की कर्त्तृत्व-शक्ति प्रपंच का कार्य-कारणभाव है और व्यावहारिक बुद्धि की कर्त्तृत्व-शक्ति निष्प्रपंच सत्ता का स्वातंत्र्य-भाव है। वास्तव में मनुष्य निष्प्रपंच और सप्रपंच दोनों है। सप्रपंच रूप में उसके व्यापार कार्य-कारण नियम से नियन्त्रित हैं और निष्प्रपंच रूप में वह अपने कर्म का स्वयं नियन्ता है। नैतिक अनुभव उसके नियन्ता-रूप की ही अभिव्यक्ति है जो इच्छा के माध्यम से होती है।

इच्छा संकल्प-शक्ति है। वह विकल्प-शक्ति नहीं है। इच्छा ही एकमात्र शुभ है। बुद्धिमानी, चतुरता, साहस, परिश्रम, सहिष्णुता आदि गुण निःसन्देह शुभ हैं; किन्तु यदि जिस मनुष्य के गुण ये हैं उसकी इच्छा शुभ नहीं है तो इन गुणों का वह अनुचित उपयोग कर सकता है और उस दशा में ये गुण अशुभ होंगे। इच्छा चरित्र है। यदि चरित्र शुभ नहीं है तो चरित्र के सभी गुण अशुभ हैं। इसलिए चरित्र के गुणों का शुभ होना चरित्र या इच्छा पर निर्भर है। इसी प्रकार शक्ति, स्वास्थ्य, प्रतिष्ठा, समृद्धि आदि भी अशुभ हैं, यदि इनको पाने वाले मनुष्य की इच्छा शुभ नहीं है। इन सबका शुभ होना इच्छा के शुभ होने पर निर्भर है। इस प्रकार निरपेक्षतः केवल इच्छा ही शुभ है। अन्य गुण या कर्म जो शुभ हैं वे केवल इच्छा के द्वारा नियन्त्रित होने के कारण शुभ हैं। दूसरे शब्दों में वे सापेक्ष शुभ हैं।

किन्तु मानव इच्छा सम्पूर्ण शुभ नहीं है। वह महत्तम शुभ है और उसमें तथा पूर्ण शुभ में यह अन्तर है कि सम्पूर्ण शुभ में आनन्द शामिल रहता है और महत्तम शुभ में आनन्द नहीं रहता। इस प्रकार मानव इच्छा जिस आनन्द को पाना चाहती है उसकी प्राप्ति में एक विरोधाभास खड़ा हो जाता है जिसे व्यावहारिक बुद्धि का विरोधाभास कहा जाता है। मानव इच्छा अपने संकल्प के अनुसार इन्द्रिय-गोचर प्रपंच को निर्मित करना चाहती है। यदि वह इसमें सफल होती है तो उसे आनन्द मिलता है और यदि वह इसमें असफल होती है तो उसे दुःख उठाना पड़ता है। अनुभव से यह सिद्ध है कि मानव को अपनी इच्छा के अनुसार प्रपंच नहीं

मिलता है। इस कारण उसे संघर्ष करना पड़ता है। उसकी इच्छा में श्रेय है किन्तु आनन्द नहीं है। यही उसका विरोधाभास है। इस विरोधाभास को दूर करने के लिए वह अनन्त जीवन अर्थात् आत्मा की अमरता और ईश्वर के अस्तित्व को मानता है। ईश्वर में निःश्रेयस और आनन्द एकमक हैं और अनन्त जीवन के द्वारा आनन्द और निःश्रेयस की एकता को प्राप्त किया जा सकता है।

इच्छा के उपादान वासनाएँ और भावनाएँ हैं और उसका आकार उसकी स्वतन्त्रता है। यह स्वतन्त्रता एक नियम देती है जिसे नैतिक नियम या अहैतुक आदेश कहा जाता है। यह नियम भावनाओं और वासनाओं को वैसे ही संगठित करता है जैसे शुद्ध बुद्धि के संप्रत्यय इन्द्रियगोचर विषयों को संगठित करते हैं। इस दृष्टि से कांट ने नीतिशास्त्र में प्रश्न उठाया है; "कैसे अहैतुक नियम सम्भव है।" यह प्रश्न ज्ञानमीमांसा के प्रश्न, "कैसे प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक परामर्श सम्भव हैं?" के समकक्ष है।

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कांट कहता है कि मेरे अन्दर जो स्वतन्त्रता का प्रत्यय है उसके कारण मैं एक बुद्धिगम्य जगत् का सदस्य हूँ और फिर मैं स्वयं अनुभव करता हूँ कि मैं इन्द्रियगोचर जगत् का भी एक सदस्य हूँ। इस प्रकार मैं अनुभव करता हूँ कि मेरे इन्द्रियगोचर स्वरूप को मेरे बुद्धिगम्य स्वरूप के अनुरूप होना चाहिए अर्थात् मेरी अनुभवगम्य वासनाओं और भावनाओं को मेरी स्वतन्त्रता के अनरूप होना चाहिए। इस प्रकार यह "चाहिए" एक प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक परामर्श हैं। यह सम्भव है, क्योंकि इसका आकार स्वतन्त्रता का प्रत्यय है और इसके उपादान अनुभवगम्य वासनाएँ तथा भावनाएँ हैं। स्पष्ट है कि इच्छा-स्वातन्त्र्य नैतिकता की मान्यता है। किन्तु यह एकमात्र मान्यता नहीं है। इसके अतिरिक्त दो और मान्यताएँ हैं जिन्हें काण्ट आत्मा की अमरता और ईश्वर का अस्तित्व कहता है।

नैतिकता एक संघर्ष है जिसमें इच्छा-स्वातन्त्र्य का संघर्ष भावनाओं तथा वासनाओं से होता है और जिसमें भावनाएँ तथा वासनाएँ इच्छा-स्वातन्त्र्य के अनुरूप संरचित की जाती हैं। इस संघर्ष की परिणति उस इच्छा में होती है जो भावनाओं और वासनाओं पर पूर्ण विजय स्थापित कर लेती हैं। इच्छा की इस अवस्था को काण्ट पूतेच्छा (Holy will) कहता है जिसमें समस्त संघर्ष समाप्त हो जाता है। किन्तु सामान्य मानव इच्छा को पूतेच्छा की अवस्था प्राप्त करने में एक जीवन पर्याप्त नहीं है। इसके लिए अनन्त जीवन की आवश्यकता है। इसलिए इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए आत्मा की अमरता की आवश्यकता है, ऐसी आत्मा की आवश्यकता है जिसका अनन्त जीवन हो और जिसका जीवन वर्तमान देह के नष्ट

होने पर भी नष्ट न हो। यदि आत्मा मर्त्य है तो फिर पूतेच्छा की प्राप्ति असम्भव है, फिर उस आदर्श की प्राप्ति अशक्य है जिसे मानव इच्छा स्वयं अपने समक्ष प्रस्तुत करती है। किन्तु यह असम्भव है कि मानव इच्छा के आदर्श की प्राप्ति न हो। कम से कम इस आदर्श की प्राप्ति में कोई अन्तर्विरोध नहीं है। इस कारण इसके आधार-स्वरूप आत्मा की अमरता को मानना पड़ता है।

पुनश्च मानव इच्छा के इस आदर्श को नित्य सिद्ध करने वाली आत्मा का होना भी अनिवार्य है, अन्यथा मानव इस आदर्श को छोड़ सकता है और वह भावनाओं तथा वासनाओं के जाल में फँस सकता है। नैतिक संघर्ष में उसको पूर्ण विजय की आशा होनी चाहिए, यह आशा तभी हो सकती है जब उसे विश्वास हो कि एक आत्मा है जिसकी इच्छा पूर्णतया स्वतंत्र है और जिसमें भावना तथा वासना का लेश भी नहीं है। ऐसी आत्मा सम्पूर्ण श्रेय या निःश्रेयस की सिद्धि है। इसलिए इस रूप में एक आत्मा को मानना पड़ता है। वही ईश्वर है। इसलिए ईश्वर का अस्तित्व नैतिकता की एक मान्यता है। वह सम्पूर्ण श्रेय और आनन्द की एकता है। उसी के अस्तित्व से यह नैतिक सिद्धान्त निकलता है कि जो श्रेय है वह आनन्दप्रद है और आनन्द श्रेय का परिणाम है। इस सिद्धान्त के आधार पर कांट ने सुखवाद और अनुभववाद की आलोचना की है। उसका कहना है कि जो लोग आनन्द को वासनाओं और भावनाओं से सम्बन्धित करते हैं और श्रेय को आनन्द का परिणाम मानते हैं, वे नैतिकता का अर्थ समझने में असमर्थ हैं। नैतिकता किसी कर्म के परिणाम पर नहीं निर्भर करती है; वह उस कर्म के हेतु पर निर्भर करती है जिसे कर्म करने वाली इच्छा अपने समक्ष रखती है। इस प्रकार नैतिकता आन्तरिक है। वह स्वतन्त्र इच्छा का अपना निजी जीवन है, इच्छा का स्व-निर्धारण है। नैतिक जीवन स्वतन्त्र इच्छा का स्व-निर्धारण है। अतः इच्छा को भावनाओं और वासनाओं के ऊपर अनुशासन करना चाहिए, इस मत को जान आर० सिलबर ने नीतिशास्त्र की कोपरनिकसी क्रान्ति कहा है[१]। काण्ट के पूर्व नीतिशास्त्र में माना जाता था कि मानव-इच्छा स्वयं भावनाओं और वासनाओं से अनुशासित होती है। किन्तु उसने मानव इच्छा या आत्मा को परम शुद्ध, शुभ, स्वतन्त्र तथा पवित्र मानते हुए प्रतिपादित किया कि यह वासनाओं और भावनाओं से नितान्त अमिश्रित है और उन पर इसका अनुशासन स्थापित करना ही मानव जीवन का एकमात्र प्रयोजन है।

---

१ देखिए, पाल वुल्फ द्वारा संपादित "कांट" में उसका निबन्ध, पृ० २६६-२९०।

आत्मा का यह अनुशासन उसकी स्वतन्त्रता है। यह उस पर बाहर से लादा गया कोई शासन नहीं है। इस अनुशासन के नियम को नैतिक नियम कहा जाता है। नैतिक नियम अहेतुक आदेश है। वह सापेक्ष आदशों या नियमों से भिन्न है। उसका कोई साध्य नहीं है। वह अपना साध्य स्वय है जब कि सापेक्ष आदेशों या नियमों के साध्य उनसे भिन्न होते हैं। पुनः वह शुद्ध बुद्धि का विधान है और वासना तथा भावना का विधान नहीं है। फिर वह सार्वभौम सत्य है। उसका पालन प्रत्येक बुद्धिमान् प्राणी के लिए आवश्यक है। इस आदेश को स्पष्ट करते हुए कांट ने पाँच सूत्र दिये हैं जो ये हैं—

(१) **सार्वभौम विधान का सूत्र**। 'तुम केवल उसी नियम का पालन करो जिसके माध्यम से तुम उसी समय इच्छा कर सको कि यह एक सार्वभौम विधान हो।"

(२) **प्रकृति-विधान का सूत्र**। ऐसा करो कि मानों तुम्हारे कर्म का नियम तुम्हारी इच्छा के माध्यम से प्रकृति का एक सार्वभौम विधान होने वाला हो।"

(३) **स्वयं साध्य का सूत्र**। ऐसा करो जिससे अपने व्यक्तित्व में तथा प्रत्येक अन्य मनुष्य के व्यक्तित्व में निहित मानवता को तुम सदा एक ही समय साध्य के रूप में प्रयोग करो, कभी केवल साधन के रूप में नहीं।"

(४) **स्वतन्त्रता का सूत्र**। "ऐसा करो कि तुम्हारी इच्छा उसी समय अपने नियम के माध्यम से अपने को सार्वभौम विधान बनाने वाली समझ सके।"

(५) **साध्यों के राज्य का सूत्र**। "ऐसा करो मानों कि तुम सदा अपने नियम के माध्यम से साध्यों के एक सार्वभौम राज्य के विधायक सदस्य हो।"

इन पाँचों सूत्रों के द्वारा कांट कहना चाहता है कि नैतिक नियम एक सार्वभौम विधान है जो नित्य कर्त्तव्य है, यह विधान स्वयं मनुष्य की प्रकृति का है, इस विधान के अनुसार प्रत्येक मनुष्य की मानवता एक साध्य है और किसी मनुष्य का शोषण नहीं होना चाहिए, इस विधान का विधायक प्रत्येक मनुष्य स्वयं है और इस विधान के द्वारा मनुष्य एक ऐसे सार्वभौम राज्य का सदस्य हो जाता है जिसमें अच्छाई का पूर्ण शासन है। यहां कांट का मानवतावाद, जनतंत्रवाद और समाजवाद उभर आता है। वह किसी मनुष्य को छोटा या बड़ा नहीं मानता है। उसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य का मूल्यांकन मानवता के आधार पर होना चाहिए। इस मूल्यांकन में बुद्धि का महत्त्व कुछ नहीं है और सारा महत्त्व हृदय का है। अशिक्षित, मूर्ख और निर्धन मनुष्य भी शिक्षित, विद्वान् और धनी मनुष्यों से अच्छे हो सकते हैं यदि उनके हृदय अधिक शुद्ध हैं और वे शुद्ध हृदय से अपने कर्त्तव्य का पालन

करते हैं। यहीं पर कांट के ऊपर रूसो का प्रभाव लक्षित होता है। कांट ने स्वयं कहा है कि रूसो के प्रभाव के कारण ही उसको साधारण मनुष्य की मानवता को समझने में सफलता मिली है। नैतिकता का नियम सभी और प्रत्येक मनुष्य की इच्छा में अंकित है। वह किसी नेता, विद्वान्, संत, राजा, या धनी पुरुष की संपत्ति नहीं है। उसका पालन किसी राष्ट्र, राज्य, धर्म या समुदाय के लिए नहीं होता है। वह निरपेक्ष नियम है और उसका पालन प्रत्येक मनुष्य केवल अपने स्वातन्त्र्य-लाभ के लिए करता है। इस प्रकार जब जान डिवी कहता है कि कांट के नीति-शास्त्र के आधार पर जर्मनी में राष्ट्रीय समाजवाद ने राष्ट्रीय कर्त्तव्यों का पालन जर्मन नागरिकों से अंध-श्रद्धापूर्वक करवाकर निरकुंश शासन की स्थापना की तब उसका कथन नितांत दूषित है। कांट का नीतिशास्त्र प्रत्येक मनुष्य की स्वतंत्रता पर इतना बल देता है कि उसका पालन करने वाला कोई मनुष्य किसी राज्य का साधन नहीं बन सकता है। अतः जर्मनी में निरंकुश शासन के उदय का कारण कांट का नीतिशास्त्र नहीं है वरन् उसके कुछ दूसरे कारण हैं जो नैतिक की अपेक्षा राजनीतिक अधिक हैं[1]।

स्वतंत्रता और अहैतुक आदेश एक दूसरे को उपपन्न करते हैं। यद्यपि हम पहले अहैतुक आदेश को जानते हैं और फिर उसके द्वारा स्वतंत्रता का ज्ञान प्राप्त करते हैं तथापि यह क्रम केवल हमारे ज्ञान में है। तर्कतः इच्छा की स्वतंत्रता उसके निरपेक्ष शुभ होने से सिद्ध होती है और फिर अहैतुक आदेश स्वतंत्र इच्छा के आकार के रूप में प्रकट होता है। इस आदेश के माध्यम से हमें कर्त्तव्य का ज्ञान होता है। इसके अनुसार हमें वही कर्म करने चाहिए जिन्हें हमारे साथ ही साथ अन्य सभी मनुष्य भी कर सकें। दूसरे शब्दों में जिस कर्म को सभी मनुष्य कर सके वह कर्त्तव्य है और इस कर्तव्य का पालन केवल कर्तव्य के लिए होना चाहिए। कर्तव्य के लिए कर्तव्य करना मनुष्य का एकमात्र लक्ष्य है। स्पष्ट है कि यद्यपि कर्तव्य-पालन का उद्देश्य कर्तव्य से बाह्य कोई सुख या भावना नहीं है तथापि कर्तव्य के प्रति श्रद्धा, नैतिक नियम के प्रति श्रद्धा तथा इच्छा-स्वातंत्र्य के आदर्श को उपलब्ध करना ऐसे साध्य हैं जो कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य के सर्वथा अनुकूल हैं और जिनके कारण कर्त्तव्य-पालन एक धार्मिक निष्ठा बन जाता है। कर्तव्य-पालन पर और उससे संबंधित निष्ठा पर कांट इतना बल देता है कि वह नीति को धर्म से और धर्म को नीति से अभिन्न कर देता है। नैतिकता से भिन्न वह किसी धर्म को नहीं जानता। अहैतुक आदेश नैतिक जीवन की कसौटी और नैतिक जीवन का पथ-प्रदर्शक दोनों

---

१. देखिए, वही पृ० २१२-२२७, जूलियस एबिंगहास का लेख।

है। वह बताता है कि हमें कौन-से कर्म करने चाहिए और कौन-से कर्म न करने चाहिए। फिर वह हमें सत्कर्म करने की ओर ले चलता है और जो शुभ या श्रेय हमारी इच्छा का विषय है उसको प्राप्त करने की प्रेरणा देता है।

१७ सौन्दर्य का मूल्यांकन

बुद्धि की शक्ति प्राकृतिक वस्तुओं के आवश्यक संबन्ध को स्थापित करती है और इच्छा-शक्ति स्वतन्त्रता के प्रत्यय को चरितार्थ करने में सक्षम है। इस प्रकार प्राकृतिक जगत् और आध्यात्मिक जगत् सम्भव हैं और दोनों के अलग-अलग नियम हैं। अब प्रश्न है कि इन दोनों जगतों को कैसे सम्बन्धित किया जाय? और इन दोनों शक्तियों का समन्वय कैसे किया जाय? कांट कहता है कि इन दोनों शक्तियों को मूल्यांकन-शक्ति सम्बन्धित करती है और मूल्यांकन के विषय प्रकृति तथा स्वतन्त्रता (आत्मा) के समन्वय हैं। यह मूल्यांकन-शक्ति सौन्दर्य-बोध है जिसकी अभिव्यक्ति कला में होती है। हम जिसका बौद्धिक ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते और जिसकी इच्छा भी नहीं कर सकते हैं उसका अनुभव हम अपनी भावना द्वारा कर सकते हैं। वह एक सुन्दर विषय है। इस प्रकार भावना द्वारा या कहिए सौन्दर्य-भावना द्वारा हम प्राकृतिक वस्तुओं और आध्यात्मिक सत्ताओं को, प्रपच और निष्प्रपंच को, अथवा प्रकृति और स्वतंत्रता को सुन्दरम् के प्रत्यय में सम्बन्धित करते हैं। इस भावना का विवेचन कांट **निर्णय की आलोचना** में करता है। इस करण **निर्णय की आलोचना** को कांट के आलोचनावाद की पराकाष्ठा कहा जाता है।

स्पष्ट है कि सुन्दरम् उन संवेद्य गुणों से भिन्न हैं जो इन्द्रियगोचर विषयों में हैं। फिर वह स्वतन्त्रता से भिन्न है जो एकमात्र इच्छा का गुण है। किन्तु जैसे बुद्धि प्रकृति की निर्मात्री है और इच्छा श्रेय की निर्मात्री है वैसे ही सौन्दर्य-बोध सुन्दरम् का निर्माता है। सौन्दर्य वह है जो सौन्दर्य-बोध के अनुरूप है और जो हमारे अन्दर एक सर्वसाधारण. आवश्यक और बेलाग सुख पैदा करता है।

सौन्दर्य-सम्बन्धी परामर्श के वैसे ही गुण, परिमाण, सम्बन्ध और निश्चय-मात्रा है जैसे अन्य परामर्शों के। उनका गुण सुखद होना है। वह सुख बेलाग है अर्थात् वह किसी वासना या कामना से सम्बन्धित नहीं है। वह निष्काम है। वह ज्ञान-सुख है। परिमाण में सौन्दर्य के परामर्श सामान्य हैं। वे जिस सुख को उत्पन्न करते हैं वह सर्वसाधारण को सुलभ है। सुन्दरम् प्रत्येक मनुष्य को स्वभावतः सुख देता है; वह केवल किन्हीं विशेष मनुष्यों को ही सुख नहीं देता है।

किन्तु सौन्दर्य-परामर्श की सार्वभौमिकता प्रत्ययमूलक या प्रत्यय के माध्यम से नहीं है। इसका बौद्धिक प्रत्ययन असंभव है। यह केवल अनुभवैकगम्य है। सौंदर्य का परामर्श केवल प्रेक्षक का अनुभव या भावना होने के कारण व्यक्तिगत है; किन्तु फिर भी वह सर्वगत है क्योंकि सभी मानवों में उसका अनुभव करने की शक्ति समान रूप से है। भारतीय काव्यशास्त्र में इसी आधार पर रस के साधारणीकरण सिद्धान्त को माना जाता है। कांट भी यहाँ यथार्थतः रस के साधारणीकरण की चर्चा कर रहा है।

सम्बन्ध के परिप्रेक्ष्य में सौन्दर्य के परामर्श एक साध्य से सम्बन्धित हैं। यह साध्य हमारा सौन्दर्य-बोध है। सुन्दरम् वह है जो हमारे सौन्दर्य-बोध के अनुरूप या अनुकूल हो। यह आनुकूल्य सौन्दर्य के परामर्शों का सम्बन्ध है। किन्तु यह आनु-कूल्य प्रयोजनवत्ता होते हुए भी प्रयोजन नहीं है। कारण, यह प्रयोजनवत्ता किसी चेतन प्राणी का प्रयोजन या उद्देश्य नहीं है, यह उसके किसी प्रयोजन को सिद्ध नहीं करती है। हम किसी विषय को सुन्दर इसलिए नहीं कहते हैं कि वह किसी आन्तरिक या बाह्य प्रयोजन को पूरा करता है। हम उसको सुन्दर इसलिए नहीं कहते हैं कि वह हमको सुख देता है। उल्टे, वह हमको सुख देता है, क्योंकि हम उसका मूल्यांकन करते हैं। उसका अनिवार्य सम्बन्ध हमारे मूल्यांकन से है।

निश्चयमात्रा के परिप्रेक्ष्य में सौन्दर्य के परामर्श अनिवार्य या आवश्यक है, क्योंकि जो सुन्दरम् है वह अनिवार्यतः अपने प्रेक्षक को सुख देता है। किन्तु यह अनिवार्यता शुद्ध बुद्धि या इच्छा की अनिवार्यता नहीं है। यह सौन्दर्य-बोध की अनिवार्यता है और इसका तात्पर्य यह है कि सौन्दर्य के सभी मर्मज्ञ किसी सुन्दर विषय की सुन्दरता पर मतैक्य रखते हैं।

कांट सौन्दर्य को त्रिविध बताता है—शुद्ध सौन्दर्य, सापेक्ष सौन्दर्य (आदर्श सौन्दर्य) और उदात्त। शुद्ध सौन्दर्य उन्मुक्त सौन्दर्य हैं; उसका आधार एकमात्र आकार है। वह किसी प्रत्यय, प्रयोजन और विषय की प्रकृति पर निर्भर नहीं है। फूल, झरने, आदि शुद्ध सौन्दर्य के उदाहरण हैं। सापेक्ष सौन्दर्य का आधार एक सामान्य प्रत्यय होता है जिसके अनुरूप सौन्दर्य के आकार को होना चाहिए, ताज-महल, खजुराहो का मन्दिर आदि सापेक्ष सौन्दर्य के उदाहरण हैं जहाँ सौन्दर्य केवल आकार पर निर्भर नहीं है वरन् एक प्रत्यय पर भी निर्भर है। यहाँ प्रत्यय और आकार का समन्वय अपेक्षित रहता है। सापेक्ष सौन्दर्य सारगर्भित और अभिव्यं-जनापूर्ण है। वह प्रेक्षक के अन्दर भावना के अतिरिक्त चिन्तन को भी उत्तेजित

करता है। इस प्रकार वह सम्पूर्ण आत्मा को उत्तेजित करता है। इसलिए वह सापेक्ष सौन्दर्य से उच्चतर माना जाता है।

किन्तु शुद्ध सौन्दर्य और सापेक्ष सौन्दर्य दोनों उदात्त से भिन्न हैं। उदात्त की तुलना में दोनों को सौन्दर्य ही कहा जाता है। सौन्दर्य और उदात्त का अन्तर यों हैं :—

(क) सौन्दर्य आकार और सीमा को आपादित करता है और उदात्त निराकार तथा असीम को।

(ख) सौन्दर्य साक्षात् तथा अपरोक्षतः सुखदायक है और उदात्त परोक्षतः सुखदायक है। उदात्त हमें विस्मित करता है और क्षण भर के लिए हमारे जीवन की गति-विधि पर रोक लगा देता है।

(ग) सौन्दर्य पहले से ही हमारे सौन्दर्य-बोध के अनुकूल निर्विघ्न रूप में रहता है और उदात्त हमारे सौन्दर्य-बोध और उसके परामर्श को चुनौती देता है और उन पर प्रहार करता है। उदात्त हमारे सौन्दर्य-बोध के लिए बहुत विशाल होता है। हम उसको सरलता से समझ नहीं पाते हैं। वह दुःखदायी है क्योंकि वह हमें निराश करता है।

(घ) सौन्दर्य उदात्त से निम्नतर है। सौन्दर्य के विषय सान्त और ससीम है और उदात्त के विषय अनन्त और असीम हैं। वास्तव में सौन्दर्य के विषय शुद्ध बुद्धि के तीन प्रत्यय या आदर्श हैं जिनकी एकता अनन्त और असीम है। किन्तु इनके अतिरिक्त भी उदात्त के कुछ उदाहरण कांट ने दिये हैं। वह गणितशास्त्रीय उदात्त और गति-शास्त्रीय उदात्त दो प्रकार के उदात्तों का उदाहरण देता है। महासागर और तारों से भरा आसमान गणितशास्त्रीय उदात्त हैं। भूचाल, बाढ़, तूफान झंझावात, आगजनी आदि गतिशास्त्रीय उदात्त हैं। गणितशास्त्रीय उदात्त का सम्बन्ध केवल विषय के परिमाण से है और गतिशास्त्रीय उदात्त का सम्बन्ध विषय की गतिशीलता से है। स्पष्ट है कि उदात्त विस्मय के अतिरिक्त भय भी पैदा करता है। किन्तु अन्ततः वह भी वैसे ही सुख देता है जैसे सौन्दर्य।

सुन्दरम् और उदात्तम् शिवम् के प्रतीक हैं। वे उस अगोचर वस्तु को हमें कल्पना द्वारा अनुभव कराते हैं जिसे शुद्ध बुद्धि ईश्वर का प्रत्यय कह कर मौन रह जाती है और जिसे इच्छा-शक्ति ईश्वर का अस्तित्व मानकर नैतिक संघर्ष करती रहती है। वे हमें बताते हैं कि प्राकृतिक जगत् और आध्यात्मिक जगत् दोनों में साध्य-साधन की कोटि की व्यावहारिक आवश्यकता है। इस प्रकार कांट सौन्दर्य-मीमांसा के पश्चात् साध्य-साधन की मीमांसा करता है और निश्चित करता है कि

जिन विषयों की व्याख्या यांत्रिकतावाद के द्वारा नहीं की जा सकती है उनकी व्याख्या प्रयोजनवाद द्वारा हो जाती है। वह सम्पूर्ण प्राकृतिक जगत् और आध्यात्मिक जगत् में एकरूपता तथा प्रयोजनवत्ता देखता है और सिद्ध करता है कि प्रत्येक विषय हमें ईश्वर की ओर ले जा सकता है। जगत् की रचना ईश्वरकृत है, क्योंकि इस रचना में जो प्रयोजनवत्ता दीख पड़ती है उसका आधान केवल ईश्वर की अनन्त बुद्धि ही कर सकती है। इस प्रकार कांट अपनी अन्तिम आलोचना में रचनात्मक युक्ति का समर्थन करता है। इससे स्पष्ट है कि ईश्वर का अस्तित्व उसके आलोचनावाद के लिए आवश्यक है। किन्तु यहाँ पर यह कहना आवश्यक है कि ईश्वर का बौद्धिक ज्ञान प्राप्त करना उसके आलोचनावाद के अनुसार असम्भव है। हम केवल कल्पना तथा भावना द्वारा ईश्वर का अनुभव कर सकते हैं।

१८ कांट का प्रभाव

सन् १८०० ई० के पश्चात् आधुनिक दर्शन का जो विकास हुआ है उस पर कांट का प्रभाव सबसे अधिक पड़ा है। हामान, याकोबी और हर्डर ने कांट के जीवनकाल में ही उसके दर्शन का विरोध करते हुए श्रद्धा-दर्शन की स्थापना की। किन्तु उसी समय रीनहोल्ड, मैमन, और शिलर ने कांट के दर्शन का जोरदार प्रचार तथा समर्थन किया। रीनहौल्ड जेना विश्वविद्यालय में दर्शन का प्राध्यापक था। वहीं से १७८५ ई० से एक पत्रिका निकलने लगी जिनके संपादक शुट्ज और हुफलैंड थे। इन लोगों की निष्ठा कांट-दर्शन में थी। इस प्रकार जेना विश्वविद्यालय कोनिग्सबर्ग से भी अधिक कांटवाद का गढ़ बन गया। रीनहोल्ड के बाद फिश्टे वहाँ १७९४ में दर्शन का प्राध्यापक हुआ और उसने शेलिंग को मार्च १७९८ में वहीं प्राध्यापक बनाया। १८०१ में हेगल भी वहाँ प्राध्यापक हुआ। फिश्टे, शेलिंग और हेगल ने कांटवाद को प्रत्ययवाद में विकसित किया। फिश्टे व्यावहारिक बुद्धि की आलोचना पर बल देता था और हेगल शुद्ध बुद्धि की आलोचना पर तथा शेलिंग निर्णय की आलोचना पर। वहीं हर्बार्ट और फ्राइज ने दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया जिन पर कांट का प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है।

किन्तु ये दार्शनिक मूल कांटवाद से हट गये थे। इस कारण १८६० ई० में जर्मनी से एक आन्दोलन चला जिसे नवकांटवाद कहा जाता है। इसका उद्देश्य था कांट के निकट वापस चलो। इसके प्रवर्तक थे लैंगे, लीबमान और ज़ेलर। लीबमान ने 'कांट एण्ड हिज सकसेसर्स' (कांट तथा उसके उत्तराधिकारी) नामक

एक ग्रंथ लिखा है जिसके प्रत्येक अध्याय के अन्त में कहा गया है—"अतः हमें कांट के पास लौटना चाहिए।" किन्तु नवकांटवाद का मूल प्रवर्तक लँगे है। उसने **भौतिकवाद का इतिहास** नामक एक श्रेष्ठ ग्रन्थ लिखा है और यह दिखाने का प्रयास किया है कि कांटवाद की व्याख्या शरीरविज्ञान के माध्यम से की जानी चाहिए।

रीह्ल, कोहेन और नटोर्प ने नवकांटवाद को आगे विकसित किया। इनके प्रयत्नों से नवकांटवाद में एक द्वैत खड़ा हो गया। कुछ लोगों ने कांट के आत्मवाद को पकड़ा और कुछ लोगों ने उसके विज्ञान-दर्शन को। जिन लोगों ने आत्मवाद को माना उन्होंने विज्ञान-दर्शन को छोड़ दिया और जिन्होंने विज्ञान-दर्शन को स्वीकार किया उन्होंने आत्मवाद को छोड़ दिया। कोहेन ने दूसरा मार्ग ग्रहण किया और लीबमान ने पहला। कोहेन के दृष्टिकोण का विकास नटोर्प ने किया। किन्तु जिन लोगों ने आत्मवाद का आश्रय लिया था उन्होंने मूल्य-दर्शन विकसित किया। विंडिलबैंड और रिकर्ट इनमें मुख्य हैं।

डिल्टाई ने कांट के विश्लेषण की परम्परा का निर्वाह **ऐतिहासिक बुद्धि की आलोचना** लिखकर किया और कांट के इतिहास-दर्शन को और आगे बढ़ाया। इसी प्रकार ड्रीश ने नवकांटवादी प्रत्ययवाद का प्रचार किया। स्टैमलर ने नवकांटवादी न्याय-दर्शन और समाज-दर्शन का विकास किया और रित्श्ल ने ईश्वर-विद्या का।

इन प्रत्यक्ष नवकांटवादियों के अतिरिक्त अनेक आधुनिक दर्शनशास्त्री हैं जिनके दर्शन कांटवाद से निकले हैं। शोपेनहावर और नीट्शे का इच्छावाद, [illegible] का प्रातिभवाद, विलियम जेम्स और वैहिंगर का व्यवहारवाद (Pragm[illegible] कांटवाद से ही निकले हैं। इंग्लैंड में कांट की **शुद्ध बुद्धि की आलोचन**[illegible] प्रभाव पड़ा है। केयर्ड, ग्रीन, वैलेस, वाट्सन, ब्रेडले, जेम्स वार्ड [illegible] केम्प स्मिथ, पेटन और इविंग को इस ग्रंथ से बहुत प्रेरणा मिली है [illegible] ने इस ग्रन्थ के भाष्य या संक्षेप लिखे हैं। फिर स्पेन्सर को [illegible] वस्तुओं के सिद्धान्त ने अधिक प्रभावित किया था।

१८९६ से हैन्स वैहिंगर ने कांट स्टूडि[illegible] पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया था। [illegible] नामक एक संस्था कर रही है। इसमें ज[illegible] सम्बन्धित निबंध प्रकाशित हो[illegible]

आज तक हो रहा है और इससे कांट का दर्शन आज भी एक जीवित दर्शन बना हुआ है।

भारतवर्ष के दार्शनिकों पर भी कांट का प्रभाव बीसवीं शती में पड़ने लगा। कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, अनुकूलचन्द्र मुकर्जी, रासबिहारीदास, एन० ए० निकम और संगमलाल पांडेय की विचार-पद्धतियों पर स्पष्टतः यह देखा जा सकता है। इन लोगों ने कांट के दर्शन पर एक-एक ग्रन्थ भी लिखे हैं। वास्तव में कांट का दर्शन इन भारतीय विद्वानों को एक भाषा, एक व्याकरण तथा एक न्याय-पद्धति देता है जिसे वे वेदान्त की व्याख्या में उपयोगी पाते हैं। कांट का आलोचनावाद तत्वतः अद्वैतवाद है; वह समस्त प्रकार के द्वैतवादों का खंडन है। इस माध्यम से कांट का प्रभाव वेदान्त पर पड़ रहा है।

अनुक्रमणिका

[महत्त्वपूर्ण नामों और शब्दों की अनुक्रमणी]